भगवत्पूज्यपाद महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

जीवनवृत्त

भगवत्पूज्यपाद स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज-

का

जीवनवृत्त

लेखक - स्वर्गीय पं. गोविन्दशास्त्री दुगवेकर

भगवान् महर्षि ज्ञानानन्दस्मारक समितिद्वारा

प्रकाशित

काशी

गुरुपूणिमा सम्वत् २०२० सन् १९६३

मुल्य ४)

प्राक्कथन

ज्ञानानन्दं परमसुखदं केवलं ब्रह्ममूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।

धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें निश्चय करना सर्वसाधारणका कार्य नहीं होता है, क्योंकि अवस्था, अधिकार एवं परिस्थिति-भेदसे धर्मके अनेक रूप हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी अधर्म भी धर्मका रूप ग्रहण कर लेता है, अतः कहा है कि—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।
महाजनो येन गतः स पन्था ।।

धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है, इस कारण महाजन जिस मार्गसे जा चुके हैं, वही गमनीय पन्था है। अर्थात् महापुरुष जिस मार्गसे गये हैं, उसी मार्गसे चलना चाहिये, वही मार्ग मानव-मात्रके लिये सब ओरसे सुरक्षित कल्याणका सीधा सरल मार्ग है। उसपर चलनेके लिये कोई भी विचारकी आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः सर्वसाधारणके लिये धर्माधर्मका तत्त्व, वेद, पुराण एवं स्मृतियोंका रहस्य जान लेना तथा उनके अनुसार अपने कर्त्तव्य-का निर्णय करना कठिन ही नहीं असम्भव है, अतः यह आदेश है कि, महाजन जिस मार्गसे गये हैं, उस मार्गसे जाना चाहिये और इसी कारण हमारे पुराणों तथा महाभारतादि इतिहासोंमें

महापुरुषोंके पावन चरित्रोंका भूरि-भूरि वर्णन देखा जाता है, और इसीलिये महापुरुषोंके जीवन-चरित्र लिखनेकी पुरानी परिपाटी प्रचलित है। श्रीभारतधर्म महामण्डल तथा अनेक लोक-कल्याण-निरत संस्थाओंके संस्थापक, अनेक लुप्त दर्शनों तथा ग्रन्थोंके आविष्कर्ता, अनेक मौलिक ग्रन्थोंके प्रणेता तथा दर्शनोंके भाष्यकार परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्री ११०८ परमाराध्य गुरुदेव स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजप्रभु ऐसे ही एक लोकोत्तर महापुरुष थे। उनकी शरीर-सम्पत्ति सर्वाङ्ग सुन्दर, बुद्धि विलक्षण, मानसिक स्तर अति महान एवं उनका प्रत्येक क्रिया-कलाप अलौकिक असाधारण था, जिनका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस जीवन-वृतमें कराया गया है। उनके पाप-तापहारी निर्मल पावन चरित्रको पढ़कर एवं सुनकर जनसाधारण अपनेको पवित्र करे एवं अपना कल्याण कर सके, इस लोक-कल्याणकी भावनासे श्रीजी महाराजका यह संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रकाशित किया जाता है। इसके लेखक हिन्दी जगत्‌के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, सिद्ध-हस्तलेखक अनेक मासिक तथा साप्ताहिक पत्रोंके सम्पादक सम्पादकाचार्य साहित्य भूषण स्वर्गीय पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर जी हैं, जिनको प्रायः पचास वर्षोंतक श्रीजी महाराजके सान्निध्यमें निवास करनेका तथा उनके साथ-साथ भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः शास्त्रीजीको श्रीजी महाराजको अतिनिकटसे देखने तथा जाननेका अवसरभी प्राप्त हुआ था। शास्त्रीजीके अतिरिक्त इस महान् कार्यको दूसरा कोई भी नहीं कर सकता था। अतः श्रीमहामण्डलने उन्हींके ऊपर श्रीजीके जीवनवृत्त लिखने-का भार दिया था। शास्त्रीने बड़ी योग्यताके साथ इस कार्यको सम्पन्न किया, किन्तु कुछ कार्य शेष ही था, इसी बीच प्रायः अस्सी वर्षकी अवस्थामें शास्त्रीजीका स्वर्गवास हो गया, इस कारण इस ग्रन्थके प्रकाशित होनेमें आशातीत विलम्ब हुआ।

साधारण मनुष्योंमें एवं महापुरुषोंमें केवल यही अन्तर होतक है कि, साधारण मानवकी सब चेष्टा स्वार्थ एवं अपने सुखके लिये होती है किन्तु महापुरुषोंकी प्रत्येक चेष्टा परार्थ—लोक कल्याणके लिये होती है, और यही जीवन यथार्थ जीवन है। वैदिक और पौराणिक कालके हमारे पूज्यपाद महर्षियोंके जीवन सर्वथा परार्थ होते थे। वे तप एवं त्यागके साकार मूर्ति थे। वनोंमें रहते थे, वल्कल-वसन और फल-फूल आहार करते थे। वे किसीसे कुछ लेते नहीं थे, और समस्त समय अध्यात्म चिन्तन करते हुए लोक-कल्याणमें रत रहते थे। उन्हींके ज्ञानालोकसे मानव-जाति सदा आलोकित होती आयी है। आजभी भारत भूमिपर उन्हीं जगद्गुरु तपोधन महर्षियोंका शासन चला आ रहा है। पुराणोंमें एवं धर्म शास्त्रोंमें उनके जो आदेश हैं, आस्तिक जन-समाज उनका पालन करता है। यह सब उनके त्याग, तप, और निस्पृह परार्थ जीवनका परिणाम है। वे ही हमारे आदर्श तथा अनुकरणीय हैं। इसी प्रकार अन्य महापुरुषोंने, भले ही वे शिवि, मान्धाता, दिलीप, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज एवं महाराना प्रताप तथा शिवाजी जैसे राजपुरुष हों या शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभा-चार्यआदि धर्माचार्य हों, जिन्होंने जाति या धर्मकी रक्षाकेलिये जीवन धारण किया तथा अपने त्याग एवं तपका आदर्श उप-स्थित किया; वे हमारे चिरस्मरणीय एवं अनुकरणीय हैं। इनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण मानव-जातिके शान्ति, सुख एवं उन्नति-का अथवा अभ्युदय एवं निःश्रेयसका पन्था है। ऐसे पुण्यश्लोक महापुरुषोंके चरित्रके चिन्तन, अध्ययन एवं अनुशीलनसे मनुष्य-का हृदय पवित्र, महान् तथा उन्नत होता है, और मानव सच्चे अर्थमें मानव बन जाता है। श्रीजीमहाराजकी बालकपनकी चेष्टासे ही उनके महापुरुष होनेके लक्षण प्रकट हुए थे। उनके श्री-विग्रहका शुभ्र गौर वर्ण नखशिख सुन्दर होना, उनकी शारीरिक

पूर्णताका लक्षण था। उनके शिरकी जटायें साढ़े नौ फीट लम्बी थीं। जब वे स्नानके पश्चात् स्नानागारसे बाहर आते थे, उस समय जटायें खुली होती थीं, उनको वे आधे हिस्सेसे उठाकर दाहिने हाथपर डाल लेते थे। यदि ऐसा न करते तो जटायें जमीनको बुहारती हुई चलतीं। इसी प्रकार उनकी दाढ़ीके केश आठ फीट लम्बे थे। पीछेसे इनकीभी जटायें बन गयी थीं। अनेक समय वे उन्हें गले परसे छातीपर मालाकी भाँति लपेट लिया करते थे। शिरपर जटाजूट, गलेसे छातीपर कई लपेटमें लटकी दाढ़ीकी जटायें एक अपूर्व छवि उपस्थित करती थी, जिससे भूतभावन भगवान् शंकरका सहसा स्मरण हो आता था। दोनों चरणकमल अरुण वर्ण छोटे-छोटे अति मृदुल थे। यहाँतक कि, वे लड़कीके खड़ाऊँ नहीं पहन पाते थे। शरीर इतना सुकुमार था कि, बाल्यावस्थासे ही घोड़ेके सवारीके अतिरिक्त अन्य व्यायाम उनसे नहीं कराया जा सका। स्नानके परिश्रमसे ही उनका मुखारविन्द रक्तवर्ण हो जाता था। इसी प्रकार उनका मन नवनीतकी तरह कोमल था, परन्तु जहाँ कहीं कोई सिद्धान्तकी बात आती थी, तब वे वज्रकी तरह कठोर बन जाते थे, और यह उक्ति प्रत्यक्ष होती थी कि—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
उदारचरितानान्तु चेतांसि कोनुविज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात् वज्रसेभी कठोर तथा कुसुमसेभी मृदु उदार चरित महापुरुषोंका चित कौन जान सकता है? इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है, श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज श्रीजीके परम स्नेहास्पद शिष्य थे। प्राय: सब समय उनका नाम श्रीजीके श्रीमुखपर रहता था। ऐसा अनुमान होता था कि, उनके विना वे एक क्षणभी नहीं रह सकते थे, किन्तु एकबार श्रीस्वामी दयानन्द-

जी महाराज श्रीजीकी आज्ञा एवं इच्छाके विरुद्ध एक राजनैतिक संस्थाके मन्त्री बन गये थे, उस समय श्रीजीने उनको अपने पाससे हटा दिया और त्याग ही कर दिया। उसके दो तीन वर्षके पश्चात् स्वामी दयानन्दजी महाराज कानपुरमें कठिन रोगसे पीड़ित हुए, उस समय श्रीजी महाराज सैलाना राज्यमें विराजते थे, वहाँ रायबहादुर धर्मालंकार श्रीविक्रमाजीत सिंहका तार गया तथा स्वामी दयानन्दजी महाराजनेभी तार दिया एवं दर्शन देनेकी विनीत प्रार्थना की, दोनों तार पाकर श्रीजी कानपुर पधारे, और रायबहादुर विक्रमाजीत सिंहके बंगलेपर ठहरे, वहाँसे सनातनधर्म कालेजमें श्रीदयानन्दजी महाराजके योगाश्रममें उनको देखने गये, स्वामी दयानन्द महाराज किसी प्रकार बड़े कष्टसे अपनी शय्यासे उठकर श्रीजीके चरणोंमें पड़े, श्रीजीने उनको शय्यापर बैठाया, उस समय प्रायः आधे घण्टेतक स्वामी दयानन्दजी महाराजके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती रही; वे कुछ भी बोल नहीं सके, उनको बड़ा ही पश्चाताप हुआ, तब तो श्रीजीका नवनीतके समान कोमल हृदय उसी समय गल गया, और स्वामी दयानन्दजीको बड़े स्नेहसे बार-बार आश्वासन दिया, उनके चिकित्साआदिका प्रबन्ध करके काशी पधारे। जब स्वामी दयानन्दजी महाराज स्वस्थ हुए, तब काशी आये और तबसे शरीर छोड़नेतक श्रीजीके चरणोंमें ही रहे। ऐसी अनेक घटनायें हुईं, जिनका विवरण यहाँ विस्तार-भयसे नहीं दिया जा सका। यह सब उनकी मानसिक महत्ता एवं दृढ़ताका परिचायक है। श्रीजीका स्वभाव बालसुलभ सरल तथा भोला था। साथ ही सूक्ष्मसे सूक्ष्म एवं गम्भीरसे गम्भीर विषयको वे करतलामलकवत देखते थे। स्वार्थका लेशमात्रभी उनमें नहीं था, इसलिये देवताओं तथा ऋषियोंने उनको अपने लोकहितकर कार्योंका केन्द्र बना लिया था। अतः महर्षि अंगिराने अपना भक्तिदर्शन दैवीमीमांसादर्शन जगत्-कल्याणकेलिये श्रीजीकेद्वारा प्रकाशित

किया और महर्षि भरद्वाजने इनकेद्वारा अपना कर्ममीमांसा-दर्शन-का पूर्वार्ध जिसमें सम्पूर्ण कर्म-विज्ञान, धर्माधर्मका रहस्य, लोक कल्याणके लिये प्रकाशित किया। ये दोनों दर्शन कालक्रमसे लुप्त हो गये थे और सप्तज्ञान-भूमिओंके अनुसार सप्त दर्शनोंकी शृङ्खला छिन्नभिन्न हो गयी थी, तथा कर्ममीमांसाका कर्मविज्ञान एवं कर्म-रहस्यसम्बन्धी प्रथम भाग भी लुप्त हो गया था। वेदके उपासना काण्डके दर्शनके उपलब्ध न होनेसे भक्तिके आचार्यों श्रीरामानुजाचार्य निम्बार्काचार्य एवं वल्लभाचार्यआदिने वेदके ज्ञान-काण्डका दर्शन वेदान्त-दर्शनके अद्वैत सिद्धान्तको तोड़-मरोड़कर द्वैतमूलक उपासना एवं भक्तिपरक भाष्य किये। यदि उपासनाका दर्शन उपलब्ध होता तो इन भक्तिके आचार्योंको यह खींचा-तानी करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इन महान् अभावोंकी पूर्ति श्रीजीकेद्वारा महर्षियोंने की। इस प्रकार महर्षियोंने अपने कार्यकी सिद्धिकेलिये श्रीजीके अन्तःकरणका आश्रय किया था। यह श्रीजीके अध्यात्मिक चमत्कारका कार्य है। आधिदैविक अनेक चमत्कार श्रीजीकेद्वारा देखा जाता था, जिनमें कात्यायनीपीठ वृन्दावनके प्राण-प्रतिष्ठितके समयके चमत्कारका विषय इस जीवन-वृतमें आया है। प्रतिष्ठाके एक दिन पहले श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजने निश्चय किया कि, प्रतिष्ठा बामाचार-विधिसे होगी। श्रीजी महाराज इससे सहमत नहीं थे, उन्होंने अपना मत व्यक्त किया, किन्तु स्वामी केशवानन्दजी महाराजने उसपर ध्यान नहीं दिया। वे प्रतिष्ठाके कार्यमें मन्दिरमें रात्रिभर व्यस्त थे। श्रीजीके सामने बड़ी समस्या थी; अतः वे इसी विचारमें अपने कमरेमें एकान्तमें विराजमान थे, अर्धरात्रिका समय था, अकस्मात् एक महान् प्रकाश-पुञ्ज सामने दिखायी पड़ा एवं उस प्रकाश-पुञ्जमें रक्तवसना परम सुन्दरी षोड़सीके रूपमें जगदम्बा उनके सामने अन्तरीक्षमें प्रकट हुई, श्रीजीने नतमस्तक हो जगदम्बाके

चरणोंमें प्रणाम किया, तब जगदम्बाने आदेश दिया कि "वत्स! वामाचारकी विधिसे प्रतिष्ठा मुझे अभीष्ट नहीं है। यहाँ व्रजमें तो मैं वैष्णवीके रूपमें रहती हूँ। तुमने ठीक मेरी इच्छाके अनुसार सम्मति दी है और मुझे यही अभीष्ट है।" इतना कहकर प्रकाश-पुञ्ज-सहित जगदम्बा अन्तर्हित हो गयीं। श्रीजीमहाराजको इसके पश्चात निद्रा नहीं आयी, उन्होंने तत्क्षण श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजको बुलवाकर श्रीजगदम्बाका आदेश सुनाया। फिर तो क्या था, स्वामी केशवानन्दजीके आनन्द एवं आश्चर्यका पारापार नहीं रहा, उन्होंने सहर्ष जगदम्बाके आदेशका पालन किया और प्रतिष्ठा उसीके अनुसार करायी गयी। इसी प्रकार एक अद्भुत चमत्कार नाथद्वारामें हुआ था। नाथद्वारा श्रीवल्लभसम्प्रदायका प्रधान पीठ है, जो उदयपुर राज्यके अन्तर्गत था। उदयपुरके स्वर्गीय महाराणा फतेहसिंह श्रीजीके विशिष्ट भक्तोंमेंसे थे। श्रीजीका प्रायः उदयपुर पधारना हुआ करता था, उदयपुरसे कभी-कभी मोटरसे नाथद्वाराभी श्रीजी पधारा करते थे, वहाँके तत्कालीन मठाधीश गोस्वामी गोवर्धनलालजी श्रीजीका बड़ा सम्मान करते थे। एक समयकी घटनाका यहाँ उल्लेख किया जाता है। श्रीजीमहाराज उदयपुर पधारे थे। वहाँसे उदयपुरके मोटरसे भगवान् श्रीनाथ-जीके दर्शनार्थ नाथद्वारा पधारे। श्रीमहामण्डल-प्रधान कार्यालयके सामने ही थोड़ी ही दूरपर नाथद्वाराकी कुछ जमीन है। श्रीजीकी इच्छा थी कि, यह जमीन श्रीमहामण्डलको दे दिया जाय। जब गोस्वामी गोवर्धनलालजीसे भेंट हुई तो उनसे श्रीजीने अपनी यह इच्छा उनके सामने प्रकट की और कुछ वार्षिक लगान लेकर श्रीमहामण्डलको उपर्युक्त जमीन देनेकेलिये अनुरोध किया। उस समय गोस्वामीजीने उस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया, बात वहीं समाप्त हो गयी, श्रीजी उदयपुर वापिस लौटनेके लिये मोटरपर जा बैठे। इतनेमें श्रीनाथजीका एक भृत्य दौड़ा

हुआ मोटरके पास आया और हाथ जोड़कर निवेदन किया कि, महाराज! मन्दिरका पट खुल गया है; आप दर्शन करके उदयपुर पधारें। श्रीजी यह सुनकर, मन्दिरमें पधारे एवं अन्य भक्तोंके साथ ही दर्शनार्थियोंके प्रथम पंक्तिमें खड़े हो गये, उस समय भगवान् श्रीनाथजीकी आरती हो रही थी, उस दिन होलीका दिन था, भगवान् श्रीनाथजीके चरणोंके निकट केशरसे भरी दो पिचकारियाँ रखी थीं, उनके मुख श्रीनाथजीकी ओर थे और सामने खड़े श्रीदामोदर लालजी आरती कर रहे थे। दर्शनार्थी जिसमें बम्बईके अनेक गण्यमान्य सेठ भी थे, तद्गत भावसे भगवान्का दर्शन कर रहे थे, इतने हीमें श्रीजीने क्या देखा कि, उनके मुख कमलपर जल गिर रहा है। वे इधर-उधर देखकर सोचने लगे कि, यहाँ तो छत भी पक्का है ऊपरसे जल कहाँसे आया, तब उपस्थित सभी भक्त-जनोंका ध्यान उधर आकर्षित हुआ और देखा गया कि, केशरके रङ्गका जल श्रीजीके जटाजूटसे होकर उनके दोनों चरणोंपर दो धाराओंमें गिर रहा है। तब उपस्थित भक्तोंको यह जानते देर नहीं हुई कि, भगवान् श्रीनाथजीके चरणोंके पास रखी केशर-जलसेपूर्ण पिचकारी स्वतः चली है। उसीका यह जल है। अब तो दर्शनार्थियोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। मन्दिरमें सब ओर हलचल मच गया और यह प्रचार हो गया कि, काशीसे श्रीविश्वनाथजी पधारे हैं, श्रीनाथजीने उनके साथ होली खेली है इत्यादि। सब दर्शनार्थी दौड़-दौड़कर श्रीजीके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। थोड़ी देरके पश्चात् जब कुछ शान्ति हुई तो श्रीजी पुनः उदयपुर जानेके लिये मोटरकी ओर बढ़े, इतने हीमें गोस्वामी गोवर्धनलालजीकी ओरसे एक व्यक्ति आया और निवेदन किया कि, गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि, आज रात ठहर जाँय; कल प्रातः उदयपुर पधारें। श्रीजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, रात वहीं रहे। प्रातःकाल गोस्वामीजी श्रीजीसे

मिले उन्होंने बताया कि, रातको श्रीनाथजीने उनको स्वप्नमें आदेश दिया है कि, "जिनका मैंने इतना सम्मान किया है, जिनके साथ मैंने होली खेली है, वे जैसा कहते हैं, वैसा कर दो, नहीं तो शुभ नहीं होगा। अतः जमीन मैं बिना किसी लगानके श्रीमहामण्डलको अर्पण करता हूँ और एक हजार एक रुपया भी भेंट करता हूँ।" इस प्रकार गोस्वामीने वह जमीन महामण्डलको दे दी। श्रीनाथजी-की यह जमीन अबभी श्रीमहामण्डलके अधिकारमें है। इसी भाँति एक अद्‌भुत घटना टीकमगढ़ राज्य जो अब मध्य-प्रदेशमें है, घटी थी। श्रीजीका योगदर्शन-भाष्य टीकमगढ़के तत्कालीन नरेश सवाई महाराजा प्रतापसिंहने पढ़ा तो उन्होंने श्री-महामण्डल प्रधानकार्यालयको पत्र लिखकर यह जिज्ञासा की कि, इस भाष्यके प्रणेता कौन महात्मा हैं? इसके उत्तरमें श्रीमहामण्डलसे श्रीजीका परिचय पानेपर महाराजा प्रताप-सिंहने श्रीजीसे अपने राज्यमें पदार्पण करनेकेलिये साग्रह प्रार्थना की। श्रीजीमहाराज टीकमगढ़ नरेशकी प्रार्थना स्वीकार कर टीकमगढ़ राज्यमें पधारे। साथमें श्रीजीके शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराज, स्वामी विवेकानन्दजी महाराज तथा निजि सचिव बाबू कालीप्रसन्न चटर्जीआदि थे। नरेशने श्रीजीको भक्त-मण्डली-सहित एक पृथक भवनमें ठहराया एवं आतिथ्य-सत्कारकी सुन्दर व्यवस्था की। नरेश प्रतिदिन सन्ध्या समय श्रीजीकी सेवामें आते थे, और दो तीन घण्टेतक बड़ी श्रद्धाके साथ धर्म-चर्चा करते थे, श्रीजी कुछ महीने वहाँ विराजते रहे और प्रति-दिन यही क्रम नियमसे चलता रहा। श्रीजीमहाराज ऊपरके खण्डमें विराजते थे। शिष्यगण नीचेके खण्डमें रहते थे। उसके नीचे भृत्य-गण थे। एक दिनकी यह घटना है कि, रात्रिका भोजन हो चुका था और सभी लोगोंको निद्रादेवीने अभिभूतकर लिया था। श्रीजीमहा-राजभी निद्रित हो गये थे। अर्द्धरात्रिका समय था, श्रीजीके कक्षका

द्वार जो बन्द था, स्वतः खुल गया, अकस्मात् वे चौंक उठे और देखा कि, द्वारके पास एक महिला खड़ी है। उस महिलाने श्रीजीको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा कि, "महाराज! मैं आपकी सेवामें एक अभियोग लेकर आयी हूँ। श्रीजीने पूछा क्यों माता! तेरा क्या काम है? श्रीजीके इस प्रकार पूछनेपर उस महिलाने कहा कि, सवाई महाराजाके पास मेरा चार लाख रुपया अयोध्यामें मन्दिर बनानेकेलिये मैंने रखा था, परन्तु सवाई महाराजा मन्दिर नहीं बनवाते हैं, इससे मैं बड़ी दुःखी हूँ। मुझे किसी प्रकार शान्ति नहीं मिल रही है। आप कृपा करके सवाई महाराजासे कहें कि, वे हमारा मन्दिर शीघ्र बनवा दें।" इतना कहकर वह महिला चुप हो गयी। श्रीजी महाराजने उत्तरमें उस महिलाको आश्वासन देकर कहा कि, अच्छा माता जा, तेरा काम हो जायेगा। इतना सुनते ही वह महिला श्रीजीको प्रणाम कर वहाँसे अदृश्य हो गयी। जब वह अदृश्य हो गयी, तब श्रीजी बाहर आकर देखने लगे कि, वह महिला कहाँसे आयी थी और कहाँ गयी। उन्होंने अपने शिष्योंको देखा तो सब लोग गाढ़ निद्रामें अचेत पड़े थे और सब द्वार बन्द थे, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। पुनः उनको निद्राभी नहीं आयी। श्रीजीको यह विदित था कि, महारानीका स्वर्गवास हो चुका है, अतः उनको यह निश्चय करते देर नहीं लगी कि, यह स्वर्गीया महारानी टीकमगढ़का आत्मा ही स्थूल शरीर धारण करके अपना कष्ट सुनाने इसलिये आयी थी कि, श्रीजीके कहनेसे उसका कार्य हो जायेगा। अतः प्रातःकाल होते ही श्रीजीने महाराजा प्रतापसिंहको बुलवाया। महाराजा प्रतिदिन सन्ध्या समय तो आते ही थे, अतः उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि, आज क्या कारण है कि, स्वामीजी महाराजने प्रातः ही बुलाया, इस कुतूहलमें वे तत्काल श्रीजीकी सेवामें उपस्थित हुए। श्रीजीने रात्रिमें देखी हुई स्त्रीका जैसा आकार रंग तथा वस्त्राभूषण था, उसका वर्णन

करके महाराजासे पूछा कि, क्या आपकी स्वर्गीया महारानीका ऐसा ही आकार तथा वेष-भूषा थी। महाराजाने कहा "हाँ"। पुनः श्रीजीने उनसे पूछा कि, क्या महारानीका चार लाख रुपया आपके पास अयोध्यामें मन्दिर बनवानेकेलिये रखा है ? महाराजाने इस परभी स्वीकारोक्ति सूचक उत्तर दिया। श्रीजीकी ये बातें सुनकर सवाई महाराजा प्रतापसिंह स्तब्धसे रह गये, उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही कि, श्रीजीको ये सब बातें क्योंकर विदित हो गयीं। अन्तमें श्रीजीने रात्रिकी घटना उनको ज्यों-की-त्यों सब सुना दी, और महाराजाको आदेश दिया कि, अब बिना विलम्ब महारानी-की इच्छाके अनुसार अयोध्यामें मन्दिरका निर्माण करा दिया जाय, जिससे स्वर्गीया महारानीका सन्ताप दूर हो जाय। महा-राजाने श्रीजीकी आज्ञाके अनुसार अयोध्यामें मन्दिरके निर्माण-का कार्य तत्काल प्रारम्भ करा दिया। वही अयोध्याका कनक-भवन है, जो स्वर्गीया महारानी टीकमगढ़के दानसे उपर्युक्त घटनाके पश्चात् सवाई महाराजा प्रतापसिंहने बनवाया था। महारानीका संकल्प मन्दिर बनवानेका था और उन्होंने मन्दिर-निर्माणकेलिये अपने पतिदेवके पास चार लाख रुपये रखे थे, इसी बीच महा-रानीका स्वर्गवास हो गया था और वर्षोंतक मन्दिर बनवानेका कार्य सम्पन्न नहीं हुआ था, इससे स्वर्गीया महारानीका आत्मा उद्विग्न हो उठा और तीव्र इच्छासे वह स्थूल शरीर धारण करके श्रीजीके सामने उपस्थित हो गयी तथा श्रीजीकेद्वारा अपना कार्य सम्पन्न करवा लिया।

श्रीजी महाराजका दिव्य जीवन इस प्रकार अनेक अलौकिक घटनाओं तथा असाधारण कृतियोंसे पूर्ण था, जो उनके लोकोत्तर महापुरुष होनेके उज्ज्वल प्रमाण है। ऐसे लोकोत्तर अवतारी महापुरुषके जीवन-वृतका अध्ययन, अध्यापन तथा अनु-

शीलन करनेसे मानव जातिको चिरकालतक कल्याण मार्गकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा मिलती रहेगी तथा उसका अनन्त कल्याण होगा। अतः प्रत्येक गृहस्थको अपने पास इस पुस्तककी एकप्रति अवश्य रखनी चाहिये, इससे अपना कल्याण तथा भावी सन्तानके चरित्र-निर्माणमें सहायता होगी। आज जगद्गुरु भारतका जैसा नैतिक पतन हो रहा है, वह सभी देश हितैषी व्यक्तिके लिये अत्यन्त दुःख और चिन्ताका विषय है। ऐसे समयमें ऐसे लोकोत्तर महापुरुषोंके चरित्रोंका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय इस पतनको रोकने तथा ऊपर उठने-उठानेका सरल सुगम साधन होगा यह निर्विवाद सिद्ध है। इति शम्

श्रीगुरुदेव-श्रीपादपद्माश्रिता
विद्यादेवी

जन्माष्टमी सम्वत् २०१६

——
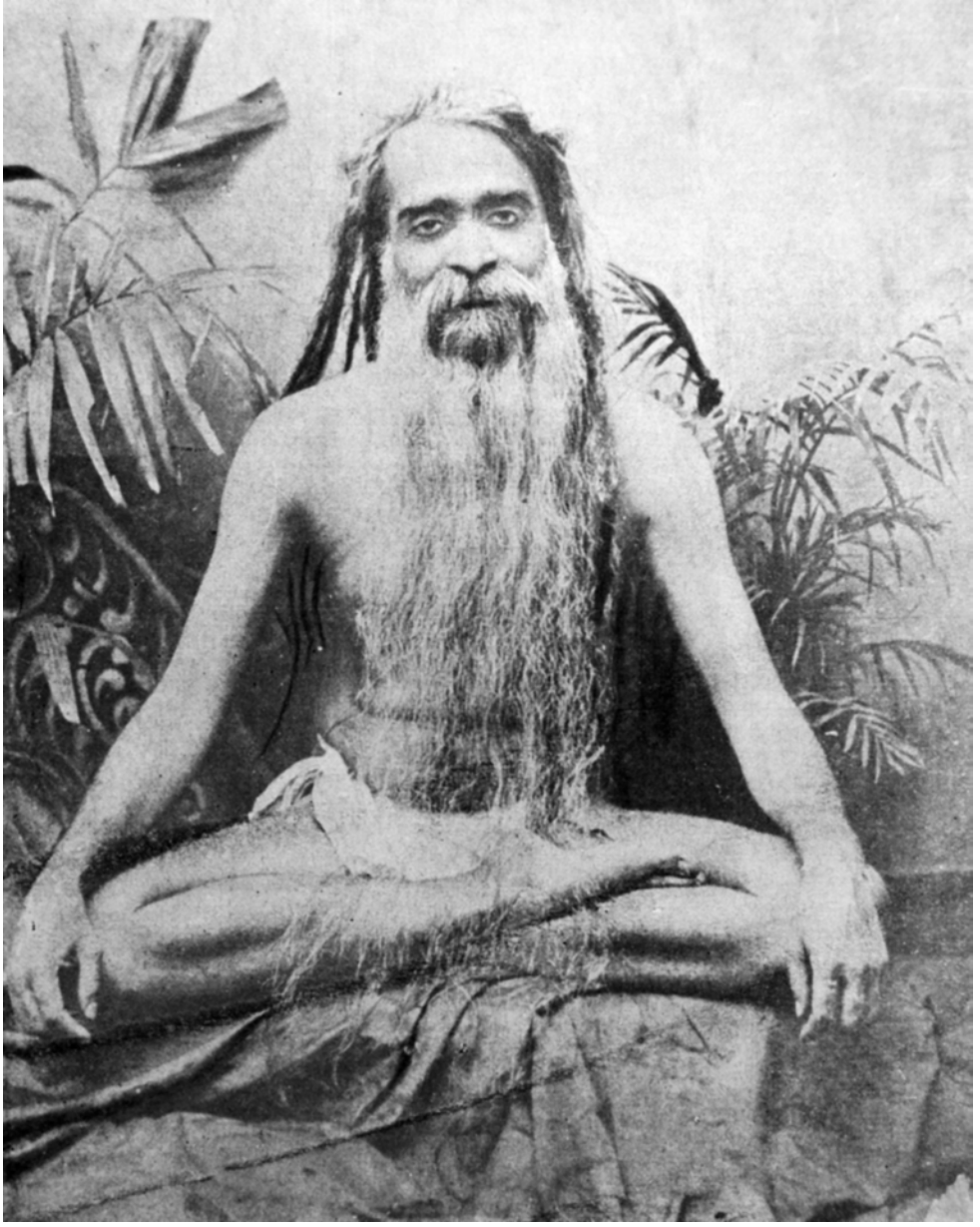
श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संचालक एवं संस्थापक भगवत्पूज्यपाद योगिराज महर्षि श्री ११०८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज (सन् १९१८ में)
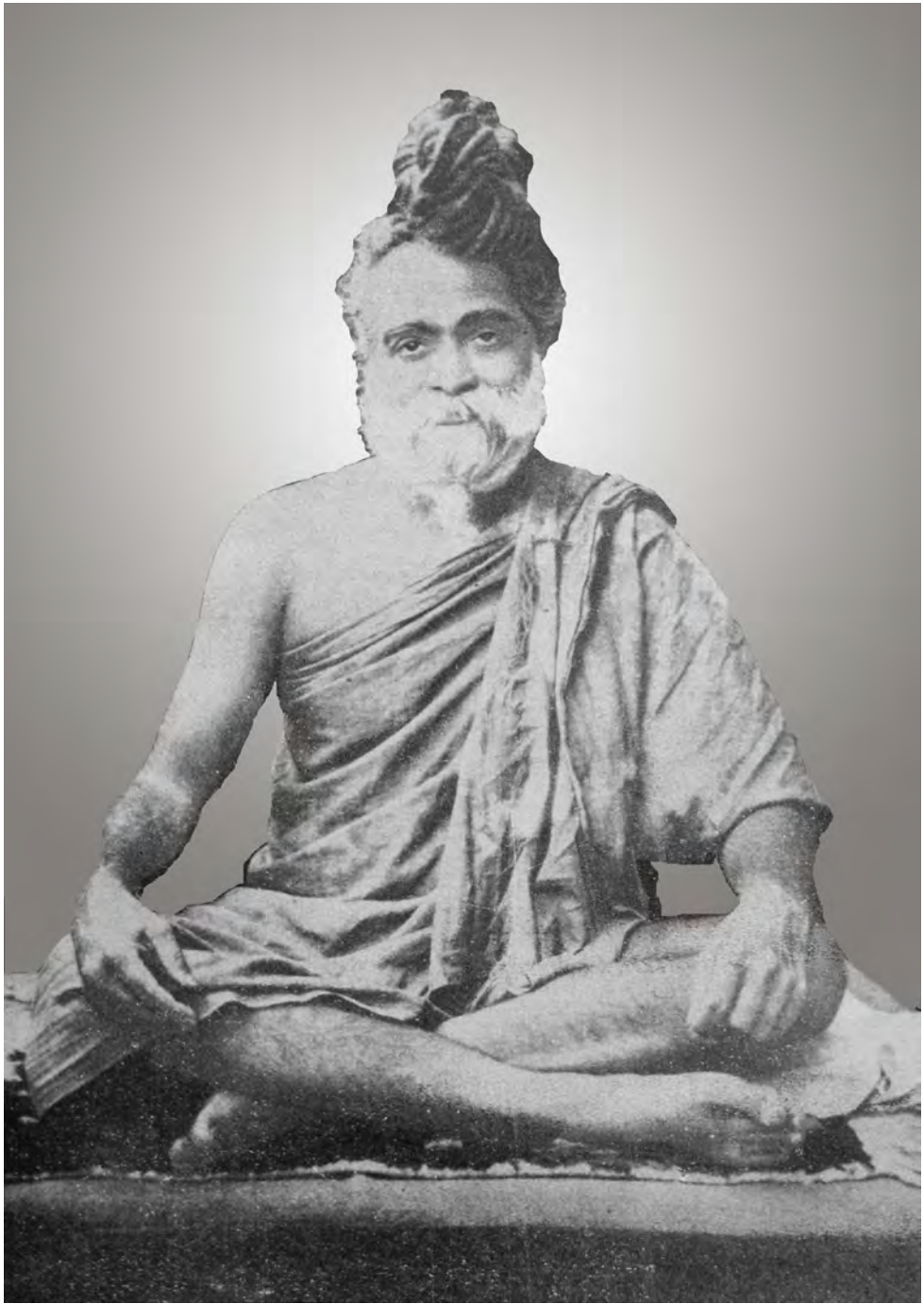
महर्षि श्री १११०८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज (सन् १९२१ में)

महर्षि श्री ११०८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज (सन् १९२८ में)

महर्षि श्री ११०८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज (सन् १९३८ में)

भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज के सुयोग्य शिष्य एवं
सनातन-धर्मके प्रसिद्ध नेता श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराज

विषय-सूची

——

भगवत् पूज्यपाद महर्षि श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

अवतारी पुरुष

"सर्वतन्त्र: स्वतन्त्र: क, क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षु दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
क्वाहमुल्काकर: क्वायं सूर्यस्तेजोनिधि: किल ।
तथापि भक्तिमान्क: किं न कुर्यात्स्वहिताप्तये ॥

"कहाँ पुण्यचरित पूज्यपाद ब्रह्मीभूत श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता और कहाँ मेरी अति अल्प बुद्धि ! जब, उनका जीवनवृत्त लिखनेका मैं बालचापल्य कर रहा हूँ, तब समझना चाहिये कि, एक छोटीसी नौकासे दुस्तर महासागरको पार करनेका पागलपन कर रहा हूँ। कहाँ छोटासी दीपकके समान मैं और कहाँ तेजोनिधि सूर्यस्वरूप गुरुदेव ! परन्तु उनके चरणोंका आश्रित भक्त अपने कल्याण-साधनके लिये क्या नहीं करता ? सब कुछ कर डालता है।" इसी तरह मैं भी यह पवित्र दु:साहस कर रहा हूँ ।

पुस्तक पढ़ना आरम्भ करनेसे पहले ही स्वाभाविक रूपसे यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि, जिनका पवित्र जीवनवृत्त हम लिखने जा रहे हैं, वे पूज्यपाद श्रीजी महाराज थे कौन और उनका

स्वरूप क्या था, इसका समाधान निम्नलिखित श्लोकोंसे हो सकता है :—

> बाले बालो विदुषि विबुधो गायके गायकेशः।
> शूरे शूरो निगमविदि चाऽऽम्नायलीलागृहं यः॥
> सिद्धे सिद्धो मुनिषु च मुनिः सत्सु सन् वृद्धवृद्धः।
> प्रौढे प्रौढः किमिति वचसा तादृशो यादृशेषु॥
> मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पण्डिते पण्डितोऽसौ।
> दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः॥
> मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी।
> धन्यः कोऽपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः॥

अर्थात् बालकके साथ जो बालक, विद्वानोंके साथ विद्वदग्रणी, गायकके साथ गाययकाचार्य, शूरके साथ महान् शूर, वेदवेत्ताओंके साथ वेदोंके लीला-निकेतन, सिद्धोंके साथ श्रेष्ठ सिद्धपुरुष, मुनिगणके साथ महामुनि, सज्जनोंके साथ सज्जनताके रूप, वृद्धोंके साथ अनुभवसम्पन्न वृद्ध और प्रौढ़ोंके साथ प्रौढ़ बन जाते हैं; अधिक क्या कहा जाय, जो जैसे के साथ तैसे ही बन जाते हैं, वे ही अवतारी महापुरुष होते हैं। जो मौनावलम्बियोंमें मौन धारण करनेवाले, गुणिजनमें श्रेष्ठ गुणवान्, पण्डितोंमें महापण्डित, दीनोंमें दीन, सुखियोंमें सुखी, भोगपरायणलोगोंमें भुक्तभोगी, मूर्खोंमें मूर्ख, युवतियोंमें पूर्णयुवक, वक्ताओंमें प्रौढ़वक्ता और अवधूतोंमें परम अवधूत हैं, वे ही त्रिभुवनपर विजयप्राप्त करनेवाले अवतारी महात्मा धन्य हैं। श्रीजीका यही वास्तविक स्वरूप और संक्षिप्त परिचय है। ऐसे महापुरुष भगवान्के अवतार ही क्या, भगवत्स्वरूप ही होते हैं। अतः अवतार-तत्त्वपर एक दृष्टि डालकर

यह भी देख लेना चाहिये कि, ऐसे अवतार कब होते हैं और कब उनकी आवश्यकता होती है ।

सर्वव्यापक, निराकार परमात्माका किसी स्थूल लौकिक रूप धारण कर संसारमें प्रकट होना एक अपूर्व वस्तु है। इच्छारहित भगवान्‌के अन्त:करणमें संसारमें प्रकट होकर संसारी जीवोंकी तरह लीला करनेकी इच्छा कैसे हो सकती है ? मायानिर्मुक्त निराकार परमात्मा मायामय स्थूल शरीर कैसे धारण कर सकते हैं ? देश-काल-वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न जो परमात्मा सर्वत्र विद्यमान हैं, वे कहींसे कहीं आ कैसे सकते हैं ? यदि वे कहीं होते और कहीं न होते, तो जहाँ हैं, वहाँसे जहाँ नहीं हैं, वहाँ आ सकते थे। किसी एक स्थानसे उनका स्थानान्तरमें जाना कैसे सम्भव हो सकता है ? किसी कारणसे उनका आना सम्भव भी मान लिया जाय तो उन आनन्दमयको इस स्थूल दु:खमय शरीरके चक्रमें उलझ पड़नेका प्रयोजन क्या है ? यदि यह कहा जाय कि, दुष्टोंके दमन और संसारकी रक्षाके लिये उनको आना पड़ता है तो जब वे सर्व-शक्तिमान् हैं, तब यह कार्य तो वे इच्छामात्रसे कर सकते थे। इसी प्रकार अलौकिक भावमय अवतारतत्त्वके विषयमें नानाभाँति-की शङ्काएँ हो सकती हैं। अत: पहले इन्हीं सन्देहोंका निराकरण हमारे पूर्वज महर्षियोंने किस प्रकार किया है, उसपर दृष्टिपात करना उचित होगा।

सब शाब्द-प्रमाणोंमें वेद प्रामाण्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऋग्वेद मं० ६, अ० ४, सू० ४७, मं० १८ और यजुर्वेद अ० ३१, मं० १९ में भगवान्‌के अवतारोंका उल्लेख हुआ है। वेदसम्मत शास्त्रों, दर्शनों, उपनिषदों और पुराणोंमें भी इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। (देखो श्रीमद्भागवत स्कं–१० अ० २, श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लो०–७-८, केनोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, पञ्चदशी,

प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयब्राह्मण, योगदर्शन, महाभारत, मनुस्मृति, दैवीमीमांसादर्शन आदि)।

इसमें सन्देह नहीं कि, परमात्माकी सत्ता विभु होनेसे वे सर्वत्र व्याप्त हैं और उनका कहींसे कहीं आना जाना असम्भव ही नहीं, विज्ञान-विरुद्ध भी है; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि, वे अवतार धारण करते ही नहीं। भगवान्‌के कहींसे कहीं आने-जानेका नाम अवतार नहीं है; किन्तु सर्वव्यापक परमात्माकी किसी विशेष केन्द्रके द्वारा शक्तिके प्रकट होनेका नाम अवतार है और यही समझनेमें आक्षेप करनेवाले लोग भूल किया करते हैं। भगवान्‌की किसी विशेष-शक्तिकी मायासे सम्बन्धित होकर स्थूलरूपमें प्रकट होनेको ही भावराज्यमें अवतरण कहते हैं। भगवान्‌की शक्तिका प्राकट्य ही अवतार है। इसका विज्ञान इस प्रकार समझा जा सकता है कि, परमात्माके सर्वव्यापक होनेसे उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। उन्हींमें स्थित जड़-चेतनात्मक समस्त संसारमें जो शक्ति विकासको प्राप्त होती हुई देख पड़ती है, वह उन्हींकी शक्ति है। जब शक्तिकी आधारभूता महाशक्ति श्रीजगदम्बा ही उनकी शक्तिस्वरूपिणी हैं, तब संसारकी विकाशशील सब शक्तियाँ उन्हींकी शक्तियाँ हैं, इसमें सन्देह ही क्या है? पञ्चदशीकार महर्षि विद्यारण्य लिखते हैं:—"अद्वितीय ब्रह्ममें शक्ति पूर्ण है। उसका दृश्यके आश्रयसे जब उल्लास होता है, तभी दृश्य जगतमें उसका विकास होता है, उसी शक्तिको कला कहते हैं। भगवान् सोलह कलाओंसे पूर्ण हैं, यह वेदोंसे भी सिद्ध है। जीव अपनी योनिमें जितना जितना उन्नत होता जाता है, उतनी उतनी जीवके आश्रयसे उनकी कलाएँ विकाशको प्राप्त होने लगती हैं। उनकी सोलह कलाओंमेंसे एक कलाका विकाश अन्नमयकोशयुक्त उद्भिज्ज जीवोंमें हुआ है। यही प्रथम सृष्टि है। स्वेदजमें दो, अण्डजमें तीन

और जरायुज पशुयोनियोंमें चार कलाओंका विकाश होता है। तदनन्तर विकासवादके अनुसार जीव जब मनुष्ययोनिमें आता है, तब साधारण मनुष्यसे लेकर विभूतियुक्त मनुष्यतक पाँच कलाओं-से आठ कलाओंतक भगवच्छक्तिका विकाश होता है। ऐसे लोग विभूति कहाते हैं और लौकिक कोटिमें ही गिने जाते हैं; परन्तु जिनमें नौसे सोलह कलाओंतकका विकास देख पड़े, वे अवतार कहाते हैं। वे अलौकिक शक्तिके आधार होनेसे असाधारण कोटि-में आजाते हैं। प्रकृतिराज्यमें जबतक अवतार प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं होती, तबतक उनकी विभूतियोंके द्वारा सामयिक रूपसे धर्मकी रक्षा हुआ करती है, उनसे धर्म-जगतमें स्थायी कल्याण नहीं होता। यही नहीं, देशकाल पात्रोंके बदल जानेसे विभूतियोंके धर्मकार्यका खण्डन भी हो जाता है और किसी नयी विभूतिद्वारा नवीन देशकालानुसार नवीन रूपसे धर्मकी रक्षा होती है। भारतद्वीप और संसारमें भगवान् गौतमबुद्ध, शंकराचार्य आदि जितने धर्माचार्य हुए, वे भगवद्विभूति कोटिमें ही गिने जा सकते हैं। ये ही अंशावतार या कलावतार हैं, श्रीभगवान्की ८ से १५ कलाओंतकका जिनमें विकास हुआ था, वे वामन, परशुराम, राम आदि माने गये हैं और श्रीकृष्ण पूर्ण अवतार थे, जिनमें सोलहों कलाएँ विकसित हुई थीं।

दृष्टान्तरूपसे कहा जा सकता है कि, जिस समय भारतद्वीपमें यवनसाम्राज्यके विस्तृत होनेसे सनातनधर्मकी बहुत हानि हो रही थी, उस समय नानकदेव, गुरुगोविन्दसिंह, गोस्वामी तुलसी-दास, समर्थ रामदास, चैतन्यदेव, सूरदास, कबीरदास, हरिदास आदि विभूतियोंका उदय होनेसे भारतके सब प्रान्तोंमें धर्मकी विशेष रक्षा हुई थी। इसी प्रकार रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य आदि साम्प्रदायिक आचार्योंने अपने समयमें धर्मकी विशेष रक्षा की थी। अंग्रेजी-शासनमें भी ईसाई

धर्मके प्रलोभनसे आर्यजातिकी रक्षाके लिये कई विभूतियोंने जन्म ग्रहण किया था। उनमेंसे राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, महात्मा दयानन्द सरस्वती आदि अग्रगण्य थे। राजा साहबने ब्राह्मसमाज और महात्माजीने आर्यसमाजकी स्थापना कर उसके द्वारा ईसाइयतके प्रभावका दमनकर हिन्दुजातिका परम कल्याण साधन किया था। परन्तु समय पाकर इन पन्थोंकी आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उनका सनातनधर्मके अनेक मौलिक सिद्धान्तोंसे विरोध था। द्वापरके अन्त और कलिके आरम्भमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि, श्रीभगवान्को १६ कलाओंसे पूर्ण पूर्णावतार श्रीकृष्णके रूपमें अवतरित होना पड़ा।

एक साम्राज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाकेलिये जिस प्रकार अनेक अनुशासन-विभाग होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके तीन अनुशासन-विभाग शास्त्रोंमें बताये गये हैं, वे ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कहाते हैं। इन तीनोंका सञ्चालन ऋषि, देवता और पितृगण करते हैं और तीनों प्रकारान्तरसे देवता ही हैं। ज्ञानराज्य-(अध्यात्म) के सञ्चालक ऋषिगण, कर्मराज्य-(अधिदैव) के देवतागण और स्थूलराज्य-(अधिभूत) के पितृगण हैं। जो कारणमें होता है, वह कार्यमें भी संक्रमित होता है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म सब कारणोंके कारण होनेसे उनमें जो चिद्भाव है, वह अध्यात्म है, आनन्दभाव अधिदैव है और सद्भाव अधिभूत जगतका उत्पादक है। ब्रह्म, ईश्वर और विराट श्रीभगवान्के उक्त तीन भावोंसे ही सम्बन्ध युक्त हैं। स्थूल प्रपंचमय विराट् रूपमें सद्भाव, ईश्वरपदमें आनन्दभाव और तत्त्वातीत ब्रह्मपदमें चिद्भावकी व्यापकता है। अनेक कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीजगदीश्वर अपनी ही सत्तासे प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सुरक्षाकेलिये उक्त

तीन कार्य-विभागोंके सञ्चालनार्थ अपने अंशरूपसे उक्त तीन प्रकारकी दैवी विभूतियोंको उत्पन्न किया करते हैं। भगवान्‌की शक्ति दो प्रकारकी होती है—सात्त्विकी और तामसी। इन्हींमें क्रमशः देवताओं और असुरोंका अधिष्ठान रहता है। इन दोनोंमें सदा ही संग्राम हुआ करता है। असुरगण कर्मके विपर्ययके द्वारा अपनी शक्तिको बढ़ा कर देवताओंके अधिकारोंको छीन लेते हैं और देवता भगवत्कृपा प्राप्त कर फिर असुरोंको जीतकर अपने अधिकारोंको प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं और असुरोंके अधिकारोंकी समता होनेपर ही ब्रह्माण्डमें धर्मकी यथार्थ रूपसे स्थिति रहती है और ऐसी समता बनाये रखनेकेलिये ही भगवान्‌के अवतार हुआ करते हैं।

अवतारका प्रयोजन कब होता है ?

श्रीजीके आविर्भावके दिनोंमें देशकी कैसी स्थिति थी, इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन ब्रह्माकी सभामें देवर्षि नारदके द्वारा की गयी कलियुगकी भावी परिस्थितिके वर्णनसे हो सकता है। ब्रह्माजीसे देवर्षि नारद निवेदन करते हैं—"हे प्रभो! जब घोर कलियुग आवेगा, तब पृथ्वीके सब लोग पुण्यहीन, दुराचारोंमें निरत और सत्य वचनसे पराङ्मुख हो जायंगे। सत्य, सदाचार और पुण्यका कहीं ठिकाना नहीं रहेगा। दूसरोंकी निन्दा करनेमें और दूसरोंके धनकी अभिलाषामें डूबे रहेंगे। उनके मन दूसरोंकी स्त्रियोंमें आसक्त रहेंगे और दूसरोंकी हिंसा करनेमें निपुण होंगे। पशुके समान बुद्धिवाले वे मूढ़ ईश्वर और परलोकमें विश्वास नहीं करेंगे और देहको ही आत्मा मानेंगे। माता-पितासे घृणा और द्वेष करेंगे तथा स्त्रीको ही देवता मानकर कामके गुलाम बन जायंगे, विषयासक्त हो जायंगे। ब्राह्मणगण लोभरूपी ग्राहसे ग्रसे जायंगे

और वेदका विक्रय कर जीविका-निर्वाह करेंगे। धन कमानेके लिये ही विद्याभ्यास करेंगे और अभिमानसे मोहित रहेंगे। अपनी जातिके कर्मोंको त्याग देंगे और प्रायः लोगोंको ठगा करेंगे। क्षत्रिय अपने धर्मपर तिलांजलि दे देंगे, उनमें शौर्य, ईश्वरभाव (राज-शासनकी योग्यता) धैर्य, दान, यज्ञ, युद्धमें पीठ नहीं दिखाना आदि गुण न रहेंगे और वैश्य भी अपने धर्मको छोड़कर, कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य आदिमें मन न लगाकर निन्दनीय काम करने लगेंगे। शूद्रोंमें बहुतेरे ब्राह्मणोंके आचरण करते हुए दिखाई देंगे। अर्थात् वर्णाश्रम सदाचारका नामतक नहीं रहेगा। अधिकांश स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जायंगी, पतिकी बात-बातमें अवज्ञा करेंगीं, निर्भय और स्वच्छन्द हो जायंगी, उनमें पातिव्रत्यका भाव ही नहीं रहेगा। सास-ससुरसे वे द्रोह करेंगी, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उस समय इस प्रकार जिनकी बुद्धि मारी गयी हो, उनका परलोक कैसे बनेगा? यही मुझे चिन्ता हो रही है। हे नाथ! इसका कोई सुलभ उपाय बताइये"। श्रीमदध्यात्मरामायण (अ० १५ श्लो०) के इस कलिवर्णनकी तरह गोस्वामी तुलसीदासजीने भी बड़ा ही सुन्दर और यथार्थ वर्णन किया है। वह इस प्रकार है :—

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप-परायन सब नर-नारी॥

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सदग्रन्थ।
दम्भिन निज मति कल्पि करि प्रकट किये बहु पन्थ॥
भये लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिवाहन ज्ञाननिधि, कहउँ कछुक कलि-धर्म॥

बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-विरोध-रत सब नरनारी॥
द्विज श्रुति-बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन॥
मत सोइ जा कहँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥

मिथ्यारम्भ दम्भरत जोई। ता कहँ संत कहहि सब कोई॥
सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दम्भ सो बड़ आचारी॥
जो बहु झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति-पथत्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी बैरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ वेष भूषण धरें, भक्ष्याभक्ष्य जे खाहिं।
तेइ योगी ते सिद्ध नर, पूजित कलियुग माहिं॥
जे अपकारी चार, तिन्हकर गौरव मान्यता।
मन-क्रम बचन लबार, तेइ वक्ता कलिकाल महँ॥

नारि-बिवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट-मर्कटकी नाईं॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम-लोभरत क्रोधी। देव-विप्र श्रुति-सन्त-विरोधी॥
गुणमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी॥
सौभागिनी विभूषण हीना। विधवनके श्रृंगार नवीना॥
गुरु-सिष अन्ध-बधिर कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरहिं सिष्य-धन सोक न हरहीं। सो गुरु घोर नरकमहँ परहीं॥
मातु पिता बालकन बुलावहिं। उदर भरे सो धर्म सिखावहिं॥

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहैं न दूसरि बात।
कौड़ी-लागी लोभ बस, करहिं विप्र-गुरु-घात॥
बादहिं सूद्र द्विजनसन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहि डाटि॥

परतिय-लम्पट कपट-सयाने। मोह-द्रोह-ममता - लपटाने॥
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुगकर॥
आपु गये अरु आनहि घालहिं। जो कोउ सत मारग प्रतिपालहिं॥
कल्प-कल्पभरि इक-इक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच-किरात-कोल-कलवारा ॥
नारि मुई गृहसम्पति नासी । मूड मुडाइ भये संन्यासी ॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥
विप्र निरक्षर लोलुप कामी । निराचार सठ वृषली-स्वामी ॥
सूद्र करहिं जपतप-व्रत नाना । बैठि वरासन कहहिं पुराना ॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥

भये बरनसंकर कलि; भिन्न सेतु सब लोग ।
करहिं पाप दुख पावहीं, भय-रुज सोक-वियोग ॥
श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ; संयुत विरति-विवेक ।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पन्थ अनेक ॥

बहु दाम सँवारहिं धाम यती । विषया हरि-लीन्हि न रहि बिरती ॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही । कलि-कौतुक तात न जात कही ॥
कुलवन्ति निकारहिं नारि सती । गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ॥
सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं । अबलानन दीख नहीं जब लौं ॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें । रिपुरूप कुटुम्ब भये तब तें ॥
नृप पाप-परायण धर्म नहीं । कर दण्ड-विडंब प्रजा नितहीं ॥
धनवन्त कुलीन मलीन अपी । द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी ॥
नहिं मान पुरानन वेदहिं जो । हरि-सेवक-सन्त सही कलि सो ॥
कविवृन्द उदार दुनी न सुनी । गुणदूषक व्रात न कोपि गुनी ॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥

सुनु खगेस कलि कपट हठ; दम्भ-द्वेष-पाषण्ड ।
मान-मोह कामादि मद; व्यापि रहे ब्रह्मण्ड ॥
तामस धर्महिं करहिं नर; जप तप-व्रत-मख दान ।
देव न बरसहिं धरनिपर; बये न जामहिं धान ॥

अबला कच भूषण भूरि छुधा । धनहीन दुखी ममता बहुधा ॥

सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारन ही॥
लघु जीवन संवत पञ्चदसा। कलपान्त न नास गुमान असा॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥
नहिं तोष विचारन सीतलता। सब जाति-कुजाति भये मँगता॥
इरषा-परुषाक्षर लोलुपता। भरि पूरि रही समता विगता॥
सब लोग वियोग विसोक हुए। वरनाश्रम-धर्म-अचार गए॥
दम-दान-दया नहिं जानपनी। जडता परवंचक तात घनी॥
तनुपोषक नारि-नरा सगरे। परनिन्दक जे जगमों बगरे॥

सुनु व्यालारि कराल कलि; मल अवगुण आगार।
गुनउ बहुत कलिकाल कर, बिनु प्रयास निस्तार।

पूज्यपाद श्रीजीके आविर्भावके समय भगवान् व्यासदेव और गोस्वामीजीके उक्त वर्णनोंके अनुसार भारतीय समाजकी ऐसी ही अवस्था हो रही थी और इसको बदल देना मानवी शक्तिके बाहरकी बात हो गयी थी। ऐसे ही समयमें भगवान्के विशेष अवतारकी आवश्यकता हुआ करती है। श्रीभगवान्ने गीतामें स्वयं प्रतिज्ञा की है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

अर्थात्—हे अर्जुन! जब जब धर्मकी ग्लानि होकर अधर्मका प्रभाव बढ़ जाता है, तब तब मैं अपनेको प्रकट करता हूँ। साधु-सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंके विनाश और धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके

लिये मैं युग-युगमें उत्पन्न होता हूँ।" भगवान्की इसी प्रतिज्ञाके अनुसार श्रीजीका आविर्भाव हुआ था।

ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें दैवीसम्पत्तिकी सुरक्षा और दैवजगत्के परिचालनका भार देवताओंपर रहता है। अतः आसुरी-शक्तिके अत्याचारसे यदि किसी समय दैवीसम्पत्तिका ह्रास होता हो और दैवक्रियाके परिचालनमें बाधा उपस्थित होती हो, तो नित्य देवताओंको अवतार धारणकर आसुरी शक्तियोंको दबाकर दैवीक्रियाको पुनः शृंखलाबद्ध करना पड़ता है। असुर भी एक श्रेणीके देवता हैं और उनके भी अवतार हुआ करते हैं। यदि असुरोंकी प्रतिद्वन्द्विता न हो, तो देवता भी अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो जायेंगे। जिस प्रकार सूक्ष्मजगत्में देवासुरसंग्रामके द्वारा दैवीशक्तिका सामञ्जस्य सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार इस स्थूलजगत्में भी आसुरी प्रजाको दबाकर धर्मकी सुरक्षा करनेके लिये दैवीशक्ति सम्पन्न अवतारोंकी आवश्यकता हुआ करती है।

अवतारतत्त्व

सगुण ब्रह्मका सम्बन्ध वहीं है, जहाँ सृष्टि है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें समान रूपसे परिव्याप्त सगुण ब्रह्म ईश्वर हैं। वे ही गुणत्रय विभागके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें गुणत्रयका सृष्टि, स्थिति, प्रलयका कार्य करते या कराते रहते हैं। जगदीश्वर सगुण ब्रह्म कारणरूप हैं; परन्तु कार्य करते समय ब्रह्मा, विष्णु अथवा शिवके रूपमें परिणत हो जाते हैं। वे ही सगुण ब्रह्म अपने अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयानुसार ऋषि, देवता और पितरोंके रूपमें कार्य किया करते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु और महेश मिलकर भगवत्स्वरूप प्रकट करते हैं, उसी प्रकार नित्य ऋषि, नित्य

देवता और नित्य पितर भी उनका स्वरूप प्रकट करते हैं। ये सब शक्तियाँ परस्परसे सम्बन्ध युक्त हैं। पूर्णावतारमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी त्रिविध शक्तियाँ और ऋषि, देवता तथा पितरोंकी त्रिविध शक्तियाँ यथावश्यक पूर्णरूपसे विद्यमान रहती हैं।

श्रीभगवान्के अवतार पाँच प्रकारके होते हैं :—१–अंशावतार या कलावतार, २—पूर्णावतार, ३—विशेषावतार या आवेशावतार, ४—अविशेषावतार और ५—नित्यावतार। यह पहले कहा जा चुका है कि, श्रीभगवान्की एक कलासे आठ कलाओं तकका जिन महापुरुषोंमें विकास होता है, वे विभूति कहाते हैं। जिनमें आठ कलाओंसे पन्द्रह कलाओंतकका विकास देख पड़े, वे अंशावतार या कलावतार हैं, और जिनमें सोलहो कलाएँ विकसित हुई हों, वे ही पूर्णावतार माने जा सकते हैं। तीसरी श्रेणीके विशेषावतार या आवेशावतार किसी विशेष निमित्तसे हुआ करते हैं। वे ही पुरुष आवेशावतार कहाते हैं, जिनमें कभी-कभी भगवच्छक्तिका आवेश हो जाता है। अन्य समयमें वे साधारण मनुष्योंकी ही तरह रहते हैं। सनकादि मुनि, नारद, पृथु, चैतन्यदेव आदि इसके उदाहरण हैं। इनमें आवश्यकतानुसार भगवच्छक्तिका आवेश होकर इनके द्वारा अनेक अलौकिक जगत्कल्याणकारी कार्य हुए थे। श्रीभगवान्का अविशेषावतार श्रीसद्गुरुमें दीक्षा देते समय प्रकट होता है। भगवान् निराकार होनेसे मनुष्य उनसे साक्षात् रूपसे सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकता। अतः जिस मनुष्यरूपी केन्द्रके द्वारा श्रीभगवान् अपनी ज्ञानशक्तिको प्रकटकर शिष्यको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, वही केन्द्र लौकिक जगत्में गुरुपद वाच्य है। दीक्षाके समय उसमें भगवद्भाव विकसित हो जाता है; इसीसे श्रीसद्गुरुको भगवत्स्वरूप माना गया है। यही उनका अविशेषावतार है और इसीके द्वारा अधर्मका नाश और धर्मकी रक्षा हुआ करती

है। इनके अतिरिक्त श्रीभगवान्का पाँचवाँ नित्यावतार साधकके अन्तःकरणमें हुआ करता है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, ज्ञानमय, आनन्दमय परमात्मा संसारमें सर्वत्र विराजमान हैं। प्रत्येक जीवके हृदयासनमें उनका स्थान है। वहींसे वे सदा जीवको पापकर्मसे रोकते और पुण्यकी ओर प्रेरित करते हैं। पाप करनेपर अनुतापकी अग्निमें उसके पाप-संस्कारोंको दग्ध कर देते और अधोगतिसे सावधान कर देते हैं। अन्तःकरणमें इस प्रकार नित्यावतारके प्रकट होनेसे जीवको पापसे सदा संकोच हुआ करता है। घट-घटमें विराजमान परमात्माके नित्यावतार द्वारा समष्टिरूपसे समस्त जगत्में धर्मकी अभिवृद्धि होती है और समष्टि प्रकृतिकी ऊर्द्धगति बनी रहती है। यही श्रीभगवान्के कलाभेदानुसार पाँच प्रकारके अवतारोंका रहस्य है।

श्रीभगवान्के अवतारोंके अनुसार नित्य ऋषि और नित्य देवताओंके भी अवतार हुआ करते हैं। जिस प्रकार कर्मके सञ्चालनका भार देवताओंपर और आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षाका भार पितरोंपर है, उसी प्रकार ज्ञान जगतके संरक्षणका भार नित्य ऋषियोंपर रक्खा गया है। ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें वैदिक तथा वेदानुकूल ज्ञानका विस्तार करना ऋषियोंका कार्य है। जब कभी आसुरी-शक्तिके प्रभावसे किसी देश-कालमें आवश्यकीय ज्ञानपर आवरण पड़ जाय, तब उस आवरणको हटाकर यथार्थ ज्ञानज्योतिको पुनः जगानेके लिये नित्य ऋषियोंके अवतार हुआ करते हैं। वे सब अवतार श्रीभगवान्के अवतारोंकी ही तरह अंशकला, पूर्णकला, आवेश आदिके रूपमें होते हैं। नित्य पितृगण और नित्य देवगणकी तरह नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत रहता है। पितरों, देवताओं और ऋषियोंके पद तो स्थायी रहते हैं; परन्तु मन्वन्तर, कल्प आदि भेदसे यथानियम व्यक्तियोंका परिवर्तन हुआ करता है।

पितरोंके अवतार नहीं होते। जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य सुसम्पन्न करना होता है, तब माता-पिताके शरीरोंमें आविर्भूत होकर उन्हींके द्वारा अपना कार्य बना लेते हैं।

ऋषियोंके सात विभाग हैं:—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि और काण्डर्षि। व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि हैं, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं। कल्प और मन्वन्तरोंके भेदसे सप्तर्षि भी पृथक्-पृथक् होते हैं। तदनुसार वर्तमान वैवस्वत मन्वतरके कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम और वशिष्ठ ये सात ऋषि हैं, जो नित्य ऋषियोंमें परिगणित होते हैं। इन नित्य ऋषियोंकी ही कृपासे ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु और अक्षरमयी पाँचों प्रकारकी पुस्तकें आविर्भूत होकर सुरक्षित रहा करती हैं।

ब्रह्माण्डके अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा श्रीजगदम्बाकी प्रेरणासे जो प्रकाशित हों और जिनकी स्थिति ऊपरके सबसे ऊँचे तीन लोकों (जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक अर्थात् ब्राह्मस्वर्ग) में नित्य रहे, उन ज्ञानमयी पुस्तकोंका नाम ब्रह्माण्ड पुस्तक है। जो पुस्तकें भूलोंकके दैवी राज्यके ऋषियोंद्वारा प्रेरित होकर प्रकाशित हों अथवा आसुरी-शक्तिद्वारा प्रेरित होकर प्रकाशित हों, वे पिण्ड नामक पुस्तकोंके अन्तर्गत मानी जायँगी। इन पुस्तकोंकी सामग्री नीचेके असुरलोक और भूलोंकसे प्रेरित होती है। वेदोंका स्मरण कर ऋषियोंके अवतार बिन्दुमें संयम करके जो ज्ञानराशि प्रकाशित करते हैं, वे बिन्दु-पुस्तक नामसे अभिहित होती हैं। उनको स्मृति-शास्त्र भी कहते हैं। जो सृष्टिके आदिकालमें ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें ज्यों-की-त्यों मन्त्ररूपसे सुनायी देती हों, वे नादमयी पुस्तकें हैं, वे ही वेद हैं। वेदोंमें ज्ञानकी पूर्णता होनेके कारण

सत्त्व, रज, तमोगुण रूपी त्रिगुण और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत रूपी त्रिभाव समान रूपसे विद्यमान है। अतः वेद स्वतः पूर्ण हैं, अभ्रान्त ज्ञानयुक्त हैं और नित्य है। इसीसे अङ्गिरा कहते हैं—"गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः। स्वतः पूर्णोऽभ्रान्तो नित्यश्च"। ये चारों अलौकिक पुस्तकें हैं। लौकिक बुद्धिसे प्रकाशित साधारण पुस्तकें, जो अक्षरोंमें लिखी जाती हैं, वे अक्षरमयी पुस्तकें कहाती हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारकी पुस्तकें नित्य और अक्षरमयी पुस्तकें अनित्य मानी गयी हैं। इस प्रकार 'पञ्चस्रोता सरस्वती' इस श्रुति वचनके अनुसार विद्यारूपी ज्ञानसरिताका प्रवाह पाँच धाराओंमें होकर प्रवाहित होता है। "पञ्चस्रोता सरस्वती"।

इस संसारमें ऋषियोंके कृपाप्राप्त लेखक भी पाँच श्रेणीके होते हैं। ऋषियोंसे साक्षात् सम्बन्धयुक्त ऋषियोंके ही अवताररूपी लेखक प्रथम श्रेणीके होते हैं। ऋषियोंके साथ परम्परा सम्बन्धसे युक्त ऋतम्भरा नामक योगबुद्धिसम्पन्न लेखक दूसरी श्रेणीके समझे जाते हैं। इन लेखकोंके द्वारा आर्षज्ञानका मौलिक तत्त्व नूतन आकारमें प्रकट होता है। पहली और दूसरी श्रेणीके उन्नत ज्ञानी व्यक्तियोंमें मन्त्रद्रष्टा भी प्रकट होते हैं। इस संसारमें वेदोंके मन्त्रद्रष्टा जो नैमित्तिक ऋषिगण हुए, वे इन्हीं दो श्रेणियोंमें गिने जा सकते हैं। निरुक्तमें कहा है :—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"।

उन्नत तथा अवनत अधिकारोंमें ऋषियोंकी मन्त्रदृष्टि होती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, इन दोनों श्रेणियोंके सभी व्यक्ति नैमित्तिक ऋषि होते हैं। जब कभी वेदके आविर्भावकी आवश्यकता होती है, तब इन्हीं दोनों श्रेणियोंके ज्ञानी महात्माओंमें नैमित्तिक ऋषि प्रकट होते हैं। ऐसे उन्नत ग्रन्थकर्ता जगतमें कभी-

कभी प्रकट होते हैं। तीसरी श्रेणीके लेखक वे कहाते हैं, जो वेद और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके रहस्योंको पूर्णतया अथवा आंशिक-रूपसे ठीक-ठीक समझकर उनका विस्तार टीका, टिप्पणी, भाष्य, व्याख्या आदि द्वारा अथवा अन्य मीमांसाग्रन्थोंद्वारा प्रकट करते हों। धर्माचार्य अथवा सम्प्रदायाचार्य प्रायः इसी श्रेणीके ग्रन्थकर्ता होते आये हैं। चौथी श्रेणीके लेखक वे सत्पुरुष होते हैं, जो आर्ष-ग्रन्थोंसे संग्रह करके अपने देश-कालके उपयोगी ग्रन्थोंके प्रणयन द्वारा जगतमें धर्मज्ञानका प्रचार करते हों। इसी श्रेणीमें वे विद्वान् ग्रन्थकर्ता भी माने जाते हैं, जो पूर्वाचार्योंका पथ अवलम्बन करके अपने समयके उपयोगी नाना प्रकारके ज्ञान-विज्ञानके रहस्य-प्रति-पादक नवीन ग्रन्थोंका प्रणयन करते हों। इनमें प्रतिभाकी अधिक आवश्यकता होती है। साधारण लौकिकग्रन्थकर्ता पाँचवीं श्रेणीके लेखक समझे जाते हैं। इन सब प्रकारके लेखक जो कुछ कार्य कर सकते हैं या करते हैं, वह सब नित्य ऋषियोंकी प्रेरणा और कृपाका ही फल है। अध्यात्मशक्तिको प्रकाशित करना ही ऋषित्वका लक्षण होनेसे सभी नित्य ऋषि ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मणशरीर ही पूर्ण अथवा आंशिकरूपसे आध्यात्मिकशक्तिके धारण और प्रकट करनेका केन्द्र हो सकता है। नैमित्तिक ऋषि क्षत्रियोंमें भी उत्पन्न हो सकते हैं। उनमें नित्य ऋषियोंकी आध्यात्मिकताका आवश्यकताके अनुसार आवेश हो जाता है, जिससे वे मन्त्रदर्शन आदिका कार्य सामयिकरूपसे कर लिया करते हैं। ऋषिशक्तिका अवतार ब्राह्मणशरीरमें ही होता है और वह स्वाभाविक भी है।

श्रीभगवान्‌के या नित्य ऋषियोंके अवतार वहीं प्रकट होते हैं, जहाँकी प्रकृति पूर्ण हो। ऐसी पुण्यभूमि एकमात्र भारतभूमि है और यहीं श्रीभगवान्‌के और ऋषियोंके अवतार हुआ करते हैं। ऋषियोंके कृपापात्र उन्नत ज्ञानी पुरुष पृथ्वीके अन्यखण्डोंमें भी

उत्पन्न हुआ करते हैं, किन्तु ऋषियोंके प्रत्यक्ष अवतारोंका आविर्भाव ज्ञानकी जननी पुण्यभूमि भारतभूमिमें ही होते हैं। देवताओंके शक्तिशाली अवतार भी भारतखण्डकी तरह अन्य खण्डोंमें होते हैं; क्योंकि श्रीभगवान्के और ऋषियोंके अवतारकेलिये पृथ्वीके अन्य खण्डोंमें जैसी बाधाएँ हैं, वैसी देवताओंके अवतारोंके लिये नहीं हैं। श्रीभगवान्के और ऋषियोंके शक्तिशाली अवतारोंके प्रकट होनेके लिये भूमिकी शुद्धि और माता-पिताके शरीरकी शुद्धि अर्थात् आधिभौतिक शुद्धिकी सबसे अधिक आवश्यकता हुआ करती है। जिस प्रकार त्रिविध शुद्धियुक्त सच्चा ब्राह्मण उत्पन्न होनेके लिये माता-पिताकी वंशपरम्परासे प्राप्त रजोवीर्यकी शुद्धिकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार श्रीभगवान्के और ऋषियोंके शक्तिशाली अवतारोंके प्रकट होनेके लिये कर्मभूमिकी शुद्धि और माता-पिताके शरीरोंकी आर्यजनोचित आधिभौतिक शुद्धिका प्रयोजन होता है। यही वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

भगवान्के और ऋषियोंके अवतार अनेक प्रकारके हुआ करते हैं। पाँच प्रकारके भगवदवतारोंका विवरण पहले दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कोई कोई अवतार ऐसे होते हैं, जिनमें केवल अलौकिक अधिदैवशक्तिका ही विकाश होता है। वे उन्नतपुरुष, जिनमें ऐसी शक्तिका विकाश देख पड़ता है, वे केवल उसी देवताके अवतार समझे जाते हैं, जिस देवताकी कला उनमें विद्यमान रहती है। ऐसे भी अवतार होते हैं कि, एक ही उन्नत महापुरुषमें कई देवताओंकी कलाएँ विद्यमान रहती हैं। ऐसे भी अवतार होते हैं, जिनमें एक या अनेक नित्य ऋषियोंकी कलाएँ विद्यमान रहती हैं। विशेष प्रसङ्गमें ऐसे भी अवतार होते हैं, जिनमें एक या अनेक देवताओंकी और ऋषियोंकी कलाओंका एक साथ ही समान रूपसे आविर्भाव होता है। ऐसे महा-पुरुषोंमें असाधारण ज्ञानशक्ति और

लोकोत्तर क्रियाशक्तिका अलौकिक उत्कर्ष देख पड़ता है। ऐसी उभयविध शक्तिका विकाश जिन महापुरुषोंमें पाया जाय, वे इसी श्रेणीके अवतार समझे जायेंगे। इसके उदाहरण प्राचीनकालमें श्रीभगवान् आदि शङ्कराचार्य और आधुनिक कालमें भगवत्पूज्यपाद श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज जाज्वल्यमान प्रकाशित हो रहे हैं।

पूर्ण प्रकृतिमें पूर्णमानव

श्रीजीके आविर्भावके समय भारतखण्डकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बहुतही शिथिल हो गई थी। लगभग एक सहस्र वर्ष इस देशमें यवनों (मुसलमानों) का और तदुपरान्त म्लेच्छों (अंग्रेजों) का शासन बना रहनेसे हिन्दुसमाजकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति प्राय: नष्ट हो चुकी थी और श्रीव्यास भगवान् तथा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी भविष्यवाणीके अनुसार यहाँकी सामाजिक और धार्मिक शृंखला टूट सी गयी थी, सत्य, सदाचार और पुण्यकर्मका अस्तित्व ही नहीं बच रहा था। लोग पशुसे भी बढ़कर लम्पट, अकर्मण्य और विलासी हो गये थे। देशाभिमान, धर्माभिमान, कुलाभिमान आदिका नाम नहीं बच रहा था। किसीका ईश्वर और परलोकपर विश्वास नहीं था और सभी वेदान्ती बनकर देहको ही आत्मा मानने लगे थे। चातुर्वर्ण्यकी मर्यादाएँ उच्छिन्न हो गयी थीं। ब्राह्मण लोग भी, दाम्भिक और पेटू तथा क्षत्रिय नपुंसक प्राय: हो गये थे। वैश्योंने अपना व्यवसाय छोड़ दिया था और शूद्र तपस्वी बन चले थे। आश्रमधर्म लुप्तसा था, स्त्रियोंमें पातिव्रत्यका अभाव हो चला था और गृहकलह घर-घर देख पड़ता था। गुरुजन-में किसीकी श्रद्धा नहीं थी और जनता उच्छृंखल हो गयी थी। नानापन्थ चल पड़े थे, जो एक दूसरेके नाशकी घातमें लगे रहते थे और प्राचीन सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन दूर रहा, उनके दर्शन ही

दुर्लभ हो गये थे। चारों ओर वेदों और शास्त्रोंकी निन्दा सुन पड़ती थी। श्रुतिको तोड़ताड़, खींच-खाँचकर मनमाने अर्थ करनेवाले वाग्वितण्डामें निरत लोग महर्षि कहाते थे। खानपान, स्पर्शास्पर्श, गम्यागम्या, शुद्धाशुद्धिका कोई विचार नहीं रहा था। व्यभिचार पनप रहा था। जिसके पास एक या अधिक रक्षिताएँ न हों, वह बड़ा आदमी नहीं माना जाता था। राजा पापी तथा प्रजा पीड़क और प्रजा उद्दण्ड तथा राजद्रोही हो रही थी। बेई-मानीका बाजार गर्म था। सदाचारों, कुलधर्मों, कुलाचारोंकी हसी उड़ाई जाती थी। दरिद्रता और पराधीनताने अपना पौरा जमा लिया था। किसीको कोई पूछनेवाला नहीं था। कूट, कपट, प्रवञ्चना आदिका दौर दौरा था और सर्वत्र अन्धाधुन्धीका साम्राज्य हो रहा था और देशभरमें तमोगुणका घोर अन्धकार छा रहा था। सद्ग्रन्थोंके लुप्त हो जानेसे ज्ञानरश्मिको प्राप्त करनेका कोई उपाय नहीं बच रहा था। ऐसे कठिन कराल समयमें ऐसे ही महा-पुरुषके अवतरित होनेकी आवश्यकता थी, जिसमें दैवी कर्मशक्ति और ऋषियोंकी ज्ञानशक्ति प्रबल रूपसे विद्यमान हो और जो पुनः इन दोनों शक्तियोंको जगा सके।

हिन्दुस्थानके दो मेवे प्रसिद्ध हैं—बैर और फूट। इन्हींके प्रभावसे भारतका सत्यानाश हुआ है। जयचन्द और पृथ्वीराजके बैर विरोधसे यहाँ मुसलमानोंका आगमन हुआ और हिन्दु-मुसल-मानोंकी फूटसे अँग्रेजोंने यहाँ अपने पैर जमाये। आत्माभिमान, धर्माभिमान, देशाभिमानके भावोंका लोप हो जानेसे यदि कोई सिर उठानेका प्रयत्न करता, तो उसीके बन्धु-बान्धवों द्वारा वह कुचल दिया जाता था। हिन्दू राजाओंने आपसमें लड़नेमें ही अपनी क्षात्रवृत्तिका उपयोग किया। हिन्दुराज्यके टुकड़े-टुकड़े हो गये। यद्यपि मराठोंके पराक्रमसे दिल्लीके मुसलमानी साम्राज्यका सिंहासन

जर्जरित हो गया था, तथापि उनको हिन्दू राजाओंने सहायता नहीं दी। यदि हमारे पूर्वज ऋषियोंके 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' इस उपदेशके अनुसार भारतके सब हिन्दु राजन्यगण संघटित हो जाते, तो आज इस देशमें हिन्दुओंका ही संयुक्तराज्य होता और उन्हें मुसलमानोंके शरणापन्न होकर देशके टुकड़े-टुकड़े कर देनेकी आवश्यकता न होती। मुसलमान भी असंघटित, अकर्मण्य, दुर्बल और विलासी हो गये थे। इसीसे कापुरुषोंकी तरह राजशासनकी झंझटसे बचनेकेलिये उन्होंने देशके शासनसूत्र अंग्रेजोंके हाथ सौंप दिये। हिन्दुओंके असंघटित और छितरे हुए होनेसे अंग्रेजों से भी कोई टक्कर नहीं ले सका। महारानी लक्ष्मीबाई जैसी अन्तः-पुरकी राजमहिलाने भी स्वाभिमान वश जब तलवार खींच ली, तब भी किसी हिन्दु राजाने उसका साथ नहीं दिया, उलटे उन्होंने अंग्रेजों-की अधीनता स्वीकारकर उसके साथ विरोधाचरण ही किया और कुछ रणशूरताका दम भरनेवाले राजा तो भयभीत होकर अपनी-अपनी गद्दियोंको छोड़कर अज्ञात स्थानोंमें जा छिपे। वे यदि संयुक्त मोरचा लेते, तो अंग्रेज ही क्या, जगत्की कोई शक्ति यहाँ ठहर नहीं सकती थी। आचार्य चाणक्यने ठीक कहा है :—

"शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते"

क्षत्रियोंके भुजवीर्यसे जब राष्ट्र सुरक्षित रहता है, तभी शास्त्रकी चिन्ता करनेमें लोग समर्थ होते हैं। एक तो मुसलमानोंने हमारे अमूल्य ग्रन्थोंको जला-जलाकर अपने हम्माम गरम किये; दूसरे, राष्ट्र विदेशियोंके अधीन हो जानेसे शास्त्रोंके पठन-पाठनका क्रम विच्छिन्न हो गया। देशकी कर्मशक्ति और ज्ञानशक्तिका लोप हो गया। भारत देवताओंकी प्यारी लीला भूमि है। यह ऋषियों,

त्यागी-तपस्वियों, साधु-महात्माओंका देश है। उन्हींका अनुशासन यहाँ चलता आया है और उन्हींका यहाँ सदा नेतृत्व बना रहा। सनातनधर्म, वर्णाश्रमधर्मपर बहुत प्राचीन समयसे हूण, शक, बर्बर आदि अनार्यजातियोंके और बौद्धों जैसी आर्यजातिके भी सैकड़ों बार आक्रमण हुए, पर श्रीभगवान्की कृपासे आर्यधर्मका बीज बना रहा और उसी बीजरक्षाके आधारसे अनेक देवताओं और ऋषियोंने आविर्भूत होकर इस अनादि धर्मका नाश नहीं होने दिया और इसकी पुनः प्रतिष्ठा कर दी। श्रीजी महाराजका आविर्भाव उसी परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये हुआ था। उन्होंने अपने दीर्घजीवनमें अंग्रेजोंका उत्थान देखा और पतन भी। उनके आविर्भावके समय अंग्रेज इस देशमें दृढ़तासे पैर जमा रहे थे और जब उन्होंने लीलासंवरण किया, तब अंग्रेज अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर यहाँसे कूँच कर गये थे। एक प्रकारसे श्रीजीके जीवनका इतिहास अंग्रेजीशासनके आदि अन्तका इतिहास है।

यह पहले बताया जा चुका है कि, तत्कालीन परिस्थितिको सुधारनेके लिये ऐसे महापुरुषके आविर्भावकी आवश्यकता थी, जिसमें देवताओंकी कर्मशक्ति और ऋषियोंकी ज्ञानशक्ति विकसित हुई हो और उन दोनों शक्तियोंको जो इस देशमें पुनः जगा सके। यह भी कहा जा चुका है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डके नियन्ता और सञ्चालक त्रिगुणोंके प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश होते हैं, जो एक प्रकारसे सगुण ब्रह्म हैं और त्रिविध भावोंको (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) देवता, ऋषि और पितृगण सुरक्षित रखते हैं। अवतारतत्त्वके अनुसार यह भी सिद्ध है कि, अवतारोंके भी अवतार हुआ करते हैं। श्रीभगवान्के अनेक अवतारोंमें विश्वगुरु भगवान् श्री दत्तात्रेयका ही ऐसा अवतार हुआ, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश

और ऋषियों, देवताओं और पितरोंकी पूर्णकलाएँ विद्यमान थीं तथा कर्मशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनोंका समन्वय देख पड़ता था। भगवान् दत्तात्रेय देवता थे और महर्षि भी। ज्ञान और कर्मके समन्वयसे उन्होंने अनुसूयाके सतीत्वके तपोबलसे महर्षि अत्रिके घरमें आविर्भूत होकर जगत्का उद्धार किया था। कोई विश्वास करे या न करे; परन्तु जिन्होंने श्रीजीमहाराजके जीवनकार्योंका सूक्ष्मरूपसे अध्ययन किया है, उन भक्तोंकी तो यही श्रद्धा है कि, वे श्रीभगवान् दत्तात्रेयके ही अवतार थे। उनके जीवन-कार्योंके विभागोंका इस ग्रन्थमें जो क्रमशः संक्षिप्त विवरण दिया जायगा, उससे यह बात भली-भांति प्रमाणित हो जायगी। पुण्यपुरुषोंके चरित्रोंका अनुशीलन सदा ही कल्याणकारी और यथार्थ गन्तव्य पथसे भूले-भटके लोगोंकेलिये मार्गदर्शक होता है और इसी विचारसे भक्ति-श्रद्धासे युक्त होकर हम यथामति उसके लिखनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं। उन्हींके चरणोंकी कृपा और प्रभावसे हमें आशा है कि, इसमें हम कुछ न कुछ अवश्य ही सफल-मनोरथ होंगे।

भारतभूमि देवताओं, ऋषियों और साधु-महात्माओंकी कर्म-भूमि और लीलाभूमि है। यही नहीं, मनुष्योंकी भी यह कर्मभूमि है। इसके अतिरिक्त सब लोकोंकी भूमियां भोगभूमियां हैं। इसीसे शास्त्रोंमें लिखा है कि, यहां मनुष्योंको कर्म करनेका पूर्ण अधिकार है। कर्म करनेकेलिये वह स्वतन्त्र है। यहां जो जैसे कर्म करता है,—चाहे वे पुण्यकर्म हों, या पाप कर्म; मरणोपरान्त उनका फल स्वर्ग या नरकमें भोगकर वह फिर इसी भूमिमें आ जाता है। अन्त समयमें यदि उसके संस्कार तामसिक हों, तो उसका जन्म मूढ योनियोंमें होता है, राजसिक हों, तो कर्मासक्त मनुष्ययोनिमें जन्मता है और सात्विक हों, तो वह पवित्र तत्त्वज्ञानियोंके सुखमय

लोकोंको प्राप्त करता है अथवा श्रीमानों या योगियोंके ही घरमें जन्म ग्रहण करता है। जैसा कि, गीता में कहा है :—

"यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥"

अर्थात् "सत्त्वगुणकी वृद्धिकी दशामें शरीरत्याग होनेपर मनुष्यको तत्त्वज्ञानियोंके सुखमय लोकोंकी प्राप्ति होती है। रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेसे कर्मासक्त लोकोंमें गति होती है और तमोगुणकी वृद्धिके समय देहपात हो, तो मनुष्य निकृष्ट मूढ़ योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है।" सारांश यह कि—

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः"॥

"सात्त्विक गुणवाले मनुष्य ऊपरके लोकोंमें, रजोगुणी बीचके लोकोंमें और निकृष्ट तामसिक लोग नीचेकी योनियोंमें प्राप्त होते हैं।"

भगवान्‌के और ऋषियोंके अवतार भारतमें ही होते हैं; इसका कारण यह है कि, यहाँकी भूमि पूर्ण प्रकृतियुक्त है। पृथ्वी भरके देशोंमें जो कुछ प्रकृतिकी अलौकिकता देख पड़ती है, वह सब भारतमें एकाधारमें विद्यमान है। यही कारण है कि, पूर्णावयव मनुष्यकी आदिसृष्टि यहीं पंजाबकी वितस्ता नदीकी शाखा-नदी देविकाके तटपर हुई थी। इसकी प्रकृति पूर्णावयव होनेके मोटे मोटे

प्रमाण इस प्रकार दिये जा सकते हैं कि, भारतद्वीपका पर्वतराज हिमालय पृथ्वीके सब पर्वतोंसे ऊँचा, सब ऐश्वर्योंसे पूर्ण और सर्वाङ्ग, सुन्दर है। भारतमें ही गङ्गा जैसी पवित्र सरिता प्रवाहित हो रही है, जिसके जलकी सर्वश्रेष्ठ उपादेयता अमेरिकाके जल-सम्मेलनमें बड़े बड़े वैज्ञानिकोंने परीक्षा करके सिद्ध की थी। पृथ्वीभरके सुप्रसिद्ध स्रोतों, नदियों और जलाशयोंके जल वहाँ लाये गये थे। विद्वानोंने सब जलोंमें गंगाजलको ही श्रेष्ठ माना और बताया कि, गंगाजल सर्वरोगहारी है। इसीसे यहां के श्रद्धालु गृहस्थ इस मन्त्रको पढ़कर रोगीको औषधि देते हैं और उससे वह नीरोग भी हो जाता है :—

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः॥

गङ्गाजलका प्रत्यक्ष प्रभाव यह भी देख पड़ता है कि, गंगाजलको छूकर कोई मिथ्या वचन नहीं कह सकता। यदि कहता है, तो उसका घोर अनिष्ट होता है। महाराजा सगरके साठ सहस्र सन्तानोंका इसके द्वारा उद्धार हुआ था, यह कथा तो पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है और आर्यलोग अन्त समयमें गंगालाभ होनेसे अपनेको धन्य मानते हैं। हिन्दुओंकी हड्डियाँ गंगामें विसर्जन की जाती हैं, मृत्युके समय गंगाजल मुँहमें डाला जाता है और पापीको गंगाजल पान तथा अवगाहनसे शुद्धकर लिया जाता है। यह मान संसारकी किसी नदीके जलको प्राप्त नहीं है।

भारतके ही विभिन्न प्रान्तोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातिकी भूमियां विद्यमान हैं। यहाँ यदि एक ओर मरुभूमि सहाराके रेगिस्तानसे टक्कर लेती है, तो दूसरी ओर ऐसी सुजला, सुफला, शस्यश्यामला उर्वरा भूमि है, जिसमें सब प्रकारके अन्न

और फल उत्पन्न होते तथा हो सकते हैं। यह भारतका ही सौभाग्य है कि, यहाँ सब प्रकारके जैसे रसाल (आम) होते हैं, वैसे पृथ्वीमें कहीं नहीं होते। सब देशोंके अन्न, फल, पुष्प, कन्द, मूल और औषधियाँ यहाँ होती हैं। यहांकी पशुसम्पत्ति भी अद्भुत है। कृष्णसारमृग और कस्तूरीमृग यहीं होते हैं। यहांकी महिष-जाति सुप्रसिद्ध है। नाना जातिके हाथी, घोड़े, बैल आदि यहाँ देख पड़ते हैं। छहों ऋतुओंका पूर्ण विकास यथासमय यहीं होता है। यही एक ऐसा देश है, जहाँ एक ही कालमें कहीं न कहीं छहों ऋतु विकसित रहते हैं। कहीं ग्रीष्म है, तो कहीं शरद; कहीं वर्षा है, तो कहीं वसन्त; कहीं हेमन्त है, तो कहीं शिशिर; यह इसी देश का वैभव है। यहां के पक्षियोंकी जातियाँ भी आश्चर्यजनक हैं। सफेद कौए, श्वेत मयूर और हंस यहीं देख पड़ते हैं।

भारतका जगद्गुरुत्व

सृष्टिके आदि कालमें ज्ञानकी मन्दाकिनी यहींसे प्रवाहित हुई थी, यह तो विश्वके वर्तमान विद्वज्जनोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। आर्यावर्तकी ज्ञानगरिमा सर्वश्रेष्ठ है और उसके द्वारा जगतकी मनुष्यजाति उपकृत हुई है। वह भारतके प्रति सदा ऋणी रहेगी। पाश्चात्य अनुसन्धानशील विद्वानोंकी कुछ सम्मतियोंका यहाँ उल्लेख करना उचित जान पड़ता है, जिससे इसकी पूर्णतामें नवशिक्षितोंको भी सन्देह करनेकी गुंजाइश नहीं रहेगी।

पाश्चात्य सुप्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर, एच्० आर० हाल, काण्ट, प्लेटो, प्रो० मूर, डा० मार्गारेट, सरजान वुडरफ़, फ्रेजर, डा० डब्लू० डब्लू हंटर, डा० एम्० मैथेन्सर, फ्रेडरिक सेलेगल, काउण्टेस जरसी, प्रो० डेविस हैनकिन्स, सर विलियम जोन्स, प्रो०

विटने, सर मोनियर विलियम, प्रो० वेबर, एम्० डुबोई, प्रो० बोप्प, प्रो० हीवेन, डा० बेलगटाइन, प्रो० मैकडानल, प्रो० केजोरी, बेली, कोलब्रुक, डा० वाइस, डा० विलसन, डा० रेले, डा० फार्गुसन, टाड, हराटर, प्रो० हैवेल, स्मिथ, मैगेस्थनीज, शोपेनहर, कागट, प्रो० जार्डन, वर्नियर, पेटर, प्लिनी, रोजकोई, शार्लिमन, सरजान मालकम, स्ट्रेबो, पिटरसन, विटने, मेरी कारमाइकल, थामस-एडीसन, हेवलक एलिस, रूदरफीगड, फ्रेडरिक पिनकाट, मिसेस-फ्लोरा एनीस्टेल, ग्रिडले, स्ट्रबो, स्लीमन, सर क्राव, पोलो, एल-फिन्स्टन, सियूकी आदिकी विस्तृत सम्मतियाँ यद्यपि उनके ग्रन्थोंमें ही देखने योग्य हैं और जिनका सारांश श्रीभारतधर्ममहामगडल द्वारा प्रकाशित 'भारतवर्षका इतिवृत्त' नामक ग्रन्थमें दिया गया है, तथापि सभी इस बातको एकमत होकर स्वीकार करते हैं कि, मानव सभ्यताका आदिगुरु भारतखगड ही होनेसे उसीको आदिजगद्गुरु होनेका मान प्राप्त है। उनकी विभिन्न सम्मतियोंमें निम्नलिखित महत्त्वकी बातें समाविष्ट हुई हैं:—

"सभ्यताके विचारसे हिन्दुस्तानका गौरव सर्वोपरि है। धार्मिक तत्त्वके अनुसन्धानमें भारतवर्ष ही जगद्गुरु है। ईश्वरतत्त्वके प्रचार करनेमें भारतखगडके ग्रन्थही सर्वोपरि हैं। भारतकी सभ्यता और शिक्षा जगद्गुरु पदवीके योग्य है। भारतके दर्शन-शास्त्र सबसे आदि और सर्वश्रेष्ठ हैं। कृमिविज्ञान (जर्मथियोरी) भारतवासी पहलेसे ही जानते थे। संस्कृतभाषाकी पूर्णता संस्कृत-व्याकरणकी पूर्णता, देवनागरी अक्षरोंकी पूर्णता, अंकशास्त्र, रेखा-गणित, ज्यामिति, बीजगणित, फलितज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, संगीतशास्त्र, स्थापत्य, भास्कर, तन्तुवाय, कागज निर्माण, धातुओं-के व्यवहारका शिल्प, युद्धके शस्त्ररूप और जहाजनिर्माण, वन-स्पतियोंका उपयोग आदि विद्या-कलाओंके प्रथम आविष्कर्ता

भारतवासी हैं। बात ठीक भी है। पूज्यपाद महर्षियोंका सिद्धान्त है कि, प्रकृतिके वैभवोंकी नकल जिस विद्याके द्वारा की जाती है, उसको शिल्प (आर्ट) कहते हैं। जिस विद्याके द्वारा सूक्ष्म प्रकृतिका रहस्य जानकर उसके विशेष-विशेष अङ्गोंको अपने अधीन करते हुए उनसे काम लिया जाय, उसको पदार्थविद्या (साइन्स) कहते हैं और जिस विद्याके द्वारा ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र खुल जाता है तथा जो विद्या प्रकृतिराज्यके परपारतक पहुँचा देती है, उसको दर्शन (फिलासफी) कहते हैं। इन तीनों विद्याओंका भारतमें पूर्ण विकास हुआ था। वैदिक दर्शनशास्त्रकी तुलनामें स्थान पाने योग्य संसारमें कोई फिलासफी नहीं है। पूज्यपाद महर्षियोंने उन्हीं विद्याओंके आविष्कारमें ध्यान दिया था, जो रचनात्मक हों और सृष्टिकी रक्षाके काममें आवें। आजकल जो आर्ट और साइन्सकी उन्नति हो रही है, उसकी नीति ध्वंसात्मक है। फिला-सफीकी ओर लोगोंका ध्यान बहुत ही कम आकृष्ट होता है और भारतके दर्शनशास्त्रोंका रहस्य तो आजकलके विद्वानोंको समझना ही कठिन हो गया है।

पूज्यपाद महर्षियोंने मनुष्यकी सभ्यताकी सुव्यवस्था इस ढङ्ग पर की थी कि, उसकी सारी शृंखला प्रकृतिके एक स्वरमें मिली रहे। मनुष्य-समाजमें अस्वाभाविकता न आने पावे। मनुष्योंकी बहिर्दृष्टि हटकर अन्तर्दृष्टि बढ़ती रहे। वे पाशविक वृत्तियोंकी उपेक्षा कर आत्मपरायण होवें। मनुष्यजाति समाहित हो। वह राक्षसभाव और असुरभावको दबाकर दैवीसम्पत्तिकी अधि-कारिणी बने। यही आर्य-सभ्यताका मौलिक सिद्धान्त था और इसीकी पुनः स्थापनाके लिये हमारे चरित्रनायक—श्रीजी आजीवन प्रयत्न करते रहे।

जब कि भाषाकी पूर्णता, साहित्यकी पूर्णता, लेखन-प्रणालीकी

पूर्णता, कवित्व शक्तिकी पूर्णता, व्याकरण, गणित, दर्शनकी पूर्णता आदि मनुष्यको सभ्य बनानेवाले सभी शास्त्रोंकी पूर्णताके लक्षण भारतके मानवों—विशेषतः ब्राह्मणोंमें पाये जाते हैं, मनुष्यको मनुष्य बनानेवाले सभी शास्त्र भारतसे निकले हैं और क्या ईश्वर तत्त्वनिरूपण, क्या दार्शनिक तत्त्वनिरूपण, क्या पदार्थविद्या तथा शिल्पके रहस्योद्‌घाटनमें भारतके आर्य ही जगतके पथप्रदर्शक हैं, तो यह कैसे मान लिया जा सकता है कि, आजकलके इतिहासोंकी तरह इतिहास लिखना वे नहीं जानते थे ?

वे इतिहास लिखना जानते थे और रामायण, महाभारत, हरिवंश तथा नानापुराणोंके रूपमें इतिहास लिखकर रख भी गये हैं; परन्तु इतिहास लिखनेकी उनकी दृष्टि वर्तमान इतिहासके लेखकोंसे भिन्न थी। वे जानते थे कि, सृष्टिप्रवाह अनादि तथा अनन्त है, कालभी अनादि अनन्त है और ब्रह्माण्डका विस्तार साधारण मनुष्यबुद्धिमें आ नहीं सकता। मनुष्य-सृष्टि हर चतुर्युगमें नयी हो जाती है, प्रत्येक मन्वन्तरमें सृष्टिकी शृंखला बदल जाती है, कल्प-कल्पान्तरमें सृष्टि बार-बार होती और नष्ट हो जाया करती है, तब दो चार हजार वर्षोंकी मनुष्य-निर्मित कालगणना और थोड़े-बहुत चरित्रोंका वर्णन करके कैसे तृप्त हुआ जा सकता है ? इसीसे उन्होंने नाशमान लौकिक इतिहासके लिखनेमें मनोयोग नहीं किया। मनुष्यकी यथार्थ शिक्षाकेलिये जिन-जिन चरित्रोंका वर्णन करना वे उचित समझते थे, उनको वे प्रकाशित कर गये हैं। लौकिक मानव चरित्रोंकी गाथाएँ उन्होंने रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंमें और दैवीचरित्रोंकी गाथाएँ पुराणोंमें प्रकाशित कर दी हैं। जब तक संस्कृतसाहित्य रहेगा, तब तक वे गाथाएँ मनुष्योंके चरित्रगठनमें सहायक बनी रहेंगी। प्रस्तुत चरित्रभी एक सौ वर्षोंका सजीव लौकिक इतिहास है। इस कारण इसके लिखनेमें

भी हमने वही दृष्टि रक्खी है। श्रीजीके चरित्रमें जो मौलिक घटनाएँ हुईं, उन्हींका हमने वर्णन किया है और तत्कालीन देशकी परिस्थितिपर यथासम्भव प्रकाश डाला है। इससे हमें आगे बढ़नेमें बहुत सहायता मिल सकती है।

तत्कालीन परिस्थितिका वर्णन हम भगवान् व्यासदेव और गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें तथा अन्य प्रत्यक्ष व्यापारोंके अनुसार कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दिका मध्यकाल ऐसा कुछ विचित्र हो रहा था कि, हिन्दुजाति, हिन्दुधर्म, हिन्दुसंस्कृति और हिन्दुस्थानका भविष्य घोर अन्धकारमें समा गया था। जो सनातनधर्म हमारा जीवनाधार है, उसको 'सड़ातनधर्म' कहकर खिल्लियाँ उड़ाई जाती थीं, अपनेको सनातनधर्मी कहनेमें लज्जा ही नहीं जान पड़ती थी; किन्तु अपमान समझा जाता था। 'सनातनधर्मी' शब्द गालीके रूपमें परिणत हो गया था। 'वर्णाश्रम' ने 'बरना शरम' का रूप धारणकर लिया था। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोय—हरिको भजे सो हरिको होय' का बोलबाला था। पातिव्रत्यधर्म ढकोसला माना जाता था। स्पष्ट शब्दोंमें लोगोंके शब्द सुन पड़ते थे कि, 'हमारे चूल्हे-चौकेने ही सारा चौका लगा दिया है।' सद्ग्रन्थ पहलेसे ही लुप्त थे। जो कुछ बच रहे थे, उनका भी अध्ययन-अध्यापन बन्द हो गया था। शूद्र क्यों, अन्त्यज भी याजक बनकर पूजापाठ कराते थे। दासमनोवृत्तिमें लोग रँग गये थे। अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ हो गयी थ। एक दो रीडरें पढ़ लेनेसे ही डिप्टी-कलेक्टरी मिल जाती थी और वे अपनेको नवाब समझने लगते थे, बाबूगिरी चल पड़ी थी। चुरुट, शराब और अखाद्य वस्तुओंका सेवन सभ्यताका लक्षण समझा जाता था। जो पुराने विचारके लोग मूर्तिपूजा करते, वे घराटापाखंडे कहाते थे। समाजकी विचारधारा ऐसी बदल गयी थी कि, ब्राह्मण-

को देखते ही बाबू लोगोंका माथा ठनकने लगता था और वे कहते भी थे कि, इन ब्राह्मणोंको बोरोंमें भर-भरकर समुद्रके गर्भमें डुबा दिया जाय और मनुस्मृति जैसे धर्मग्रन्थको जला दिया जाय। इन्होंने ही सारा चौपटकर दिया है। समाजमें कोई शृंखला नहीं बच रही थी। यद्यपि अंग्रेजोंकी प्रकाश्य नीति यही रही कि, किसी के धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे सब कुछ होता था और वह उनके हिन्दु चेलोंकी ही सहायतासे। यदि उस समय अंग्रेजोंको हिन्दुओंसे सहायता नहीं मिलती, तो वे यहाँ अपना राज्य-स्थापन करनेमें समर्थ न हो सकते। यद्यपि अंग्रेजोंके नये हिन्दु चेले अपनेको 'सनातनधर्मी' कहनेमें वैसे ही चिहुँकते थे, जैसे आजकल कांग्रेसीलोग 'हिन्दु' कहानेमें चिहुँकते हैं और समाज उच्छृङ्खल हो गया था, तथापि जिन अशिक्षित हिन्दुओंमें पुराने संस्कार बच रहे थे, वे अपने धर्मपर अटल थे। इसीसे सन् ५७ का सुप्रसिद्ध 'सिपाही विद्रोह' हो ही गया और कत्लेआमके रूपमें हिन्दुओंकी सहायतासे ही उसका दमन किया गया।

इस पवित्र भारतभूमिकी ऐसी कुछ विचित्र महिमा है कि, यहां 'निर्वीर्यमुर्वीतलम्' कभी नहीं होता। यही कारण है कि, यहां इतिहास पूर्वकालमें और उसके उपरान्त भी शक, हूण, बर्बर, किरात, यवन, म्लेच्छ आदिके कितने ही घनघोर आक्रमण हुए, परन्तु ऋषियोंके रक्तका बीज बचा रहनेसे सब आघातोंको सहकर आर्यधर्म, आर्यसंस्कृति और आर्यजाति आज पृथ्वीमें सिर ऊँचा-कर जी रही है और अपने प्राचीनतम वैभवका संसारको स्मरण दिला रही है। ग्रीस, रोम आदि प्रबल पराक्रान्त बड़े बड़े राष्ट्र परिस्थितिकी एक ही झपेटेमें नाम शेष हो गये; परन्तु, 'बाकी रहा है, अब तक नामोनिशाँ हमारा'। श्रीजीने अपने जीवनमें जो

असाधारण पुरुषार्थ किया, उसका एक ही लक्ष्य था, बीज रक्षा। वे जानते थे कि, इस प्रतिकूल वातावरणमें कालधर्म रोका नहीं जा सकता, उसका प्रभाव बढ़ता ही जायगा। कलियुगका यह प्रथम चरण है। कलियुगके ४३२००० वर्षोंमें से अभी पाँच हजारसे कुछ अधिक वर्ष ही बीते हैं। इसी समय यह उथल-पुथल होती दिखायी दे रही है, सर्वत्र तमोगुणका साम्राज्य छा रहा है, आगे क्या होगा, कौन जानता है। परन्तु इस समयमें यदि बीज रक्षा हो जाय, तो आगे चलकर फिर सब कुछ सम्हल जायगा और सनातनधर्म सनातन ही रहेगा, यही उनका विश्वास था। इस विश्वासका आधार इतिहास है और इसी दिशामें आजीवन वे जीतोड़ परिश्रम करते हुए कर्मयोगके साधनमें संलग्न थे।

श्रीजीका आविर्भाव।

उनके आविर्भावके समय और उससे पहले भी भारतमाताकी गोदमें ऐसे कुछ घराने बच रहे थे, जिनमें रजोवीर्यकी शुद्धि अनादि कालसे बनी हुई थी और हिन्दूधर्म तथा हिन्दुसंस्कृतिका बीज विद्यमान था। जो आत्माएँ योगभ्रष्ट होती हैं, श्रीभगवान्के कथनानुसार उनका पुनर्जन्म उन्हीं कुलोंमें होता है, जो पवित्र और श्रीसपन्न हों अथवा बुद्धिमान् योगी ही हों। जैसा कि, गीतामें कहा है:—

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"॥

ऐसे कुलोंमें जब योगभ्रष्ट जन्मग्रहण करते हैं, तब त्रिदेवात्मक योगिराज, परम अवधूत दत्तगुरु भी अपने आविर्भावकेलिये ऐसे ही पवित्र कुलकों क्यों नहीं उपयुक्त समझेंगे? उस समय बंगालके

हुगली जिलेमें भारद्वाजगोत्रीय मुख्योपाध्याय पदवीसे विभूषित ऐसा एक श्रीमान् ब्राह्मण घराना था, जो सनातनधर्मियोंके लिये आदर्श माना जाता था। उसी घरानेके वीर पुरुषोंने दिनाजपुरका राज्य स्थापित किया था, जिसके उत्तराधिकारी राजा प्यारेमोहन मुखर्जी अब तक विद्यमान थे। इस घरानेका मूल स्थान हुगली जिलेके अन्तर्गत 'तेलिन पाड़ा' नामसे प्रसिद्ध है और उसके आसपासकी सब जमींदारी इसी घरानेके पास थी। इस आचारवान् धर्मप्राण घराने में भाग्यशाली श्रीमधुसूदनमुखर्जी नामक महापुरुष विक्रमीय १९वीं शताब्दिके मध्यमें उत्पन्न हुए और उन्हींकी आठवीं सन्तानके रूपमें श्रीजी २०वीं शताब्दिके आरम्भमें अर्थात् सं० १९०२ में ठीक भाद्रपद कृष्णा अष्टमी (श्रीकृष्णजन्माष्टमी) के दिन अर्धरात्रिके समय मङ्गलमय शुभ मुहूर्तमें आविर्भूत हुए।

घटनाचक्रसे उस समय श्रीमधुसूदनजी अपने जन्मस्थानमें नहीं, किन्तु मेरठमें आकर बस गये थे। श्रीजीके आविर्भावके लिये यह स्थान-परिवर्त्तन उपयुक्त ही सिद्ध हुआ। पुण्यभूमि भारतखण्डका जैसा ऊपर वर्णन किया गया है कि, यह देवताओंकी लीलाभूमि है और यहाँ जन्म ग्रहण करनेके लिये देवता भी तरसते रहते हैं और यहाँकी प्रकृतिपूर्ण होनेसे यहीं देवताओं और ऋषियोंका आविर्भाव होता है तथा उन्हींके द्वारा धर्मरक्षा होकर ज्ञानगंगाकी धारा बहायी जाती है। उस भारतका हृदय विन्ध्य और हिमालयके बीचकी गंगा-यमुनाके मध्यमें स्थित दोआबाभूमि है, जिसको ब्रह्मावर्त भी कहते और आर्यावर्त तो सारा हिन्दुस्थान ही है। उसी ब्रह्मावर्तके अन्तर्गत मेरठ नगर है और वहीं एक राजप्रासादमें श्रीजीका आविर्भाव हुआ था। यह स्थान देवताओंको अतिप्रिय होनेसे इसीके आसपास अन्य देवताओं और

ऋषियोंने शरीर धारण कर जगतका मंगल साधन किया था। वही परम्परा श्रीजीने भी बना रक्खी।

वेदों की आज्ञा है:—

कलिः शयानो भवति, जृम्भमाणस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन्स्त्रेता भवति, कृत सम्पद्यते चरन्॥

चारों युगोंमेंसे चाहे जिस युगको अपने लिये बना लेना मनुष्यके हाथ है। जब वह अकर्मण्य होकर नींदमें पड़ा रहता है, तब कलियुग आ जाता है। जब वह जागकर जँभाई लेने लगता या आँखें मलने लगता है, तब द्वापरयुग आरम्भ हो जाता है। जब वह उठ बैठता है, तब त्रेतायुगका प्रादुर्भाव होता है और जब वह चलने-फिरने तथा काम करने लगता है, तब सत्ययुग प्रकट हो जाता है। अतः हे मनुष्यों! यदि तुम सुखमय सत्ययुग चाहते हो, तो चलो-फिरो, हाथपर हाथ धरे बैठे न रहो। पुरुषार्थ करो! पुरुषार्थ करो!

नीतिशास्त्र भी कहता है :—

भ्रमन्सम्पूज्यते राजा, भ्रमन्सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन्सम्पूज्यते योगी, भ्रमन्ती स्त्री विनश्यति॥

भ्रमण करनेसे राजा, द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) और योगी पूजित होते हैं; परन्तु यदि कुलाङ्गना निरङ्कुश होकर भटकने लगे, तो वह भ्रष्ट हो जाती है। और भी कहा है :—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

पुरुषार्थसे ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, कोरे मनसूबे बाँधनेसे

नहीं । गुहामें सोये हुए सिंहके मुँहमें उसके आहार्य पशु स्वयं आकर नहीं घुस जाते। इस सम्बन्धमें प्रत्यक्ष उदाहरणरूपसे एक बार सेठ घनश्यामदासजी बिड़लाने अपने भाषणमें कहा था—"हम मारवाड़ियोंपर श्रीभगवान्की बड़ी कृपा है कि, उन्होंने हमें मारवाड़ जैसी मरुभूमिमें उत्पन्न किया। यदि हम उर्वराभूमिमें जन्मते, तो घरसे बाहर निकलनेका नाम न लेते और न देशके व्यापार-क्षेत्रमें हाथ ही बँटा सकते। हम घरसे चलकर देशभरमें फैल गये, तभी आंशिक रूपसे अपनी वैश्यवृत्तिको, जो हमारी बपौती है, निबाह रहे हैं।" बात ठीक है। इसीसे एक मारवाड़ी घरसे केवल एक लोटा लेकर चलता है और पुरुषार्थके द्वारा थोड़े-ही दिनोंमें लखपति बन बैठता है। कूप-मण्डूक बने रहना कोई भी पुरुषार्थी पुरुष पसन्द नहीं करता।

श्री मधुसूदनजी भी इसी विचारके सत्पुरुष थे। यद्यपि राज-घरानेमें जन्म होनेके कारण उन्हें किसी बातकी कमी नहीं थी, विशाल भवन, जमींदारी, दास-दासी, वाहन, पशु, उच्चपद, धन-रत्न आदि सब कुछ था, तथापि पुरुषार्थके उद्देश्यसे घरसे चल ही पड़े। उस समय थोड़ीसी अँग्रेजी पढ़ लेनेसे ही ईस्ट इंडिया कंपनी सरकारकी अमलदारीमें बड़े-बड़े पद मिल जाया करते थे और इनके लिये वह सहज साध्य था, किन्तु नौकरी करना श्ववृत्ति जानकर उस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया और व्यवसायकी ओर पैर बढ़ाया। श्रीमान्, प्रभावशाली और अँग्रेजी पढ़े-लिखे होनेसे अनेक अँग्रेज अफसरों और व्यवसायियोंसे उनका परिचय ही नहीं, घनिष्ठ प्रेम भी हो गया था। आरम्भमें जो अंग्रेज इस देशमें आते, वे होते भी थे बड़े भले आदमी। एक व्यवसायी अंग्रेज, जिसकी कलकत्तेसे दिल्लीतक दुकानें थीं और जो सैनिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करता था, उससे विशेष घनिष्ठता

हो जानेसे उसके विशेष अनुरोधसे आप उसके साथ मेरठ चले आये, जहाँ उसका प्रधान कार्यालय था और उसने विश्वासपूर्वक कार्यालय और व्यवसायके चलानेका सब भार इन्हींपर सौंप दिया। थोड़े ही दिनोंमें आपके अध्यवसाय और प्रबल प्रयत्नसे उस अँग्रेजका व्यवसाय इतना चमका कि, जहां-जहां उसकी दुकानें थीं, वहां-वहां कोठियां स्थापित हो गयीं और लाखों रुपयोंकी वार्षिक आय होने लगी। अब तो वह अँग्रेज इनके हाथका खिलौना बन गया। उसने इनको अपना साझीदार बना लिया। दिन दूनी-रात चौगुनी दौलत बढ़ने लगी।

श्रीमधुसूदनजीके घरसे चल पड़नेका एक और निमित्त कारण हो गया था। वे बड़े सदाचारी और एक पत्नीव्रती थे। कान्यकुब्जोंकी कौलीन्य प्रथाके अनुसार उस समय एक पुरुष कितनी ही कन्याओंसे विवाह कर लेता था। उनके पितृदेवने ग्यारह कन्याओंसे विवाह किया था और वे श्रीमधुसूदनजीको भी एक पत्नीके होते हुए और दो-चार विवाह कर लेनेका आग्रह कर रहे थे। कन्याएँ भी ठीक कर ली गयी थीं, किन्तु इससे श्रीमधुसूदनजी सहमत नहीं हुए और चुपके-चुपके घरसे चल दिये। चरित्रबल सब बलोंसे श्रेष्ठ माना गया है, इसका यह आदर्श है।

मेरठमें ही एक सुन्दर बँगला बना लिया गया और श्रीमधुसूदनजी परिवारसहित उसीमें रहकर उस विशाल व्यवसायका काम सम्हालने लगे। वहीं उन्हें बाल-बच्चे हुए और आदर्श परिवार मानकर लोग बाबूसाहबका बड़ा आदर करने लगे। यद्यपि श्रीमधुसूदनजी व्यवसायमें संलग्न रहते थे, तथापि उपासना, तप और सनातनधर्मोक्त आचारपालनमें उन्होंने शिथिलता नहीं आने दी। प्रातः चार बजे ही शय्या त्यागकर नहा-धोकर उपासनामें लग जाते और आह्निक कर्म समाप्त होनेपर व्यावहारिक कार्य

करते थे। दोपहरमें वैश्वदेव-बलि-तर्पण आदि पंचमहायज्ञ कर सब आश्रितों, अतिथियों आदिको परोस देनेपर स्वयं अन्नग्रहण करते थे। घरमें कोई एक प्राणी भी यदि भूखा होता, तो जबतक वह भोजन न कर ले, तबतक स्वयं भोजन नहीं करते थे। निर-भिमानता, कुटुम्ब-वत्सलता और सादगी इतनी अधिक थी कि, घरके सब लोगोंकी जाड़ेमें रजाइयाँ बनतीं, तो सबके लिये नया कपड़ा खरीदा जाता, किन्तु वे अपनी रजाईमें पुराने कपड़ेका ही उपयोग करते थे। गृहस्थाश्रममें ही निःश्रेयसको प्रदान करनेवाला त्याग आरम्भ हो जाता है, इसका यह एक प्रमाण है। सन्ध्यामें कार्यालयसे लौट आनेपर मित्र-मण्डलीसे वार्तालाप करते और पुनः पूजापाठमें लग जाते थे। यह उपासना आधीराततक चलती रहती थी। पूजनीया सौभाग्यवती माताजी तो अखण्ड माला टारती हुई श्रीजगदम्बाके चरणोंमें चित्त लगाये रहती थीं। प्रसूतिके समय भी वे श्रीजगदम्बाके चरणोंमें ही रमी हुई थीं और जब श्रीजीका आविर्भाव चन्द्रोदयके साथ ही हो गया, तब वे कौशल्या माता और देवकी माताकी ही तरह त्रिगुणोंमें अधिपतिके रूपमें श्रीभगवान् दत्तात्रेयकी छबिके दर्शनका अनुभव करने लगीं। वे आनन्दसे गद्‌गद होकर तथा प्रसूतिकी वेदनाओंको भूलकर मानो इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगीं:—

तुम हो सनातन ब्रह्म एकसे तीन भये,
    ब्रह्मा विष्णु शिव राजें तुम्हारे सहारेपर।
तीनों पुनि एक भये समन्वय रूप धरो,
    जगद्‌गुरु दत्तात्रेय जगत उधारेपर।
विश्वके कल्याण हेतु बार-बार दौरि आये,
    वेद-शास्त्र तारे सबै ज्ञानिनके हारेपर।

डूबत मोह मायामें पार करो नैया मेरी,
अब तो उबारो नाथ पग है करारेपर ॥

श्रीजीके गर्भमें आनेसे पहले 'पुत्रकामेष्टि' यागकी तरह एक बड़ा यज्ञ किया था, जिसके कारण श्रीजीको अवतरित होना पड़ा और इसीसे उनका नाम 'यज्ञेश्वर' रक्खा गया। वास्तवमें यज्ञेश्वर थे, इसका पीछे पता लगा। जब माताजी अन्तःसत्त्वा थीं, तब एक बार ऐसी बीमार हुई कि, उनके बचनेकी कोई आशा नहीं रह गयी। उस समय श्रीजीके पितृदेव यह सोचकर कि, जो होना होगा, सो होगा; परन्तु इस समय इन्हें श्रीभगवान्के चरित्रों-को सुनानेसे यदि ये बच जायँ, तो सन्तान भगवद्भक्त होगी, प्रति-दिन नियमित रूपसे श्रीमद्भागवत सुनाया करते थे। इसीसे श्रीजीने श्रीकृष्णका आदर्श अपने सामने रक्खा था और उन्हींके अनुसार वे कर्मयोगमें निरत रहते थे। सुभद्राके गर्भस्थ बालकने इसी प्रकार चक्रव्यूहभेदनकी विधि श्रीकृष्णसे जान ली थी और उसका उपयोग भी किया था। गर्भिणीके शुभाशुभ संस्कार गर्भमें संक्रमित होते हैं, इसके ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और इसीसे शास्त्रकारोंने गर्भ-वतीके शरीर और अन्तःकरणको पवित्र बनाये रखनेका विशेष अनुरोध किया है।

यह कहा जा चुका है कि, संवत् १६०२ की भाद्रकृष्णा ८ (श्री-कृष्ण-जन्माष्टमी) के दिन ठीक अर्द्धरात्रिके समय मेरठके ही बंगले-में आविर्भाव हुआ था और भगवान् श्रीकृष्णकी तरह श्रीजी भी अपनी पूजनीया माताजीकी आठवीं सन्तान थे। आपके पुण्यात्मा माता-पिताने वैसी ही तपस्या की थी, जैसी कश्यप और अदितिने, मनु और शतरूपाने अथवा पूर्वजन्ममें वसुदेव और देवकी ने। उन्होंने पुत्ररूपमें भगवान्को चाहा था, तदनुसार वे दशरथ और

कौशल्याके अथवा वसुदेव और देवकीके रूपमें उत्पन्न हुए और श्रीभगवान्‌के वरदानके अनुसार उनको पुत्ररूपमें भगवान्‌का लाभ हुआ। यह बात ठीक है कि, "अंशन सहित राम अवतारा"। श्रीभगवान् जब अवतरित होते हैं, तब उनके आगे-पीछे उनकी सहायताके लिये नाना देवता भी नानारूपोंमें प्रकट हो जाते हैं। रामचन्द्र और कृष्णचन्द्रके चरित्रमें यह बात देखी जाती है। श्रीजीके आगे पीछे भी ऐसे महानुभाव धर्मात्मा उत्पन्न हो गये थे, जिनसे श्रीजीको अपने पुरुषार्थमें बहुत कुछ सहायता मिली थी। कलियुगके कारण जो नर और नारायण ऋषि हिमालयमें तपस्या कर रहे हैं, शास्त्रोंसे प्रमाण मिलता है कि, वे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें प्रकट हुए थे। समयका अनुरोध (तक़ाज़ा) देख कर श्रीजी यदि नारायणके अवतार थे, तो उदयपुरके तत्कालीन महाराणा फतेहसिंहजी नरके अंश और उनके सहायक देवांश कश्मीर, टीकमगढ़, दरभंगा आदि राज्योंके नरपति माने जा सकते हैं। इटावेके परमहंस श्रीस्वामी ब्रह्मानन्दजी, श्रीस्वामी केशवानन्दजी, श्रीस्वामी दयानन्दजी, जगद्‌गुरु श्रीस्वामी मधुसूदनतीर्थजी आदि सत्पुरुष और प्रधान-प्रधान धर्मवक्ता प्राचीन धर्मगुरु-ऋषि-मुनियोंके ही अंश थे। इस प्रकार भगवान्‌ने सपरिवार अवतरित होकर श्रीमधुसूदनजीका घर आलोकित किया था।

यद्यपि उस दिन संध्यासे ही भादोंकी घोर घटा छायी हुई थी, तथापि श्रीजीके जन्मके समय आकाश-मंडल निर्मल हो गया था और चन्द्रमा भी उदित हो चुके थे। वह मंगलमय समय था, जिसका वर्णन महाकवि कालिदासने इस प्रकार किया है:—

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः, प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं, भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥

जब महाराजा रघुका जन्म हुआ, उस समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, सुखदायक वायु बहने लगे, अग्निदेव दक्षिणा-प्रदक्षिणाके साथ आहुतियाँ लेने लगे और उस क्षणमें सब कुछ प्रशंसनीय मङ्गलमय हो गया; क्योंकि ऐसे सत्पुरुषोंका जन्म जगत्‌के कल्याणके लिये ही होता है। माताकी सुख प्रसूतिकेलिये उस समय पूजापाठमें जो तपस्वी ब्राह्मण बैठाये गये थे, उन्हें भी रामायणोक्त देवर्षि नारदके वचनोंका इस प्रकार अनुभव होने लगा; "इस समय ऐसे एक पूर्णात्माका आविर्भाव हुआ है, जिसके आदर्शको देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवनको पूर्ण जीवन बना सकता है और प्रत्येक सदाचारी ब्राह्मण और क्षत्रिय नरपति त्याग और तपस्यामय ब्राह्मणधर्म तथा न्यायपूर्ण राजधर्मके पूर्णानुष्ठानद्वारा इहलोक और परलोकमें कृतकृत्य हो सकता है। इस बालकमें एकाधारमें पूर्ण मानवके समस्त गुण प्रकट होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।" रात्रिमें ही ब्राह्मणोंके स्वस्तिवाचनके वेदघोषमें श्रीमधुसूदनजीने सौरी घरमें जाकर नवजात पुत्रका मुखकमल देखा और टकटकी बाँधे बहुत समयतक वे उस मनोहर रूपको—मनमें अपनेको धन्य समझते हुए-देखते ही रह गये। वह रात पुत्रोत्सवके आयोजन करनेके विचारमें ही बीत गयी।

प्रातःकाल होते ही पुत्र-जन्मका समाचार नगरभरमें बिजलीकी तरह फैल गया। बड़े-बड़े सरकारी उच्चपदाधिकारी, डाक्टर, वकील, इंजीनियर, प्रोफेसर, सम्पादक, रईस, सेठ—साहूकार, कोठीवाल आदिका उनके घर ताँता बँध गया। बाबूजीपर बधाइयोंकी वर्षा होने लगी। नजर-न्योछावरका सिलसिला चला। रौशनचौकी बैठ गयी। कलाकार और ब्रह्मवृन्द एकत्र हुए और बाबूजी सबका यथोचित आदर-सत्कार करते हुए मुक्त हस्तसे दान-धर्म करने लगे। उस समय उनके मनमें ये ही भाव उठ रहे थे कि, किसको

क्या दूँ और क्या न दूँ। कविकुलगुरु कालिदासकी यही उक्ति चरितार्थ हो रही थी :—

"अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे।"

उस समय उस नरपतिको तीन ही वस्तुएँ दान करने-योग्य नहीं जँचती थीं। एक तो चन्द्रमाके समान चमकनेवाला चाँदीका छत्र और दूसरा चामर, जो उसके राजचिह्न थे। इसी तरह श्री-मधुसूदनजी भी अपने शील-सौजन्य, औदार्य और धर्मप्राणताको छोड़कर उस समय अपना सब कुछ दान करनेकेलिये प्रस्तुत हो गए थे। नामी-नामी ज्योतिषी बुलाये गये। उन्होंने नवजात शिशुकी जन्मपत्री बनायी और देखा कि, चार ग्रह उच्चके होकर द्वितीय, पंचम, चतुर्थ, दशम, सप्तम और एकादशसे पूर्ण सम्बन्ध-युक्त हैं। नवम अर्थात् धर्म और भाग्यके स्थानपर साक्षात् बृहस्पतिने ही स्वक्षेत्रपर अधिकार जमा रक्खा है। सबने मिलकर फलादेश तैयार किया और बैठकमें आकर सब लोगोंके सामने पढ़कर सुना दिया। उसका संक्षेप इस प्रकार है :—"यह बालक देवताओंके अंशसे अपने पवित्र कुलको धन्य करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ जान पड़ता है। इसके जन्मकालिक ग्रहोंसे ज्ञात होता है कि, यह दीर्घायु लाभ कर या तो किसी बड़े साम्राज्यका सम्राट् होगा या जीवन्मुक्त महापुरुष साधु-संन्यासी होगा। क्योंकि महान् योगी और राजाधिराजके ग्रह एकसे ही होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् भी यही कहते हैं :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

अर्थात्-दो ही पुरुष सूर्यमण्डलका भेदन करनेमें समर्थ हो सकते हैं। एक तो योगिराज परिव्राजक संन्यासी और दूसरा

सम्मुख रणमें मारा जानेवाला वीर क्षत्रिय नरपति। दोनोंका त्याग और तप समान मूल्य रखता है। परन्तु प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्तिकी ओर ही इसके अधिक अग्रसर होनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। यद्यपि ब्राह्म और क्षात्र दोनों वृत्तियोंका इसमें समन्वय हुआ है, तथापि सात्त्विक भावके प्रभावसे ही यह राजसिक और तामसिक भावोंपर आधिपत्य करेगा। इसके हाथों देश, जाति, धर्म और संस्कृतिकी ऐसी सेवा और उन्नति होगी कि, जैसी अबतक किसीसे नहीं हो सकी है। छठें घरसे पता चलता है कि इसके विरोधियों और निन्दकोंकी कमी नहीं रहेगी। वे इसको नाना प्रकारके कष्ट देंगे, परन्तु उस विपत्तिमें शनिदेव इसके सहायक होंगे और अन्तमें इसीकी विजय होगी। श्रीहनुमान्‌जी इसके सदा दाहिने रहेंगे और श्रीसरस्वती देवी जिह्वापर नृत्य करती रहेंगीं। यह जगत्पूज्य होगा और इसके पुरुषार्थसे समाजका कायापलट हो जायगा, वेद-शास्त्रोंका उद्धार होगा और प्रजाके फिर धर्माभिमुख हो जानेसे आर्यधर्म, संस्कृति और जातिकी बीजरक्षा होकर जगत्‌का मंगल साधन होगा। इसका नाम और काम अमर रहेगा"। जिन्होंने श्रीजीके जीवनपर साधारण विहङ्गम दृष्टि डाली है, वे भी समझ सकते हैं कि, श्रीजीके सम्बन्धमें ज्योतिषियोंकी यह भविष्यवाणी अधिकांश सत्य सिद्ध हुई थी। वे किसी सीमित भूमिके सम्राट् तो नहीं हुए, किन्तु विश्वके मार्गदर्शक और जगत्पति बन गये, जिनके चरणोंमें बड़े-बड़े अहङ्कारी प्रभावशाली महाराज और महाराजाधिराज लोटा करते तथा कृपाकांक्षी बने रहते थे।

श्रीजीकी बाललीला

क्रमशः श्रीजीकी बाललीला आरम्भ हुई। घुटनेके बल रेंगने, उठने, हठ करने, अपने प्रभावमें लोगोंको लाने जैसे उनके

मनमोहक कार्योंको देखकर तुलसीदासजीका यह वर्णन स्मरण हो जाता था—

"किलक किलक उठत धाय, गिरत भूमि लटपटाय,
धाय माय गोद लेत, दशरथकी रनियाँ,
ठुमक चलत रामचन्द्र, बाजत पैंजनियाँ।"

उस समयके कुलीन ब्राह्मणोंकी रीतिके अनुसार श्रीजीके पूज्य पितामह महोदयने दस-ग्यारह विवाह कर लिये थे। उनमेंसे नौ दादियोंको श्रीजीने देखा था। कहा करते कि, वे साक्षात् देवी-जैसी सौम्या, शीलवती और तेजोमयी जान पड़ती थीं। बाल श्रीजी तो उनके गलेके हार नहीं, किन्तु प्राणस्वरूप हो रहे थे। उनके सामने मातृदेवीकी कुछ नहीं चलती और शिशुका हठ चल जाता था। इनके मचल जानेपर उनके अतिरिक्त इन्हें कोई नहीं सम्हाल सकता था। फिर भी माताके प्रति इनकी अनन्य भक्ति थी और १३-१४ वर्षोंकी अवस्थातक उन्हींकी छातीसे चिपक कर रात-में सोया करते थे।

अध्ययनशील होनेके कारण पिताजीका पुस्तकालय विशाल था और जहां-तहां नाना भाषाओंके ग्रन्थ छितरे रहते थे। कुलपुरो-हितके द्वारा इनका अक्षरारम्भ और चौलसंस्कार यथाविधि कराया गया, उस समय श्रीजीको पाँचवाँ वर्ष लग गया था। उन्होंने ग्रन्थोंके मोटे-मोटे अक्षरोंको देख-देखकर अक्षरों और अङ्कोंका परिचय करलिया और तोतली बोलीमें कुछ-कुछ पढ़ने भी लगे। बस इसी तरह कि :—

'लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं,
नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्।"

धीरे-धीरे उनकी समझनेकी शक्ति बढ़ने लगी और आठवें वर्ष-

में ही वे बड़े-बड़े ग्रन्थ धड़ल्लेके साथ पढ़ने और समझने भी लगे। जो अध्यापक उनके पढ़ानेके लिये रखे गये थे, वे इनकी असाधारण बुद्धिमत्तापर चकित होकर महर्षि वशिष्ठजीकी इसी उक्तिको दोहराया करते थे :—

'उपदेशक्रमो राजन्! व्यवस्थामात्रपालनम्।
ज्ञप्तेस्तु कारणं विद्धि शिष्यप्रज्ञैव केवलम्॥"

अर्थात्—हे राजन्! हे दशरथ! मैं कुमारको पढ़ाता हूँ और वे पढ़ते हैं, यह केवल सनातन व्यवस्थाका पालनमात्र है। जो जगद्गुरु हैं, उनको कौन पढ़ा सकता है? शिष्यके ज्ञानका कारण केवल उसकी प्रतिभा (बुद्धिमत्ता) ही होती है। बाल्यकालसे ही श्रीजीकी धारणाशक्ति और स्मृतिशक्ति ऐसी तीव्र थी कि, कठिनसे कठिन विषयको भी झटसे एक ही बार बतानेसे पचा डालते और उसे कभी भूलते नहीं थे। उस समयकी पढ़ी हुई छोटी-छोटी कविताएँ और कहानियाँ इन्हें वृद्धावस्थामें भी स्मरण थीं और उनका अपने लेखकोंमें दृष्टान्तके रूपमें उपयोग कर लिया करते थे।

श्रीमधुसूदनजीका घर उस समय सनातनधर्मकी व्यवस्थाओंके पालनका आदर्श हो रहा था। कुलधर्म, कुलाचार आदिका बड़ी सावधानीसे संरक्षण किया जाता था। वह समय श्रीमधुसूदनजीके उत्कर्षका मध्याह्न कहा जा सकता है। जैसे वे कर्मठ, धर्मप्राण, परोपकार-परायण, सदाचारी, दयालु और कर्मवीर थे, वैसे दानशील और उदार भी थे। उनके ध्यानमें वशिष्ठका यह उपदेश सदा जागृत रहता था :—

"हुतं तप्तं च दत्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते।
गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः॥"

इस कारिकाकी कथा बड़े मारकेकी है। महर्षि विश्वामित्रजी

अपने यज्ञोंकी रक्षाकेलिये राम-लक्ष्मणको लेने जब अयोध्या आये, तब उन्हें सरयूमें स्नान करते हुए देखकर महर्षि वशिष्ठ अन्तर्दृष्टिसे समझ गये कि, उनका क्यों आगमन हुआ है। मनमें उन्हें सन्देह हुआ कि, कहीं ऐसा न हो कि, राजा दशरथ पुत्र-मोहके कारण उनकी माँगको ठुकरा दें और अपनी ही नहीं, जगतकी हानि कर बैठें। विश्वामित्रजी रामावतारका चरित्र आरम्भ कर रहे हैं, इसमें बाधा डालना देवताओंके कार्यमें बाधा डालना होगा। अतः एक वटके पत्तेपर बेलके काँटेसे यह कारिका लिखकर अपने शिष्य वामदेवके हाथों तुरन्त राजाके पास भेज दी। राजा उसे पढ़कर गद्‌गद होकर सोचने लगे कि, देखो, गुरुजी कितने कृपालु हैं। मेरे 'कर्ण समीप भये सित केशा'; परन्तु अबतक गुरुदेव मुझे दुध-मुहाँ बच्चा ही समझकर अनुशासन कर रहे हैं। उसने वामदेवसे निवेदन किया कि, "गुरुदेवकी आज्ञा शिरोधार्य है।" इसी आज्ञाका या चेतावनीका आदरकर छातीपर पत्थर रखकर राजाने राम-लक्ष्मणको उन्हें सौप दिया था। कारिकाका आशय यह है कि, "जो कुछ तुमने यज्ञयागादि किये हों, जो कुछ व्रत-जप-पूजादि तप किये हों और जो कुछ दान-शूरता दिखायी हो, उसके पुण्यबलसे सोचो कि, तुम्हारे कुलका यह धर्म ही बन गया है कि, तुम्हारे घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटते हैं।" इसी वचनके अनुसार धनी और दानी होनेके कारण जो कोई श्रीमधुसूदनजीके द्वारपर पहुँच जाता, वह कभी खाली हाथ नहीं लौटता था। ऐसे भाग्यशाली सद्‌गृहस्थ संसारमें बहुत कम होते हैं।

मेरठमें उस समय कोई भी गुणी, कलाकार; पण्डित, याज्ञिक, कर्मकाण्डी, गायक-वादक, नाटकमण्डली, पहलवान, जादूगर, कठपुतली नचानेवाले, कारीगर, व्यास, व्याख्याता, पौराणिक, कथावाचक आता और लोगोंसे पूछता कि, यहाँ किससे मिलनेपर

मेरी विद्याका आदर होगा, तो छोटे-बड़े सभी लोग श्रीमधुसूदनजी-का नाम और घर बता देते थे और उनके यहाँ उनका उचित आदर होता भी था। उनकी दानशीलता, गुणग्राहकता और मिलनसारीकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी थी। नीतिकार ठीक ही कहते हैं :—

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनीससम्भ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम॥

गुणिजनकी गणना करते समय भूलकर भी जिसकेलिये किसीकी कानी अँगुली नहीं गिरती, उसकी माँ यदि पुत्रवती कही जाय, तो बताइये कि, वन्ध्या कैसी होती है? श्रीमधुसूदनजीको पाकर उनकी प्रातःस्मरणीया माता वास्तवमें सच्ची सौभाग्यवती हुई थीं और उन्हींके तपोबलसे उनके घरमें श्रीजीको आविर्भूत होना पड़ा। श्री गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं :—

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपतिभक्त जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम-विमुख सुत तें जग-हानी॥

भगवद्भक्त श्रीमधुसूदन उस समय गुणिजनके सत्कार और सनातनधर्मकी मर्यादा पालनके आधार स्तम्भ हो रहे थे। उनकी इच्छाके अनुसार ही उन्हें भगवद्भक्त ज्ञानी पुत्रका लाभ हुआ और उनकी धर्मपत्नी सच्ची पुत्रवती सिद्ध हुई।

श्रीजीका शरीर सुदृढ़, पुष्ट, गौरवर्ण, सुलोना, मनोहर और मोहक होनेपर भी बहुत कोमल और सुकुमार था। बाल्यकालमें उस समयके रईसोंकी प्रथाके अनुसार उन्हें जो अलंकार पहनाये जाते थे, उनकी हाथों-पैरों और गलेमें साटें पड़ जाती थीं। शीतोष्ण सहन नहीं कर सकते थे और क्षुधा-तृषा लगनेपर खान-पानमें यदि थोड़ा भी विलम्ब होता, तो तुरन्त सिरमें चक्कर आने लगता और मूर्छितसे हो जाते थे। माता-पिताके प्रति जिसकी श्रद्धा न हो, वह कभी महा-

पुरुष हो नहीं सकता। श्रीजी मातृ-पितृ-भक्त तो थे ही, किन्तु अपने स्वाभिमानको कभी धक्का नहीं लगने देते थे। श्रीजीके पूज्य पिता-महने यद्यपि ग्यारह विवाह किये थे और वे सब देवियाँ घरकी ही शोभा बढ़ा रही थीं, तथापि पुत्र-सन्तान केवल श्रीमधुसूदनजी ही थे। एक दिनकी बात है। श्रीमधुसूदनजीके एक भ्राता, जो नातेमें भाई लगते थे, उनके पास मिलने आये। उस समय श्रीजी पितृदेवके पास बैठ-कर गप लड़ा रहे थे और यह जानते थे कि, आये हुए पितृव्य पिताजीसे मुक़दमा लड़ रहे हैं। श्रीजीका मनो-मोहक रूप देखकर वे मुग्ध हो गये और प्यार करनेके लिये उन्होंने श्रीजीको अपने पास बुलाया; परन्तु श्रीजी नहीं गये। पितृव्यने इसका कारण पूछा, तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा कि, जब आप हमारे बाबूजीसे लड़ते हैं, तो मैं आपके पास क्यों आऊँ? श्रीजीकी यह तेजस्विता देखकर पितृव्य महाशय दंग रह गये। उस समय श्रीजीकी अवस्था सात वर्षकी रही होगी। संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, संगीत आदि सिखानेकेलिये घरमें अलग-अलग सुयोग्य अध्यापक रक्खे गये थे और उनके सदाचार-पालन-पर विशेष ध्यान रक्खा जाता था। हाईस्कूलमें भरती हो जानेपर भी वहाँ मध्याह्नमें अल्पाहार नहीं करते थे और पानी घरके नौकरके हाथका ही पीते थे। बिना हाथ-पैर धोये कभी अन्तःपुर या ठाकुर-घरमें प्रवेश नहीं करते थे। यदि थूकना भी होता था, तो थूककर कुल्ली अवश्य कर लिया करते थे। स्वच्छता और पवित्रताका उनको बड़ा विचार रहता था और वह अभ्यास अन्ततक बना रहा। एक बार उनको रस्सी-कूदका खेल सिखाया जाता था। साहस करके धड़ल्लेके साथ रस्सीको लाँघ तो गये, पर रस्सी लाँघकर खड़े न रह सके। शरीर सुकुमार होनेसे गिर पड़े और मूर्छित हो गये। तुरन्त उनका कुटुम्ब-डाक्टर (Family Doctor) बुलाया गया। किसी प्रकार उनकी मूर्छा दूर की गयी। परन्तु उसी समय डाक्टरने

सबको चेता दिया कि, "यह बालक बड़ा सुकुमार है। इससे ऐसे शारीरिक परिश्रमके व्यायाम कभी न कराया करो, नहीं तो इसकी बुद्धि कुन्द हो जायगी, मस्तिष्कमें क्षति पहुँचेगी या हृदयकी गति रुककर मृत्यु (Heart Fail) हो जायगी।" उस दिनसे श्रीजीकी ऐसी खेल-कूद बन्द हो गयी। उनको ऐसी अच्छी आदतें डाली गयी थीं कि, देखनेवाले आश्चर्य चकित हो जाते थे। ठीक ही है :—"होनहार बिरवानके होत चीकने पात"।

श्रीजीका स्वभाव और मनोरंजन

सत्य और अहिंसाका इस समय जय-जयकार हो रहा है, केवल मौखिक। वह व्यवहारमें नहीं लाया जा सका। परन्तु श्रीजीके हृदयमें बाल्यकालमें ही दोनों धर्मोंके बीज अंकुरित हो चुके थे। इनके घर दुर्गापूजा बड़ी धूम-धामसे हुआ करती थी। उस समय बलिदान भी हुआ करता था। जब बलिका बकरा काटा जाने लगता, तब इनके हृदयमें खलबली मच जाती और अपने बाबूजीसे पूछते, बाबूजी इस बेचारेको क्यों मारते हैं? बाबूजी कुछ समझा देते, परन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं होता। खटमल, मच्छर या चूँटी तकको मारनेमें वे हिचकते और देख-देखकर चलते थे कि कोई जीव कुचला न जाय। बगीचेके पेड़ोंमें चिड़ियाँ घोसला बनातीं, अण्डे देतीं और यदि उनका कोई अण्डा नीचे गिरकर फूट जाता, तो इन्हें बड़ा दुःख होता था। इसकेलिये वे खोतोंके नीचें लकड़ीके खोखे बँधवा देते, जिससे अण्डा गिरे भी, तो उसी खोखेकी घासपर रह जाय। वृद्धावस्थामें महामण्डल-भवनके बरामदेमें भी उन्होंने ऐसी ही व्यवस्था कर रक्खी थी। एक चाबुक सवार और एक अवसरप्राप्त हवलदारको नियुक्तकर इनको घुड़सवारी करने और निशाना लगानेका अभ्यास कराया जा रहा था; परन्तु इन्होंने कभी किसी पशु या पक्षीकी

हत्या नहीं की और पेड़ोंकी टहनियोंके चिह्न किये हुए वृक्षोंको लक्ष्य-कर निशाना लगाना सीख लिया। घोड़ोंकी अच्छी पहचान थी और घोड़ेपर चढ़नेकी तरह तैरनेका भी अच्छा अभ्यास हो गया था।

परन्तु क्रिकेट, फुटबाल जैसे आधुनिक खेलोंमें या चौसर, पत्ते आदि खेलनेमें इनका चित्त नहीं लगता था। मनोरंजनके लिये वे कविता पढ़ते या संगीत सुना करते थे। साहित्यमें अच्छी गति हो जानेपर आगे चलकर अच्छी कविता करने लगे थे। संगीतके भी उत्तम जानकार थे। संगीत सुननेकी योग्यता भी होनी चाहिये। यह तभी प्राप्त होती है, जब स्वरों, तालों और रागोंका बोध हो। संगीतके अध्यापकसे इन्होंने इसका अच्छा ज्ञान कर लिया था और 'तांत छिड़ते ही राग पहचान' लेते थे। प्राचीन शास्त्रीय-संगीतसे प्रेम होनेके कारण ध्रुपद बड़ी चावसे सुनते थे। मृदङ्गसे ध्रुपदका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे मृदङ्ग बजाना भी सीख लिया था और लड़न्तमें—जो ध्रुपदियों और पखावजियोंमें हुआ करती है—यदि एकाध मात्राका अन्तर पड़ता या अल्पांशसे भी कोई स्वर कनसुरा हो जाता, तो तुरन्त पकड़ लेते थे। मथुरामें जब उनके स्थापित श्रीभारतधर्ममहामण्डलका कार्यालय था, तब तो प्रातः कालमें उठते ही एक कविता बना लेते, तब शय्या-त्याग करते थे।

उनके मनोरञ्जनके और भी दो साधन थे। उद्यानविद्या और पशुपक्षियोंका पालन। नाना देशोंसे नानाप्रकारके पौधे मंगवाकर उन्होंने अपने उद्यानमें लगा रक्खे थे और उनकी देखभाल स्वयं करते थे। जिस पौधेकेलिये जैसी मिट्टी आवश्यक होती थी, वैसी मंगवाकर बिछवा देते और पौधोंकी प्रकृतिके अनुसार उनको खाद भी दिलवाते थे। हमलोग उद्यानमें जाकर हरियाली देख आते हैं या फल-फूलोंका ही आनन्द लेते हैं; परन्तु किस पौधेकी क्या जाति

है, कैसा जीवन है और गुण-धर्म क्या हैं, यह जाननेका कभी प्रयत्न नहीं करते। श्रीजी बाल्यावस्थासे ही वनस्पतिशास्त्रका अध्ययन करने लगे थे और नाना वनस्पतियोंके गुणधर्म जानते थे। स्वीजरलैण्ड, फ्रान्स, इटली, इंगलैण्ड, अमेरिका आदि महादेशोंकी उद्यानपद्धतिकी पुस्तकें मंगवाली थीं और तदनुसार अपने यहाँ उद्यान रचनाओंका नमूना तैयार कराते थे। कई बार ऐसा हुआ कि, सौंदर्यहीन कुछ वृक्षोंको निरुपयोगी जानकर मैंने निवेदन किया कि, इन वृक्षोंको कटवा दिया जाय। इसपर वे हँस पड़े और रसोई-दारको बुलवाकर आज्ञा दी कि, आज इस वृक्षके फलोंकी चटनी बनाकर इनको खिलाओ। जब भोजनके समय मैंने चटनी खायी, तो बड़ी स्वादिष्ट लगी और बिजलीके पंखेकी हवासे जो गला सूखता था, वह भी नहीं सूखा। दूसरे दिन मुझसे पूछा,—क्या उन वृक्षोंको कटवा दिया जाय? लज्जित होकर मैंने यही उत्तर दिया कि, महाराज! उनके गुणोंसे अनभिज्ञ होनेसे ही मैंने मूर्खता की थी। उसी दिन उनका एक पुराना बढ़ई आया, जिसके पैरका पञ्जा पक गया था। अस्पतालकी दवाओंसे अच्छा न होनेसे बड़ा व्याकुल था। मुझे आज्ञा हुई, देखो, उस बेरके पेड़के पास जो पौधा है, उसकी पत्ती पिसवाकर इसके पंजेमें बँधवा दो। इससे तीन-चार दिनोंमें ही उसका घाव सूख गया और वह चलने-फिरने ही क्या, दौड़ने लगा। इस विद्याका ज्ञान उन्हें बाल्यावस्थामें ही हो गया था।

एक बार जिसे वे आश्रय देते, उसे दूर नहीं करते थे; चाहे वही काम छोड़कर चला जाय। उक्त बढ़ई ग्रामीण था। बसूला चलाकर खटिया, हलकी खूँटी आदि बना लेता था, कारीगरीका कोई काम नहीं जानता था; परन्तु अन्ततक उसे नहीं छुड़ाया और उसीसे काम लेते थे। इसी तरह अयोग्यसे अयोग्य व्यक्तिसे भी वे अच्छेसे अच्छा काम करा लिया करते थे। यह उनमें अपूर्व शक्ति थी!

पेड़-पौधोंकी तरह पशु-पक्षियोंकी और अन्य जीव जन्तुओंकी भी उन्हें बड़ी पहचान थी। हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, ऊँट तथा अन्य पालतू जानवरोंके अच्छे-बुरे लक्षणोंको वे अच्छी तरह जानते थे और नानाप्रकारके पशुओंको उन्होंने पाल भी रक्खा था। कितनेही तरहके पक्षी पाल रक्खे थे, जिनके स्वभाव और बोलियोंको भी जानते थे। कोयल, मोर, सारस, चटक (गोरैया), चील, कौए, टिटहरी आदि पक्षियोंकी बोलियोंसे वे जान लेते थे, अब आँधी आवेगी, वर्षा होगी, धूप कड़ी होगी, प्रियमिलन होगा, संकट आवेगा, कार्य-सिद्धि होगी, बाधा पड़ेगी इत्यादि। यदि कोई आनन्दका समाचार ज्ञात होता, तो तुरन्त कहते, 'कौएको रोटी दो। अच्छी बात कह रहा है मंगल होगा।' इसका कई बार अनुभव भी आ चुका है। यह उन्होंने बाल्यावस्थामें मनोयोग करके ही जाना था। जीव-जन्तुओंकी रहन-सहन, चालें, सन्तति, आयु, आदतें, गुणाव-गुण आदि भली भाँति जानते थे। उदयपुरकी बात है, एक दिन अपराह्नमें हम एक गलीसे होकर जा रहे थे। एक घरके सामनेके चबूतरेके पाससे लाल चीटियोंकी कतार विशिष्ट चालसे जा रही थी। श्रीजीकी दृष्टि पड़ी, तो बोले,—यहाँ अभी रक्तपात होनेवाला है। हम कुछ ही आगे बढ़े थे कि, संयोगवश एक बालक दौड़ता हुआ आया और उसका सिर उस चबूतरेके पत्थरसे टकरा गया। उसके सिरसे रक्त बह रहा था, यह देखकर हम दंग रह गये। घरमें उन्होंने अन्य पक्षियोंकी तरह नानाजातिके कबूतर भी पाल रक्खे थे और सब पशु-पक्षियोंकी देख-भाल स्वयं करते तथा उसमें कोई त्रुटि होती, तो नौकरोंको दण्ड भी देते थे। कामचोरीसे उनको बड़ी घृणा थी और स्वयं काम करनेके लिये सदा सन्नद्ध रहा करते थे। उनकी यह बाल्यावस्थाकी आदत अन्ततक बनी रहे।

झूठसे उनको बड़ी चिढ़ थी। उनके बड़े भाईसाहबने एक बार

सिगरेट पी और जब इन्होंने उसे देख लिया, तब भाईसाहब बोले, यह बात माँ या बाबूजीसे मत कहना। बाल यज्ञेश्वर चुप हो गये; परन्तु यह बात माताजीसे कहे बिना उनसे रहा नहीं गया। क्योंकि वे मातासे कोई बात छिपा नहीं रखते और न उनकी आज्ञाके बिना कोई काम ही करते थे। माता साक्षात् अनसूया थीं। वे बोलीं,— "बेटा, तुम्हारे मैयाने काम अच्छा नहीं किया। चोरी-चोरी किया, यह और बुरा किया और फिर उसे छिपानेके लिए छोटे भाईको असत्यकी ओर घसीटा, यह और भी बुरा किया। मेरे प्यारे मुन्ना! तुम जानते ही हो कि, अपने ठाकुरजी सर्वत्र विराजमान हैं। भीतर-बाहर, प्रकाश-अन्धकार, जल-स्थल सब जगह उनका निवास है। कमरेके द्वार बन्द कर कोई यदि चोरी-चोरी कोई काम करे, तो वह समझता है कि, कोई नहीं देख रहा है; परन्तु ठाकुरजी देखही लेते हैं। उनसे कोई बात नहीं छिपती और अपराधीको दण्ड देनेमें वे नहीं हिचकते। तुम्हारे दादाने जो अपराध किया है, उसका दण्ड उसे भोगना ही पड़ेगा, वह रोगी हो जायगा। क्योंकि सिगरेट, तमाखू, भांग, गांजा, शराब, चाय आदि नशे करनेसे मनुष्य रोगी होकर मर ही जाता है या अल्पायु होता है,—थोड़े दिन जीता है। इसी तरह सत्यके अवलम्बनसे,—सत्यपालनसे आयु बढ़ती है। क्योंकि सत्यभक्त कभी कोई ऐसा काम नहीं करता, जिससे रोगी होकर उसकी आयु घटे। इसलिये अब यदि कोई तुमसे यह कहे कि, यह बात किसीसे न कहना, तो तुम यही उत्तर देना कि, ऐसा कोई काम ही नहीं करना चाहिये, जिसके प्रकट करनेमें लज्जा जान पड़े।" माताका यह उपदेश उनके अन्त:करणमें ऐसा अंकित हो गया कि, आगे चलकर सत्यके पक्षमें होनेसे बड़े-बड़े नैतिक संग्राम उन्हें करने पड़े और अन्तमें उन्हींकी (सत्यकी) विजय हुई।

इसी तरह उन्होंने अपनी आँखोंसे यह भी देखा कि, उनके दादा भाई क्रमशः व्यसनाधीन होते गये और घोर मद्यप होनेसे उसीमें उनकी मृत्यु हो गयी। बड़ी अवस्थामें जगत्‌का बहुत कुछ अनुभव हो जानेपर ऐसी घटनाएँ उन्होंने अनेक देखीं और इसीसे अपने प्रिय आश्रितोंसे—यदि वह कोई व्यसन करता हो, तो दुर्व्यसनोंसे बचे रहनेका उपदेश देते और उसे सम्हालनेकेलिये नाना प्रकारके उपाय किया करते थे। उपदेशमें वे आँखों देखी घटनाएँ सुनाते; जिनमें अपने दादा-भाईकी करुणाजनक कथाएँ सुनाते हुए उनका गला भर आता था। वे सब प्रकारके नशोंसे अस्पृष्ट थे। गार्हस्थ्य-जीवनमें भी पानतक नहीं खाते थे, तमाखू, सिगरेट आदिकी तो बातही क्या है। 'व्यसष्नेवसक्तम्' यहभी उनके दीर्घजीवन लाभ करनेके अनेक कारणोंमें अन्यतम कारण है। धनीलोगोंके अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवकोंमें यह बात बहुत कम पायी जाती है। बालकोंको स्कूलमें जातेही पहले सिगरेट पीनेकी आदत लगती है, फिर होटलोंमें खाने की; क्योंकि वह सभ्यता और पढ़े-लिखे होनेका निद-र्शक समझा जाता है। श्रीजी ऐसी लतोंसे बाल्यावस्थासे ही दूर रहे। सहपाठी विद्यार्थियोंसे भी वे अधिक सम्बन्ध नहीं रखते थे और बुरी संगतिसे बचे रहते थे। इसीसे उन्हें भीतरके (ताश; चौसर, बिलियर्ड आदि) तथा बाहरके (क्रिकेट, फुटबाल, हाकी आदि) खेल नहीं आये। घरके लानमें पितृदेवके मित्रोंके समवयस्क बालकोंके साथ कभी-कभी खेल लेते थे; परन्तु उसमें उनका मन नहीं लगता था।

श्रीजीके अन्त:करणमें भक्तिका स्रोत शैशवकालसे ही प्रवाहित हो रहा था। घरमें एक ठाकुरबाड़ी थी, जहाँ सुबह-शाम पूजाआरती हुआ करती थी। घंटा बजते ही ठुमकते हुए आप वहाँ दौड़ पड़ते, ठाकुरजीको एकटक देरतक देखा करते, साष्टांङ्ग प्रणाम करते,

तालियाँ बजाते और जबतक आरती समाप्त नहीं होती, तबतक सानन्दपुलकित होकर नाचा करते थे। पितृदेवने उन्हें "हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे"॥ यह तारक मन्त्र बता दिया था। इसका प्रतिदिन नियमित जप भी किया करते थे। वहीं प्रतिदिन एक वृद्ध पण्डित पुराणपाठ (कथा) किया करते थे। श्रीजी नियमित रूपसे ठीक समयपर वहाँ जा बैठकर ध्यानपूर्वक कथा सुनते और मांजी या बाबूजीके सामने अन्य समयमें उसे ज्योंकी त्यों दोहरा देते थे। अधिकांश पुराण उन्होंने इसी तरह सुनकर हृदयङ्गम कर लिये थे, उन्हें आगे दोहराना नहीं पड़ा। इस कार्यक्रमसे उनकी आस्तिकता दृढ़मूलहो गयी थी और यही जानकर माताने अपने उपदेशमें कहा था कि तुम जानते हो कि ठाकुरजी सब ओर विराजमान हैं। यह अद्वैतसिद्धान्तका श्रेष्ठतत्त्व पाँच-छः वर्षका बालक क्या, सयाना पढ़ा-लिखा आदमी भी नहीं समझ सकता; परन्तु श्रीजीके चित्तपर आस्तिकताकी अच्छी छाप जम गयी थी, जिससे उन्हें इसके समझनेमें कठिनता नहीं हुई। उसी आस्तिकताका आगे चलकर जब विस्तार हुआ, तब सारे जगत्को आस्तिक बनानेका मानो उन्होंने बीड़ा उठा लिया था।

बालकोंका जीवन इन चार साधनोंके अनुसार अच्छा या बुरा बनता है :—१—आनुवंशिक संस्कार, २—आस-पासकी परिस्थिति, ३—सङ्गति और ४—शिक्षा, इन चारोंमेंसे शिक्षाका स्थान अन्तिम है और आनुवंशिक संस्कारका प्रथम है। 'जाया' शब्दका अर्थ है,—जिसमें से होकर पुरुष पुनः उत्पन्नहो जाता है (जायते अस्यां पुनः सा जाया।) माता क्षेत्ररूपा होती है। उसीमें पिता बीजवपन करते हैं, जिससे प्राणीकी उत्पत्ति होती है। अतः सन्तानमें भूमि (क्षेत्र) और बीज दोनोंके गुण धर्मोंका संक्रमित होना स्वाभाविक है। आनुवंशिकबद्धकोष्ठ, अर्श (बवासीर), श्वास (दमा)

आदि रोग तथा बुद्धिमत्ता, उदारता, रसिकता, धर्मप्रेम आदि गुण प्राय: सन्तानमें देख पड़ते हैं। कहीं कहीं पिता पुत्र और माता-पुत्रीके कण्ठस्वर तो ऐसे सुनाई देते हैं कि, पता नहीं चलता कि यह कण्ठ-स्वर किसका है दोनोंके कण्ठस्वर एकसे होते हैं। श्रीजीमें माता-पिताके सब सद्‌गुण उतर आये थे; परन्तु उन पवित्रात्माओंमें कोई ऐसा दुर्गुण या रोगही नहीं था, जो श्रीजीमें संक्रमित होता। उनका शरीर और अन्त:करण दोनों पुनीत थे। स्वभावत: उनकी प्रवृत्ति धर्मकी ओर थी और सदा उनकी दृष्टि सदाचारकी ओर बनी रहती थी। अमीरके बालक थे। सब तरहकी स्वतन्त्रता थी; परन्तु अनुशासनके वे दृढ़ पक्षपाती थे। जिसे जिस कामपर नियुक्त किया गया हो, वह नियमित रूपसे ठीक समयपर करता है या नहीं, इसका बहुत ध्यान रखते थे और यदि उसमें व्यक्तिक्रम हो, तो बहुत असन्तुष्ट हो जाते थे। अत: नौकर लोग बड़े सरकार (बाबूजी) की अपेक्षा छोटे सरकार (श्रीजी) से अधिक डरा करते और उनके बताये हुए काम सावधानतापूर्वक नियमितरूपसे ठीक समयपर किया करते थे। आठ-दस वर्षकी अवस्थामें ही उद्यान, पशुशाला (गोशाला, घुड़-साल), बंगला आदिकी अच्छी तरह देख-भाल करने लगे थे। नियमितता (Regularity) और समयकी पाबन्दी (Punctuality) ये ही दो उनकी सफलताके सूत्र थे। यह बात नहीं कि, दूसरोंके लिये ही उनकी अनुशासन प्रियता थी। वे स्वयं स्वेच्छासे अनुशासनके सूत्रमें आबद्ध रहा करते थे। उनके दैनिक सब काम ठीक-ठीक समयपर हुआ करते थे। इससे नौकरोंपर उनकी अच्छी धाक जम गयी थी। यदि किसी नौकरसे कोई पूछता कि, इस समय छोटे सरकार क्या कर रहे हैं? तो वह घड़ी देखकर बता देता कि, इस समय अमुक काम करते होंगे। उस समय ठीक वही काम करते हुए वे पाये जाते। यथासमय कार्य करना वे अपना धार्मिक कर्तव्य

समझते थे। उन्हें समझा दिया गया था कि, समय ही सम्पत्ति है। (Time is money) इसका सदुपयोग कर लेना चाहिये। वह व्यर्थ बरबाद कर देनेसे जीवनभर पछताना पड़ता है। जिस समय जो काम होना चाहिये, उस समय वह न हो, तो अव्यवस्था हो जाती और कार्यमें बाधा पड़ती है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे आदि सब नियमबद्ध हैं, इसीसे सृष्टिका सब काम व्यवस्थित रूपसे चल रहा है। धर्मभीरु इतने थे कि, यदि उनके दैनिक कार्यक्रममें कभी कोई त्रुटि हो जाती, तो श्रद्धापूर्वक उसका प्रायश्चित्त करते और अपने अपराधके लिये भगवान्से क्षमा माँगते थे। उदाहरणार्थ, यथा-समय पानी गरम न होनेसे यदि स्नानमें १०-५ मिनट इधर-उधर हो जाय, तो उनको विषाद होता था। वे तुरन्त मातासे पूछते "मेरे इस अपराधका परिमार्जन कैसे हो?" माता आज्ञा करती कि, "ठाकुरद्वारेमें जाकर १०८ तारक मन्त्रका जप करो और ठाकुरजीसे क्षमा माँगो। वे क्षमा करके तुम्हारा मङ्गल करेंगे।" यही उनके अपराधोंका प्रायश्चित्त था और उसे वे भक्ति-भावसे करते थे। इस सम्बन्धमें सदा सावधान रहते थे कि, कहीं शरीर या अन्तःकरणमें कोई अपवित्रता न आ जाय,—दोनों पवित्र बने रहें।

बाल्यावस्थासे ही श्रीजीको यदि कोई विशेष व्यसन था, तो अध्यापनका। अपने सहपाठी, जो किसी विषयमें कच्चे रहते, अपने घर बुलाकर उनका विषय पक्का कर देते और जो जिज्ञासु विद्यार्थी जो कुछ पूछता, बड़े प्रेमसे उसे वह समझा देते थे। सदा प्रसन्न रहनेका अभ्यास हो जानेसे उनका मुखकमल सदा खिला रहता और सहपाठियोंका ही नहीं, किन्तु जो मिलने-जुलने आता था, उसका भी मन मोह लेता था। स्वभाव दयालु होनेसे पाठशालाके निर्धन बालकोंके गन्दे, फटे, पुराने कपड़े देखकर उनका चित्त दुख जाता था और कभी बातचीतमें उनकी निर्धनताका दुखड़ा सुनते, तो

आँखोंमें आँसू भर आते थे। अपने कुर्ते, धोती आदि वे कितनेही निर्धन विद्यार्थियोंको उतार देते थे और बाबूजीसे कहकर नये भी बनवा देते थे। एक दिन माँकी गोदमें मुँह छिपाकर रोने लगे और बोले,—"माँ, मेरी पाठशालामें मेरे कुछ सहपाठी ऐसे हैं कि, उनको नये कपड़ोंकी कौन कहे, एकबार रूखा-सूखा पेटभर खानेको भी नहीं मिलता; परन्तु बुद्धिमान् हैं और पढ़नेमें ही ध्यान लगाये रहते हैं, उनको देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। क्या हम उन्हें कुछ सहायता कर सकते हैं?" माँने कहा,—"बेटा, दुर्दैवसे अपना देश ऐसा निर्धन हो गया है कि, चौथाई लोगोंको भी प्रतिदिन पेटभर भोजन नहीं मिलता।" श्रीजी—"और हम लोग तीन-तीन बार इतना माल उड़ाते हैं कि, अजीर्ण हो जाता है।" माँ—"उन सब गरीबोंको सम्हालने-सहायता देनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं, भगवान्में ही है।" श्रीजी—"तो क्या हम उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकते? माँ, कलसे मुझे जलपानमें हलुआ-पकौड़ी नहीं, थोड़ा-सा सत्तू दिया करो। हमारी पाठशालाका रामदेव सत्तू खाकर ही आता है और उसका स्वास्थ्य मुझसे अच्छा है। इस तरह जो बचत हो जायगी, उससे मेरे कई सहपाठियोंका जलपान हो जायगा।" माँने मुन्नूका सुकुमार मुँह चूमकर कहा,—"मुन्नू! ऐसा ही किया जायगा। उसी दिन पतिदेवसे कहकर माँने मुन्नूके पुराने सब कपड़े, जो तीन चार सौ रुपयोंसे कम न होंगे, पाठशालाके निर्धन विद्यार्थियोंको बँटवा दिये, कुछ विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियाँ देना आरम्भ कर दिया और जो भूखे आते थे, उन्हें दोपहरकी छुट्टीमें ठाकुरद्वारेमें आकर भोजनकर जानेका प्रबन्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त श्रीजीकेलिये प्रतिवर्ष एक ऐसी रकम मंजूर कर दी जाती, जिससे वे असमर्थ विद्यार्थियोंको बिना मूल्य पाठ्यक्रमकी पुस्तकें खरीद दिया करें। इस व्यवस्थासे श्रीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीजी अपने सहपाठियोंसे सहानुभूति

तो पूरी रखते थे; परन्तु किसीसे मित्रता नहीं करते थे। स्थितप्रज्ञ ज्ञानीके लक्षणोंमें प्रधान लक्षण यह है कि, वह समदर्शी होता है और दूसरा यह कि लोगोंको बोध करने–अभयदान करनेके अतिरिक्त उसके लिये कोई कार्य ही नहीं बच रहता।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

"सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ द्वेष करने योग्य, सम्बन्धी, साधु पुरुष और पापियोंमें जो समबुद्धि रखता है, वही प्रशंसनीय है" गीताके इस वचनके अनुसार श्रीजीका न कोई प्रिय था, न द्वेष्य ही। सब पर उनका समभाव रहता था। ज्ञानी पुरुषके कर्तव्यके सम्बन्धमें पञ्चदशीकार लिखते हैं :—

येनायं नटनेनात्र बुद्धयते कार्यमेव तत्।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत्कार्यमस्त्यत्र तद्विदः॥

जिस रीतिसे अज्ञानियोंको बोध हो जाय, ज्ञानी पुरुषको वही कार्य करना चाहिये; क्योंकि अज्ञानियोंको ज्ञानदान करनेके अतिरिक्त ज्ञानियोंके लिये कोई कर्तव्य ही बच नहीं रहता।

'पञ्चदशी' (श्रीविद्यारण्यमुनिकृत) में वर्णित इन दोनों लक्षणोंका बीज श्रीजीके बाल्यकालमें ही देख पड़ा और वही आगे चलकर अंकुरित होकर ऐसा पनपा कि, एक आदर्श उपस्थित हो गया।

श्रीजीकी शिक्षा

अब श्रीजी अच्छी तरह संस्कृत, हिन्दी, बंगला और अंग्रेजीमें लिखने-पढ़ने लग गये थे। विविध विषयोंके पढ़ानेके लिये अध्यापक रक्खे गये थे। वे सभी बालककी असाधारण प्रतिभाको देखकर चकित हो जाया करते थे। साहित्य (गद्य-पद्य) उनका प्रिय विषय था। तदनन्तर वे इतिहास और भूगोलपर ध्यान देते थे। संस्कृतमें भी

अच्छा प्रवेश हो गया था; परन्तु गणित और व्याकरणमें रुचि नहीं थी। संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी और बंगलाकी कितनी ही कविताएँ कण्ठस्थ कर ली थीं। छोटे-छोटे लेख भी लिख लिया करते और उसके लिये पाठशालामें पुरस्कार भी पाते थे। नकशा सामने रखकर इतिहास और भूगोलका अध्ययन करते। व्यावहारिक गणित सीख लिया था और व्याकरणके आवश्यक नियम समझ लिये थे। प्रौढ़ावस्थामें लेखकोंसे जब भिन्न-भिन्न भाषाओंके लेख एक साथ लिखाते, तब स्पष्ट ही कह देते थे कि, भैया, भाषाका व्याकरण तुम देख लेना, मैं तो केवल मसाला दूँगा, भाषाको साफ सुथरी सम्हालना तुम्हारा काम है।

बचपनसे ही श्रीजी स्वच्छताके बड़े पक्षपाती थे। उनकी पोशाक भड़कीली नहीं होती थी; किन्तु साफ सुथरी और पुराना ढंग लिये हुए रहती थी, वे यह नहीं चाहते थे कि, उन्हें कोई धनीका लड़का समझकर आदर करे, जैसा कि, आजकलके अधिकारियोंके या मालदार लोगोंके लड़के चाहा करते हैं। वे अपनी गणना सर्व-साधारणमें ही करते थे। कपड़े ऐसे ही पहनते, जिनको देखकर किसीकी ईर्ष्या, दुःख या स्पर्द्धाकी आँच न लगे! वे अपने सहपाठियोंको स्वच्छताके पाठ पढ़ाते, आँखें, दाँत, नख और कपड़ोंको कैसे स्वच्छ रखना चाहिए, यह सिखाते और बीच बीचमें उनकी जाँचभी करते थे। इससे बहुतसे बालकोंको अच्छा लाभ हुआ और अध्यापकोंका प्यार बढ़ गया। सहपाठी तो उन्हें श्रद्धासे देखने ही लगे थे। पाठशालाके बालक प्रायः एक दूसरेकी पुस्तकें, लेखनी, चाकू आदि वस्तुएँ चुरा लेते हैं। धीरे धीरे उन्हें चोरीकी लत लग जाती है। इस कुप्रवृत्तिसे उन्हें बचानेके लिये पीटने, अर्थदण्ड देने या डराने-धमकानेकी नीति श्रीजीको पसन्द नहीं थी। यदि कोई बालक चोरीमें पकड़ा जाता, तो उसे एकान्तमें लेजाकर समझाते,—

"देखो भैया, चोरी बुरी है, इसको तो तुम्हें स्वीकार करना ही होगा। फिर मनुष्य चोरी क्यों करता है? अभावके कारण। यदि तुम्हें पढ़ाईकी किसी वस्तुका अभाव हो, तो मुझसे माँग लिया करो। चोरीका पाप क्यों करते हो। इससे तो ठाकुरजी रुष्ट होकर तुमको दण्ड देंगे और उसे तुम्हें भोगना होगा"। श्रीजीकी यह नीति सफल हुई। स्कूलकी चोरियाँ घट गयीं और श्रीजीके प्रति अध्यापक और विद्यार्थी दोनोंकी प्रीति बढ़ गयी।

अब श्रीजी जीवनके आठ वर्ष पूरे कर चुके थे। अतः उनके उपनयनका आयोजन होने लगा। देश-देशान्तरसे विद्वान् कर्मकाण्डी ब्राह्मण बुलाये गये, आत्मीय बन्धु-बान्धवोंको निमन्त्रण भेजे गये, बड़ी बहनें-बहनोईभी बाल बच्चों सहित उपस्थित हो गये। बंगला सजाया जाने और सामग्री जुटायी जाने लगी। बड़ी सजधजके साथ उपनयनसंस्कार सम्पन्न हुआ। यह यज्ञोपवीत संस्कार था या संन्यास-संस्कार, कहा नहीं जा सकता; परन्तु दण्ड-कमण्डलु और कौपीन धारण किये हुए श्रीजी ऐसे प्रतीत होते थे, मानों बटुवेषमें मूर्तिमान् वेद भगवानही अवतरित हुए हैं। उन्होंने इस संस्कारके द्वारा वेदाध्ययन आरम्भ कर ब्रह्मचर्यका व्रत धारण किया था और इतने अमीर, लाड़ले और सुकुमार होने परभी ब्रह्मचारीके सब नियम कड़ाईके साथ पालन किया करते थे। यहाँसे उनके जीवनकी धाराही बदल गयी। अबतक जो अध्यापक नियुक्त थे, उनमें एक वैदिक अध्यापककी और वृद्धि हुई। वह वेदाध्ययन और प्रातः सायं होम कराता तथा संध्या-वन्दन, ब्रह्मयज्ञ, देवपूजन, ऋषितर्पण आदि ब्रह्म-कर्म सिखाता था। सुबह-शाम संध्या वन्दन तथा होम करनेमें श्रीजी कभी नहीं चूकते थे। श्रीजीके बड़े भाइयोंको भी यथासमय बड़े विभवके साथ यह संस्कार हुआ था; परन्तु न इतनी घूमधाम रही, न इतना उत्साह था और न बटुओंने इसका कुछ महत्त्व ही समझा।

उत्सव हो जानेपर उन्होंने सन्ध्यावन्दन भूल करभी नहीं किया; ब्रह्मचारीके कड़े नियमोंका पालन करना दूर रहा। कुछ दिन ब्रह्मचर्याश्रममें बिता लेनेके उपरान्त श्रीजीका समावर्तनसंस्कार करा दिया गया और फिर जोरोंसे पढ़ाई आरम्भ हो गयी।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होनेपर इनको वकालत (वैरिस्टरी) पढ़नेके लिये विलायत भेजनेका श्रीमधुसूदनबाबूका विचार था; परन्तु माताजी उनका बिछोह सह नहीं सकती थीं, इस कारण वे सहमत नहीं हुई और स्वयं श्रीजीभी इस कारण सहमत नहीं हुए कि, समुद्रयात्रा करना शास्त्रविरुद्ध है और उस म्लेच्छदेशमें आर्य-सदाचारोंका पालन होना सम्भव नहीं है। वहाँ जाकर किसी होस्टल या होटलमें रहना होगा। चाहे जिस जातिका बावरची रसोई पकावेगा, उसीका पकाया अन्न खाना होगा। अखाद्य-खाना खाना होगा। स्पृश्यास्पृश्यका विचार तो असम्भव ही है। श्रीजी पाप समझकर शास्त्रकी मर्यादाको भूलकरभी उल्लंघन नहीं करते थे। गीताके इस बचनपर उनकी पूर्ण निष्ठा थी :—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

अर्थात्—जो शास्त्राज्ञाओंका परित्याग कर मनमाना बर्ताव करता है, वह जीवनमें न तो कभी सफल होता है न उसे सुख होता है और न सद्गति प्राप्त होती है। इसीसे विलायत जानेको वे प्रस्तुत नहीं हुए। सबसे बड़ा उन्हें भय था, वहाँके कुसङ्गका। वे कहते,— जब कुछ ही अंग्रेजोंके यहाँ आनेसे यहाँके लोगोंपर उनके चरित्रोंका इतना प्रभाव पड़ा है, तब उन्हींके देशोंमें जाकर रहनेसे क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। नीति कहती है :—

संगतिः सङ्गदोषेण सत्याश्च मतिविभ्रमः।

यद्यपि श्रीजीका भय यथार्थ था, तथापि परमसंयमी श्रीजीके लिये कोई भयकी बात नहीं थी। कहा भी है :—

सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानां।
साधुत्वे नहि खलसंगमात्खलत्वम्॥
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते।
मृद्गन्धो नहि कुसुमानि धारयन्ति॥

अर्थात् सत्सङ्गसे असाधुओं (खलों) में भी साधुता आ जाती है; परन्तु दुर्जनों (खलों) की सङ्गति करनेसे सज्जनमें खलता (असाधुता) नहीं आती। मिट्टीपर फूल गिरनेसे उनकी सुगन्धिको मिट्टी अपना लेती है; परन्तु मिट्टीकी दुर्गन्धि फूल नहीं धारण करते। जो हो, आदर्श चरित श्रीजीका विलायत न जाना अच्छा ही हुआ; यद्यपि उनके पूज्य पिताजीके विलायतमें अनेक उच्च श्रेणीके अंग्रेज मित्र थे और उनकेद्वारा श्रीजीके ठहरने, खाने-पीने और पढ़नेका अच्छा प्रबन्ध हो सकता था। अन्तत: प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होनेपर उच्चशिक्षा प्राप्त करनेके लिये श्रीजीको कलकत्ते भेज दिया गया और वहीं प्रेसीडेन्सीकालेजमें भरती होकर आप बड़े मनोयोगके साथ अध्ययन करने लगे।

पितृवियोग

कालेजमें दो वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि, अकल्पित एक संकट उपस्थित हो गया। घरसे समाचार मिला कि, श्रीमधुसूदनजी ज्वरसे आक्रान्त हो गये हैं, आप शीघ्र चले आइये, आपको देखना चाहते हैं। पितृवत्सल श्रीजीने उस समय तुरन्त जो कालेज छोड़ा, घटनाचक्रसे फिर उसमें प्रविष्ट नहीं हो सके। श्रीजी मेरठ चले आये और पितृदेवकी देखभाल करने लगे। औषधि, पथ्य-पानी आदिकी तो व्यवस्था रखते ही थे, इसके अतिरिक्त पितृचरणों-

में बैठ कर उन्हें गीता, उपनिषद् आदि आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सुनाया करते, जिससे मधुबाबूको शान्ति मिलती थी। श्रीमधुबाबूकी बीमारी बढ़ती ही गयी। विषमज्वर था और उसने उग्ररूप धारण कर लिया था। विख्यात वैद्य डाक्टर और हकीम बुलाये गये थे; परन्तु किसीके इलाजसे लाभ नहीं होता था। श्रीमधुबाबूको अपने जीवनकी आशा नहीं बच रही थी, वे निराश हो गये थे। अतः उन्होंने एकान्तमें अपनी सौ० पत्नी और पुत्र चि०यज्ञेश्वरको पास बुलाकर पत्नीसे कहा; "देखो, मैंने अपने जीवनमें जो पुरुषार्थ किया, जिस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त की, हाथ पैर फैलाए, और यह लाखों रुपयोंकी सम्पत्ति कमाई, और लोगोंमें मेरी कैसी धाक थी, वह तुम जानती हो। मैंने सम्पत्तिका जैसा कुछ सदुपयोग किया, उससे भी तुम परिचित हो। अब मैं चाहता हूँ कि, वही क्रम आगे भी चलता रहे और अपने घरमें कुलधर्म-कुलाचारके अनुसार सनातनधर्मकी मर्यादाओंका पालन होता रहे। बड़े लड़के मेरा फैला हुआ इतना बड़ा व्यवसाय (कारोबार) सम्हाल नहीं सकते, इसका मुझे अनुभव है। बड़े बेटे पर भरोसा रखकर लाखों रुपयेकी मुझे हानि उठानी पड़ी है। मुन्नूकी प्रबन्धशक्ति, न्यायप्रियता, सत्यता और धर्म-निष्ठापर मुझे विश्वास है। अतः यद्यपि इस सारी सम्पत्तिकी तुम्हें मालकिन (अधिकारिणी) बनाकर जाता हूं, तथापि तुम्हारी ओरसे बँगले और व्यवसायका काम यही देखा करेगा और अपनी पूर्वपरम्पराको बनाये रहेगा। मेरा जो दानधर्म इस समय जैसा नियमितरूपसे चल रहा है, ठाकुरबाड़ीमें जैसी सेवा-पूजा होती है, आश्रितलोग जैसी सहायता पा रहे हैं, वे सब काम वैसे ही चलते रहें। यह कुलदीपक अवश्य उत्कर्ष करेगा, अपने कुलको धन्य करेगा और श्रीजगदम्बाकी इसपर सदा कृपा बनी रहेगी। तुम भी अपने कर्तव्य पालनमें कोई कमी-

कसर नहीं रखना"। लोगोंमें श्रीमधुसूदनजीकी कैसी साख थी और लोगोंके वे कैसे विश्वासपात्र थे, इसका एक ही उदाहरण यहाँ दिया जाता है। व्यापार-व्यवसायमें नरमी-गरमी हुआ ही करती है। कभी-कभी रुपयोंकी टान पड़ जाती है और पैसे रुपयेके बिना हाथ रुक जाता है। श्रीमधुसूदनजीके सामनेभी एक बार ऐसी ही अड़चन आ गयी थी। उस समय उन्होंने पत्नीके जेवर ५० हजार रुपयेमें गिरवी रखकर काम चलाया, पर किसीके आगे हाथ नहीं पसारा। स्वाभिमानका ही यह लक्षण था; परन्तु बात बाजारमें फैल गयी। १०-५ दिनोंके बाद वे अपने एक करोड़पति मित्रसे मिलने गये। उनको भी इसका पता था, इस कारण उन्होंने श्रीमधु-सूदनबाबूको बड़ा उलहना दिया और बाल-बच्चोंको हटाकर उनको एकान्तमें लेजाकर कहा :—"आपने बहूके जेवर गिरवी रखकर काम चलाया, इससे आपने मेरा घोर अपमान किया है, मुझे खासा नीचा दिखाया है। इसका सरल अर्थ तो यह होता है कि, आपका मुझपर भरोसा नहीं रहा। अस्तु जो हो गया, उसे जाने दो।" सेठजीने अपनी लोहेकी सन्दूक खोल दी और बोले :—"लो, तुम्हें मेरी शपथ है, संकोच मत करो। इसमेंसे ५० हजार पहले लेकर बहूके जेवर छुड़ा लो और काम चलानेके लिये जितने रुपयेकी आवश्यकता हो, ले जाओ। जब चाहो, तब लौटा देना और न भी लौटा सको, तो कोई बात नहीं। यह रुपया आपका है, कष्ट न सहो। यदि आप आवश्यकतानुसार इस समय रुपया न लेंगे, तो मुझे बड़ा दुःख होगा। परन्तु यह बात मेरे बच्चोंसे मत कहना आप भी अपने खातेमें जमा न करना और मैं भी अपने यहाँ आपके नाम नहीं लिखूँगा"। श्रीमधुसूदनबाबूने तीन लाख रुपया बड़े संकोचसे केवल मित्रका मन रखनेके लिये उठा लिया। किसी प्रकार बच्चोंको पता लग जानेसे वह रुपया सेठजीके खातेमें बाबू साहबके

नाम पड़ गया। परन्तु बाबूसाहबने अपने सामने उसमेंसे कुछ रुपया चुका दिया था और शेष रुपया चुका देनेको अपने उत्तराधिकारपत्रमें लिख दिया था, जो पीछेसे श्रीजीने पूरा चुकाकर हिसाब साफ कर दिया। इस घटनासे श्रीमधुसूदनजीकी साख और बाजारमें विश्वासपात्रता देख, उनके समव्यवसायियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि, एक कर्मठ ब्राह्मणका इतना प्रताप! इतना वैभव! पत्नीने पतिदेवकी आज्ञा शिरोधार्य की और ऐसा ही उत्तराधिकारपत्र लिखा गया। बीमारी असाध्य होनेसे तीन चार दिनोंके उपरान्त ही उषःकालमें भगवन्नामके घोषमें पवित्रात्मा श्रीमधुसूदनबाबूका शरीर छूट गया। उस समय श्रीजी विष्णुसहस्रनामका पाठ सुना रहे थे खड़ा पहाड़ ढह गया। मुकरजी-परिवारपर वज्र टूट पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। बंगलेपर लोगोंकी भीड़ लग गयी। मेरठमें अब विद्वानों, गुणिजनों, दीन-दुखियों, विद्यार्थियों और कलाकारोंको पूछनेवाला कोई न रहा। आश्रित अनाथ हो गये और सब नागरिक बहुत दुःखी हुए। श्रीजी और उनकी पूजनीया माताजीके हृदयकी क्या अवस्था हुई होगी, वे ही जानें। उनकी आँखोंके सामने सर्वत्र शून्य ही शून्य देख पड़ता था, केवल भावी कर्तव्य ही उनको सम्हाले हुए था।

लोकरीति और प्रतिष्ठाके अनुसार श्रीमधुबाबूकी यथाविधि उत्तरक्रिया की गयी। श्राद्ध, ब्राह्मणभोजन, ज्ञातिभोजन, दरिद्रनारायणकी आराधना आदिकार्य सम्पन्न हुए और विपुल अन्नदान भी किया गया। जैसा कि, शास्त्रकी आज्ञा है :—

जीवतो वाक्यकरणात् मृताहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानेन त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

अर्थात् जबतक पितृदेव जीवित हों, तबतक उनकी आज्ञाको पालन करना, जब उनका देहान्त हो जाय, तब यथेष्ट अन्न सन्तर्पण

करना और गयामें पिण्डदान करना, इन तीन कर्तव्योंके करनेमें ही पुत्रकी पुत्रता है। आगे चलकर श्रीजी अपने पूज्यपितृदेवका गयाश्राद्ध भी कर आये थे।

त्रयोदशाहके उपरान्त श्रीजीने सब आश्रितों और सब विभागोंके अधिकारियोंको एकत्रकर घोषणा की कि, "पूज्य बाबूजीके सामने दानधर्म, व्यवसायका प्रबन्ध, देवसेवा आदि कार्य जैसे चलते थे, वैसे भविष्यमें भी चलते रहेंगे और सब व्यवस्था वैसी ही रहेगी। सम्पत्तिकी देखभालका भार बाबूजीने मुझपर डाला है। अतः आप लोग मेरे वैसे ही सहायक रहें, जैसे बाबूजीके रहे; जिससे मैं अपने कर्तव्यपालनमें सफल हो सकूं।" सबने एक स्वरसे अभिवचन दिया—"छोटेसरकार! हम आपके साथ हैं, आप कोई चिन्ता न करें और पिताजीकी आज्ञाका पालन करें।

श्रीजीका गृहप्रबन्ध।

कालेजकी पढ़ाई अधूरी रह गयी, इसका श्रीजीको अणुमात्र खेद नहीं हुआ। क्योंकि किसी प्रकार केवल उपाधि (डिगरी) पानेके लिये वे पढ़ नहीं रहे थे; ज्ञानप्राप्त करना ही उनका लक्ष्य था। मनुष्य चाहे, तो किसी भी परिस्थितिमें वह ज्ञानार्जन कर सकता है। पितृवियोगसे कातर होकर उन्होंने उनकी बैठकमें बैठकर काम करना उचित नहीं समझा। दूसरे एक कमरेमें दफ्तरका काम करते और बगीचेमें एक आश्रम बनवा लिया था, उसीमें शास्त्राध्ययन करते हुए अपना अधिक समय बिताते थे। रामचन्द्रके वनगमनके पश्चात् जिस प्रकार महाराज भरतने नन्दिग्राममें रहकर रामचन्द्रकी पादुकाओंके प्रतिनिधिरूपसे राज्यसंचालनका कार्य किया था, उसी प्रकार श्रीजी उक्त आश्रममें बैठकर स्थावर-जंगम सब सम्पत्तिके प्रबन्धके सूत्रोंका संचालन करते थे। थोड़ेही दिनोंमें उन्होंने सब काम

अच्छी तरह सम्हाल लिया। उनसे सभी लोग प्रसन्न थे। रामचन्द्रके न रहनेपर भरतने राज्यकी जैसी श्री-सम्पत्ति-कोष आदिकी वृद्धि की थी, वैसी श्रीजीने भी अपनी बुद्धिमत्तासे व्यवसायमें बहुत उन्नति की। वे सब काम मातृदेवीकी अनुमतिसे ही करते और इतनी बड़ी सम्पत्तिके स्वत्वाधिकारी होनेपर भी निरभिमान होकर उसकी सुरक्षामें दत्तचित्त रहा करते थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी होनेके कारण यद्यपि वाणिज्य-व्यवसायमें उनका चित्त नहीं लगता था, तथापि कर्तव्यवश बुद्धिकौशलसे उसको निबाहते जाते थे। इस प्रसंगमें भगवान् श्रीआदिशंकराचार्य और राजा अमरककी कथाका स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

मण्डनमिश्रके परास्त हो जानेपर उनकी धर्मपत्नी भारतीने आचार्यसे निवेदन किया कि, आपने आधे अङ्गको हराया है, पतिदेवका शेष आधा अङ्ग मैं हूँ। मेरे प्रश्नोंका उत्तर आप दे सकें, तो पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार मेरे पतिदेव आपके शिष्य होकर संन्यासग्रहण करेंगे और आप उत्तर न दे सकें, तो आपको विवाह कर गृहस्थाश्रमका पालन करना होगा। आचार्य पहले तो एक स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेमें हिचके; परन्तु तत्त्वज्ञानके विचारमें स्त्री-पुरुषका भेद करना उचित न समझकर प्रस्तुत हो गये। भारतीने काम-शास्त्रके सम्बन्धमें प्रश्न किये, जिनके उत्तर देनेमें आचार्य असमंजसमें पड़ गये। वे ब्रह्मचारीसे ही संन्यासी हुए थे, गृहस्थीका अनुभव नहीं था, कामशास्त्रके प्रश्नोंका कैसे उत्तर देते? यदि योगबलसे उत्तर देते हैं, तो ब्रह्मचर्य और संन्यासमें बट्टा लगता है; क्योंकि संयम करके कामशास्त्रके प्रश्नोंकी उस परिस्थितिका अनुभव करना होगा और उत्तर नहीं देते हैं, तो विवाह करना होगा और कर्मकाण्डकी प्रबलता होकर ज्ञानकाण्ड, क्षीण हो जायगा। इसलिये उन्होंने उत्तरकेलिये भारतीसे एक वर्षकी अवधि ले ली। उसी दिन अमरकका देहान्त हो

गया था। आचार्यने स्थूलशरीरको शिष्योंको सौंपकर सूक्ष्म शरीरसे उस राजाके शरीरमें प्रवेश किया। राजा जी गया। राजपरिवार और प्रजाजन बड़े प्रसन्न हुए। आचार्य अन्त:पुरमें लौकिक सुखोपभोगोंका अनुभव करने लगे और राज्यकार्य भी बड़ी कुशलतासे चलाने लगे। देखते-देखते राज्यकी बहुत उन्नति हुई। कोष पुष्ट हुआ, पशु और मनुष्य बलशाली और संपन्न हुए, कौटुम्बिक कलहका कहीं नामतक नहीं रहा; सब धर्मात्मा होकर वर्णाश्रमधर्मका पालन करने लगे, गायोंका दूध बढ़ गया, समयपर वर्षा होती, धान्यकी उपज अत्यधिक होती, व्यापार बढ़ चला, कला-कौशल पनपा और ब्राह्मण त्याग-तपस्यामें प्रवृत्त होकर वेदशास्त्रोंके पठन-पाठनमें निरत रहने लगे। आचार्यके पुन: अपने शरीरमें लौट आनेपर साक्षात् सरस्वतीकी अवतार स्वरूपा मण्डनकी पत्नीने अन्तर्दृष्टिसे यह सब जानकर उनसे हार मान ली। वह ब्रह्मलोकमें चली गयी और मण्डन जो ब्रह्माके अवतार थे, आचार्यके शिष्य बनकर ज्ञानमार्गका प्रचार करने लगे। उन्हींका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। राजा अमरकके पुन: जी जानेपर उसके राज्यकी जैसी समृद्धि हुई थी, श्रीजीके तत्त्वावधानमें उनके व्यवसायका वैसाही उत्कर्ष हुआ, जिसे देखकर लोग दंग रह गये।

श्रीजीने कालेजमें इतिहास और तत्त्वज्ञान (फिलासफी) ये दो विषय अपने लिये चुने थे; परन्तु तत्त्वज्ञानके उस प्रारम्भिक परिचयसे श्रीजीको कब सन्तोष होनेवाला था? इसलिये उन्होंने बागमें जो आश्रम बनाया था, उसीमें बैठकर तत्त्वज्ञानका अध्ययन आरम्भ किया। नामी नामी विद्वान् वहाँ एकत्र होते और शास्त्रीय विचार करते थे। श्रीजीने एक-एक करके सब दर्शन हृदयङ्गम कर लिये। रामायण, महाभारत और भागवतादिपुराण, जो बाल्यावस्थामें पढ़े थे, फिर दोहरा डाले और आचार्यकी प्रस्थानत्रयी

(गीता, दशोपनिषद् और शारीरिक ब्रह्मसूत्र) अच्छी तरह छान डाली। जितने संहिताग्रन्थ और ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हो सके, सब पढ़ डाले। साथ ही साथ इतिहास, स्मृति, राजनीति, समाज-नीति, अर्थनीति, धर्मशास्त्र, कानून आदि व्यावहारिक विषयोंका अध्ययन चलता ही रहा। प्रस्थानत्रयीके भिन्न-भिन्न भाष्य कर एकही धर्मके जो अनेक सम्प्रदाय चल पड़े थे और विद्वानोंमें कलह हो जाया करता था, इससे श्रीजीको बहुत दुःख होता था। कर्म-मीमांसा (जैमिनीकृत) उन्हें अधूरी प्रतीत हुई। उसमें कुण्डके किस ओर कौन-सा पात्र रखना चाहिये, इन्हीं वैदिक यज्ञयागादि विषयोंका विशेष प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि मीमांसकोंके तर्क प्रबल हैं, तथापि उनका लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति ही है, जो बहुत छोटी और क्षणस्थायी वस्तु है। जो उपभोग हमें यहाँ मिल रहे हैं, उन्हींका परिमार्जित रूप यदि स्वर्गमें है, तो उसके लिये इतनी हाय हाय क्यों? यहाँ तो हमें कर्म करनेकी स्वाधीनता है। स्वर्गमें वह भी छिन जाती है। उत्तरमीमांसा (व्यासकृत) केवल ज्ञान-काण्डका प्रतिपादक है। उसमें साधारण बुद्धिके लोगोंका प्रवेश हो नहीं सकता। अतः श्रीजीका अनुमान था कि, उक्त दोनों मीमांसाओंकी कड़ी जोड़नेवाली कोई मध्यमीमांसा अवश्य होगी। उसके उपलब्ध न होनेसेही यह साम्प्रदायिक विरोध देख पड़ता है। इसी तरह उनकी धारणा थी कि, कर्मकाण्डका प्रतिपादक विद्यमान कर्ममीमांसा उसका केवल उत्तरार्ध हो सकता है; क्योंकि उसमें विस्तृत रूपसे ठीक ठीक कर्म रहस्यका प्रतिपादन नहीं हो सकता है। अतः इसका पूर्वार्ध अवश्य होगा। उसके लुप्त हो जानेसे ही लोग कर्मरहस्यको भूल गये और केवल कर्मकाण्डकी क्रियाओंमें फँस गये, जिसका सामञ्जस्य बनाये रहनेकेलिये श्रीभगवान्को बौद्धावतार धारण करना पड़ा और उससे हुई दुरवस्थाको मिटाने और रुद्ध वैदिक मार्ग-

के द्वार पुनः खोल देनेके लिये स्वयं श्रीभगवान् शंकरको आचार्यके रूपमें अवतीर्ण होना पड़ा। आगे चलकर श्रीजीने दीर्घ अध्यवसाय और कठिन परिश्रमसे योगबलद्वारा उक्त दोनों दर्शन खोज निकाले; जो महर्षि अङ्गिराकृत दैवीमीमांसादर्शन और महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनके नामसे टीका-टिप्पणी और हिन्दी-टीकासहित श्रीभारतधर्ममहामण्डलद्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीजीके कामकाजके सम्हालनेसे उनके भाइयोंको बड़ा सुभीता हो गया था, कोई काम नहीं करना पड़ता था, श्रीजी उनका आदर करते और खर्च आदिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होने देते थे। इनके घरमें बड़ी बहनोंका बड़ा प्रभाव था। जैसा कि धनी कुटुम्बोंमें हुआ करता है। वे प्राय आती-जातीं और बाल-बच्चों समेत सालों इन्हींके यहाँ रह जाती थीं। श्रीजी उनका यथोचित सत्कार करनेमें कोई बात उठा नहीं रखते थे। बहनोई आते, तो श्रीजीको धर्मभीरु और अहिंसक जानकर जानबूझकर तंग किया करते थे। बड़ी-बड़ी जीती मछलियाँ पकड़ लाते और इनके सामने पटक-पटक कर उनको मारते थे, जिससे श्रीजीके चित्तमें ठेस लगती और वे सिहर जाते थे। चाहे एक छोटी-सी क्यों न हो, बिना मछलीके बंगालीको भोजन अच्छा नहीं लगता; परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि; श्रीजीको बाल्यावस्थासे ही मांस-मछलीसे घृणा थी। ठाकुरबाड़ीमें नवरात्र (दुर्गापूजा) में बलिदान होता और इनको प्रसाद दिया जाता, तो उसे सिर चढ़ाकर केवल अवघ्राणमात्र कर लिया करते थे। यह युक्ति उन्हें उनकी पूजनीया माताजीने बतायी थी; क्योंकि वे ही उनकी व्यावहारिक (व्यवहार सिखानेवाली) गुरु थीं। लोगोंकी धर्मविमुखता, उच्छृंखलता और कर्त्तव्यच्युतिका माताके सामने कभी कभी वर्णन करते हुए उनकी आँखोंमें आँसू भर आते और करुणापूर्ण कण्ठसे मातासे पूछते,—मां!

देशके ये दुर्दिन कब मिटेंगे ? जनताके हृदयाकाशमें तमोगुणकी यह जो घनघोर घटा छायी है, वह कब हटेगी ? लोग अपने कर्तव्यपथपर कब आरूढ़ होंगे ?" मां उत्तर देती—"बेटा ! जब श्रीजगदम्बाकी कृपा होगी, तब सब ठीक हो जायगा; परन्तु उनके इस विश्वकल्याणके महान्‌कार्यमें हम समझदार मानवोंको भी जुट जाना होगा। समष्टिके कर्म भगवदनुकूल हो जानेपर उनके प्रारब्ध भी पवित्र होंगे और विश्वका मंगल होगा"। श्रीजी उत्साहसे कहते कि मां ! मैं यह करूँगा।

श्रीजीका विवाह

मातृदेवी श्रीजीकी उच्चकोटिकी आध्यात्मिकता और धर्मप्राणताको देखकर एक ओर प्रसन्न होतीं और दूसरी ओर इस आशंकासे भयभीत हो उठतीं कि, कहीं यह साधु होकर गृहत्याग न कर दे। इसलिये श्रीजीका विवाह करनेकी वे सोचने लगीं और सैकड़ों कुलीन सुन्दरी कन्याओंमेंसे एकको इनके लिये चुन भी लिया। व्यवहारकी बातें छिड़ गयीं, चुपके-चुपके विवाहका आयोजन भी किया जाने लगा; परन्तु श्रीजीको इसका पता नहीं था। वे सत्सङ्ग और शास्त्र-चिन्तामें ही रमे रहते थे—कर्मयोगके अनुसार कर्तव्य-कर्म निष्ठापूर्वक किये जाते थे।

बातों बातोंमें स्वयं और दूसरे लोगोंसे भी माताजीने जान लिया था कि, श्रीजी विवाह-सम्बन्धमें आबद्ध होकर गृहस्थाश्रममें रहना नहीं चाहते और संयमपूर्वक आजीवन ब्रह्मचर्यावस्थामें ही रहकर धर्म, जाति और देशकी सेवा करते रहनेका उन्होंने संकल्प कर लिया है। एक बार प्रयत्नकर देखनेके विचारसे उन्होंने श्रीजीसे एकान्तमें यह प्रश्न छेड़ ही दिया। उन्होंने प्रेमसे कहा :—"बेटा ! तुम्हारे पितृदेवने हमारे लिये बहुत कुछ कर रखा है और तुमने भी सब काम

सम्हाल लिया है; इस कारण परिवारमें कोई आर्थिक कठिनाई नहीं रह गयी है। अब जिस प्रकार तुम बाहरी प्रबन्ध कर रहे हो, उसी प्रकार भीतरी प्रबन्धके लिये मुझे एक स्त्री-प्रबन्धककी आवश्यकता है। यद्यपि मेरी बड़ी बहुएँ मेरे आज्ञाधीन हैं, तथापि छोटी बहूसे सासको बहुत आशा होती है। अतः मैंने तुम्हारे लिये × × × की कन्या ठीक कर ली है और इसी मार्गशीर्षमें तुम्हारा विवाह कर देना चाहती हूँ, इसको तुम स्वीकार करो", इस पर श्रीजीने बड़े विनयसे इस प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए कहाः—"माताजी गृहस्थीके झंझटमें पड़ जानेपर मैं देशका कुछ भी काम न कर सकूँगा। यह बड़ी विचित्र बेड़ी है। तुलसीने ठीक कहा है :—

'हाले फूले हम फिरें होत हमारो ब्याव।
तुलसी गाय बजायके काठ धरो है पाँव'' ॥

"स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः"। भर्तृहरि भी कहते हैं :—

यह स्त्रीयन्त्र किसने निर्माण किया है, पता नहीं; परन्तु यह विष और अमृत दोनोंसे परिपूर्ण है, जो जीवोंको मोहके फन्देमें फँसा लेता है। यही जानकर भगवान् आदि शंकराचार्य, समर्थ राम-दास, श्री शुकदेवजी आजीवन ब्रह्मचारी रहे और विश्वकल्याणका कार्य कर सके। यदि वे बाल-बच्चोंके जंजालमें फँसते, तो कुछ नहीं कर पाते"।

माताने कहा—श्रीजगदम्बासे भक्तोंने जैसी गृहिणी चाही है, उसमें चार गुण होने चाहिये। वह मनोरम हो, पतिके मनके अनु-सार चलनेवाली हो, इस कठिन संसार-सागरसे पार उतरनेमें सहा-यक हो और सत्कुल सम्भूत हो। ऐसी पत्नी बन्धनकी नहीं, किन्तु आध्यात्मिक मार्गमें अग्रसर होनेकी कारण होती है। गृहस्थाश्रम

अन्य सब आश्रमोंका आश्रय-स्थान है। यही जान कर महर्षि याज्ञ-वल्क्य वशिष्ठ, गौतम, अत्रि, भरद्वाज आदि गृहस्थाश्रममें रहे और जगत्का मङ्गलसाधन करते रहे। साधारण झंझटोंको सोचकर गृह-स्थाश्रमसे जी चुराना, मुँह मोड़ना तुम्हारे जैसे कर्मवीरकेलिये उचित नहीं है"। इसी प्रकार बहुत शंका समाधान करने परभी माँने जब देखा कि, ये किसी प्रकार नहीं मानते; तब अन्तमें वे गिड़गिड़ा कर बोलीं—"देखो बेटा; तुम मेरी अन्तिम सन्तान हो, आँखोंके तारे हो, मातृभक्त हो। आजतक तुमने मेरी कोई बात टाली नहीं है। तुम्हारे पितृदेव चले गये, मैं भी एक दिन आँखें मूँद लूँगी। परन्तु अन्तिम समयमें मेरे हृदयमें यही कसक रह जायगी कि मेरा लाड़ला बेटा अनब्याहा ही रह गया। छोटी बहूलक्ष्मीका मैं श्रीमुख नहीं देख सकी। मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यदि तुम इसी अवस्थामें मरने देना चाहो, तो मैं कुछ नहीं कहती; परन्तु यदि तुम मुझे सुखसे मरने दोगे और मेरे प्रति सच्ची श्रद्धा रखते होगे, तो मेरी इस अन्तिम बातको मान लो। शास्त्रोंकी यह भी तो आज्ञा है कि, प्रजातन्तुको मत तोड़ो, उसकी रक्षा करो! एक बात और है जो क्रमश: एक-एक करके सीढ़ी-दर-सीढ़ी आश्रममें अग्रसर होता है, वही जनताका सच्चा हृदय, सच्चा सुख-दु:ख जान सकता है। एक दम ऊपर चढ़नेसे गिरनेकी सम्भावना होती है और जो जनताका रोगही नहीं जानता, वह उसका इलाजही क्या करेगा? रामकृष्ण परम-हंसकी उन्नतिमें उनकी पत्नी बाधक नहीं, किन्तु पोषक ही हुई थी। तुम्हारे निकट यह मेरी अंतिम भीख है। "यदि तुम यह भिक्षा मुझे नहीं दोगे, तो मैं गलेमें फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लूँगी"। माताके इन करुणापूर्ण प्यारके बचन सुनकर श्रीजी स्तब्ध हो गये। उनकी आँखोंमें आँसू भर आये और उन्होंने माताजीको इस प्रकार मौन-सम्मति दे दी। माता पुलकित हो उठीं। उन्होंने श्रीजीके सिर

पर हाथ फेरकर और उनका मुख चूमकर बहुत बहुत आशीर्वादोंके साथ उन्हें विदा किया।

विवाहका साज-सामान जुटाया जाने लगा। सब सम्बन्धी बारातके लिये उपस्थित हो गये। स्वर्गीय श्रीमधुसूदन बाबूके यहां यह अन्तिम मङ्गल-कार्य था। सब लोगोंमें उत्साह भरा हुआ था। यथासमय बड़ी धूमधामसे बारात रवाना हुई। आमोद-प्रमोद, वाद्य-संगीत, खान-पान, हास-विलास आदिमें बाराती लोग रंग गये; परन्तु श्रीजी बैठे-बैठे आँसू बहा रहे थे। उनका कहीं चित्त नहीं लगता था। शुभ मुहूर्तपर विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। पुष्प-शय्या (सोहाग-रात) उल्लासके साथ मनायी गयी और श्रीजी नव वधूको बिदा कराकर मातृचरणोंमें उपस्थित हो गये। मातृदेवी छोटी बहूको देखकर फूली नहीं समायीं। उन्होंने उसको बहुत प्यार किया, गोदमें बैठा लिया, चूमा और कहा—"बेटा! आज मेरी आँखें तुमने तृप्त कर दी; तुम्हारा मंगल हो। अब मैं सुखपूर्वक निरीच्छा होकर इस लोकसे बिदा हो सकूँगी। बहू बड़ी सरल, सुन्दरी, दयालु, मिलनसार, गृहस्थीके कार्यमें कुशल और गृहप्रबन्धमें पटु थी। उस गृहलक्ष्मीकी उत्तम योग्यता देखकर माताजीने उसके हाथोंमें घरकी चाभियाँ सौंप दीं और कहा—"बेटी! आजसे तुम इस घरकी मालकिन हुई। सावधानता और रुचिपूर्वक गृहस्थी करो और पतिदेवको सब प्रकारसे सम्हालो। घरकी ऐसी व्यवस्था रक्खो, जिससे अपने घरानेकी प्रतिष्ठा बढ़े और श्रीवृद्धि हो। जेठानियों-जेठोंसे सद्व्यवहार रक्खो और उनके बच्चोंको अपने बच्चे समझो। अतिथियोंके सत्कार, देवपूजा और दानधर्मपर सदा ध्यान रक्खा करो। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और नये-पुराने नौकरोंपर दृष्टि रक्खा करो। वे भी तुम्हारे बाल-बच्चे ही हैं। परिवारके सब लोग प्रसन्न रहें, ऐसा ही उनसे बरताव किया करो। बहूरानी! तुम स्वयं समझ-

दार हो, मैं क्या समझाऊँ ? मेरे कहनेका सारांश यही है कि, तुम्हारा शासन और व्यवहार ऐसा हो, जिससे तुम्हारी कीर्ति बढ़े, तुम्हारी सब कोई प्रशंसा करे और तुम्हें यश प्राप्त हो। श्रीजगदम्बा तुम्हारी सदा सहायक रहेंगी। शरीर नाशमान है, मनुष्यका यश या अपयश ही उसके चले जानेपर संसारमें बच रहता है। कहा भी है :—

"आया है सो जायगा क्या राजा क्या रङ्क।
यश बाकी रह जायगा अथवा रहे कलङ्क ॥

लक्ष्मीस्वरूपा बहूरानीने मातृदेवीका उपदेश सिर चढ़ाया और उसीके अनुसार आचरण करती हुई वे गृहस्थीका काम-काज सम्हालने लगीं।

श्रीजीकी गृहस्थी

परन्तु विवाहबन्धनमें आबद्ध होकर श्रीजी बड़े चक्करमें पड़ गये। उनका चित्त अध्यात्मराज्यमें सञ्चार करता था और शरीरसे सांसारिक व्यवहारके कार्य करने पड़ते थे। गृहस्थीके कार्य वे अनिच्छापूर्वक ही करते थे। बुद्धि-भेद नहीं होने देते थे। इससे देखनेवाले यही समझते थे कि, छोटे सरकार अब गृहस्थीमें रम गये हैं; परन्तु वास्तवमें वे ऐसे रँगमें रँगे हुए थे कि, जो रङ्ग किसी प्रकार कभी छूट ही नहीं सकता, न उसपर दूसरा रङ्ग चढ़ ही सकता है। "सूरदासकी कारी कमरिया चढ़े न दूजो रङ्ग। तजो मन हरि विमुखनको सङ्ग।"

श्रीजीकी तत्कालीन मानसिक परिस्थितिपर विचार करते हुए महामुनि विद्यारण्यने जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषोंके जो लक्षण बताये हैं, वे पूर्णरूपसे घटते हैं। यथा :—

"आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान्।
नानुरज्यति किन्त्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति॥
प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुंक्ते विष्टिगृहीतवत्॥
भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति सन्ततम्॥
विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित्"॥

[पञ्चदशी, तृप्तिदीप]

"जबतक समाप्ति न हो जाय, तबतक रमणीय प्रतीत होनेवाले भोगोंमें ज्ञानी पुरुष लिप्त नहीं होता; किन्तु उनके दोषोंको देखकर उनका त्याग करता है। प्रारब्ध कर्मोंके प्रबल होनेसे यदि उसे भोगोंकी इच्छा हो भी, तो बड़े कष्टसे बेगारमें पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन भोगोंका उपभोग करता है। श्रद्धावान् कुटुम्बी ज्ञानी पुरुष उन भोगोंको भोगते हुए भी निरन्तर यह जानकर क्लेश पाता है कि, हा! अबतक प्रारब्ध कर्मोंका क्षय नहीं हुआ है। जो विवेकके द्वारा दुखी होता है, वह महात्मा थोड़ेसे भोगसे ही तृप्त हो जाता है। नहीं तो साधारण मनुष्य अनन्त भोगोंको भोगकर भी कभी तृप्त नहीं होता।" मनुभगवान् भी कहते हैं :—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते"॥

भोगोंके विपुल भोगनेसे उनका शमन नहीं होता, उलटे भोगेच्छा बढ़ती ही जाती है। जैसे, घी छोड़नेसे आग बुझती नहीं, किन्तु अधिक भभक उठती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने एक ही पंक्तिमें यह सिद्धान्त इस प्रकार बता दिया है :

बुझै न काम अगिन तुलसी कह विषय भोग बहु घीते।
मन पछतैहो अवसर बीते"॥

श्रीजीका जहाँ विवाह हुआ था, वे बड़े धनी-मानी गृहस्थ थे। पहरा चौकी, दास-दासी, पशु-वाहन, मणि-माणिक्य, सोना-चाँदी, मान-प्रतिष्ठा आदि सब बातें भरपूर थीं और अनुकूल वर पाकर उन्होंने मुक्तहस्तसे तिलक दहेज आदिमें उत्साहके साथ विपुल सम्पत्ति प्रदान की थी। नयी बहू अमीरके घर अमीरीमें बढ़ी हुई थी, इस कारण उनके रोम-रोममें अमीरी समाई हुई थी। साधारण लोगों की धारणा है कि, अमीरोंकी बहू-बेटियोंको कोई काम नहीं करना पड़ता, वे गद्दोंपर लेटी रहतीं और हास-विलासमें समय बितातीं हैं। परन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। अमीरोंके सुख-दुःख अमीर ही जानते हैं, दूसरे नहीं जान सकते। यदि अमीर और उनके अन्तःपुरकी महिलाएँ अकर्मण्य होकर बैठ रहें और दुनियाँका तमाशा देखती रहें, तो उनकी अमीरी अधिक दिन टिक नहीं सकती। धनी कुटुम्बके प्रधान स्त्री-पुरुषोंको इतने अधिक काम रहते और उनपर इतना अधिक उत्तरदायित्व रहता कि, उन्हें मरनेकी भी छुट्टी नहीं मिलती। खवालोग सर्वत्र रहते हैं और अमीरोंके साथ वे न रहें, तो अमीरीकी शोभा नहीं। (नजर चूकी और माल दोस्तोंका) वे इसी धापेमें रहते हैं कि, कब अवसर मिले और कब इस नरम शिकारको हम नोच खायें। ऐसे खलोंकी एक कविने मच्छरके साथ बड़ी अच्छी तुलना की है :—

> प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं,
> कर्णे कलं किमपि रौति शनै र्विचित्रम्।
> छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः,
> सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति" ॥

"मच्छर पहले पैरों पर आ बैठता है, वहाँसे हाँका गया, तो पीठ पर चढ़कर रक्त चूसने लगता है। फिर सबसे बढ़कर आश्चय

की बात यह है कि, पीठपरसे उड़ता है, तो कानोंके पास आकर गुनगुनाने लगता है, मानों अपना दुखड़ा धीरे-धीरे रोकर सुनाता हो। तत्पश्चात् जब कान आदिका कोई छिद्र देखता है, तो उसमें बेधड़क सहसा घुस जाता है। इसप्रकार मच्छर खलके चरित्रका अनुकरण करता है। खल भी पहले चरणोंपर गिरकर अपनी दीनता दिखाता और मालिकके मनमें विश्वास उत्पन्न करता है। जब मालिक उसे पतियाने लगता है, तब उसकी नजर बचाकर उसकी पीठका मांस नोचने लगता है,—धोखा देकर लूटने खसोटने लगता है। फिर अवसर देखकर लोगों की चुगली खाता है, जिससे उनसे मालिककी अनबन हो जाय, इसके मार्गका काँटा दूर हो जाय और इसकी लूट-खसोट बराबर चलती रहे। यदि कोई शिकायत करे भी, तो मालिक उस ओर ध्यान न दे। क्योंकि वह उनका विश्वासपात्र बना है न? उसके सामने किसीकी चल नहीं सकती। इस श्लोकके 'छिद्र' शब्द में श्लेष है। 'छिद्र' का 'छेद' अर्थ प्रसिद्ध ही है। इसका दूसरा अर्थ है, कमजोरी या मार्ग। छेदमें तो मच्छर घुसता है, किन्तु खल जब मालिकका कोई मार्ग जान लेता है, तो उसपर घाव करनेसे नहीं चूकता। ऐसी अवस्थामें मालिक उसकी मुट्ठीमें रहता है, उससे दबा रहता है और उसकी मनमानी चलती रहती है"। अमीर भी दीर्घ परिचयसे यह सब जानते रहते हैं, परन्तु अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये सब कुछ सह लेते हैं। इनसे प्रारम्भसे ही जो सावधान रहते हैं, वे कभी धोखा नहीं खाते। नयी बहू अमीरकी कन्या होनेसे अमीरीमें बढ़ी, अमीरीमें ही लालित-पालित हुई और अमीरोंके ही सम्पर्कमें रही, इस कारण खलमण्डलीके चरित्रोंसे भली भाँति परिचित थी और उनसे सदा सावधान रहती थी। इस कारण उसके अनुशासनमें कोई त्रुटि देख न पड़ी। छोटेसे छोटे कामपर भी वह पूरा ध्यान रखती

थी। भंडारी, रसोईदार, दरबान, सईस, माली, चपरासी, मजदूरनी आदिके कामोंकी स्वयं देख-भाल करती और किसीकी चुगली नहीं सुनती, जिससे किसीका उसपर जादू नहीं चल पाता था, उसके सामने किसीकी दाल नहीं गलती थी और न कोई नुकसान ही हो पाता था। घरके सब विभागोंपर उसका निरीक्षण रहनेके कारण सब विभागोंका काम सुश्रृंखल रीतिसे चलता था। अतिथिशाला, पुस्तकालय, कार्यालय, फराशखाना, बाग, गोशाला, अस्तबल, कोठार, गोरस, कोशागार, धनागार आदिकी छोट-छोटी बातें भी उसकी दृष्टिके क्षेत्रमें होनेसे कहीं कोई त्रुटि या हानि नहीं हो पाती थी। इससे पास-पड़ोसी, बन्धु-बांधव आदि देखनेवाले उसकी गृहस्थीकी बड़ी प्रशंसा करते थे और उसको साक्षात् लक्ष्मीस्वरूप मानते थे। इस जोड़ेको लोग 'लक्ष्मी-नारायण'का जोड़ा कहते थे। गृहलक्ष्मीकी इस कार्य प्रवीणतासे श्रीजीका गृहस्थीके कामोंका बहुतसा भार हलका हो गया था। अब उन्हें गार्हस्थ्य पहले जैसा नहीं अखरता था। उनका परिवार सब भाँति सुखी था।

गार्हस्थ्यके न अखरनेका दूसरा एक कारण यह था कि, श्रीजी जन्मजात योगी थे। उनकी मनोवृत्ति निरन्तर परमात्माकी ओर बनी रहती थी, इसकारण गृहस्थीके सुख-दुःखोंका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु व्यवहारमें कोई त्रुटि नहीं होने देते और लोकसंग्रहमें प्रवृत्त रहते थे। जैसा कि, गीतामें कहा है :—

> "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
> जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
> सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
> कुर्याद्विद्वांस्तथा-सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते"॥

"कर्म (व्यवहार) में आसक्त अज्ञानी लोगोंमें बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। अर्थात् कर्म निष्फल है, व्यवहार मिथ्या है, आदि कहकर कर्मसे उन्हें परावृत्त नहीं करना चाहिये; किन्तु ब्रह्मज्ञानी पुरुषको सावधान होकर स्वयं कर्म करते हुए उन्हें कर्ममार्गमें प्रवृत्त करना चाहिये। हे अर्जुन! जिसप्रकार अज्ञानी लोग कर्ममें आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार लोकसंग्रहके विचारसे अनासक्त ज्ञानी व्यक्तिको भी कर्म करते रहना चाहिये। जो कर्मयोगमें निरत हैं जिनका चित्त विशुद्ध है, जिन्होंने मन और इन्द्रियोंको जीत लिया है और जो प्राणिमात्रकी आत्माको अपनी आत्मा समझते हैं, वे कर्म करते हुए भी कर्मबन्धनको प्राप्त नहीं होते, सब कर्म परमात्माको अर्पण कर फलाकांक्षारहित होकर किया करते हैं, वे कमलपत्रपर पड़े हुए जलबिन्दुओंकी तरह पाप-पुण्यात्मक

कर्मोंमें लिप्त नहीं होते। कर्मयोगिगण फलासक्त न होकर चित्त-शुद्धिके लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंद्वारा कर्म किया करते हैं। परमात्मामें जिस कर्मयोगीकी पूर्ण निष्ठा है, वह यदि फलाकाङ्क्षारहित होकर कर्म करे, तो उसे आत्यन्तिकी शान्ति प्राप्त हो सकती है; परन्तु सकाम व्यक्ति कामनाके कारण फलासक्त होकर बन्धनमें पड़ जाता है। जिसका मन साम्यावस्थामें स्थित है अर्थात् जो समदृष्टि-सम्पन्न है, उसने इसी लोकमें रहकर संसारको जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र समभावापन्न है और निर्दोष है। समदर्शी महात्मा ब्रह्ममें ही सदा अवस्थित रहते हैं। ब्रह्ममें अवस्थित, स्थिर बुद्धि, मोहहीन, ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्रिय वस्तुके लाभसे प्रसन्न नहीं होता और न अप्रिय वस्तुके लाभसे उद्विग्न ही होता है। वाह्य-इन्द्रियोंके-विषयोंमें जिसकी आसक्ति नहीं है, वह अपने अन्तः-करणमें शान्तिरूपी सात्त्विक सुखको प्राप्त करता है और कर्मयोगके द्वारा ब्रह्ममें चित्त जमाकर परमानन्दरूपी अक्षय सुखका लाभ करता है"।

गृहस्थाश्रममें रहकर श्रीजीकी ठीक यही स्थिति हो रही थी। आदिशंकराचार्य प्रभुने अपने भाष्यमें उनके देशकी पनिहारिनियोंका इस सम्बन्धमें मनोहर दृष्टान्त दिया है। केरल देशमें घर-घर कुएँ नहीं होते, थोड़ी-थोड़ी दूरीपर सार्वजनिक कुएँ होते हैं और वहींसे घरकी बहू बेटियाँ पानी भर लाती हैं। वहांकी स्त्रियां शरीरसे सुदृढ़ होनेके कारण सिरपर तीन गागरें एक-पर-एक चढ़ा लेतीं, दो दोनों बगलोंमें दबा लेतीं और दो हाथोंमें लटका लेती हैं। वे दल बाँध कर पानी भरने जातीं और हँसती खेलती, आपसमें हँसी-ठिठोली करती हुई घर लौटती हैं। यद्यपि इस अवस्थामें उनका शरीर हिलता-डुलता, झुकता और लचकता है, तथापि उनके सिरकी कोई गगरी गिरती नहीं; क्योंकि उनका चित्त गग-

रियोंके सन्तुलनमें लगा रहता है। इसी तरह ज्ञानी पुरुषका चित्त आत्मामें लगा रहनेसे लौकिक व्यवहारके कारण वहांसे विचलित नहीं होता। देखनेमें तो श्रीजी गृहस्थीमें रँगे हुए थे; परन्तु वे कहाँ रमे थे, यह कोई नहीं जान पाता था।

श्रीजी सरल चित्त थे, दयालु थे और अपने सेवकोंपर या भक्तोंपर बहुत विश्वास कर लिया करते थे। इससे कभी-कभी धोखा भी हो जाता था। उनके कार्यालयका सुपरिंटेंडेंट एक लाला-कायस्थ था। वह चाटुकार और बातूनी होनेपर भी कामकाजमें कुशल और परिश्रमी था। इसीसे उसपर श्रीजीका बड़ा विश्वास हो गया था। रुपया-पैसा उसीके हाथमें रहता था और अपनी ओरसे हस्ताक्षर करनेका अधिकार भी श्रीजीने उसको दे दिया था। इस सौजन्यसे उस विश्वासघातकने अच्छा लाभ उठाया। किसी भले आदमीके जाली हस्ताक्षर बनाकर उसने उससे एक अच्छी रकम ऐंठ ली। अनुसन्धान आरम्भ हुआ और जालसाजी पकड़ी गयी; परन्तु कोठीके स्वामी और व्यवसायके सञ्चालक श्रीजी थे। अतः उन्हींपर इसका दायित्व लादा गया और जाली हस्ताक्षर करनेका इन्हींपर आरोप किया गया, मुकद्दमा चला। चारों ओर श्रीजीकी बदनामी फैल गयी। माताजी बड़ी व्याकुल हो उठीं। अनुष्ठान बैठाये गये। श्रीजगदम्बाकी श्रीजीपर सदा कृपादृष्टि रही आयी थी। उन्होंने पूरी सहायता की और श्रीजी निर्दोष सिद्ध हुए। वह लाला अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कारावासका दण्ड मिला। फिर भी उसके प्रति श्रीजीका जो भाव था, वह कम नहीं हुआ। उसके मुकद्दमेकी पैरवी उन्होंने स्वयं की, हजारों रुपये खर्च किये; परन्तु परमात्माके यहाँ न्याय होता है और न्याय कठोर ही होता है। वहां स्नेह, वात्सल्य, दयालुता, आत्मीयता आदिकी गुंजाइश नहीं। यदि वह निर्दोष सिद्ध हो जाता, तो सब विपत्ति

श्रीजीपर घहरा पड़ती; परन्तु यह सब जानते हुए भी श्रीजीके साधु-स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। इसके लिये घरके लोग और मित्रगण उनको दोष देते, तो वे यह कथा सुनाते थे :—

"एक साधु गंगा-तटपर बैठकर सन्ध्योपासना कर रहा था। वह क्या देखता है कि, एक पत्तेपर एक बिच्छू बहता हुआ चला जा रहा है। साधुको दया आ गयी, उसने उसके प्राण बचानेके विचारसे गंगामें कूद कर पत्तेको हाथमें ले लिया। वह तैरकर तटपर आता, तबतक बिच्छूने एक, दो, तीन डंक उसकी अंगुलियोंपर जमा ही दिये। वेदनासे वह व्याकुल हो रहा था और तीरके लोग चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि, बिच्छूको छोड़ दे, मरने दे, तू क्यों परेशान हो रहा है। परन्तु साधुने पत्तेको नहीं छोड़ा और पानीसे बाहर आकर एक निरापद छेदमें बिच्छूको छोड़ दिया। इसका कारण जब उससे लोग पूछने लगे, तो साधु बोला :—भाई साहब !

जाको जौन सुभाव मिटे नहि जीसे,
नीम न मीठी होय खाउ गुड़ घीसे।

"डंक मारना बिच्छूका स्वभाव है, वह उसने किया और जीव-मात्रपर दया करना साधुका स्वभाव होना चाहिये, वह मैंने किया; इसमें अनुचित क्या हुआ ?" यह उत्तर सुनकर सब लोग स्तब्ध हो गये।

यद्यपि आगे चलकर सब वैभव-सम्पत्ति और परिवारकी ओरसे मुँह फेरकर श्रीजी संन्यासी हो गये, तथापि अन्ततक लक्ष्मी देवीने उनका साथ नहीं छोड़ा, राजयोगी ही बने रहे, इसका कारण है। चिरस्थायिनी लक्ष्मीजी कहाँ निवास करती हैं, इस सम्बन्धमें एक सुभाषितकार कहते हैं :—

"उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं,
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च,
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः" ॥

"जो उत्साहसे भरा हो, दीर्घसूत्री न हो, जिस कामको उठावे, उसका पूरा जानकार हो, नशा-पानीमें आसक्त न हो, शूर हो, कृतज्ञ हो और जिसकी मित्रता सुदृढ़ हो, उसके यहाँ लक्ष्मीजी निवास करनेकेलिये स्वयं चली आती हैं।" ये सब गुण श्रीजीमें आरम्भसे ही विद्यमान थे। देखा गया कि, किसी काम-को उन्होंने आरम्भ किया और उसमें सफलताकी आशा नहीं रही, तो भी वे कभी निराश नहीं होते थे और दूने उत्साहके साथ बनी-बनायी उनकी दूसरी योजना तैयार रहती थी। आजका काम कलपर छोड़ना वे जानते ही नहीं थे और न सह सकते थे। यात्रामें उनकी गाड़ी कभी नहीं चूकी; क्योंकि घण्टा-आधा घण्टा पहले ही वे स्टेशनपर उपस्थित हो जाते थे, मिलने या काम करनेवालोंको जो समय देते, उससे दस मिनट पहले ही तैयार होकर बैठ जाते थे। उनके सब काम 'अपटुडेट' रहा करते थे। इस स्वभावको देखकर उनके मित्र और भक्त 'जल्दबाज' कहकर उनको दोष देते थे और कभी-कभी उनकी जल्दबाजीसे धोखा भी खा जाना पड़ता था; लाभ अधिक होता था। कोई काम पिछड़ नहीं पाता था और सम्बन्धित व्यक्तियोंको सुभीता हो जाता था। वर्तमान शासन-व्यवस्थामें इसी बातका अभाव होनेसे प्रजाको बड़ा कष्ट झेलना पड़ता है। इस बातको समझदार शासक स्वीकार भी करते हैं और अपना दोष स्वीकार करते हुए यह भी कहते हैं कि, वास्तवमें अबतक हम ब्रिटिश-शासनका विरोध करते रहे हैं। अतः विरोध करना तो अच्छी तरह जान गये हैं, जिसके फलस्वरूप यहाँ ब्रिटिश-शासन समाप्त हो गया; परन्तु राजशासन करनेका हमें अनुभव नहीं है। वह अनुभव धीरे-धीरे होगा और फिर कोई शिकायत नहीं

रह जायगी। सुव्यवस्थाकी सफलताके दो ही सूत्र है :— १—सातत्य (Regularity) और नियमितता (Punctuality) दोनोंपर श्री-जीका बहुत ध्यान रहता था।

तीसरी बात है,—'क्रियाविधिज्ञता' जिस कामको वे उठाते, उसका पूर्णज्ञान (जानकारी) प्राप्त (हासिल) कर लेते थे। इस कारण उनके कार्य कभी विफल नहीं होते थे, इसमें कभी व्यतिक्रम होता, तो उन्हें हानि उठानी पड़ती थी। उदाहरणार्थ, छापेखानेके कीलों-काँटोंसे वे परिचित नहीं थे। परन्तु ग्रन्थ-प्रकाशनके लिये अत्यन्त आवश्यक जानकर दूसरोंके भरोसेपर उन्होंने तीन बार बड़े-बड़े प्रेस खोले, परन्तु विश्वासपात्रोंके विश्वासघातसे तीनों बार विफलता हुई, छापाखाने अच्छी तरह नहीं चल सके और हजारों रुपयोंका घाटा सहना पड़ा। दूसरी ओर संस्कृताध्यात्मिक विश्वविद्यालयकी, आर्यमहिला महापरिषद्की, शास्त्र-प्रणयनकी उनकी योजनाएँ असा-धारण रूपसे सफल हुई; फूली और फलीं; क्योंकि उनके अङ्गो-पाङ्गोकी रगरगसे वे परिचित थे।

चौथी बात :—आजीवन वे किसी व्यसनमें नहीं फँसे। निरा-मिषाहारी तो थे ही; परन्तु भोजनोपरान्त मुखशुद्धिकी वस्तुओंकी भी उन्हें आवश्यकता नहीं होती थी। उनकी शूरता तो हर समय निखर पड़ती थी। अन्याय और अधर्मके विरुद्ध पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करना तो उनका स्वभाव बन गया था। जब कभी न्याय अथवा धर्मपर आघात हुआ, तब उन्होंने शूरतासे सामना करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। देवासुर-संग्राम स्वाभाविक रूपसे सर्वत्र चलता ही रहता है। उसमें देवोंका पक्ष लेकर उन्होंने भीषण युद्ध किया और अन्तमें देवोंकी ही विजय हुई। यदि छोटेसे छोटाभी किसीने उपकारका कार्य किया हो, तो उसको भूलते नहीं थे और वे दूसरों-पर जो उपकार करते, उसे भूल जाते थे। कहा भी करते थे,— "मनु-

ष्यको सदा कृतज्ञ होना चाहिये, कृतघ्नतासे बढ़कर कोई पाप नहीं है।" सातवीं और अन्तिम बात है,—'दृढ़ सौहृद'। जिसको वे अपना लेते थे, उसका त्याग नहीं करते थे; चाहे वह स्वयं सम्बन्ध भलेही त्याग दे। जिन-जिनसे उन्होंने मित्रता की, उसे आजीवन निबाहा। बिभीषणके सम्बन्धमें सुग्रीव-हनुमान् आदि मन्त्रियों और मित्रोंसे श्रीरामचन्द्रने कहा था कि, 'जो मेरे पास आकर विनीत भावसे यह कहता है कि, मैं तुम्हारा हूँ, उसका मैं कदापि त्याग नहीं कर सकता"। यथा :—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम"॥

श्रीजीपर यह उक्ति पूर्णरूपसे लागू होती है। उनका भी यही व्रत था। देखा गया है कि, जिस दुष्टने स्वयं उनको बहुत सताया धोखा दिया और त्रस्त किया, वह फिर आकर उनके शरणापन्न हुआ, तो उसके सब अपराधोंको भूलकर उन्होंने उसे अपना लिया। वे मनुष्यके गुणोंको ही देखते और अवगुणोंकी उपेक्षा करते थे। इसका उन्हें अभ्यास हो गया था और उनके 'दृढ़ सौहृद' होनेका यही कारण है। ये सातों महापुरुषोंकी बातें जब श्रीजीमें पूर्णरूपसे विद्यमान थीं, तब उनकी सेवाके लिये लक्ष्मीजी सदा सन्नद्ध रहें, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

छोटे सरकारकी सुन्दर गृहस्थीका बाग इस प्रकार सब भाँति हरा-भरा हो रहा था कि दासियोंसे माताजीको पता लगा कि, छोटी बहूका पाँव भारी हो गया है। दो महीने हो गये। ममतामयी माताके आनन्द और उल्लासका ठिकाना न रहा। उद्यानमें हिंडोले डाल दिये गये, जहां-तहां सुन्दर सात्त्विक वस्तुएँ सजायी जाने लगीं, उत्सव आरम्भ हुए, हास्य-विनोद, गान-वादनकी व्यवस्था हुई और ठाकुरबाड़ीमें वैदिक अनुष्ठान बैठा दिये गये। ऐसा प्रबन्ध किया

गया कि, बहूकी आँखोंके सामने सात्विक दृश्य रहें, जिससे उसकी वृत्ति सात्त्विक बनी रहे और ऐसी परिस्थिति निर्माण करनेका प्रयत्न किया जाने लगा कि, उसका चित्त सदा प्रसन्न रहे। उसके स्वास्थ्यकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा। कुलाचारके अनुसार उसकी मन्त्रदीक्षा हो चुकी थी। तदनुसार प्रतिदिन नियमपूर्वक बड़ी श्रद्धासे जप, उपासना करती, आरतीके समय ठाकुरबाड़ीमें उपस्थित रहती और ठाकुरजीका भोग स्वयं उपस्थित करती थी। माताके समान सासको तो अपने व्यवहार और सौजन्यसे उसने मोह ही लिया था। पतिदेव, जेठे बड़े और गुरुजन भी उससे सब भांति प्रसन्न थे।

सन्तान और यथार्थ आनन्दकी खोज

यथासमय कन्याने जन्म ग्रहण किया। वह मानो बालात्रिपुर-सुन्दरी ही अवतरित हुई थी। साधारणतः घरमें जब—विशेषतः पहले पहल—कन्या उत्पन्न होती है, तब परिवारके लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं और माता-पिता खिन्न हो जाते हैं। परन्तु इस कन्यासे किसीको खेद नहीं हुआ और वैसा ही धूम-धामसे उत्सव मनाया गया, जैसा पुत्रोत्सवमें मनाया जाता है। वेद-विधानानुसार उसके जातकर्म, षष्ठी-पूजन, नामकरण, कर्णवेध, बहिर्गमन, अन्नप्राशन आदि संस्कार किये गये। वह शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह बढ़ने लगी, चलने-बोलने लगी और घरके लोगोंका एक खिलौना बन गयी। इसी तरह दो-दो वर्षोंके अन्तरसे श्रीजीको तीन कन्याएँ और तीन पुत्र हुए। ज्यों-ज्यों इनकी सन्तान बढ़ने लगी, त्यो-त्यों इनके हृदयमें वैराग्यका भाव अधिकाधिक प्रबल होने लगा। गृहस्थीमें पहले ही इनका चित्त नहीं लगता था, अब तो इनको गृहस्थी काटने लगी। विश्व ही जिसका कुटुम्ब बन गया हो, उसकी एक छोटी-सी संकुचित

गृहस्थीसे कैसे तृप्ति हो सकती है ? श्रीजीको केवल श्रीमुखर्जीके कुलको ही नहीं, मानवकुलको धन्य करना था और उसीकी धुनमें वे लग गये।

यह कहा जा चुका है कि, श्रीजीने अपने बंगलेके उद्यानमें ही एक आश्रम बना लिया था, और उसमें उपासना और योगसाधनके लिये एक गुफा भी बनवाई थी। आश्रममें ही वे अपना अधिकांश समय बिताया करते थे। आश्रममें बड़े-बड़े साधु-महात्मा और विद्वान् पण्डित आया करते और तत्त्व-विचार हुआ करता था। जब आश्रममें कोई नहीं रहता, तब अकेले ही एकान्तमें बैठकर देश, जाति और धर्मके उद्धारकी योजना बनाया करते थे। एक प्रकारसे भगवान् शंकराचार्यके इस उपदेशका पालन किया करते थे :—

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां,
पूर्णात्मासु समीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां,
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथपरे ब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥

अर्थात् "एकान्तमें सुखपूर्वक रहो, परब्रह्ममें चित्तको जमाये रहो, पूर्णात्माके सम्बन्धमें विचार करो और देखो कि, उसीकेद्वारा यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। संचित-कार्यको धो बहाओ और ज्ञान-बलकेद्वारा ऐसा प्रयत्न करो कि, पीछे कुछ भी (पाप-पुण्य, सुख-दुःख, आशा-वासना आदि) न बच रहे। प्रारब्ध कर्मको यहीं भोग लो और परब्रह्ममें रममाण हो जाओ"। सब ओरसे विचार कर उन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया। वे शास्त्रोंकी निम्नलिखित बातें सदा सोचा करते थे :—

"यथार्थ सुख क्या है ? यथार्थ आनन्द क्या है ? विषयानन्द और यथार्थ आनन्दमें भेदप्रतीति कैसे हो सकती है ? आनन्दकी

उपलब्धि क्रमशः कैसे बढ़ती और उसकी कहां समाप्ति होती है? चिरपरिचित उन्हीं पुष्प-मालाओं, स्त्रियों, सुस्वादु आहार्यपदार्थों और हास-विलासमें ही आनन्द है, या आनन्दका स्थान और कहीं है? इन्हीं गम्भीर प्रश्नोंपर जब वे विचार करते, तो उनको अनुभव होता कि, यदि इन्हीं लौकिक विषयोंमें वास्तविक सुख होता, तो प्राचीन मुमुक्षु अग्रजन्मा ब्राह्मणगण तपस्या, विद्या और अन्य सब वर्णोंकी अपेक्षा अधिक होनेपर भी तपस्या, त्याग और अध्यात्म-चिन्तनको मुख्य मानकर, क्षत्रियोंपर राजानुशासनका भार सौंपकर, स्वयं क्योंकर वनमें जाकर निवास करते थे? एकाधारमें सब ऐश्वर्योंके अधिकारी होनेपर भी धन-वैभव तथा लौकिक सुखों व भोगोंको हेय और त्याग, तपस्या एवं स्वाध्यायको क्यों उपादेय समझते थे? ऐश्वर्यशाली नगरोंको छोड़कर वनमें एकान्तसेवी होकर क्योंकर वैदिक-कर्म, ब्रह्मोपासना और आत्मानात्म-विचारमें सन्तोष अनुभव करते थे? उनका निश्चित सिद्धान्त था कि, वैषयिक सुखमें सुख नहीं है। उनमें श्रीभगवान्‌की यह बात अच्छी तरह घट गयी थी कि,—

> "मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत"॥

अर्थात् "हे अर्जुन! इन्द्रियोंके साथ विषयोंका जो सम्बन्ध होता है, वही शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदिका कारण है। उसका आरम्भ है और नाश भी। अतः वह अनित्य-क्षणस्थायी है। हे भारत! उसको तुम्हें सहन करना चाहिये"।

वास्तवमें असुरोंके बिल स्वर्गसे लेकर ऊपरके भूः, भुवः और स्वर्गलोकतकके सब सुख वैषयिक तथा अनित्य सुख हैं। यही जानकर प्राचीन मुमुक्षु इन त्रिलोकतकके सुखोंसे मुँह मोड़कर,

सब प्रकारके वैषयिक सुखोंके त्यागका सङ्कल्प कर, संन्यासाश्रम ग्रहण करते थे।

हमारा वर्णाश्रमरूपी समाज-विज्ञान बड़ी सुदृढ़ भित्तिपर स्थित है। जैसा वृत्तके साथ वनका सम्बन्ध है, वैसा ही मनुष्यका मनुष्य-समाजके साथ सम्बन्ध है। जिस प्रकार दावानलसे वनकी रक्षा करनेके लिये जंगलोंमें पृथक् पृथक् खण्ड (Fire lines) बना दिये जाते हैं, जिससे एक खण्डकी आग दूसरे खण्डमें जाकर समस्त वनको ही भस्म न कर डाले, उसी प्रकार चारों वर्णोंके चार अलग-अलग खण्ड बनाकर उनकेद्वारा वर्णाश्रमकी दृढ़तासे आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य-समाजकी बड़ी सुकौशलपूर्ण रीतिसे भारतमें रक्षा की गयी है। वर्तमान सभ्यजगत्के समाज-विज्ञान और पदार्थ-विद्याके विशेषज्ञ अभी-तक यह पता नहीं लगा सके हैं कि, सुखका यथार्थ स्वरूप क्या है ? वे स्थूल मनुष्यशरीरके भीतरके दो अङ्गों—सूक्ष्म-शरीर और कारणशरीरके अस्तित्वपर दृष्टि नहीं डालते और न यही विश्वास करते हैं कि, इस स्थूल मृत्युलोकके पीछे उसका चालक एक बड़ा प्रभावशाली दैवलोक है। यह सब जानते हुए हम अपने आश्रमधर्मकी उपेक्षा क्योंकर करें ?

आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिको कालकी तपनसे बचानेके लिये वर्णाश्रमरूपी जो आठ प्राकार बनाये गये हैं, उनमेंसे चार वर्ण प्रधानतः ऐहिक अभ्युदयके हेतु और चार आश्रम प्रधानतः पारलौकिक अभ्युदयके हेतु हैं। निःश्रेयसप्राप्तिके लिये ये आठों परम सहायक हैं। यथार्थ सुखरूपी परमानन्दकी उपलब्धि करानेके लिये ही चार आश्रमोंकी व्यवस्था है। परमानन्द और विषयानन्दमें शास्त्रकार इस प्रकार अन्तर बताते हैं कि, विषयोंमें जो सुखकी प्राप्ति होती है, वह वास्तविक सुख नहीं, किन्तु सुखाभास-मात्र है। क्योंकि आनन्द परमात्माका स्वरूप है। विषयके संसर्गसे

इंद्रियाँ मनको एकाग्र करके अपने आप ही समाधिस्थ करा देती हैं। समाधिस्थ अन्तःकरणमें परमानन्दस्वरूप आत्मा स्वतः प्रकाशित हो जाता है। उसीकी झलकसे विषयसुखमें जीवको आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है; परन्तु वह यथार्थ आनन्द नहीं है।

वर्णाश्रमकी यावत् शृंखलाकी मौलिक-भित्ति यथार्थ सुखका अन्वेषण है और उसके सब साधनका फल उत्तरोत्तर यथार्थ सुखकी प्राप्ति है। यह शास्त्रोंसे सिद्ध है कि, आनन्द आत्माका स्वरूप है। आत्मा सत् है, चित् है और आनन्द स्वरूप है। उसके स्वरूपको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्रकृति आच्छन्न किये रहती हैं। इन आवरणोंको हटा देनेसे यथार्थ आनन्दका आपही उदय हो जाता है। तत्त्वदर्शी महापुरुष वैषयिक सुखसे मुँह फेर लेता है, तो अपनी इन्द्रियोंपर आधिपत्य स्थापन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है। यह यथार्थ सुखकी पहली अवस्था है। जो महापुरुष ऐसे संयमी हो जाते हैं कि, इन्द्रियों और मनपर भी आधिपत्य स्थापन कर लेते हैं, उनके अन्तःकरणमें जिस सुखका उदय होता है, वह यथार्थ सुखकी दूसरी अवस्था है। जो योगिराज महत्तत्व अर्थात् बुद्धितत्वपर पूर्ण आधिपत्य स्थापन कर लेते हैं, और जब चाहें, ब्रह्ममें युक्तबुद्धिमें समाहित हो सकते हैं, उनको जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुखकी तीसरी अवस्था है। जो महात्मा कृतकृत्य होकर प्रधान अर्थात् प्रकृतिपर अधिकार कर लेते हैं, उनके अन्तःकरणमें जिस आनन्दका विकास होता है वह सुखकी तुरीयावस्था है। इस प्रकार इन्द्रिय-सुखको हेय मानकर ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिकी पौढियोंपर क्रमशः चढ़कर ब्रह्मानन्द पारावारमें निमग्न होते हुए जगद्गुरु आर्य-महर्षियोंने यथार्थ सुखकी प्राप्तिका मार्ग खोज निकालकर मनुष्य-जातिको बताया है, जिसकी कल्पना भी आजकलके सभ्यजगतके लोग कर नहीं सकते। सब प्रपञ्चोंसे अतीत सब निरानन्दोंसे रहित,

अद्वैत भावापन्न और एकाधारमें अस्ति, भाति और आनन्दका जो अद्वैत स्वानुभव है, वही श्रीभगवान्का स्वरूप है और वही परमानन्द पारावार है।

इसी परमानन्दका स्वानुभव प्राप्त करनेके लिये चार आश्रमोंकी सृष्टि हुई है। ब्रह्मचर्यआश्रममें प्रवृत्तिके उपाय सिखाये जाते हैं। बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिके द्वारा प्रवृत्ति मार्गमें प्रवेश करनेकी योग्यता प्राप्त की जाती है। गृहस्थाश्रममें वेद और शास्त्रविहित प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। प्रवृत्तिमार्गका आचरण किया जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिमार्गकी शिक्षा दी जाती है। साधकको निवृत्तिके योग्य बनाया जाता है और संन्यासाश्रममें निवृत्तिका पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। साधक स्वस्वानुभव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। उस समय उसे आत्माकी उपलब्धि होती है और वह परमानन्द-पारावारमें उन्मज्जन-निमज्जन करने लगता है। अतः संन्यासाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है और वही आनन्दका निधान है। यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति संन्यासाश्रममें ही हो सकती है।

इसी विचार-धाराके अनुसार श्रीजीने यह जान लिया कि, यथार्थ सुख भोगमें नहीं, त्यागमें है। त्यागके बिना यथार्थ आनन्द नहीं और वह त्याग संन्यासाश्रममें ही सम्भव है। जैसा कि कैवल्योपनिषद्में कहा है :—

"अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्योवाच। अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सद्भिः सेव्यमानां निगूढ़ां। यथाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषमुपैति विद्वान्। तस्मै सहोवाच प्रजापतिश्च श्रद्धाभक्ति ध्यानयोगादवेहि। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमाशुः॥ परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति। वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। सम्पश्यन्

ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिं। ध्याननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः॥ ज्ञात्वा त मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये"।

"महर्षि आश्वलायन भगवान् ब्रह्माके समीप उपस्थित होकर बोले—भगवन्! महात्माओंद्वारा सेवित अत्यन्त गूढ़ श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या मुझे पढ़ाइये, जिसके सेवनसे विद्वान् साधक तत्काल सब पातकों (दुःखों) से छुटकारा पाकर परात्पर पुरुष (ब्रह्म) को प्राप्त करता है। भगवान् प्रजापतिने महर्षिसे कहा,—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानयोगसे तुम उसको जानो। देखो, अमृतत्वकी शीघ्र प्राप्ति न बहुत-सा धन बटोरनेसे होती है, न अनेक सन्तान उत्पन्न करनेसे होती है, न कर्मकाण्डके अनुष्ठानोंसे होती है; किन्तु उसकी उपलब्धि केवल त्यागसे ही हो सकती है। स्वर्गादि लोकोंसे भी परे जो ब्रह्म चैतन्य विराज रहा है, वेदान्ततत्त्वज्ञानके निश्चित (ठीक-ठीक) अर्थको जिन्होंने जान लिया है, वे संन्यासयोगपरायण पवित्रात्मा यतिगण उसीमें प्रवेश करते हैं अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाते हैं।" दूसरी एक श्रुतिमें भी कहा है,—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"। 'जिसने ब्रह्मको जान लिया है, वह ब्रह्म ही हो जाता है"। कैवल्योपनिषद् उसकी (ब्रह्मप्राप्तिकी) युक्ति बताता है,—"जो सब भूतोंमें आत्मस्वरूप देखता है और आत्मामें ही सब भूतोंका अनुभव करता है, वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। इसके लिये आत्माको पूर्व-अरणि और प्रणव (ॐ कार) को उत्तर-अरणि बनाकर ब्रह्म-ध्यानरूपी मंथनका अभ्यास करते रहनेसे ज्ञानी पुरुष सब पाशों (बन्धनों) को जला डालता है। उस ब्रह्मको जान लेनेसे ही साधक मृत्युको जीत लेता है। अमृतत्व (मुक्ति) की प्राप्तिके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। अन्ततः श्रीजीने निश्चय कर लिया कि, संन्यासाश्रम ग्रहण किये बिना जीवन सफल होना सम्भव नहीं

है। यह पाञ्चभौतिक शरीर नाशवान् है, यदि यह जगत्कल्याणके कार्यमें नहीं काम आया, तो इसका जन्मना और जीना ही व्यर्थ है।

"काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते"।

कौआ भी बहुत वर्षों तक जीता है; परन्तु काकबलि ही खाता रहता है। इसी तरह यह काया दीर्घकालतक जीकर 'कचकुच' में ही फँसी रही और भगवत्कार्यमें न लगायी गयी, तो इसमें और कौएमें अन्तर ही क्या रह जाता है? मानवजीवनमें परोपकार ही परमपुरुषार्थ माना गया है।

देखो—

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः,
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावो,
परोपकाराय सतां विभूतयः"॥

जिस प्रकार "परोपकारकेलिए ही वृक्ष फल देते हैं, दूसरोंके उपकारके लिये नदियाँ प्रवाहित होती हैं और दूसरोंको पोसनेके लिए गायें दूध देती हैं; उसीप्रकार प्राणिमात्रकी भलाईके लिये ही साधु-महात्मा शरीर ग्रहण करते हैं। शरीरकी क्षुद्रताको देखकर निराश होनेका कोई कारण नहीं है। महात्मा कबीरने कहा है :—

"पशुकी होत पन्हैयाँ, नरका कछू न होय।
जो नर ऐसी करनी करे, तो नरको नारायन होय"॥

परमात्माने मनुष्यको बुद्धितत्त्व दिया है। उसकी सहायतासे वह चाहे, तो असुर या पशु बन सकता है और देवता ही क्यों, ब्रह्मरूप भी हो सकता है। फिर मैं मनुष्य ही क्यों बना रहूँ?

नारायण स्वरूप होकर सब कुछ वासुदेवमय ही देखता हुआ आनन्दसागरमें क्यों न अवगाहन करूँ ?"

नित्यानित्यविवेक और मुमुक्षुत्व

फिर श्रीजी सोचने लगे—"पूर्ण अभ्युदयका सरलमार्ग तो सूझ पड़ता है; परन्तु इसमें काँटे कङ्कड़ों-विघ्नबाधाओंकी भी कमी नहीं है। श्रीभगवान्की माया बड़ी विलक्षण है। 'मम माया दुरत्यया' यह तो स्वयं भगवान ही स्वीकार करते हैं। इससे पार पाना बड़ा कठिन है। कागभुशुण्डी गरुडसे कहते हैं :—

"ज्ञानके पन्थ कृपाणकी धारा।
कहत खगेश न लागत पारा"॥

श्रीभगवान्की जिसपर कृपा रहती है; वही इस तलवारकी धारपर चल सकता है। शास्त्र भी आश्वासन देते हैं—'विचारेणान्य-साधनैः'। शास्त्र (तत्त्वज्ञान) का विचार करने और चित्तशुद्धि-कारक उपासना जैसे अन्य साधनका अवलम्बन करनेसे भगवत्कृपा प्राप्त होकर साधक परमसुख (मुक्ति) के मार्गमें अग्रसर हो सकता है। इसीसे निवृत्तिमार्गपर आरूढ़ होनेवाले साधकके लिये शास्त्र-कारोंने चार साधन निश्चित किये हैं। जो,इस साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होगा, वही ब्रह्मसाक्षात्कारके मार्गमें अग्रसर होनेका अधि-कारी हो सकता है। वे चार साधन इस प्रकार हैं :—

१—शम-दमादिषट् सम्पत्ति-सम्पन्नता, २—इहामुत्रफलभोगवि-राग, ३—नित्यानित्य-वस्तुविवेक और मुमुक्षत्व। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान, ये छः योगमार्गकी सम्पत्तियाँ कहाती हैं। शम और दमके अवलम्बनसे साधककी शारीरिक और आन्तरिक शुद्धि होती है। इस लोक और स्वर्गादि अन्य लोकोंके सुखभोगसे विरक्त हो जाना, दूसरा साधन है। तीसरा साधन है—

नित्य क्या है और अनित्य क्या है, इसको जान लेना और चौथा साधन है — मुक्त होनेकी उत्कट इच्छा। श्रीजीने अपने शरीर और अन्त:करणको पूर्णरूपसे स्वायत्त कर लिया था। वैषयिक सुखोंको क्षणस्थायी और दुःखपरिणामी जानकर उनसे मुँह मोड़ लिया था। रजस्तमात्मक सुखोंकी ओरसे चित्तको हटाकर सात्त्विक सुखकी वृद्धिमें अभिरुचि हो जानाही मुक्तिभूमिमें आगे बढ़नेका लक्षण माना गया है। त्रिविध सुखोंके लक्षण गीतामें इस प्रकार बताये गये हैं : —

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥"

"जो आरम्भमें विषके समान कड़ुआ, किन्तु परिणाममें अमृतके समान मधुर जान पड़ता है और जिसकी उत्पत्ति आत्मा सम्बन्धी बुद्धिकी प्रसन्नतासे होती है, वह अनिर्वचनीय ब्रह्मसुख सात्त्विक सुख कहाता है। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाला जो सुख पहले तो अमृतके समान, किन्तु परिणाममें विषके समान प्रतीत होता है, वह वैषयिक सुख राजस सुख कहा जाता है और जो सुख क्या आदिमें और क्या अन्तमें बुद्धिमें मोह (अज्ञान) की सृष्टि करता है, निद्रा, प्रमाद और आलस्यसे उत्पन्न होनेवाला वह सुख तामसिक सुख जानना चाहिये। श्रीजीको शुद्ध सात्त्विक सुखकी लौ लगी रहनेसे उन्होंने दोनों लोकोंके राजसिक और तामसिक सुखोंसे मुँह मोड़ लिया था। दीर्घकालतक साधना

शास्त्राध्ययन और संयमके द्वारा उन्होंने नित्या-नित्य वस्तुको जान लिया था। शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक सब प्रकारके दुःखोंको सहन कर लेना, तितिक्षा कहाती है। 'अपरोक्षानुभूति'में तितिक्षाका यह लक्षण बताया गया है :

"सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता।"

श्रीजी योगिराज होनेके कारण यद्यपि मन्त्रयोग, हठयोग, लय-योग और राजयोगमें पूर्ण पारङ्गत थे और उनके क्रियासिद्धांशोंको भी अच्छी तरह जानते थे, जैसे कि, मन्त्रयोगके मूर्त्तिध्यान, हठ-योगके ज्योतिर्ध्यान, लययोगके बिन्दु ध्यान, राजयोगके ब्रह्मध्यान आदि साधनप्रकारोंको श्रीजी उपयोगमें ला चुके थे, तथापि वे राजयोगके पथिक थे। वैराग्यादि साधनचतुष्टयका जो ऊपर उल्लेख हो चुका है, उसके लक्षण और उससे सम्पन्न होनेके उपाय श्रीभगवान् शङ्कराचार्य प्रभुने 'अपरोक्षानुभूति'में इस प्रकार बताये हैं :

"स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥
नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम्।
एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेको वस्तुनः स वै॥
सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते॥
विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा।
निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता॥
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम्।
संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात्कदा विधे॥

इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता।
उक्तसाधनयुक्तेन विचारः पुरुषेण हि॥
कर्तव्यो ज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मनः शुभमिच्छता।
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः॥
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित्''॥

''अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनसे तपस्यासे और श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करनेसे मनुष्यको वैराग्यादि चतुष्टयका साधन सम्भव होता है। ब्रह्मादि तृणपर्यन्त सब ऐहलौकिक तथा पारलौकिक विषयोंसे काक-विष्ठाके समान जब चित्त हट जाता है, तब जानना चाहिये कि, निर्मल वैराग्यका उदय हुआ है। वैराग्यका कारण विवेक है। आत्मस्वरूप नित्य है और यह सब दृश्य प्रपञ्च अनित्य है, इस प्रकारका निश्चय ही वस्तुका यथार्थ विवेक कहा जाता है। सर्वदा वासनाका त्याग करना अर्थात् अन्तःकरणका निग्रह करना शम है और बाह्य अर्थात् नेत्र-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियद्वारा विषयोंकी ओर प्रवृत्त होनेवाली वृत्तियोंका निग्रह करना दम कहा गया है। इन्द्रियोंके विषय मनुष्योंको बन्धनमें डाल देते हैं, उनसे मनको मोड लेना उत्तम उपरति कहाती है। तितिक्षाका लक्षण पहले कहा गया है। वेद और गुरुवचनोंमें विश्वास होना श्रद्धा नामसे प्रसिद्ध है। सत्-वस्तु (ब्रह्म) में चित्तकी एकाग्रताका होना समाधान कहा गया है। मेरा इस संसारबन्धनसे कब और किस प्रकार छुटकारा होगा, इस प्रकारकी दृढ़ बुद्धि हो जाना ही मुमुक्षुता है। अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उक्त साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर ज्ञानकी सिद्धिके लिये विचार करना चाहिये। जिस प्रकार प्रकाशके बिना कोई पदार्थ देख नहीं पड़ता, उसीप्रकार विचारके अतिरिक्त अन्य किसी साधनसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।'' यह षट् साधन-सम्पत्ति

श्रीजीने पूर्णतया प्राप्त कर ली थी और मुमुक्षता तो उनके रोम-रोम-में समा रही थी।

श्री विद्यारण्य मुनिने मोक्षकी व्याख्या इस प्रकार की है :—

"स्वाविद्याकल्पितानात्मदेहाद्यात्मत्वाभिमानरूपबन्धनिवृत्तिद्वारा स्वस्वरूपावस्थानं मोक्षः"।

"अपनी ही अविद्याके द्वारा कल्पित अनात्म देहादिमें आत्मत्वका अभिमान हो जाना, अनात्माको आत्मा समझ बैठना, बन्धनका कारण है। उससे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें (ब्रह्ममें) अवस्थित हो जाना ही मोक्ष है।" मोक्षकी प्राप्तिके लिये श्रीमद्भगवच्छङ्कराचार्य प्रभुने पन्द्रह अङ्ग साधनोपयोगी माने हैं—

"त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्य हि लब्धये।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासनमेव तु॥"

अब मैं पूर्वोक्त स्वरूपावस्थानरूपी मोक्षकी सिद्धिके लिये पन्द्रह अङ्ग बताता हूँ। उनकी सहायतासे मुमुक्षुको सदा निदिध्यासन करना चाहिये। शुकरहस्योपनिषद्में पूर्ण बोध होनेके लिए प्रधान तीन कारण बताये हैं :—

"श्रवणन्तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम्"।

"सद्गुरुके मुखसे या वेदान्तशास्त्रके अध्ययनके द्वारा अध्यात्मतत्त्व-ज्ञानका मुमुक्षु पहले श्रवण करे, फिर बार-बार आवृत्तिद्वारा उसका चिन्तन करे और अनन्तर अखण्ड उसीका निदिध्यासन करता रहे, तो उसे पूर्णबोध (ज्ञान) हो जाता है। जिन पन्द्रह अंगोंका निदिध्यासन किया जाता है, उनके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं :—

"नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः ।
तस्माद्ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम् ॥
यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यञ्च दृक्स्थितिः ॥
प्राणसंयमनञ्चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रिय-ग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
सजातीय-प्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ॥
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥
त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः ॥
यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥
वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनन्तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥
आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥
कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनामशेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः ॥
सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥
सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ।
यस्मिन्सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः ॥

यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ।।
अंगानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ।।
दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ।।
चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।।
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ।।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ।।
विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ।।
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणञ्चैव धारणा सा परा मता ।।
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्याः निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ।।
निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ।।
इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ।
वश्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रयुक्तः सन्भवेत्स्वयम् ।।
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ।।

लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता।
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत्॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम्॥
ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्द्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥

"इन पन्द्रह अङ्गोंका निरन्तर अभ्यास किये बिना सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जिज्ञासुको अपने कल्याणकेलिये चिरकाल तक ब्रह्मका निदिध्यासन करना चाहिये। पन्द्रह अङ्ग इस प्रकार हैं :—१—यम, २—नियम, ३—त्याग, ४—मौन, ५—देश, ६—काल, ७—आसन, ८—मूलबन्ध, ९—देहसाम्य, १०—दृष्टिकी स्थिति, ११—प्राणायाम, १२—प्रत्याहार, १३—धारणा, १४—आत्मध्यान और १५—समाधि। इनमेंसे सभी, विशेषतः यम-नियमादि आठ साधनोंका विवरण महर्षि पतञ्जलिजीके योगदर्शनमें आ गया है। परन्तु योगदर्शन हठयोग प्रधान होनेसे उसकी साधन-प्रणाली और वेदान्त-कथित राजयोगकी साधन-प्रणालीमें बहुत अन्तर है। हठयोग प्रायः स्थूलशरीर और प्राण-संयमनपर ही विशेष निर्भर है; परन्तु राजयोग अन्तर-राज्यका विषय है। इसीसे चिच्छक्ति (ब्रह्म) के साक्षात्कारके सम्बन्धमें वशिन्यादि वाग्देवताओंने कहा है :—

"अन्तर्मुखसमाराध्या बहिर्मुखसुदुर्लभा"।

"अन्तर्मुख होकर आराधना करनेसे ही उस ब्रह्ममयीका साक्षात्कार हो सकता है। बहिर्मुख साधकके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है,

उन्हें उसका साक्षात्कार हो नहीं सकता। हठयोगमें स्थूल-शरीरके व्यायाम और वायुनिरोधको ही महत्त्व दिया गया है। उसका साधन बहिर्मुखीन है। राजयोगका साधन अन्तर्मुखीन होनेसे उसका ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध है। अतः मुमुक्षु राजयोगके साधनमें ही प्रवृत्त होते हैं।" यह बात उक्त अंगोंके वेदान्त शास्त्रोक्त लक्षणोंसे ही स्पष्ट हो जाती है। वे लक्षण इस प्रकार हैं :—"सब कुछ ब्रह्म है, यह जानकर जो इन्द्रियोंका संयम किया जाता है, उसे यम कहते हैं। इसका बार बार अभ्यास करना चाहिये। ब्रह्मके साथ तदाकारवृत्ति हो जाना सजातीय प्रवाह है। ब्रह्मसे भिन्न दृश्यप्रपञ्चके साथ तदाकार वृत्ति हो जाना विजातीय प्रवाह है। सजातीय प्रवाहको अविच्छिन्न रखकर विजातीय वृत्तिका तिरस्कार करना ही नियम कहाता है। नियमके द्वारा ज्ञानी पुरुष परानन्दको प्राप्त करते हैं। स्वयं प्रकाशमान चिदात्माका साक्षात्कार होनेके लिए नामरूपात्मक प्रपञ्चका जो त्याग किया जाता है, वही त्याग श्रेष्ठ पुरुष आदरणीय समझते हैं। क्योंकि वह तत्काल मोक्षमय है। स्ववर्णाश्रमोक्त कर्मोंका त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं :—

> "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
> यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
> एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्"॥

"यज्ञ, दान और तपोरूपी कर्म कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं, वे अवश्य ही करने चाहिये। क्योंकि यज्ञ, दान और तप विवेकवान् पुरुषोंकी चित्तशुद्धि करनेमें सहायक होनेसे पवित्र माने गये हैं। परन्तु ये कर्म कर्तृत्वाभिमान और स्वर्गादि फलोंकी अपेक्षा न रख

कर अपना कर्तव्य जानकर करने चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है"।

जिसका वर्णन करनेमें वाणी समर्थ नहीं हो सकती और मन भी जिसका आकलन नहीं कर सकता; परन्तु योगी जिसका अनुभव करते हैं, उसी ब्रह्मरूपी मौनका विवेकी पुरुषको अवलम्बन करना चाहिये। जहां वाणी परावृत्त हो जाती है, जिसको वाणी वर्ण्य-विषय बना नहीं सकती, उसका वर्णन कौन कर सकता है? इसी तरह नाम, रूप, जाति आदिरूपी प्रपञ्चका यदि वर्णन किया जाय, तो उसके लिये शब्द ही नहीं हैं। अन्ततः सत्पुरुषोंकी जो सहज-स्थिति होती है, वही उनका मौन है। वे ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी विवादको त्याग देते हैं। ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंने यही मौन बताया है। वाणीका संयमन करना तो अज्ञानियोंका मौन है। 'दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र' में श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने इसीका समर्थन किया है:—

"चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धा शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः"॥

"यह आश्चर्य तो देखो कि, वटवृक्षके तले विराजमान शिष्य तो वृद्ध (सर्वशास्त्रपारंगत होनेपर भी ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासु) हैं और आत्मसाक्षात्कार-प्राप्त गुरुदेव युवा (ब्रह्मदर्शनसे उभड़ते हुए तरुण) हैं। गुरुदेवका मौनरूपी व्याख्यान हो रहा है, जिससे शिष्योंके सब सन्देहोंकी निवृत्ति हो गयी है। अर्थात् गुरुदेवके मौन उपदेशानुसार उनको भी सहज-स्थिति प्राप्त हो गयी है। आदि, मध्य और अन्तमें जहां आत्म-प्रतीति (स्वानुभव) के अतिरिक्त और कुछ नहीं बच रहता, लौकिक शास्त्रीय-प्रतीतिकी भी जहां गति नहीं और जिस (आत्मस्वरूप) से यह सब विश्वब्रह्माण्ड व्याप्त है, वही राजयोगीका देश है, जहां वह योगसाधना करता है। वही वास्तविक एकान्त

है। मनुष्यों अथवा जीवोंसे शून्यस्थान विजन नहीं हो सकता। निमेष, पल, विपल आदिसे लेकर सर्ग, स्थिति, प्रलयतकको और ब्रह्मा आदिसे लेकर सब भूतोंतकको जिसने अपनेमें समेट लिया है तथा जो अखण्ड, अद्वितीय और आनन्दमय है, वही काल-शब्दसे निर्दिष्ट होता है। पर्व, दिन या भूत, भविष्य, वर्तमान आदि काल-विभाग केवल लौकिक व्यवहारके लिये मान लिये गये हैं। जिस प्रकारका आसन लगानेसे सुखपूर्वक तीनों कालमें अखण्ड ब्रह्म-चिन्तन होता रहे, वही उत्तम आसन है। अन्यप्रकारके आसन तो सुखका नाश ही करते हैं। जो आसन सिद्ध ही है, जिसकी सिद्धि पहले ही हो चुकी है अथवा जो सिद्धोंका आसन है, सिद्ध-पुरुष जो आसन लगाते हैं, सब भूतादि विश्वका कभी नाश न होने वाला जो अधिष्ठान है और जिसमें सिद्धलोग समाविष्ट होते हैं, रम जाते हैं, वही ब्रह्मसिद्ध सिद्धासन जानना चाहिये। आकाशादि सब भूतोंका जो आदि कारण है और चित्तके बन्धनका जो कारण है, अथवा जिसका आश्रय पृथक् सत्ताशून्यत्व है, या जिस एक ही लक्ष्यमें चित्तका निग्रह किया जाता है, किं वा नित्य सत्य वस्तुकी प्राप्तिका जो निमित्त है, वही ब्रह्म राजयोगीका मूलबन्ध (हठयोगका एक प्रधान आसन) है। व्यवहारमें भी जिसका चित्त विक्षिप्त नहीं होता और जो ज्ञानपरिपाक युक्त है, उसको राजयोगी कहते हैं। जनकादि इसके उदाहरण हैं। यह मूलबन्ध राजयोगीके लिये ही योग्य है और उसको इसका सदा अभ्यास करना चाहिये। जो ब्रह्म-चिन्तनमें अभ्यस्त हो गये हैं, उन्हें विषम स्वभावोंका अधिष्ठान समताकी दृष्टिसे एक समान ही जानना चाहिये। समरस ब्रह्ममें यदि अंगोंकी विषमता लीन न हो, अर्थात् जो समब्रह्म रूपमें स्थित न हो सके, उसमें सूखी लकड़ीकी तरह समानता आ नहीं सकती। ऋजुता, सरलता और अचञ्चलताका होना

वृक्षकी समान अवस्था कहाती है, वह सूखी लकड़ीमें हो नहीं सकती। इसी तरह जो राजयोगी ब्रह्मनिष्ठ नहीं है, जिसके स्वभावमें विषमता बनी हुई है, उसमें भी ऋृजुता (नम्रता), सरलता और अचञ्चलता आ नहीं सकती। यही राजयोगीका देहसाम्य है। अपने अन्त:करणकी वृत्तिको अखण्ड ब्रह्ममयी बनाकर राजयोगीको समस्त विश्वब्रह्माण्डको ब्रह्ममय ही देखना चाहिये। उसके लिये यही परम उदारदृष्टि कही गयी है। नाककी नोकको देखने वाली दृष्टिका उसके लिये कोई महत्त्व नहीं है। यहां यह शंका हो सकती है कि, ब्रह्ममें वृत्ति, प्रवृत्ति, निमित्त, जाति आदिका अभाव होनेसे प्रत्यक्ष अनुभूत होनेवाले जगत्का ब्रह्मरूपमें दर्शन करना कैसे सम्भव है? इसके समाधानमें आचार्य प्रभु पक्षान्तर बताते हैं कि, दृष्टिशब्दसे श्रोत्रादि सब इन्द्रियोंके विषयोंका ग्रहण करना चाहिये। दृष्टि, दर्शन और दृश्य यह जैसी नेत्रेन्द्रियकी त्रिपुटी है वैसी ही श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी भी होती है। जैसे:—श्रोत्र, श्रवण और श्राव्य यह श्रोत्रेन्द्रियकी त्रिपुटी है। ये सब त्रिपुटियां जिस ब्रह्मस्वरूपमें लीन हो जाती है उसी प्रपञ्चातीत ब्रह्ममें अन्त:-करणकी वृत्तिको स्थिर करना चाहिये। यही राजयोगीकी वास्तविक दृष्टि (दृक्स्थिति) है, नाककी नोकको देखना, उनकी दृष्टि कही नहीं जा सकती। यह अन्तर्मुखीन दृष्टि है। गीतामें 'आसन' दृष्टिसाम्य आदिका जो विवरण है, वह पातञ्जल हठयोगके अनुसार है। उसकी साधनासे शरीर और चित्तकी शुद्धि होकर लययोग और फिर राजयोगकी साधनाका अधिकार प्राप्त होता है। गीताका विवरण इस प्रकार है :—

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित:।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह:॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं मनः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति" ॥

अर्थात् "योगीको निर्जन स्थानमें अकेले बैठकर, आकांक्षाओं तथा प्रतिग्रहोंको त्यागकर और चित्त तथा शरीरको संयतकर निरन्तर आत्मामें रममाण हो जाना चाहिये। पवित्र स्थानमें अपना स्थिर आसन जमाकर, जो बहुत ऊँचा न हो, बहुत नीचा न हो और पहले कुशासन, फिर व्याघ्र मृगादिका चर्म और उसके ऊपर रेशम या ऊनका वस्त्र बिछाकर बनाया गया हो, उसपर बैठकर, चित्त और इन्द्रिय-व्यापारोंका निरोधकर और मनको आत्मामें एकाग्रकर आत्मशुद्धिके लिये योग साधना करनी चाहिये। साधक अपने शरीर, शिर और ग्रीवाको सम, स्थिर और अचल रखकर केवल अपनी नाककी नोकको ही देखे, दिशाओंपर दृष्टि न डाले और प्रशान्त चित्त, निर्भीक तथा ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक मनको संयतकर मच्चित्त और मत्परायण होकर योग साधनामें लग जाय। इस प्रकार यतचित्त होकर योगी जब आत्मामें रम जाता है, तब वह मेरी स्वरूपभूत परम शान्तिको प्राप्त करता है। अर्थात् उसकी संसारसे निरतिशय उपरति हो जाती है"। यह साधना सर्वसाधारण साधकके लिये उचित ही है; परन्तु राजयोगी इससे बहुत आगे बढ़ जाता है।

उसको इस खटपट-घटपटका कोई प्रयोजन नहीं होता। वह सदा ही सहज-समाधि अवस्थामें अवस्थित रहता है। श्रीजी महाराज इसी कोटिके राजयोगी महापुरुष थे। समता (देहसाम्य,) दृक् स्थिति, आसन आदिके लक्षण बताकर अब प्राणायामका प्रकार आचार्य प्रभु इस प्रकार बताते हैं कि, चित्तादिके सब भावोंमें ब्रह्मत्वकी भावना करनेसे सब मनोवृत्तियोंका जो निरोध हो जाता है, उसीको प्राणायाम कहते हैं। वेदान्तका मत है कि, मनोनिरोधसे ही प्राणोंका निरोध होता है; क्योंकि प्राण मनके अधीन होते हैं। महर्षि पतञ्जलिके मतसे प्राणोंके निरोधसे मनोनिरोध होता है। अन्तर्मुखीन दृष्टिवाले राजयोगी मनका निरोध करके ही प्राणोंपर आधिपत्य स्थापन करते हैं।

प्राणायामके तीन विभाग होते हैं,–पूरक, कुम्भक और रेचक। श्वासको चढ़ाना पूरक है, उसको रोक रखना कुम्भक है और उसे विसर्जन करना रेचक है। राजयोगके प्राणायामका प्रकार इससे भिन्न है। उसके लिये दृश्य प्रपञ्चका निषेधन करना रेचक है, 'ब्रह्म हो मैं हूँ' इस प्रकारकी वृत्ति हो जाना पूरक है और उसी वृत्तिका स्थिर—निश्चल होना कुम्भक कहाता है। जो अत्यन्त आत्मबोध-युक्त हैं, जिनको अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान हो गया है, वे ही इस प्राणायामके अधिकारी हैं। अज्ञानी पुरुषोंके लिये नाक दबाकर प्राणायाम करना ही योग्य है। घटादि अथवा शब्दादि विषयोंमें सत्ता, स्फुरत्ता (स्फुरण), प्रियता आदि देखकर अन्तःकरणका नाम, रूप, क्रिया आदिके अनुसन्धानसे रहित होकर चित्स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही प्रत्याहार है। इसीका मुमुक्षुको सदा अभ्यास करना चाहिये। जहां जहां मन जाता है, वहां वहां नाम-रूप आदिका उपेक्षाकर सत्तामात्र ब्रह्ममें ही उसे स्थिर कर देना श्रेष्ठ धारणा कही गयी है। यह धारणा ब्रह्मज्ञानियोंके ही योग्य है। अन्य साधारण

साधकोंके लिये महर्षि पतञ्जलिकी बतायी हुई धारणा ही योग्य है, जिसके द्वारा आधारादि षट्चक्रोंमें एक साथ मनको अवस्थित किया जाता है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकारकी उत्तम वृत्तिका जिस वृत्तिका प्रमाणान्तरसे बोध हो नहीं सकता, देहादिके अनुसन्धानसे रहित होकर स्थित हो जाना ध्यानशब्दसे प्रसिद्ध है। यह ध्यान ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कराता है। अन्तःकरणकी वृत्तिको निर्विकार—विषयानुसन्धान रहित—बनाकर और फिर उसे ब्रह्माकारमें परिणत कर प्रपञ्च-संस्कार रहित, ध्याता-ध्येयाकार शून्य होकर द्वैतको भुला देना ही समाधि है। यही ज्ञानसंज्ञक अच्छी समाधि मानी गयी है। यहां शंका हो सकती है कि, वृत्तिका जब विस्मरण हो जायगा, तब अज्ञान आजायगा। उस अवस्थामें ज्ञानसंज्ञक समाधिका होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि, जिसे ब्रह्मात्मैक्यताका ज्ञान नहीं हुआ है, केवल वृत्तिविस्मरणसे उसीको अज्ञान आ घेर सकता है। जो ब्रह्मज्ञानी हैं, उनकी यह ज्ञानसंज्ञक समाधि है। इसमें ज्ञान नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह स्फुरण रूप है। इस समाधिमें साधक ब्रह्माकार हो जाता है। इसमें संवित् (चैतन्य) की उत्पत्ति होकर जीव और ब्रह्मकी एकताकी प्रतीति होने लगती है। निर्गुण ब्रह्मोपासकोंके लिये ही यह विहित है। इस समाधिका प्रकार 'पंचदशी' में इस प्रकार कहा गया है :—

> "निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
> यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते॥
> निर्विकारासंगनित्य स्वप्रकाशैक - पूर्णता।
> बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः"॥

निर्गुणकी उपासना जब परिपक्व हो जाती है, तब सविकल्पसमाधिकी प्राप्ति होती है। फिर उसीका धीरे-धीरे अभ्यास करते रहनेसे निरोध नामक समाधि अनायास ही बन जाती है। सवि-

कल्प-समाधिके निरोध-प्रयत्नका भी निरोध करनेसे सर्वनिरोध होकर निर्विकल्प समाधिकी आपही प्राप्ति होती है। योगसूत्रमें इसीको निर्बीज समाधि कहा है। इसकी सिद्धि होजानेपर साधककी बुद्धिमें शास्त्रोक्त संशयरहित निर्विकारता, असङ्गता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता तुरन्त आरूढ़ हो जाती है।

श्रीजीकी साधना

श्रवण और मननके पश्चात् जिस निदिध्यासनके ये पन्द्रह अंग कहे गये हैं, वही निदिध्यासन अकृत्रिम आनन्दमय है, स्वरूपभूत आनन्दका अभिव्यंजक है। इसीका तबतक अच्छी तरहसे अभ्यास करना चाहिये, जबतक इसीमें लगे रहनेपर मुमुक्षुके अधीन (वशमें) आत्मा न हो जाय। अर्थात् जबतक आत्मज्ञान न हो जाय, तबतक मुमुक्षुको ब्रह्मका निदिध्यासन करना चाहिये। श्रीजीने इसी ब्रह्मोपासनाके लिये अपने आश्रममें एक गुफा बनवायी थी और उसमें बैठकर वे साधना किया करते थे। इसमें सिद्धिप्राप्त करलेनेपर फिर उन्हें देश, काल, आसन, प्राणायाम आदिकी अपेक्षा नहीं रह गयी थी। वे आपही अपने स्वरूपमें अधिष्ठित रहा करते थे। उक्त पन्द्रह अंगोंके अभ्याससे मुमुक्षु अखण्ड, एकरस ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यही मोक्षका स्वरूप है। परन्तु इस साधनामें सावधानताकी बहुत आवश्यकता होती है; क्योंकि इसमें अनेक विघ्नोंका बलपूर्वक उपस्थित हो जाना सम्भव है। ब्रह्मानुसन्धानसे मुँह मोड़ लेना, आलस्य, भोगकी लालसा, निद्रा, कार्याकार्य विचार-शून्यता, विषयोंका स्फुरण, रसास्वाद अर्थात् अपनेको धन्य माननेकी वृत्ति, शून्यता अर्थात् रागद्वेषादिकी तीव्र वासनासे चित्तके स्तब्ध होजाने जैसा चित्तदोष, क्षुब्धता इत्यादि राजयोगको समाधि-साधनाके

विघ्न हैं। ब्रह्मज्ञानी पुरुषको धीरे-धीरे इन विघ्नोंका अपसारण कर साधनामें प्रवृत्त रहना चाहिये। साधक अपनी जैसी वृत्ति बना लेता है, उसी अवस्थामें परिणत हो जाता है। वृत्ति ही तो बन्ध और मोक्षका कारण है। घटादिके भावमें तदाकारवृत्ति हो जानेसे, उसी भावकी साधकको प्राप्ति होती है, वह घट आदि जैसा जड़ हो जाता है। शून्य-(अभाव) की वृत्तिसे चैतन्यशून्य हो जाता है और ब्रह्माकारवृत्तिसे पूर्णताको प्राप्त करता है। अतः मुमुक्षुको पूर्णताका ही अभ्यास करना चाहिये। जो इस वृत्ति-विज्ञानको जानते हैं और जानकर भी ब्रह्मानुकूल वृत्तिका संवर्द्धन करते रहते हैं, वे ही ब्रह्मवृत्तिपरायण सत्पुरुष तीनों लोकोंमें धन्य और वन्दनीय होते हैं। इस प्रकारकी ब्रह्मोपासनासे वह योगिराज सिद्ध हो जाता है और फिर उसे किसी साधनाकी उपेक्षा नहीं रहती। उसका ब्रह्म ही स्वरूप हो जाता है, अर्थात् वह ब्रह्म ही हो जाता है, वाणी या मनका विषय नहीं रहता।

निदिध्यासनके जिन उक्त अङ्गोंकी साधनासे मुमुक्षु पुरुष सिद्ध हो जाता है, वे सब अङ्ग विचार साध्य हैं। पहले कहा भी गया है कि, सिद्धावस्था-ब्रह्मत्वकी प्राप्तिकेलिये विचारके अतिरिक्त अन्य कोई साधन समर्थ नहीं हो सकता। अतः श्रीजी महाराज आरम्भमें यह सोचने लगे कि, उस विचारका स्वरूप क्या है? विचारके स्वरूपको अच्छीतरह जानकर तब वे उस प्रकारके विचारमें प्रवृत्त हुए थे। उस विचारका दिग्दर्शन भगवान् श्री-शंकराचार्य प्रभुने 'अपरोक्षानुभूति' में इस प्रकार किया है :—

"कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः॥
नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा।
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः॥

अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते।
संकल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः॥
एतयोर्यदुपादानं एकं सूक्ष्मं सदव्ययम्।
यथैव मृद्घटादीनां विचारः सोऽयमीदृशः॥
अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः।
तदहं नात्र सन्देहो विचारः सोऽयमीदृशः"॥

"मैं कौन हूँ? यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है? इसका अधिष्ठान क्या है? इसका उत्पादक कौन है? इसका उपादान क्या है? ज्ञान साधनके विचारका यही स्वरूप है। बार्हस्पत्य मतसे चैतन्य विशिष्ट शरीर ही पुरुष आत्मा है, (चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः) जो पृथिव्यादि भूतोंके संघातसे देहरूपमें परिणत हुआ है, वह मैं नहीं हूँ। श्रोत्रादि इन्द्रियोंका समुदाय भी मैं नहीं हूँ। जैसा कि श्रुति में कहा है:—

"एष पुरुषोन्नरसमयः अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् इत्यादि"।

"अन्नरसमय पुरुष (आत्मा) है, हे तात! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है इत्यादि"। तदनुसार स्थूल-सूक्ष्मशरीर मैं नहीं हूँ, शून्य भी नहीं हूँ। किन्तु इनसे कुछ विलक्षण, जाति, क्रिया, गुण आदिसे विरहित, वाणी और मनसे परे मैं हूँ। ज्ञानसाधनके विचारका यही स्वरूप है। मैं कौन हूँ। इस प्रश्नका इस प्रकार उत्तर देकर यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है? इसका समाधान करते हैं। तार्किकोंका मत है कि, पृथिव्यादि भूतोंकी उत्पत्ति अपने-अपने परमाणुओंसे हुई है। मीमांसक कर्मसे जगतकी उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य प्रवचनकार प्रधान (प्रकृति) को ही जगत्की उत्पत्तिका मूलकारण बताते हैं। इन मतोंका

निराकरण कर वेदान्त प्रतिपादन करता है कि, यह सब नाम-रूपात्मक जगत् अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है। अपने स्वरूपका स्फुरण न होना ही अज्ञान है और यह प्रकाशके द्वारा 'अन्धकारके समान आत्मस्फुरणरूप ज्ञानसे ही विनाशको प्राप्त होता है। 'मैं अमुक कार्य करूँगा' इत्यादि अन्तःकरणके परिणामस्वरूप नाना प्रकारका सङ्कल्प ही इसका कर्ता है। ज्ञान-साधनके विचारका यही स्वरूप है। इस अज्ञान और सङ्कल्पकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशका कारण (उपादान) तो त्रिकालाबाधित ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। वह ब्रह्म अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और आत्मगतविकारोंसे रहित तथा अस्तित्व, उत्पत्ति, अभिवृद्धि, परिणति, अपक्षय और मरण इन छः विकारोंसे शून्य है। सूक्ष्म अर्थात् मन, वाणी और इन्द्रियोंसे अगोचर है, जाति, क्रिया आदि-से रहित है। सत् अर्थात् सब सत्ताओंका सत्तात्मक वही है और अपक्षय रहित है अर्थात् उसका व्यय होता ही नहीं। घरका उपादान जैसी मिट्टी है; वैसा ही कल्पित नाम रूपोंका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ज्ञान साधनके विचारका यही स्वरूप है। मैं एक ही हूँ, सूक्ष्म हूँ, साक्षी हूँ, सत् हूँ, निर्विकार हूँ और अव्यय हूँ, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। इस प्रकारके सत्य और शुभ विचारको त्यागकर जो देहको ही आत्मा मान बैठे हैं, इससे बढ़कर अज्ञान क्या हो सकता है? श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञानका स्वरूप बताकर कहा गया है कि, इसके जो विपरीत है, वह अज्ञान है; परन्तु वेदान्तने ज्ञान और अज्ञानके पृथक्-पृथक् लक्षण बताये हैं, जिनपर श्रीजी बड़ी गंभीरताके साथ विचार किया करते थे। गीतोक्तज्ञानका स्वरूप इस प्रकार है—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यत्वं समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा" ॥

"आत्मश्लाघा या घमण्ड न करना, दम्भसे दूर रहना, हिंसा न करना, सहिष्णु होना, विनम्र रहना, सद्गुरुकी सेवा करना, भीतर-बाहर शुचिभूत रहना, सन्मार्गमें एकनिष्ठ होना, मनको संयत रखना, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हो जाना, अहङ्काररहित होना, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदिके दुःखों और दोषोंका बारबार आलोचन करना, स्त्री-पुत्र-गृह आदिमें आसक्त न होना, स्त्री-पुत्रादिके सुख-दुःखोंसे अपनेको सुखी या दुःखी न समझना, सदा एक रस रहना, इष्ट या अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर हर्ष या विषाद न करना, श्रीभगवान्में सर्वात्मदृष्टिसे अनन्य और एकान्त भक्तिका होना, एकान्तमें अभिरुचि होना, लोकसभामें समाविष्ट होनेसे ऊबना, अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा होना और तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझना, ये बीस ज्ञानके लक्षण हैं। इसके जो विपरीत हो, वही अज्ञान है।"

वास्तवमें गीतामें जो ये लक्षण बताये गये हैं, वे ज्ञानके नहीं, किन्तु ज्ञानीके बाह्य लक्षण हैं। ये जिसमें देख पड़ें, उसे ज्ञानी जानना चाहिये। वेदान्त-कथित अज्ञानके लक्षणोंमें सबसे अधिक भयंकर अज्ञान 'देहको ही आत्मा मान लेना' ही बताया गया है। यथा 'अपरोक्षानुभूति' में:—

"आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो बाह्यो नियम्यकः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमाश्चर्यमतः परम्"॥

"आत्मा निरवयव तथा अद्वितीय है और शरीर (सूक्ष्मशरीर) पन्द्रह तत्त्वों (अवयवों) से गठित है। दोनोंको एक मान लेनेसे बढ़कर अज्ञान क्या है ? आत्मा नियन्ता है और देह उसके द्वारा नियन्त्रित होता है। आत्मा प्रकाश स्वरूप है, विशुद्ध है और देह (स्थूलदेह) मांसादि विकारमय और अपवित्र है। आत्मा स्वयं प्रकाश है और सबका प्रकाशक होनेसे निर्मल (असंग) है तथा शरीर तामस अर्थात् जड़ है। आत्मा नित्य अर्थात् अविनाशी, अबाध्य स्वरूप है और देह अनित्य अर्थात् विनाशी तथा विकारवान् (बाध-योग्य) है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेपर भी देह और आत्माको एक समझ लेना, इससे बढ़कर अज्ञान क्या हो सकता है ?" उक्त ग्रन्थमें ही ज्ञानके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं :—

"ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥
निर्विकारो निराकारो निरवद्योहमव्ययः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥

निरामयो निराभासो निर्विकल्पोहमाततः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥
निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोहमच्युतः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥
निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोहमजरोऽमरः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥
आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम् ।
नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि ॥
देहोहमित्ययं मूढो धृत्वा तिष्ठत्यहो जनः ।
ममायमित्यपि ज्ञात्वा घटद्रष्टेव सर्वदा ॥"

"मैं ब्रह्म हूँ, प्रत्यगात्मा हूँ, सत्ता और प्रकाशसे अभिन्न हूँ, समस्त उपाधियोंसे —विक्षेपादि विकारोंसे-रहित हूँ, सच्चिदानन्दमय हूँ, असत्स्वरूप देह नहीं हूँ, यह जान लेना ही विद्वानोंके मतसे ज्ञान है। अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंद्वारा अखण्डाकार बुद्धि हो जाना ही ज्ञान है। मैं जन्मादि षट् विकारोंसे (जो पहले कहे गये हैं) रहित हूँ, देहादि आकारोंसे विहीन हूँ, वात-पित्तादि अथवा आधि-भौतिक-आधिदैविकादितापत्रयसे शून्य हूँ, असद्रूप देह नहीं हूँ, इस प्रकारका निश्चय हो जाना ही तत्त्वज्ञानियोंके विचारसे ज्ञान है। मैं सर्व-रोगरहित हूँ, मुझमें वृत्ति-व्याप्यता होनेपर फल-व्याप्यता नहीं है, मैं कल्पनाहीन हूँ, और व्यापक हूँ, असत्‌रूपी देह नहीं हूँ, इस प्रकारकी धारणाको विद्वान् ज्ञान कहते हैं। सत्वादि त्रिगुण मायामय होनेसे मैं उनसे परे हूँ, क्रिया और विनाशसे रहित हूँ, सदा अनिर्बन्ध हूँ और सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, असद्रूप देह नहीं हूँ, इस प्रकारका बोध हो जाना ही अनुभवी पुरुषोंके मतसे ज्ञान है। मैं अविद्या और उसके कार्योंके मलसे अलिप्त हूँ, सर्व-व्यापक होनेसे

गतिशून्य हूँ, देश-काल-वस्तुओंके परिच्छेदसे असम्पृक्त हूँ, विशुद्ध हूँ और जरा (बुढ़ापा)-मृत्युसे रहित हूँ, मनुष्य-शरीरमें (पुरि) 'अहं' (मैं) रूपसे बसने (उषति) के कारण पुरुष हूँ, किन्तु विनाशी देह नहीं हूँ, इस प्रकारके साक्षात्कारको बुधोंने ज्ञान कहा है। आत्माकी प्रकाशकता सब पदार्थोंको प्रकाशित करती है; किन्तु वह प्रकाशकता अग्नि आदिकी प्रकाशकता नहीं है। अग्नि आदिकी प्रकाशकतासे किसी सीमित स्थानमें प्रकाश तो होता है, किन्तु अन्य अवशिष्ट स्थानमें अन्धकार बना रहता है। सर्वव्यापक आत्माके प्रकाशके आगे अन्धकार ठहर नहीं सकता। वह अन्धकारको ही नहीं, किन्तु अग्नि आदिके प्रकाशको भी प्रकाशित करता है। वह स्वयं प्रकाश है और उसीसे सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। 'मैं ही देह हूँ' यह समझ बैठना विपर्यय, मोह आदि अज्ञानका कार्य है। यह देखते हुए कि, 'यह मेरा देह है', देहको ही 'मैं' समझ लेना अज्ञान नहीं तो क्या है ? अपने घटको देखकर मनुष्य कहता है कि, यह मेरा घट है। फिर भी यदि वह मानने लगे कि, मैं ही घट हूँ, तो उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है।" तत्त्वज्ञानी पुरुषका प्रपञ्च भी क्षीण हो जाता है, इसके प्रमाण वेदान्तमें मिलते हैं। यथा :—

"रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पखण्डं न तिष्ठति।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चः शून्यतां गतः॥" अपरोक्षानुभूति।

तथा च—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि यस्मिन्दृष्टे परावरे॥"

धुँधले प्रकाशमें डोरीके टुकड़ेको देखकर सर्पका भ्रम होता है; परन्तु रस्सीका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जानेपर उसका सर्पत्व नष्ट हो जाता है। इसी तरह इस विश्व-प्रपञ्चके अधिष्ठान (ब्रह्म)

को जान लेनेपर समस्त विश्वप्रपञ्च लयको प्राप्त होता है। जिस महापुरुषको ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है, उसके हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, मनमें कोई अटक नहीं रहती, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।" 'मूलं नास्ति कुतः शाखा ?' 'जड़ ही नहीं, तो डारें कहाँ ?' इस न्यायसे जब कर्म ही नहीं बच रहा, तो प्रपञ्च कहाँसे आवेगा ? प्रारब्धकी व्याख्या शास्त्रकारोंने इस प्रकार की है:—

"उदयोन्मुखं यत्कर्म तदेव प्रारब्धम्।"

इस जन्म और पूर्व जन्मोंके कृतकर्म जब उदयोन्मुख होते हैं, तब वे ही प्रारब्ध कहे जाते हैं। ज्ञानके द्वारा कर्मोंके दग्ध हो जानेसे उनका अस्तित्व ही असम्भव हो जाता है। यद्यपि जीवन्मुक्त महापुरुषोंको भी सुख-दुःखादि भोगते हुए देखा जाता है, क्योंकि प्रारब्धकर्मोंका भोगसे ही नाश होता है :—

"प्रारब्धकर्माणां भोगादेव क्षयः।"

तथापि ब्रह्ममें रममाण रहनेके कारण उनका उन्हें भान ही नहीं रहता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह मिला कि, अन्त समयमें (१०५ वर्षोंकी अवस्थामें) मल-मूत्र रुक जानेसे डाक्टरोंने श्रीजीके पेटमें छेद करके मूत्र बाहर निकालनेका जब प्रस्ताव किया, तब श्रीजीने हँसकर कहा,—"देह तुम्हारा है, उसका जो चाहो, कर सकते हो।" डाक्टरोंने पेटमें छेद किया, किन्तु श्रीजीके मुखमण्डलपर दुःखकी रेख भी नहीं देख पड़ी। अन्तिम श्वास भी उन्होंने सावधान रहकर हंसते-हंसते ही विसर्जन किया। यह सिद्धावस्था वेदान्त-विचारसे ही प्राप्त होती है।

यह विषय कुछ विस्तारके साथ इस कारण लिखा गया है कि श्रीजीके आदर्श और साधनक्रमका अनुभव मुमुक्षुओंकी दृष्टिके सामने रहे। श्री भगवान् भी गीतामें कहते हैं :—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" ॥

"श्रेष्ठ लोग --सत्पुरुष–जैसा आचरण करते हैं, इतरलोग भी वैसे ही बरतने लगते हैं। जिसे बड़े लोग मानते हैं, अन्यलोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। श्रीजीने जिस क्रमसे अपनेको उठाया, वह क्रम अन्य मुमुक्षुओंकेलिये अनुकरणीय हो सकता है। संन्यासका कुछ धर्मशास्त्रकारोंने कलिवर्ज्यप्रकरणमें समावेश इस कारण किया है कि, इस भौतिक विज्ञानके युगमें अध्यात्म-विज्ञानकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं रहेगा। साधनचतुष्टय-सम्पन्न हुए बिना संन्यासमार्गमें प्रवृत्त होनेका अधिकार ही नहीं प्राप्त हो सकता; क्योंकि संन्यासाश्रम निवृत्तिकी पराकाष्ठातक पहुँ-चाने वाला होनेसे साधारण मनुष्य उसके कठोर नियमोंके पालनमें समर्थ नहीं हो सकता। बात यह है कि, अन्य आश्रममें मनुष्यसे यदि कोई अपराध हो जाय, तो वह प्रायश्चित्तादिसे शुद्ध हो सकता है; परन्तु संन्यासी यदि यतिधर्मसे च्युत हो जाय, तो उसकेलिये कोई प्रायश्चित्त नहीं। वह ऐसा गिरता है कि, उसके फिर उठनेकी कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। परन्तु जिनके पूर्वसंस्कार अनुकूल होते हैं और जिनपर आदिशक्ति श्रीजगदम्बाकी पूर्ण कृपा रहती है, वे संन्यासकी तलवारकी तीखी धारपर सुखपूर्वक ताण्डव कर सकते हैं। शास्त्र (पञ्चदशी) में कहा है :—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं मनः" ॥

"मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण है। जब वह विषयोंमें आसक्त हो जाता है, तब बन्धका कारण होता है और जब विषयवासनासे नाता तोड़ देता है, तब मुक्त हो जाता है।

इन्द्रियोंका राजा मन है। वह जिस इन्द्रियका साथ देता है, वही इन्द्रिय काम करने लगती है। इन्द्रिय-समूह बड़े ही बलवान् होते हैं :—

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"।

वे अपने फन्देमें विद्वानोंको भी फँसा लेते हैं। वे सब मनके अधीन होते हैं और मनवासना जालमें फँसनेको सदा तत्पर रहता है। अर्जुनने श्रीभगवान्से मनके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया है :—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्"॥

"हे कृष्ण! मन स्वभावतः चञ्चल है। वह देह और इन्द्रियोंको क्षुब्ध करता है, अजेय है तथा दृढ़ है। उसका निग्रह वायुको बाँधनेके समान मैं कठिन समझता हूँ"। भगवान्ने मनको वशमें करनेका उपाय भी बताया है :—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते"॥

"हे अर्जुन! मन चञ्चल होनेसे उसका निग्रह करना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु साधनाके अभ्यास और विषयके वैराग्यके द्वारा उसको वशमें किया जा सकता है"। महात्मा कबीर भी कहते हैं :—

"मनके हारे हार है, मनके जीते जीत"।

अर्जुनने प्रश्न किया :—

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः?"॥

"भगवन्! किसके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य इच्छा न होनेपर

भी बलपूर्वक नियोजित होकर पापाचरण करता है?" भगवान्ने उत्तर दिया :—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञाननाशनम्"॥

"रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम और उसीसे सम्भूत क्रोध बड़ा ही भुक्कड़ पापी है। इसको अपना बैरी जानो। हे कौन्तेय! ज्ञानियोंके चिरशत्रु कामरूपी अग्निने जो कभी तृप्त ही नहीं होता, ज्ञानको आच्छादितकर रखा है। इन्द्रिय-समूह मन और बुद्धि इसका अधिष्ठान है। इन्हींकी सहायतासे यह ज्ञानियोंके ज्ञानपर परदा डालकर जीवोंको मोहित किया करता है। अतः हे भरतश्रेष्ठ! तुम पहले अपनी इन्द्रियोंको संयत कर ज्ञान-विज्ञानके नाशक इस कामरूपी पापीको नष्ट कर डालो"। हठयोगकी साधनासे कर्मेन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं; परन्तु मनपर अधिकार नहीं होता। गीता कहती है :—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते"॥

"जो कर्मेन्द्रियोंको संयत कर मन ही मन इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है, उस विमूढात्माको मिथ्याचारी-कपटाचारी कहते हैं"। मनपर जो अधिकार कर ले, वही यथार्थ ज्ञानी है। बात यह है कि,—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते"॥

"निराहार रहनेसे देहधारीकी विषयोंसे निवृत्ति हो सकती है; परन्तु विषयोंका रस बना ही रहता है। वह तो तभी नष्ट होता है, जब उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।"

वैराग्यका उदय

श्रीजी महाराजकी साधना पूरी हो चुकी थी। विवेक और वैराग्यका अन्तःकरणमें पूर्ण उदय हो जानेसे गृहस्थाश्रमसे उपरति हो गयी थी और संन्यासाश्रम-ग्रहण करनेका उन्होंने पक्का निश्चय कर लिया था। संयोगवश इस निश्चयमें उनके शुभचिन्तक सच्चे मित्रोंद्वारा उत्तेजना भी मिलती जाती थी। ऐसा एक ही उदाहरण बता देना पर्याप्त होगा। श्रीमधुसूदनजीके श्री केदारनाथजी नामक एक घनिष्ठ मित्र थे, जो फलित ज्योतिषके अच्छे ज्ञाता थे। श्री-मधुसूदनजीके कैलाशवासी हो जानेपर यद्यपि वे वयोवृद्ध थे, तथापि श्रीजीसे मित्र जैसाही व्यवहार करते थे। उनके भी वे घनिष्ठ मित्र बन गये थे और श्रीजीपर प्यार भी बहुत करते थे। जब श्रीजीका विवाह नहीं हुआ था, तभीसे उनको समझाते थे कि, "आप विवाह न करें, गृहस्थीमें न फँसें, नहीं तो जिस कार्यकेलिये श्री-जगदम्बाने आपको यहां भेजा है, उसमें बाधा पड़ जायगी। आपके ग्रहयोगोंसे स्पष्ट होता है कि, आप योगिराज होंगे और आपके-द्वारा संसारका स्थायी महान् कल्याण होनेवाला है"। इस परामर्श-का श्रीजीपर बहुत प्रभाव पड़ा था। साथही यह तो उन्होंने स्थिर कर ही लिया था कि, बिना चतुर्थाश्रमग्रहण किये निष्काम कर्म-योग सध नहीं सकता और इस मृत्युलोकमें आकर जिसने अपने

शरीर, मन, बुद्धि और शक्तिको देश, जाति और धर्मके हित-साधनमें नहीं लगाया, उसका जीवन ही व्यर्थ है।

संन्यासग्रहणमें सबसे बड़ी बाधा थीं, मातृदेवी। श्रीजीको मातृदेवीपर असाधारण अनुराग था, जब संन्यासका विचार करते तो उनको मातृदेवीका ध्यान आ जाता एवं उनको त्यागना बहुत कष्टकर प्रतीत होता। उनसे चित्त हटानेकेलिये दैवप्रेरित घटना हुई।

श्रीजीकी गृहस्थीमें बंगालकी कौलिन्य-प्रथाके अनुसार उनकी बहनोंका बड़ा मान था। मातृदेवी उनको प्यार करती ही थीं, जिससे उनका प्रभाव बढ़ा-चढ़ा था। वे प्राय: नैहरमें ही बाल बच्चोंसमेत रहतीं और उनका उत्तम आदर-सत्कार भी हुआ करता था। मामाके घर पले हुए बच्चे प्राय: बड़े उत्पाती हुआ करते हैं। वे उपकार तो मानते नहीं, कृतज्ञता उनसे छू नहीं जाती, किन्तु दोष ही देखा करते और सबको तङ्ग किया करते हैं।

श्रीजीका ऐसा ही एक भांजा बड़ा उद्दण्ड था। किसीको कुछ नहीं समझता और आवारा सा हो गया था। जो मनमें आता, वही कर बैठता था। कुसंगमें भी पड़ गया था, इस कारण कुसंगसे चोरी, मिथ्याभाषण, ठगी, दुर्व्यसनआदि जो दुर्गुण आ सकते हैं, वे सब उसमें आ चुके थे। घरका प्रबन्ध श्रीजीको ही करना पड़ता था, उनपर दायित्व था। उस बालकको उन्होंने एकान्तमें ले जाकर बहुत समझाया; परन्तु वह सब—चिकने घड़ेपर मानो पानी फिर गया! एक सुभाषितकारने ठीक कहा है :—

"जामाता कृष्ण सर्पश्च पावको दुर्जनस्तथा।
उपकारं न जानाति पञ्चमो भगिनीसुत:"॥

"जमाई, काला सांप, अग्नि, दुर्जन और पाँचवां भांजा कभी उपकार नहीं मानता। यह भांजा ऐसा ही था।

श्रीजीको एक दिन उनके एक मित्रने जो उनके कुटुम्बके डाक्टर थे, एक संदेशवाहकसे कहलाया, कि आज हमारे यहाँसे एक सौ रुपयेका एक नोट चोरी हो गया है, बाहरका दूसरा कोई आया नहीं था, वहां केवल आपका भांजा था, कृपया आप देख लें। श्रीजी यह समाचार मिलते ही भीतर आये, देखा वह लड़का घरमें नहीं है। लड़केकी मातासे उसका बक्स मँगाया, उसका ताला तोड़वाकर देखा तो उसमें अस्सी रुपये थे। श्रीजीने अपने पाससे बीस मिलाकर सौ रुपये उक्त डाक्टरके पास भेज दिये। श्रीजी इस चोरीसे अत्यन्त क्रुद्ध एवं क्षुब्ध हो गये। उस लड़केके घर लौटनेकी दिनभर प्रतीक्षा करते रहे। सन्ध्याके पश्चात् वह भांजा चुपकेसे घर आया। श्रीजी उसके खोजमें थे ही, जब मालूम हो गया कि वह आ गया है, वे भीतर आये एवं उस लड़केको एक तमाचा जड़ दिया, वह दुष्ट तो था ही, उसे एक नाटक दिखानेका अवसर मिल गया, वह 'धडाम' से जमीनपर गिर पड़ा, अचेत होनेका उसने पूरा स्वांग रचा, आखें उलट दीं और मुंहसे फेन फेकने लगा। उसकी यह दशा देख उसको मरा हुआ जानकर घरकी स्त्रियाँ घबड़ा गयीं, रोना-पीटना आरम्भ हो गया और माताजी भी "मार डाला मार डाला" कहकर रोने लगीं। श्रीजीके निवास स्थानके पास ही मिलिटरीकी छावनी थी, वहाँसे यह सब कुछ देखा-सुना जा सकता था, इसका भी माताजीको ध्यान नहीं आया और सबकी तरह वे भी रोने पीटने लगीं। श्रीजीने डाक्टर लानेके लिये गाड़ी ले जानेकी सेवकोंको आज्ञा दे दी एवं स्वयं एक ओर खड़े होकर यह दृश्य देखते हुए सोचने लगे कि क्या मुझसे नरहत्या हुई? तत्काल उनको अन्तरात्माकी वाणी सुनायी पड़ी "नहीं तुमसे नरहत्या कदापि नहीं हो सकती, यह बालक जीता है।" श्रीजीने डाक्टरके यहाँ गाड़ी भेजना बन्द कर दिया, तथा उस लड़केके पास जाकर

उसे डाटकर कहा—"अभी तो तू मरा नहीं है, मरनेका स्वांग रच रहा है, अब मैं तुझे सचमुच मारे डालता हूँ", इतना कहकर उसको एक तमाचा और लगाया तब वह उठकर बैठ गया। इसके पश्चात् श्रीजी अपनी जगह आकर बैठ गये और विचार करने लगे कि, जिसके लिये मैं विवाह-बन्धनमें पड़ा, जिसकी आज्ञा एवं इच्छाके विरुद्ध कभी कोई कार्य नहीं किया, आज भी अपनी इच्छाके विरुद्ध जिसके लिये मैं गृहस्थीके प्रपञ्चमें पड़ा हुआ हूँ, वही मेरी माता भी मनुष्यहत्या प्रमाणित होनेपर मुझे प्राणदण्ड मिलेगा, इसे जानती हुई भी जब 'मार डाला' 'मार डाला' कहकर रोने-चिल्लाने लगीं, जब इन्हींका मेरे साथ ऐसा व्यवहार है, तब इस गृहस्थीमें रहकर अब हमें क्या करना है।" श्रीजीको माताके इस वर्तावसे बड़ा धक्का लगा और उनसे मन फट गया, परन्तु उन्होंने किसीसे कुछ नहीं कहा, केवल यह निश्चय कर लिया कि अब शीघ्र ही घर छोड़ देना है।

इस घटनाके कुछ महीने पश्चात् ही एक दूसरी घटना घटी, जिससे श्रीजीको माताकी ओरसे पूर्ण वैराग्य हो गया। अबतक माताजीके स्नेहपाशमें आबद्ध होनेके कारण ही वे अनिच्छासे भी गृहस्थीका भार वहन कर रहे थे, माताजीको छोड़कर जानेका उनको साहस नहीं हो रहा था। दैव प्रबल होता है। भगवान् रामचन्द्रपर भरतसे भी अधिक स्नेह होनेपर भी कैकेयीने रामको चौदह वर्षका वनवास दिया, यह दैवकी ही प्रेरणा थी। श्रीजीकेद्वारा जगत्का महान् कल्याण होनेवाला था, माताजीका स्नेह उसमें बाधक हो रहा था, अतः दैवकी प्रेरणासे उनकेद्वारा ऐसा बर्ताव बना।

एक बहनोई बहुत ही विपथगामी हो गये थे। दुर्व्यसनोंसे पछाड़े गये थे। उसी फेरमें रात-रात भर जहाँ कहीं भटका करते और यदि कभी घर लौट कर भी आते, तो आधी रात बीत जानेपर। इससे

घरकी सुरक्षिततामें बाधा होने लगी। श्रीजीने उनको बहुत चेतावनी दी, पर कोई फल नहीं हुआ। तब एक दिन उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि, "रातके दस बजे सदर फाटक बन्द कर दिया करो और फिर कोई भी आवे, तो उसको घरमें न घुसने दो"। श्रीजीकी गर्जना माताजीके कानोंमें पड़ते ही, यद्यपि वे परदेमें रहतीं और एकाएक किसीके सामने नहीं होती थीं, क्रोधावेशमें आकर झटकेके साथ बाहर निकल आयीं और तावसे बोलीं,—"कौन फाटक बन्द करानेवाला होता है? घर मेरा है, यहाँ किसी दूसरेकी हुकूमत चल नहीं सकती"। कन्या, दुराचारी जमाई और नातियोंके प्रति यह अतिरिक्त मोह तथा अपनी अवहेलनाको देखकर श्रीजी सन्न हो गये। मातृदेवीका यह बरताव देखकर उनका रहा सहा मन टूट गया। उनका वैराग्य अधिक प्रबल हो गया और उसी क्षण गृहत्यागका उन्होंने संकल्प कर लिया; परन्तु अपना मनोभाव किसी-पर प्रकट नहीं होने दिया। श्रीजीके संन्यासके अनेक कारणोंमें यह भी एक कारण था। दो चार दिन बीतनेपर माताजी इस घटनाको भूल गयीं। श्रीजी यही चाहते थे। वे जानते थे कि, माताजीका उनपर असाधारण प्यार है, उनके बिना वे एक क्षण भी नहीं रह सकतीं, उस दिन कन्या-दामादके मोहसे आवेशमें आ गयी थीं, अतः उनसे संन्यासके लिये अनुमति प्राप्त करनेमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्य प्रभुके अनुकरणपर कुछ चातुरी किये बिना कार्य सिद्ध नहीं होगा। श्रीजीका मनतो फट ही गया था, जैसा कहा है:—

"मन मोती अरु दूध को जानो एक स्वभाव।
फाटे पै फिर ना जुरे कोटन करो उपाव"॥

किरायेके अनेक घरोंमेंसे किसी एकमें काम लगा था, नये कमरे बनाये जा रहे थे। उसीको दिखाने एवं परामर्श करनेके व्याजसे श्रीजी माताजीको अपने साथ ले गये। उसमें इधर-उधर देखानेके पश्चात्

श्रीजीने अपने संन्यास-ग्रहणका सङ्कल्प इस प्रकार निवेदन किया—"माँ! हमारे छोटे भाई सब अब सुयोग्य हो गये हैं, और बड़ी योग्यता तथा तत्परतासे सब कार्योंका देखभाल कर सकते हैं, वे सभी आपके आज्ञाकारी एवं अनुगत हैं, दूसरी ओर मुझे अब यहाँ गृहस्थाश्रममें मन नहीं लगता है, बड़ा क्लेशका अनुभव हो रहा है। केवल आपकी प्रसन्नताके लिये मैं यहाँ हूँ। आप जानती ही हैं कि, केवल आप ही की प्रसन्नता एवं संतोषके लिये मैं विवाह-वन्धन एवं गृहस्थाश्रममें भी पड़ा, क्योंकि विवाह करनेके लिये मेरे सहमत न होनेपर आपने मुझसे कहा था कि, "तुम विवाह नहीं करोगे तो मैं गलेमें फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लूँगी" आपकी आज्ञाओंका मैंने सदा पालन किया है, अब आप मेरी प्रार्थना मान लें एवं कृपाकर मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति प्रदान करें। आप जब कभी भी स्मरण करेंगी, मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा।" श्रीजीकी यह नम्र प्रार्थना सुनकर मातृदेवीने कहा—"अच्छा जब तुमको कष्ट हो रहा है तो जैसे तुम सुखी हो वैसा ही करो, परन्तु मेरी मृत्युके समय अवश्य मेरे पास आ जाना" श्रीजीने 'जो आज्ञा' कहकर तत्काल इस प्रसङ्गको छोड़ दूसरी बातें करने लगे। मातृदेवीकी आज्ञा मिल जानेसे श्रीजी मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अब वे संन्यासकी तैयारीमें लग गये, क्योंकि मातृदेवीसे मनचाही आज्ञा मिल गयी। अविद्याके प्रभावसे मनुष्य मोहमें फँस जाता है। गृहत्यागके समय पुत्र-कलत्रादिका मोह अनिवार्य हो जाता है। उस समय आत्मसंवरण कर धीरतासे आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। अतः श्रीजीने यह युक्ति की कि, अपनी अर्द्धाङ्गिनी धर्मपत्नीको बालबच्चोंसमेत कोई बहाना कर मायके भेज दिया और ऋणानुबन्धी विश्वासपात्र सेवकों, बन्धुओं, मित्रों, भक्तों और सम्बन्धियोंको दान-मानसे बहुत सम्मानित किया। वनगमनके समय श्रीराम-

चन्द्रकी तरह उन्होंने अपने उपयोगकी सब वस्तुएँ लोगोंको बाँट दीं। सभी श्रीजीसे प्रसन्न थे; परन्तु यह किसीको पता नहीं चला कि, वे आज ही कलमें गृहस्थी, धन-सम्पत्ति, वैभव, प्रतिष्ठा और भौतिक सुखोंसे मुँह मोड़कर विरक्त संन्यासी हो जायँगे। श्रीजी श्रीशंकराचार्यप्रभुकी चर्पट पंजरीकाका कभी-कभी आस्वाद लिया करते और निम्नलिखित श्लोक मन ही मन गाया भी करते थे :—

"का ते कान्ता कस्ते पुत्रः,
संसारोऽयमतीव विचित्रः।
इति परिभावय सर्वासारं,
सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारं॥
नारीस्तनभरजघनावेशं,
कृत्वा मायामोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं,
मनसि विचारय वारं वारम्॥
वयसि गते कः कामविकारः,
शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारः,
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः॥
यावद्वित्तोपार्जनसक्तः,
तावन्निजपरिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे,
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे॥
गेयं गीतानामसहस्रं,
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं,
देयं दीनजनाय च वित्तम्"॥

इसका भाव यह है कि—"किसकी स्त्री है ? किसका पुत्र है ? कोई किसीका नहीं है। सब अपने अपने स्वार्थके हैं। यह संसार बड़ा ही विचित्र है। स्वप्नके समान इन सबको असार समझो और सबसे सम्बन्ध त्याग दो। सुन्दरी युवती स्त्रियोंके स्तनों, जघन आदिमें माया-मोहके कारण ही आवेश हो जाता है; परन्तु मनमें बार बार सोचो तो कि यह सब मांस, वसा (चरबी) आदिका विकार है। जब यौवन बीत जाता है तब काम-विकार कहाँ ? पानीके सूख जानेपर तालाबका रूप कहाँ ? सम्पत्ति क्षीण हो जानेपर परिवार कहाँ और तत्त्वज्ञान होनेपर संसार कहाँ ? जबतक मनुष्य धन कमाता रहता है, तबतक उसपर परिवारके लोग भी प्रेम किया करते हैं; परन्तु जब उसका शरीर जरा-जर्जरित हो जाता अर्थात् अर्थोपार्जनमें अक्षम हो जाता है, तब वे ही घरके लोग उसकी बात भी नहीं पूछते। सारांश, यह सब मायाका खेल है। अतः गीता और सहस्र नामका गान करना चाहिये, श्रीपतिके रूपका सदा ध्यान करना चाहिये, सज्जनोंके संसर्गमें मन लगाना चाहिये और दीन-दुखियोंकी धनसे सहायता करनी चाहिये अर्थात् लोककल्याणमें तन-मन-धनको लगा देना चाहिये।"

संन्यास

इस प्रकार संन्यासका दृढ़निश्चय, श्रीआचार्यप्रभुके इस आज्ञानुसार कि, 'निजगृहात् तूर्णं विनिर्गम्यताम्, कर लेनेपर श्रीजी यह विचार करने लगे कि, गुरु किसको बनाया जाय, जिससे संन्यासाश्रम ग्रहण किया जा सके। इस विषयमें उन्होंने अपने एक अन्तरङ्ग हार्दिक मित्रसे चर्चा की, तो उनके संन्यासग्रहणका विचार सुनकर वह हँस पड़ा। बोला :—"यह क्या धुन आपके सिर सवार हुई है आप संन्यास लेकर करेंगे क्या ?"

"देशसेवा, जातिसेवा, धर्मसेवा। अपने देशधर्म और समाजकी कैसी दुरवस्था हो रही है, क्या आप नहीं देखते? यदि इसी समय इसके उद्धारका उपाय नहीं किया जायगा, तो देशकी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा ऐसी नष्ट हो जायगी कि, हिन्दुजाति फिर सिर ऊपर न उठा सकेगी। अब तो इस कार्यमें आत्मोत्सर्ग किये बिना कोई गति नहीं है, अब किसी एक छोटी-सी गृहस्थीमें ही मोहके कारण फँसे रहनेसे काम नहीं चलेगा, विश्वको ही कुटुम्ब बनाना होगा।"

"इसके लिये गृहस्थी घरबार-त्यागनेमें और संन्यास लेनेकी ही क्या आवश्यकता है? यह कार्य तो गृहस्थीमें रहकर भी हो सकता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर भी सपत्नीकरूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कार्य किया करते हैं। परमधर्मसेवक आत्मज्ञानी महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि वशिष्ठ, महर्षि अत्रि आदि जगत्का कल्याण करनेवाले महापुरुष भी तो गृहस्थ ही थे। क्या उनसे लोकरक्षा और लोकोन्नतिका कार्य गृहस्थीमें रहकर ही नहीं करते बन पड़ा?"

"आपका विचार ठीक है; परन्तु उन्हीं देवताओं और महर्षियोंने जो वर्णाश्रमकी व्यवस्था बाँधी है, वह इतनी वैज्ञानिक और व्यावहारिक (Practical) है कि, उसके अवलम्बनसे सब अधिकारके लोग लाभ उठा सकते हैं। दो आश्रमोंके कर्तव्य एक साथ पालन नहीं किये जा सकते। जैसा कोई ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमी होनेपर ब्रह्मचारी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण निवृत्ति-मार्गमें रंग गया हो, वह गृहस्थी भलीभाँति नहीं निबाह सकता। देवता तो सब कुछ होते हैं, उनका अनुकरण अल्पशक्ति सम्पन्न मनुष्यको करना उचित नहीं है। फिर भी त्रिमूर्तिका जिनमें समन्वय हुआ है, वे गुरु दत्तात्रेय संन्यासी ही हैं। आपने जिन महर्षियोंका

उदाहरण दिया है, उनमें महर्षि याज्ञवल्क्यने अन्तमें संन्यास-ग्रहण कर लिया था, तभी आत्मसाक्षात्कार करनेमें वे समर्थ हो सके। परमहंस श्रीशुकदेवजी, जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्य प्रभु, समर्थ-रामदास आदि संन्यासके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। संन्यासका मुख्य लक्ष्य है, आसक्तिरहित हो जाना। बिना आसक्तिरहित हुए ईश्वरार्पण बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती। ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना निष्कामकर्मयोगका साधना सम्भव नहीं और बिना योगसाधनाके मुक्ति हो नहीं सकती। अतः संन्यासग्रहण करना मुमुक्षुके लिये परम आवश्यक है और संन्यास मानवीजीवनको सफल बनानेके लिये क्रम प्राप्त ही है। गृहस्थीमें संन्यासधर्म निभ नहीं सकता। कितने ही उच्च अधिकारका पुरुष क्यों न हो, गृहस्थीमें कुछ न कुछ आसक्तिका लेश रहता ही है, जिससे संन्यासकी साधनामें व्याघात होता है। कहा भी है :—

"एकहीं साधे सब सधे, सब साधे सब जाय"।

श्रीभगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार कि—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्"॥

अर्थात् "हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तुम जो कुछ करो, खाओ, होम करो, दान करो, तप करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो"। यह भाव संन्यासाश्रममें ही जागृत हो सकता है।"

"आपने संन्यासका समर्थन तो बड़े अच्छे ढङ्गसे किया; परन्तु अपनी परिस्थिति भी तो देखनी चाहिये कि, हम संन्यासकी साधनामें कहाँ तक चोखे उतरेंगे ?"

"आपको ऐसा सन्देह क्यों हो रहा है ? मुझमें आपने कौनसी कमी देखी ?"

"देखिये यज्ञेश्वरबाबू ! संन्यासमें बड़े क्लेश हैं। वह निर्गुणकी उपासना है। आप जिस गीताकी दोहाई देते हैं, उसीमें लिखा है :—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु-संसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः"॥

"निर्गुण ब्रह्ममें जिनका चित्त आसक्त हो रहा हो, उन संन्यासियोंको बड़ा क्लेश होता है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म विषयकनिष्ठा देहधारियोंको बड़े कष्टसे प्राप्त होती है। जो अपने सब कर्म मुझे अर्पणकर मुझमें रम जाते हैं और अनन्य भक्तियोगके द्वारा मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त अर्पण किये हुए भक्तोंको शीघ्र ही मरणशील इस संसारसे मैं पार कर देता हूँ। अतः मुझमें चित्त जमाओ, मुझमें ही बुद्धि स्थिर करो, जिससे तुम मृत्युके उपरान्त मुझमें ही समा जाओगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह साधना गृहस्थीमें रहकर भली-भाँति की जा सकती है।

"परन्तु मित्र ! उसी गीतामें यह भी तो लिखा है :—

"श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्म - फलप्राप्तिस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः"।

"अभ्यास योग (भक्ति और कर्म) की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान (निदिध्यास) श्रेष्ठ है, ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है और कर्मफलत्यागके द्वारा आसक्तिकी निवृत्ति हो जानेपर शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो निरपेक्ष पवित्र, सावधान, उदासीन, त्रितापरहित और सब उद्यमोंसे विमुख होता है, वही भक्त मेरा प्यारा है। जिसके लिये निन्दा और स्तुति समान है, जो वृथा बकवाद नहीं करता, जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहता है, अपने लिये घर नहीं बनवाता अर्थात् जो गृहस्थीमें फँसा नहीं रहता, तथा जो स्थिरबुद्धि और भक्तिमान् है, वही व्यक्ति मेरा प्रिय हैं। ये सब बातें गृहस्थीमें रहकर कैसे सध सकती हैं?" वासनाओंका जाल बड़ा कठिन होता है और गार्हस्थ्यमें वह सर्वत्र बिछा रहता है। उससे बचनेके लिये संन्यासका ही सहारा लेना पड़ता है। वासना-क्षयके बिना ईश्वरार्पणबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती और ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना निष्काम कर्मयोग सध नहीं सकता। संन्यास और कर्मयोगमें विशेष अन्तर नहीं है। यह बात श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार समझायी है :—

"सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥"

"कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनोंको अज्ञानी लोग ही पृथक्-पृथक् मानते हैं, ज्ञानी पुरुष नहीं। क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान ठीक-ठीक करनेसे दोनोंका फल (मोक्ष) प्राप्त हो

जाता है। ज्ञाननिष्ठ संन्यासीको जो स्थान (मोक्ष) प्राप्त होता है, वह कर्मयोगीको भी प्राप्त होता है। जो ज्ञानयोग और कर्मयोग-को एक ही मानते हैं, वे ही यथार्थ सम्यग्दर्शी है।" और भी कहा है :—

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥
काम्यानां कर्मणां न्यासः संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

"जो कर्मफलकी अपेक्षा न रखकर अपना कर्तव्य-कर्म किये जाते हैं, वे ही संन्यासी हैं और योगी भी। जो अग्निहोत्रादि और इष्टापूर्तादि कर्मोंको त्याग देते हैं, वे संन्यासी अथवा योगी हो नहीं सकते। हे पाण्डव! ज्ञानीलोग जिसको संन्यास कहते हैं, वही कर्मयोग भी है। क्योंकि फलाकांक्षाका त्याग किये बिना कोई योगी हो नहीं सकता। विद्वानोंने काम्य कर्मोंके त्यागको ही संन्यास माना है। बुद्धिमान् लोग सब कर्मोंके फलत्यागको ही त्याग कहते हैं।" वह त्याग भी सात्त्विक होना चाहिये। त्रिगुणानुसार त्यागके लक्षण इस प्रकार हैं :—

"नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥"

"अपने कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है। अज्ञानके कारण उनको त्याग देना तामसिक त्याग कहा गया है। जो दुःखकर जानकर शारीरिक क्लेशके भयसे अपने कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करते हैं, उनका वह राजसिक त्याग है। उससे त्यागका फल नहीं प्राप्त होता। परन्तु आसक्ति और फलाकांक्षासे रहित होकर जो अपना कर्तव्य-कर्म किये जाते हैं, उनका वही त्याग सात्त्विक कहा जा सकता है। यह तो मानी हुई बात है कि, शरीरधारी जीव समस्त कर्मोंका त्याग करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि निष्क्रिय होकर बैठ रहना या मर जाना भी तो एक कर्म ही है? शयन, भोजन, मलमूत्र-त्याग जैसे दैहिक कर्मोंका त्यागना कैसे सम्भव हो सकता है? अतः जिसने सब कर्मोंके फलका त्याग कर दिया हो, वही वास्तविक त्यागी कहा जा सकता है। गार्हस्थ्यमें वासनाका बीज और फलाकांक्षाका लेश बच रहता ही है। वासना और फलाकांक्षा ही जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें घुमाया करती है। उनका विलय संन्यासाश्रममें ही हो सकता है। उनके विलयके बिना मोक्ष (आनन्दरूपता) कहाँ? इसीलिये मैं संन्यासग्रहण करनेको उद्यत हुआ हूँ।"

यह सब सुनकर मित्र महाशय फिर समझानेका प्रयत्न करने लगे। बोले :—"देखो बन्धुवर! जिस परिस्थितिमें आप उत्पन्न हुए और परिपालित हुए हैं, जैसा शीतोष्ण—सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहन कर सकनेवाला आपको शरीर मिला है और जिन सुविधाओंको आप पा रहे हैं, वह संन्यासाश्रमके आचारोंका पालन करनेके उपयोगी नहीं है। संन्यासीको बन-बन भटकना पड़ता है, पंचविध रुचिकर अन्नकी बात तो दूर रही, साग-पात रूखी-सूखी जो

मिल जाय, उसीसे पेट भरना पड़ता है, जहाँ स्थान मिल जाय, वहीं सोना पड़ता है, सात जगहका पानी पीना पड़ता है। उसमें आप जैसे वैभवशाली सुकुमार शरीर पुरुषोंके उपयोगी सुख-साधन कहाँसे प्राप्त होंगे? हिंस्र श्वापदोंसे आकीर्ण भयावने जंगलोंमें ऐसा सब सुविधाओंसे युक्त सुन्दर बंगला रहनेके लिये कहाँ मिलेगा? मखमली गद्दों-तकियोंवाली, बगुलेके पंख जैसी स्वच्छ चादर बिछी हुई, मसहरी तनी हुई सेज कैसे जुटाई जायगी? नयी-नयी चालके चन्द्रमाके समान प्रकाश देनेवाले दीपक कहाँसे आवेंगे? मनोवृत्तानुसारिणी सुन्दरी अर्धाङ्गिनी वहाँ कहाँ? पाद-संवाहन और पंखा झलनेवाली युवती सेविकाओंके वहाँ दर्शन कहाँ? बाल-बच्चोंका आनन्द कहाँ? एकान्तमें आपका जी घबड़ाने लगा और पीछे-पछताना पड़ेगा। इस विषयमें शान्त-चित्तसे फिर विचार कीजिये"।

इसपर श्रीजीने गम्भीरतासे जो उत्तर दिया, उसका आशय निम्नलिखित प्रभावोत्पादक शान्तरसके इस सुभाषितमें आ गया है :—

"भूःपर्य्यङ्को निजभुजलताकन्दुकः खं वितानम्।
दीपश्चन्द्रो विरतिवनिताल‌ब्धसङ्ग-प्रमोदः॥
दिक्कान्ताभिश्चमरमरुता बीज्यमानः समन्ताद्।
भिक्षुः शेते नृप इव भुवि त्यक्तसर्वस्पृहोऽपि"॥

"मित्र! यतियोंका ठाट भूपतियोंसे किसी प्रकार कम नहीं होता। हमारी सब सुख-समृद्धि प्रकृति माताने पहलेसे ही प्रस्तुत कर रखी है। सुन्दर भूमि ही हमारी सुखमयी गुदगुदी शय्या है। उसीपर अपने भुजका तकिया लगा लिया जाता है। आकाशसे स्वच्छ और क्या है? वही हमारी मसहरी है। चन्द्रमाका उज्ज्वल

दीपक वहाँ जलता रहता है। विरक्तिरूपा प्रणयिनीके सङ्गसे हम आमोद-प्रमोदका अनुभव करते हैं। दिशाएँ हमारी सुन्दरी सेविकाएँ हैं, जो चारों ओरसे चँवर डुलाया करती हैं। सब आकांक्षाओंका त्याग किया हुआ भिक्षु (संन्यासी) इस प्रकार भूमिपर ही राजाके समान सुखपूर्वक शयन करता है। त्रितापमें भुना जानेवाला प्रपञ्ची जीव ऐसे सुखकी कल्पना भी नहीं कर सकता। प्रकृतिके निर्माण किये हुए वन-उपवन उसके बाग-बगीचे हैं। उसीकी तृप्तिके लिये नदियाँ-निर्झर आदि बहा करते और बनैले वृक्ष सुमधुर फल दिया करते हैं। रङ्ग-विरङ्गे पक्षी और चित्र-विचित्र वन्य पशु उसके सहचर हैं और जीवमात्र उसके बन्धु-बान्धव हैं। इस स्वाभाविक गृहस्थीके आगे मायामय काल्पनिक तुच्छ और क्षणभंगुर गृहस्थीका महत्त्व ही क्या है? उस सूखी गँडेरीमें रस कहाँ? 'स्वराज्य-सिद्धिका' यह अवतरण आपकी आशङ्काओंका समाधानकर सकता है :—

"आनन्दमूलगुणपल्लव - तत्त्वशाखा।
वेदान्त - पुष्पफलमोक्षरसादि - पूर्णम्॥
चेतो विहङ्ग! हरिकल्पतरुं विहाय।
संसारशुष्कविटपे वद किं रतोऽसि"॥

अर्थात् "हे मनरूपी विहङ्गम (पक्षी!) जिसका आनन्द (ब्रह्मानन्द) ही मूल है, सत्त्व-रजस्तम ये त्रिगुण ही जिसके पत्ते हैं, पृथिव्यादि पञ्चतत्त्व जिसकी शाखाएँ हैं, वेदान्त (तत्त्वज्ञान) जिसका फूल है, जीवन-मरणके चक्रसे छुड़ानेवाला मोक्ष ही जिसका फल है और जो सब रसोंसे परिपूर्ण है, उस आत्मज्ञान-स्वरूप श्रीभगवान-रूपी कल्पवृक्षको छोड़कर इस संसाररूपी नीरस (सूखे) वृक्षपर क्यों अनुरक्त हो रहा है? कह तो। भक्त और भगवान् जब एक

रस अद्वैतभावापन्न हो जाते हैं, तब आनन्दकी स्रोतस्विनी बहने लगती है। प्रपञ्चसे उसकी तुलना हो नहीं सकती। उस रसका अनुभव शब्दोंसे कहा नहीं जा सकता। श्रीभगवान् व्यासदेव कहते हैं :—

"सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

"सन्तोषरूपी अमृतका आकण्ठ पानकर जो पूर्ण तृप्त हो चुके हैं, उन साक्षात्कारी शान्त चित्त योगियोंको जो सुख प्राप्त है, वह पुत्रैषणा, दारैषणा, वित्तैषणामें फँसकर इधर-उधर भटकने—मारे-मारे फिरनेवाले विषयलम्पट जीवोंके भाग्यमें कहाँ?"

संन्यासका महत्त्व

अन्तमें दोनोंने एकमत होकर यह निश्चय किया कि, सन्ध्या-समय अपने आश्रममें इस विषयमें पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनोंपर निष्पक्ष होकर विचार कर लेनेपर तब कोई सिद्धान्त स्थिर किया जाय और उसीके अनुसार कार्य भी किया जाय। तदनुसार सन्ध्या-समय फिर विचार आरम्भ हुआ कि, लोककल्याण और धर्मसेवाके लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करना अनिवार्य है या यह पुण्यकार्य-भगवत्कार्य गृहस्थाश्रममें रहकर भी किया जा सकता है? प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार आरम्भ हुआ। सब आश्रमोंका मूल आधार गृहस्थाश्रम होनेके कारण अधिकांश पण्डित गृहस्थाश्रमकाही समर्थन करने लगे। श्रीजीने पूर्वपक्षको अच्छी तरह सुन-समझकर संन्यासाश्रमका महत्त्व बताना आरम्भ किया कि, "अपना सनातनधर्म—वर्णाश्रमधर्म—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका समर्थक और पोषक है। उसे धर्मका यह लक्षण मान्य है कि, जिसके द्वारा ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय होकर अन्तमें जीवको निःश्रेयसकी प्राप्ति हो,

वही धर्म है। परन्तु इसमें अधिकारभेदका विचार करना ही पड़ता है। गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिकी पराकाष्ठा हो जाती है। यद्यपि गार्हस्थ्यके सब विधि-विधान प्रवृत्तिके ही पोषक हैं, तथापि उनसे निवृत्तिका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। कर्म और उपासनाके द्वारा चित्तशुद्धि होकर तथा भौतिक सुखोंका प्रचुर अनुभव कर गृहस्थ अपने भावी वैराग्यकी भूमिको तैयार करता है और वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर निवृत्तिका अभ्यास करने लगता है। निवृत्तिकी पूर्णता तो संन्यासाश्रममें ही होती है। उत्तरमीमांसाका तत्त्व जाननेके लिये पूर्वमीमांसाका ज्ञान होना आवश्यक होता है। अनुरक्तिके बिना विरक्तिकी शोभा नहीं। रातके बिना दिनकी शोभा नहीं। दुःखके बिना सुखका आनन्द नहीं। इसीसे एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है। (आश्रमादाश्रमं-गच्छेत्) पूर्वसंस्कारसम्पन्न उन्नत जीवों अथवा अवतारी पुरुषोंकी बात जाने दीजिये। उनका अधिकार महान् है। वे जब चाहें, तभी संन्यासी हो सकते हैं। श्रीशुकदेवजी, श्रीशङ्कराचार्य प्रभु, समर्थ रामदास आदि ऐसे ही विभूति स्वरूप थे। उनके लिये कोई नियम नहीं। 'यदेवाहनि विरजेत्तदैव प्रव्रजेत्'। जिस दिन वैराग्य उदित हो, उसी दिन वे गार्हस्थ्य त्याग सकते हैं; परन्तु सर्वसाधारण गृहस्थोंको राजमार्गसे ही जाना उचित है। आसक्ति जीवकी एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है। मनुष्यमें उसका होना आवश्यक है और गृहस्थाश्रममें वह होती भी है। उसका अच्छा या बुरा उपयोग करना मनुष्यके हाथ है। यदि पुत्र-कलत्र-गृह-धन-वैभव-सम्मान आदिसे कोई वञ्चित हो, तो वह किसपर आसक्त होगा? ये सब आसक्तिके साधन गृहस्थाश्रममें विद्यमान रहते हैं। आगे चलकर केवल आसक्तिका रुख बदल देना पड़ता है। जो वस्तु नाशमान् है, क्षणभंगुर है, उससे क्षणिक आनन्दका आभास भले ही मिल

जाय, चिरस्थायी आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हाँ, आनन्दकी बानगी अवश्य मिल जाती है और इससे अधिक और स्थायी आनन्दकी प्राप्तिकी अभिलाषासे अनित्य आनन्दकी उपेक्षा साधक करने लगता है. वह विषय सुखोंसे मुँह मोड़ लेता है और संसारसे विरक्त हो जाता है। अबतक उसकी जो आसक्ति स्थूल भौतिक विषयोंमें लगी रहती थी, वह परमात्माकी ओर हो जाती है। वह बहिर्मुखसे अन्तर्मुख हो जाता है और आनन्दके मूलका अन्वेषण करने लगता है। जब उसे उस आनन्दका पता लग जाता है, तब वह उसीमें रममाण होकर कृतकृत्य हो जाता है।

इस सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका उदाहरण ध्यान देने योग्य है। वे अपनी पत्नीमें अत्यन्त आसक्त थे। एक क्षण भी उसका बिछोह सहन नहीं सकते थे। वह मायके चली गयी, तब वे व्याकुल हो गये और नदी-नालोंकी परवाह न कर बड़े कष्ट सहकर गीले कपड़े और कांदो-कीचड़से सने हुए आधी रातके समय ससुराल जाकर पत्नीसे मिले। उनकी इस अवस्था और आसक्तिको देखकर पत्नी आश्चर्यचकित हो गयी। उसने विनयसे पूछा—"नाथ! यह क्या? इतनी रातमें आपने यहाँ पधारनेका कष्ट क्यों किया?" दो चार दिनमें तो मैं आपही चली आती।" गोस्वामीजीने हँसकर उत्तर दिया—"प्रिये! तुम आते समय मेरा मन चुरा लायी हो। उसके बिना शरीर छटपटा रहा था। किसी प्रकार मानता ही नहीं था। इसीसे उस अपने मनको लौटानेके लिये चला आया हूँ।" सौभाग्यवती पत्नीने विनोदसे कहा—"प्रिय प्राणधन! इस हाड़-मांसकी पुतलीमें ऐसा क्या धरा है, जो आप जैसे ज्ञानी पुरुष इतने रीझ रहे हैं? क्या ही अच्छा होता कि, आप ऐसीही एकान्तिक लौ श्रीभगवान्के चरणोंमें लगा दें। उनमें आपकी आसक्ति हो जाय, तो आपके दोनों लोक बन जायँगे और फिर आपके चित्तमें

व्याकुलताका उदय ही नहीं होगा। आनन्दमयके साथ समरस हो जानेपर निरानन्दको गुंजाइश ही नहीं रहेगी। स्थूल विषयानन्दका परिणाम तो ग्लानि और दुःख ही होता है।" पत्नीका यह उपदेश सुनकर गोस्वामीजीकी आँखें खुल गयीं। वैषयिक सुखोंकी निःसारता उन्हें जँच गयी। उनके अन्तःकरणमें प्रकाश हो गया। उनके चित्तका रुख बदल गया। सन्मार्ग उन्हें सूझ गया। उन्होंने गद्गद् होकर कृतज्ञतापूर्वक पत्नीसे कहा--"वास्तवमें मुझे आज तुम्हारे रूपमें गुरु मिल गया। तुमने मेरे हृदयकी ग्रन्थि खोल दी। अब मैं श्रीभगवान्के पावन चरणकमलोंमें ही आत्मसमर्पण करूँगा और उस आनन्दके लाभका अधिकारी बनूँगा, जो कभी क्षीण होही नहीं सकता।" पत्नीसे बिदा होकर उस दिन जो वे ससुरालसे चले, तो फिर घर नहीं लौटे। श्रीरघुनाथजीने उनको प्यारसे अपनी गोदमें ले लिया, अपना लिया।

आनन्दका मूल ब्रह्म है और मैं ही ब्रह्म हूँ, यह अनुभव और भाव संन्यासाश्रममें ही उत्पन्न हो सकता है। यदि गृहस्थ इस तरहका विचार करने लगे, तो उसका गार्हस्थ्य धर्म निभ नहीं सकता। वह 'उभयतोभ्रष्ट' हो जायगा। ब्रह्मज्ञानसे तो वह दूर ही रहेगा, किन्तु व्यवहारमें भी पद-पदपर ठोकरें खाने लगेगा। सन्तोंका यह अनुभव ठीक ही है—

"एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।"

अन्ततः जिसे यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है, अखण्ड आनन्द-सागरमें उन्मज्जन-निमज्जन करना है, संसार-सागरसे तर जाना है, मोक्षमार्गपर आरूढ़ होना है, लोक-कल्याणमें निरत होकर जीवनको सफल करना है, उसके लिये पूर्वाश्रमोंका अनुभव कर अन्तमें संन्यासाश्रममें प्रवेश करना ही उचित है और यही सब

सोचकर मैंने संन्यासग्रहण करनेका निश्चय किया है। संसार-सागरको पार करना सहज काम नहीं है। जलमय समुद्रकी अपेक्षा संसार-समुद्र बड़ा ही दुस्तर है। यथा :—

"मर्यादा न च यस्य योऽमृतमयो यस्मिञ्छुचिर्नीचगैः।
सन्तर्प्यो न च वाडवः किल जलैर्न स्वातिवर्षेऽपि वा॥
मुक्ता नित्यममन्दरागमथनादुच्चैः श्रवा वा हरि—
र्नोलभ्यो तदयं भवोऽहि नितरां वारांनिधेर्दुस्तरः॥"

इस श्लोकमें श्लेषालङ्कारका बड़ा चमत्कार है। जलमय समुद्रके साथ भवसमुद्रकी तुलना करते हुए इसमें भवसमुद्रकी दुस्तरता सिद्ध की गयी है। कवि कहता है :—"जलमय समुद्रकी मर्यादा निश्चित है। वह अपनी मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करता; परन्तु भवसमुद्रकी कोई मर्यादा नहीं, वह अपार है। जलमय समुद्रमें अपार जल भरा हुआ है; परन्तु भवसमुद्र जड़ है, उसमें चैतन्यके जलकी बूंद भी नहीं है। जलमय समुद्रमें यदि कभी बड़वानल (जलकी आग) भभक उठे, तो निम्नगामिनी नदियाँ अपने जलसे उसे शान्त कर देती हैं; परन्तु भवसमुद्रमें ज्ञानी पुरुष नीचवृत्तिके लोगोंद्वारा कभी आहत नहीं होते। जलमय समुद्रका (चाहे वह क्षीर समुद्र ही क्यों न हो, घोर मथन करने पर उससे उच्चैश्रवा नामक अश्वकी प्राप्ति हुई थी; परन्तु भव-समुद्रमें कितने ही गोते क्यों न लगाये जायँ, उसमें कितना ही आसक्त क्यों न रहा जाय, जिनका यश त्रिलोकमें छाया हुआ है, वे हरि (श्रीभगवान्) कभी प्राप्त नहीं होते। अन्ततः जलमय समुद्रकी अपेक्षा भवसमुद्रको पार करना बड़ा ही कठिन है।" जलमय समुद्रको पार करनेकेलिये तो नाव, जहाज आदि साधन तैयार कर लिये जा सकते हैं; परन्तु भवसमुद्रसे पार उतरनेका कोई

साधन भी देख नहीं पड़ता। इसीसे घबड़ाकर मुमुक्षु साधक सद्गुरुसे जिज्ञासा करता है :—

"अपार-संसारसमुद्रमध्ये निमज्जतः सन्तरणं किमस्ति ?
गुरो ! कृपालो कृपया वदैतत् विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका।"

"हे कृपालो गुरो ! इस अपार संसार-सागरमें जो डूब रहे हैं, उनके उबरनेका उपाय क्या है ? वह मुझे बता दीजिये। इसपर गुरुदेवने उपाय बताया कि, श्रीविश्वनाथजीके चरणकमलोंकी नावका आश्रय लेना ही इसका उपाय है"। उसी भावको लेकर सन्तोंने कहा है:—

"भवचरणे चेतश्चेत्क्रियेत जायेत तर्हि भवतरणम्।
कामरमणकाकारं यर्हि भजेत्तर्हि रे भजेन्मरणम्" ॥

"श्रीशंकरजीके चरणकमलोंमें यदि चित्त लगाया जाय, तो संसार-सागरसे मनुष्यका उद्धार हो सकता है; परन्तु यदि दुःख-परिणामी विषयोंके जञ्जालमें ही वह रमा रहे, तो उसका मरण (अधःपतन) निश्चित है। उसे अमृतत्वकी, आनन्दमय श्रीभगवानकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती"।

श्रीजी महाराजके इस प्रवचनका उनके मित्रपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने श्रीजीकी बात मान ली। कर्मकाण्ड और गार्हस्थ्य-पर ज्ञानकाण्ड और संन्यासने विजय प्राप्त किया। संन्यासके लिये मातृदेवीसे आज्ञा मिल ही चुकी थी।

गुरुकी खोज

उनके सामने अब वही एक पहला प्रश्न बच रहा कि, संन्यास किस सत्पुरुषसे ग्रहण किया जाय ? वर्णाश्रमधर्ममें गुरुदेवका माहात्म्य सर्वश्रेष्ठ है। इस धर्मकी यही मर्यादा है कि, चाहे कितना

ही ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, उसे आश्रमान्तर करते समय किसी सुयोग्य सत्पुरुषको गुरु मानकर दीक्षा ग्रहण करना ही चाहिये। भला श्रीजी, जो सनातनधर्मकी सेवाका व्रत ग्रहण कर चुके थे, इस मर्यादाका उल्लंघन कैसे करते? योगिनी-तन्त्रमें लिखा है:—

"गुरुवक्त्रात्प्रसादतो हि काम-मोक्षप्रदो हि सः।
पुस्तकाद्वाचितो मन्त्रो केवलं वर्णमात्रकः"॥

जो मन्त्र गुरुमुखसे प्राप्त होता है, वही भोग और मोक्षको देनेवाला होता है। जो पुस्तकसे पढ़कर ग्रहण किया जाता है, वह तो केवल वर्ण (अक्षर) मात्र है। उससे कोई फल नहीं होता। यही क्यों, सनातन-धर्मकी तो यह मर्यादा है कि, यदि किसी गृहस्थको उपनिषदोंका अध्ययन करना हो, तो उसे किसी सन्यासीसे ही उपनिषदोंको ग्रहण करना पड़ता है। जब कि श्रीजी महाराज स्वयं श्रीगुरुदत्तात्रेय भगवान्के अवतार थे, तब उनके गुरु होनेकी योग्यता किस मानवमें हो सकती है? परन्तु श्रीदत्तभगवान्ने भी चौबीस गुरु इसलिये बनाये थे कि, वर्णाश्रमकी मर्यादा अबाधित रहे। श्रीजीने भी यही किया।

श्रीजीके आश्रमके सत्सङ्गमें जो अनेक साधु-सन्त और विद्वान् त्यागी-तपस्वी महात्मा सम्मिलित हुआ करते थे, उनमें एक उच्च-कोटिके साधक चमत्कारी पुरुष भी उपस्थित हुआ करते थे। श्रीजीके पूर्वाश्रमके वे दूरके सम्बन्धी थे और श्रीजीके प्रति बड़ा ही सद्भाव रखा करते थे। उनका शुभ और पवित्र योग-पट्ट था—परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी केशवानन्दजी महाराज। इनका शरीर भी बंगाली था और तान्त्रिक साधना तथा क्रिया-सिद्धांशमें पूर्ण पारङ्गत थे। शरीर भी भव्य, ऊँचा पूरा और व्यक्तित्वके प्रभावसे परिपूर्ण था। स्थान-स्थानपर आश्रम बन-

वानेमें इनकी बड़ी अभिरुचि थी तथा भुवनेश्वर, हरद्वार, विन्ध्याचल, वृन्दावन, नर्मदाके ब्रह्माण्डघाट आदि पवित्र तीर्थोंमें इन्होंने मूल्यवान् आश्रम भी बनवाये हैं। प्रधान आश्रम वृन्दावनमें 'राधा-बाग' नामसे बनवाया है, उसीमें प्राय: आपका निवास हुआ करता था और वहीं श्रीजीकी प्रेरणासे इन्होंने कात्यायनी पीठ स्थापित किया है। जब इन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण नहीं किया था, तभीसे श्रीजीके साथ इनका बहुत प्रेम-सम्बन्ध था। श्रीजीने इन्हींसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया, जैसा आदि शंकराचार्य प्रभुने परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दगौड पादसे संन्यास ग्रहण किया था। इससे वर्णाश्रमकी मर्यादाका पालन ही सिद्ध होता है।

जब संन्यास-आश्रमकी दीक्षा किससे ली जाय अर्थात् गुरुका भी निश्चय हो गया, तब श्रीजीने अपने मनमें एक शुभ दिन घरसे प्रस्थानकेलिये निश्चित कर लिया। मार्गव्यय आदिके लिये कुछ धनकी आवश्यकता थी, खजाञ्चीसे माँगनेसे बात विदित हो जाती, और संकल्पमें बाधा होती, अत: श्रीजीने अपनी एक बग्घी गाड़ी बेच दी, उससे आठ सौ रुपये मिले। सब प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो चुका था। पूर्व-निश्चित तिथिके निस्तब्ध निशीथमें श्रीजी एकाकी घरसे निकल पड़े। और सीधे हरिद्वार श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजके आश्रममें पहुँचे।

मङ्गल दिन—शुभ मुहूर्तमें श्रीजीने यथाविधि संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया। दाढ़ी-बाल पहलेसे ही बढ़ रहे थे, अब वे जटाओंके रूपमें परिणत हो गये। स्वामी केशवानन्दजी श्रीजीके ज्ञानकी निष्ठा को जानते थे। अतः श्रीजीका योगपट्ट 'ज्ञानानन्द' पड़ा। अब श्रीजीके शरीरसे किसीका सम्बन्ध न रहा। वे कृपालु और संसारके प्राणिमात्र उनके कृपापात्र बन गये। भूलोक, भुवर्लोक

और स्वर्गलोकके सब सुखोंको संकल्पपूर्वक उन्होंने त्याग दिया और मोहमायासे परिपूर्ण स्त्री-पुत्र-परिवार-मान वैभव बन्धु-बान्धव-घर-द्वार आदिसे मुँह मोड़ लिया। अब 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' इस सूक्तिके अनुसार कौपीन धारी शुभ्र गौरवर्ण आपके शरीरपर गैरिक वस्त्रकी अपूर्व शोभा हुई, इस समय भगवान् बुद्धके संन्यासका स्मरण हो जाता है। भगवान् बुद्धदेव निशीथ कालमें त्रिभुवन सुन्दरी सौभाग्यवती युवती महारानी गोपा और सद्योजात कुमारको शयनागारमें सोते हुए छोड़कर विरक्त होकर गृहत्याग कर रहे थे। बड़ा ही हृदयको दहलानेवाला करुणाजनक दृश्य था; परन्तु श्रीजीका मुखमण्डल प्रसन्न था और दिव्यभावसे दमक रहा था।

श्रीजीका गौर शरीर पूर्णपुरुष जैसा ऊँचा पूरा होनेपर भी अत्यन्त सुकुमार और कोमल था, वैसा ही गुरुदेवका श्यामशरीर उनसे भी ऊँचा पूरा (लगभग साढ़े छः फुटका) हट्टाकट्टा, भव्य, विशाल और सुदृढ़ था। दोनों जब उत्तराखण्ड पधारे, तो उनको देखनेवाले ग्रामीण और नागरिक स्त्रीपुरुषोंको यही आभास होने लगा कि, ये—सम्भवतः श्रीराम और लक्ष्मण ही—वनवासके बहाने इस ओर आ पड़े हैं, या पुराणोक्त नर और नारायण तपस्या करने पधार रहे हैं। हरिद्वारमें गुरुदेवका आश्रम श्री भागीरथी और अलकनन्दाके बीचके टापूमें है, संन्यास-ग्रहणके पश्चात् श्री-गुरुदेवके आग्रहसे श्रीजी वहां ठहर गये। आश्रममें गुरुदेवके और भी कितने ही शिष्य विद्यमान थे। श्रीजीसे सबका परिचय हुआ और अब शिष्य-परीक्षा आरम्भ हुई।

श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजको जिस प्रकार स्थान-स्थान-पर बड़े-बड़े आश्रम, और भवन बनवानेकी धुन लगी रहती थी, उसी प्रकार जहाँ कहीं वे बिराजते, वहाँ बड़े-बड़े भण्डारे भी किया करते थे। धनी शिष्योंसे धनकी सहायता मिलती,

जिससे काम चल जाया करता था। श्रीजगदम्बाकी कृपासे उनको धनका अभाव कभी नहीं रहा। एक प्रकारसे उनकी अपनी महन्ती थी, चमत्कार यह होता था कि, जब कभी उनके मनमें किसी आश्रमके बनवाने या भण्डारा करनेकी धुन समाती, तब पहले वे काम छेड़ देते और फिर शिष्योंसे धनकेलिये आज्ञा करते थे। तुरन्त रुपया बरसने लगता और काम पूरा हो जाता था। तदनुसार हरद्वारमें भी भण्डारेका आयोजन होने लगा। पाकनिष्पत्ति शिष्य-मण्डली ही किया करती थी। इस आयोजनमें श्रीजीपर भी कुछ काम लादा गया। शिष्योंमें आत्मानन्द नामक एक बड़ा ही उद्दण्ड और घमण्डी शिष्य था, जो श्रीजीको देखकर कुढ़ा करता था। इस कारण श्रीजीको उसने ऐसा काम दिया, जो उनके सुकुमार शरीरसे न हो सके और फलस्वरूप सब शिष्योंमें उनका उपहास हो। शास्त्रकी आज्ञा है कि, गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। तदनुसार श्रीजी भी गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य कर काममें लग गये। श्रीजी जैसी अवस्थामें परिपालित हुए थे, उस अवस्थामें कभी भोजन बनानेका भी काम नहीं पड़ा था। भंडारेकी रसोई कैसे बना सकते? परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिके द्वारा अनहोनी बातको भी प्रत्यक्ष सफलतापूर्वक कर दिखाता है। श्रीजीने जैसा कुछ बन पड़ा, अपने जिम्मेका काम कर दिया, जिसे देखकर गुरुदेव गद्गद हो गये और उन्होंने श्रीजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विरोधियोंके दाँत खट्टे हुए। श्रीजीकी दृष्टि गुरुजीके धन-वैभव पर तो थी ही नहीं कि, गुरुजीके पश्चात् वे मठाधीश या महन्त बनते। स्वयं अपनी लाखोंकी सम्पत्तिपर तुलसीपत्र रखकर घरसे निकले थे, किसीकी सम्पत्तिपर क्यों दाँत रखते? अतः इन राजसिक और तामसिक शिष्योंकी भुण्डमें अधिक दिनोंतक रहना उन्होंने पसन्द नहीं किया। तीन दिन वहाँ रहकर गुरुदेवसे आज्ञा

लेकर वे तपस्याके लिये वहाँसे चल पड़े। जाते समय गुरुदेवने उनसे कुछ आर्थिक प्रयोजन प्रकट किया था, गुरुदेवके आश्रमसे सीधे श्रीजी हरिद्वार स्टेशनपर आये। सन्ध्याका समय था और उनके पास कौपीन और कमण्डलुके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, अन्य साधु-संन्यासियोंकी भाँति बिना टिकट रेलमें यात्रा करना श्रीजीको वांछनीय नहीं था, अतः वे स्टेशनपर एक बैंचपर लेट रहे। कुछ घण्टे पश्चात् एक सज्जन हाथमें लालटेन लिये श्रीजीके समीप आकर उनको देखने लगे। श्रीजीकी दर्शनीय दिव्य भव्य शान्त मूर्तिको देख वे बहुत प्रभावित हुए, उन्होंने चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर पूछा—महाराज! आप कहाँ पधारेंगे? श्रीजी—आप कौन हैं? सज्जन—मैं यहाँका स्टेशन-मास्टर हूँ, जहाँकी आज्ञा हो, मैं टिकट ले आऊँ? श्रीजी—आपका वेतन कितना है? स्टेशन मास्टर—मुझे ८५) मासिक वेतन मिलते हैं। श्रीजीको तो आबू जाना था, परन्तु इतना कम वेतन पानेवालेपर उन्होंने अधिक बोझ डालना उचित नहीं समझा, इसी कारण श्रीजीने वेतनके विषयमें पहले ही प्रश्न किया था। अतः श्रीजीने आज्ञा दी कि मुझे रुड़कीतक जाना है। स्टेशन मास्टरने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे एक सेकेन्ड क्लासका टिकट लाकर दिया एवं श्रीजीको रुड़की जानेवाली गाड़ीपर बैठा दिया। श्रीजी रुड़की पहुँचे। वहाँ स्टेशनसे एक धर्मशालामें जाकर सो गये। प्रातःकाल प्रकाश होते ही श्रीजी शौचादिके लिये बाहर निकले। एक कुंए पर अनेक स्त्रियाँ जल भर रही थीं। उन्होंने श्रीजीके दर्शन किये, प्रणाम कर बड़े आग्रहसे पूछने लगीं, महाराज! आप कहाँ से पधारे हैं? कहाँ विराजते हैं? श्रीजीने कहा कि मैं अभी रातको यहाँ आया हूँ, पासकी धर्मशालामें रातभर रहा हूँ और अब अन्यत्र चला जाऊँगा। रुड़कीके गण्यमान्य नागरिक रायबहादुर निहालचन्दजीकी धर्मपत्नीने भी अपने घरके ऊपरके वारामदेसे

श्रीजीके दर्शन किये, "उन्होंने अपने पतिदेवसे निवेदन किया कि एक दर्शनीय महात्मा यहाँ पधारे हैं, धर्मशालेमें विराजे हैं, उनको आप अपने घर लिवा लावें। ऐसे महात्माके चरणरजसे हमारा घर पवित्र होगा। रायबहादुर निहालचन्द बड़े आस्तिक एवं धर्मात्मा सज्जन थे, उन्होंने अपनी सती-साध्वी पत्नीकी बात सुनकर उसी समय स्वयं धर्मशालेमें गये जहाँ श्रीजी विराजते थे। श्रीजीका दर्शन कर उन्होंने अपनेको कृतकृत्य समझा और बड़ी भक्ति एवं पूर्ण आग्रहसे वे श्रीजीको अपने निवास स्थानपर लिवा ले गये। उनके विशेष आग्रहसे श्रीजी पाँच-सात दिनों तक उनके यहाँ ठहरे। श्रीनिहालचन्दजी तथा उनकी धर्मपत्नीने श्रीजीसे मन्त्र-दीक्षा ली। अब श्रीजीने चलनेकी इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने बड़ी नम्रतासे निवेदन किया कि कुछ मुझे सेवा करनेकी आज्ञा हो, इसके बिना मुझे शान्ति नहीं होगी। श्रीजीने हरिद्वार-आश्रममें पाँचसौ रुपया भेजनेकी आज्ञा दी, उन्होंने तत्काल उसका पालन किया। श्रीजीको आबू जाना था, अतः उन्होंने श्रीजीको आबूका एक सेकेण्ड क्लास टिकट दिया एवं बड़े प्रेमसे स्टेशनपर पहुँचा गये। श्रीजी वहाँसे प्रस्थान कर सीधे आबू पहुँचे। यहाँ पहुँचनेमें श्रीजीको मार्गमें कई दिन लगे, किन्तु मार्गमें उनको कोई क्लेश नहीं हुआ, उनके योगक्षेमकी समुचित व्यवस्था श्रीजगदम्बाने पहले ही कर दी थी।

श्रीजीकी तपस्या एवं सिद्धिकी प्राप्ति

पहले इसका वर्णन आ चुका है, कि श्रीजीने गृहस्थाश्रममें अपने बंगलेके उद्यानमें ही अपनी साधनाके लिये एक गुफा बना रखी थी। उसमें नियमितरूपसे वे प्रतिदिन घण्टों योगसाधन किया करते थे। साधन उनके पूर्वजन्मका ही साधित था। कुछ थोड़ी जो कमी थी, केवल उसीकी पूर्ति यहाँ इस जीवनमें करनी थी,

अतः पवित्र, कुलीन, श्रीसम्पन्न ब्राह्मणकुलमें जन्म, सर्वाङ्ग सुन्दर स्वस्थ्य शरीर, सात्त्विक, शान्त स्वभाव, सात्विक प्रकृति एवं प्रवृत्ति, साधनमें सहायक थे। सभी सामग्रियाँ श्रीजीको प्रारम्भसे ही स्वतः ही प्राप्त थीं। रुड़कीसे प्रस्थान कर श्रीजी जब अर्बुदगिरि (आबू) पहुँचे, तब वहाँ घोर वनमें निभृतस्थानमें प्राचीन वशिष्ठाश्रमका उन्होंने अवलोकन किया। स्थान बड़ा रमणीय है, परन्तु बड़े ही घने जंगलमें होनेके कारण दुर्गम है। घाटियोंके चढ़ाव-उतार बहुत हैं और साँप, शेर, सूअर, भालु आदि हिंस्र पशुओंसे व्याप्त है। श्रीजीने वही स्थान अपने योगसाधन एवं तपस्याके लिये उपयुक्त समझा और वहीं अपना आसन जमाया। उस दिन सन्ध्या हो चुकी थी, श्रीजीने एक खण्डहरमें रात बितायी। रात्रिमें जब आप उस खण्डहरके उपरी भागमें लेटे थे, तो उसीके नीचे शेर दहाड़ रहे थे, उनके ऊपर आनेमें रोकनेवाली कोई वस्तु नहीं थी, परन्तु श्रीजगदम्बा अपने भक्तोंकी सदा सब समय रक्षा करती हैं; शेर ऊपर कैसे आ सकता था। श्रीजी निशङ्क निर्भय होकर वहाँ सोते रहे। प्रातःकाल प्रकाश होनेपर श्रीजी नित्य कर्मसे निवृत्त होनेके लिये चले तो थोड़ी ही दूरपर धुआं दिखायी पड़ा, उसी ओर श्रीजी कुछ और आगे बढ़े तो देखा कि एक मनुष्य आ रहा है, उसके साथ उसका एक भृत्य भी उसके पीछे आ रहा है। यह अज्ञात व्यक्ति श्रीजीका दर्शन कर बहुत ही प्रभावित हुआ उसने श्रीजीके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया एवं हाथ जोड़कर पूछा—भगवन् आप यहाँ कहाँ विराजते हैं, श्रीजीने उक्त खण्डहरकी ओर संकेत करके कहा, कल सन्ध्या समय ही, आया हूँ, यहाँ कुछ दिन तपस्या करनेके उद्देश्यसे ठहरनेका विचार है। रात्रिको इसी वशिष्ठाश्रममें था। उक्त सज्जनने बड़ी नम्रतासे श्रीजीको अपने यहाँ भिक्षा ग्रहण करने लिये प्रार्थना की। श्रीजीने ब्राह्मणके अतिरिक्त किसीकी भिक्षा स्वीकार न

करनेका नियम कर लिया था। अतः श्रीजीने उनसे पूछा—आप कौन हैं, क्या करते हैं? उक्त सज्जनने अपना पूरा वृत्तान्त निवेदन किया। वे जयपुरके अन्तर्गत खेतड़ी स्थानके रहने वाले थे। उनका नाम था पं० रामचन्द्र शर्मा। वे ज्यौतिष एवं व्याकरणके अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने ज्यौतिषसे अपनी मृत्यु निकट जानकर एकान्त सेवन, तपस्या तथा भगवद्भजन करनेके उद्देश्यसे घरसे विरक्त होकर चले आये थे, एक वर्षसे आबूमें रहते थे। श्रीजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, अतः उन्होंने अपनेको धन्य एवं कृतकृत्य माना। श्रीरामचन्द्रजी बहुत दिनोंसे गुरुके अन्वेषणमें थे; श्रीजीके दर्शनसे उनका काम बन गया, उन्होंने श्रीजीसे मन्त्र-दीक्षा लेली। श्रीजीके चरणोंमें ही वे धर्मचर्चा एवं भगवद्भक्तिकी जिज्ञासा करते हुए अपना अधिकांश समय बिताते थे। श्रीजी केवल एक ही बार भिक्षा करते थे। पं० रामचन्द्र-जीका पाचक प्रतिदिन मध्याह्नमें श्रीजीके लिये भिक्षा ले आता था और भिक्षा कराकर चला जाता था। यही क्रम जबतक श्रीजीने आबूमें तपस्या की, नियमित चलता रहा। पं० रामचन्द्र शर्माने अपने व्ययसे श्रीजीके निवासके लिये एक कुटिया भी वशिष्ठाश्रममें बनवायी थी, क्योंकि आबूके जिस वशिष्ठाश्रमकी भूमिको श्रीजीने पसन्द करके आसन जमा लिया था, वहाँ उस समय शीत-ऊष्ण निवारणकी कोई व्यवस्था नहीं थी। वहाँ कुटिया बनवाकर पं० रामचन्द्रजीने आवश्यक सब व्यवस्था कर दी। श्रीजीने राजयोगका शेष अभ्यास एवं साधना यहीं की थी। भगवत्कृपासे उनको अल्पकालमें ही सिद्धि प्राप्त हो गयी थी। निर्विकल्प समाधि प्राप्तकर वे ब्रह्मनिष्ठ हो गये थे। ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो जानेसे उनका अन्तःकरण राग-द्वेष, क्रोध-भय आदि दोषोंसे रहित होकर गीता-कथित समताको प्राप्त हो गया था। अब उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा था।

श्रीजी अपना अनुभव बताते थे कि, चाहे वे भयानक जङ्गलमें

रहे या नगरों या राजमहलोंमें, उनको भिक्षा अर्थात् अन्नका कभी भी कष्ट नहीं हुआ। भगवानकी यह उक्ति कि—"योगक्षेमं वहाम्यहम्" का उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया। योगदर्शन-कथित अहिंसाकी प्रतिष्ठा उनके अन्तःकरणमें हो जानेसे हिंसापरायण पशुओंने भी उनके समीप हिंसाका परित्याग कर दिया था। योगदर्शनमें कहा है— "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, उसके सामने हिंस्र जन्तु भी हिंसा करना भूल जाते हैं। श्रीजीकी स्थिति ऐसी ही हो गयी थी। वे सुनाते थे कि उनकी कुटियाके बाहर विकराल शेर कभी-कभी रात-रात भर बैठा रहता, श्रीजी झरोखेसे देखा करते थे, परन्तु कभी भयभीत नहीं हुए और उस हिंस्र जन्तुने भी उनको कभी नहीं छेड़ा। वह चाहता तो एक पंजेसे बाँसकी टट्टी तोड़कर आक्रमण कर, सकता था परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ। योगसिद्ध महापुरुषका यह प्रत्यक्ष लक्षण है। प्राचीनकालके महर्षियोंके आश्रमोंके वर्णनमें ऐसे अनेक वर्णन हैं, जहाँ नेवला, साँप, चूहा-बिल्ली, गाय, बकरी, शेर, सिंह ये परस्पर विरोधी स्वापद सब एक साथ प्रेमसे आपसमें मिलकर रहते थे।

श्रीजीके वहाँ विराजनेका समाचार ग्रीष्मकाल बितानेके लिये आबूमें ठहरे हुए कुछ अन्य नरपतियोंको भी विदित हुआ। जिनमें शाहपुरा नरेश, किशनगढ़नरेश तथा राजासाहब खेतड़ी थे। एक दिन खेतड़ीके राजासाहब श्रीजीकी सेवामें उपस्थित हुए। वे श्रीजीके महान् प्रभावशाली व्यक्तित्वसे बड़े प्रभावित हुए। राजासाहब खेतड़ी योगके जिज्ञासु थे, उन्होंने श्रीजीसे योगदर्शन पढ़नेकी अभिलाषा प्रकट की। श्रीजीने अपनी तपस्या एवं योगमें निरत रहते हुए भी पढ़ानेके लिये समय देना स्वीकार कर लिया, इससे उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। वे प्रतिदिन श्रीजीके चरणोंमें उपस्थित होते और पं० रामचन्द्रजी ज्योतिषीके साथ योगदर्शन पढ़ा करते

थे। प्राचीनकालके ऋषियोंके आश्रमोंका पावन दृश्य वहाँ उपस्थित हो गया। श्रीमान् खेतड़ी नरेशकी योगसम्बन्धी सब गुत्थियाँ सुलझ गयीं; वे कृतार्थ हो गये। शास्त्रोंमें ठीक ही कहा है कि--

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः
विरला गुरवो राजन् शिष्यसन्तापहारकाः

"हे राजन्! ऐसे बहुत गुरु हैं, जो केवल शिष्यके धनका अपहरण करते हैं, परन्तु ऐसे गुरु विरले होते हैं, जो शिष्यके संताप जिज्ञासा-जनित व्याकुलताको मिटा देते हैं"। कृतकृत्य हुए श्रीखेतड़ी नरेशकी प्रार्थनाके अनुसार ही श्रीजीने आगे चलकर योगदर्शनपर हिन्दी भाषामें विस्तृत भाष्यका प्रणयन किया था, जो अद्वितीय है। योगदर्शनपर भगवान् व्यासका संस्कृतमें भाष्य है, जो हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिये अगम्य है। योगसम्बन्धी इस अद्वितीय लोकहित-कारी पुरुषार्थके निमित्त भाग्यशाली खेतड़ी नरेश ही थे।

श्रीजी परम योगिराज भी थे, इसमें तो कोई सन्देहही नहीं है। 'स्कन्द पुराण'के कुमारिका खण्ड, पचपनवें अध्यायमें योगकी सिद्धियों और सिद्धिप्राप्त सिद्धयोगियोंका विवरण मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि, योगीपुरुष अपनी मृत्युका काल जान लेता है। श्रीजीने अपनी लीला-संवरणका काल जान लिया था और वे बहुत सावधान हो गये थे।

इसी पुराणसे यह भी पता चलता है कि, "योगकी सब मिलाकर दो सौ अस्सी सिद्धियाँ होती हैं। उनमेंसे ईशानलोककी आठ, राक्षसलोककी सोलह, यक्षलोककी चौबीस, गन्धर्वलोककी बत्तीस, इन्द्रलोककी चालीस, चन्द्रलोककी अड़तालीस, प्राजापत्यलोककी अड़तालीस और ब्रह्मलोककी चौसठ। इनके अतिरिक्त अणिमादि आठ ऐसी सिद्धियाँ हैं, जिनसे योगीकी माहेश्वरपदमें स्थिति सूचित होती है। परन्तु जो योगिराज होते हैं, वे सिद्धियोंके पीछे नहीं

पड़ते। क्योंकि उनका तपःक्षय होता है और उन्हें वे जादूका खेल या मनोरञ्जनका एक साधन समझते हैं। श्रीजी इसी विचारके योगेश्वर-यज्ञेश्वर थे।

योगसिद्ध पुरुषोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि—

तद्गृहं यत्र वसति तद्भोज्यं येन जीवति।
येन निष्पाद्यते चार्थं स्वयं स्याद्योगसिद्धये॥
तथा ज्ञानमुपासीत योगी यत्कार्यसाधकम्।
पिधाय बुद्धया द्वाराणि मनोध्याने निवेशयेत्॥
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी यतिः स्मृतः॥
अनुरागं जनो याति परोक्षे गुणकीर्तनम्।
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धे लक्षणमुच्यते॥

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषयोश्च।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥

समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी,
शुचिस्तथैकान्तरतिर्जितेन्द्रियः।
समाप्नुयाद्योगमिमं महामना,
विमुक्तिमाप्नोति ततश्च योगतः॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
अबाह्यमार्गे सुखसिन्धुमग्नं,
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

विशुद्धबुद्धिः समलोष्ठकाञ्चनः,
समस्तभूतेषु वसन् समो हि सः।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययञ्च,
यतिर्हि गत्वा न पुनः प्रजायते ॥

रक्तचर्माम्बरधरा गायन्ती-हसती च यम्।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥

जीवतो देहभेदे वा सिद्धयश्चैकस्तु योगिनाम्।
सङ्गो नैव विधातव्यो भयात् पतनसम्भवात् ॥

(स्कन्द पु० कुमारिका खण्ड, अ० ५५)

"योगीका वही घर है, जहाँ वह निवास करे, वही भोजन है, जिससे जीवनकी रक्षा हो, वही ज्ञान और उपासना है, जिससे उसका प्रयोजन सिद्ध हो और जो योगसिद्धिमें सहायक हो। वह त्रिदण्डी यति होता है। उसके वाणी-दण्ड, कर्म-दण्ड और मनो-दण्ड रूपसे तीन दण्ड होते हैं, जो उसके अधीन रहते हैं। योगसिद्ध पुरुष तब जाना जाता है, जब उसके सामने आया हुआ मनुष्य अनुरक्त हो जाय, परोक्षमें उसका गुणकीर्तन होने लगे और उससे कोई भी जीव भयभीत न हो। लोलुपताका न होना, नीरोग रहना, निष्ठुरताका अभाव होना, शरीरसे सुगन्ध निकलना, मल और मूत्र-का कम हो जाना, शरीरमें कान्ति, मनमें प्रसन्नता तथा वाणीमें कोमलता आजाना योगसिद्धिके प्रारम्भिक लक्षण हैं। जो एकाग्र चित्त, ब्रह्मचिन्तनपरायण, प्रमादशून्य, पवित्र, एकान्त-प्रेमी और जितेन्द्रिय है, वही महामना योगी कहाता है और योगबलसे मोक्षको प्राप्त करता है। जिसका चित्त योगमार्गमें आरूढ़ होकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो जानेसे अपार आनन्द-सागरमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी मातृदेवी कृतार्थ हो गयी

और उसे पाकर यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी, ऐसा जानना चाहिये। जिसकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध है, जो मिट्टीके ढेले और सुवर्णमें समान भाव रखता है, समस्त प्राणियोंको समदृष्टिसे देखता है, वह प्रयत्नशील योगमार्गका साधक अपनी साधनासे उस सर्वोत्कृष्ट, सनातन और अविनाशी पदको प्राप्त करता है, जहाँ पहुँच जानेपर मनुष्यको पुनः इस संसारमें जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता।" श्रीजीमें ये सब लक्षण स्पष्ट रूपसे देख पड़ते थे।

लोककल्याणका अरुणोदय।

श्रीजी वशिष्ठाश्रममें ही बिराज रहे थे। उस समयकी एक घटना उल्लेखनीय है। एक दिन श्रीजी शौच-स्नान आदिसे निवृत्त होकर अपनी कुटियामें पधार रहे थे, इतनेमें किशनगढ़के स्वर्गवासी हिज हाइनेस महाराजा सर शार्दूल सिंह बहादुर के० सी० आई० ई० अपने दो एक राजन्य मित्रोंके साथ टहलते हुए वहाँ आ पहुँचे। उनमें धार्मिक विषयमें कुछ विवाद चल पड़ा था, पर वे निर्णय कुछ नहीं कर पाते थे। श्रीजीकी भव्य और प्रभावशाली मूर्तिके उनको दर्शन हुए, तो उन्होंने निश्चय किया कि, ये महात्मा साक्षात् शङ्करकी मूर्ति ही जान पड़ते हैं, तो चलिये, इन्हींसे अपने सन्देहका निपटारा करा लिया जाय। तदनुसार वे श्रीजीके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्होंने अपनी शङ्काएँ निवेदन कीं। श्रीजीने बड़े प्रेम और आदरसे उन नरपतियोंका स्वागत कर अपनी अलौकिक वाग्मिताद्वारा उनकी शङ्काओंका ऐसा समाधान किया कि, वे गद्गद हो गये। श्रीजीका अगाध धर्मज्ञान देखकर उन्हें सन्देह होने लगा कि, कदाचित् ये ही महर्षि वशिष्ठ हों, जो अबतक तपस्यामें रमे हुए हैं। श्रीजीके प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा हुई और धर्मोपदेशसे कृतार्थ

करनेके लिये उन्होंने किशनगढ़ पधारनेकी साग्रह विनम्र प्रार्थना की। श्रीजीने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। श्रीजीके धर्मोपदेशमें यज्ञ-रहस्यका विषय आगया था। उसका किशनगढ़ नरेशपर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि, उन्होंने अपने राज्यमें विपुल धन व्यय कर एक महायज्ञ करनेका निश्चय कर लिया। वे श्रीजीके परमभक्त हो चुके थे, अतः उन्होंने इस कार्यकी सिद्धिके लिये परामर्श और मार्गदर्शन करनेके हेतु श्रीजीसे शीघ्र किशनगढ़ पधारनेकी प्रार्थना की। श्रीजी भी अपनी तपस्याका समावर्तन कर किशन-गढ़ पधार गये। यहींसे श्रीजीके निष्काम कर्मयोगके मूल उद्देश्य जगत्कल्याणकी बुद्धिसे लोक-सेवाका कार्य आरम्भ होता है।

निगमागम-मण्डली

श्रीजीके परामर्शानुसार क्षत्रियोचित वैदिक सोमयाग करना निश्चित हुआ और किशनगढ़में उसका आयोजन किया जाने लगा।

सबसे पहले प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि, यज्ञ-समारोह राज्यके किस स्थानमें किया जाय ? वह स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ कभी गोवध न हुआ हो; परन्तु ऐसे स्थानका निश्चय कैसे किया जाय ? इस देशमें सात सौ वर्षोंतक मुसलमानोंका शासन रहा और मूर्तिभंजक धर्मोन्मादी मुसलमानोंकी नीति यही रही कि, जहाँ वे जाते, वहाँके मन्दिरोंको ढाह देते, मूर्तियोंको तोड़ देते और गोवध किया करते थे। किशनगढ़ जिसकी प्राचीन राजधानीका नाम रूप-नगर था, जो अब एक कसबेके रूपमें रह गया है—उसपर मुसल-मानोंके कई बार आक्रमण हो चुके थे और औरङ्गजेब तो महाराणा राजसिंहके समय (ईसाकी सत्रहवीं शताब्दिमें) दूलहा बनकर रूप-नगरकी राजकुमारीसे विवाह करनेके लिये चल पड़ा था और

महाराणासे हारकर उसे अपनासा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा था। तब गोवध-विहीन स्थानका निर्णय कैसे हो? श्रीजीको इसका हल अकस्मात् सूझ गया। किशनगढ़ स्टेशनसे कुछ दूरीपर एक बड़ा ह्रद (तालाब) है, ऐतिहासिक कागज-पत्रोंके आधारपर जाँच करायी गयी, तो पता चला कि, मुसलमानोंके शासन-कालसे वह बहुत प्राचीन है। श्रीजीने परामर्श दिया कि, इस तालाबका जल निकलवा दिया जाय और वहीं स्थान परिष्कृत कर यज्ञभूमि-निर्माण करायी जाय, क्योंकि प्राचीन तालाबके भीतर गोवध होना सम्भव नहीं है। श्रीजीकी बात सबको जँच गयी। तालाबका जल पम्पोंसे निकलवा दिया, भूमि परिष्कृत करायी गयी और वहीं एक सुन्दर यज्ञमण्डप कुशल कारीगरोंसे बनवाया गया।

यज्ञमण्डप तो बन गया। अतिथियोंके ठहरनेके स्थानभी निश्चित हो गये। कुछ नये निर्माण किये गये और कुछ पुराने भवनोंको ही इस काममें लाया गया। परन्तु अब दूसरी जटिल समस्या यह उपस्थित हुई कि, इस देशमें अब वैदिक कर्मकाण्ड के लुप्तप्राय हो जानेसे सोमयागकेलिये सत्रह ऋत्विजोंको कैसे जुटाया जाय? उनका जुटा लेना कठिन ही था; परन्तु श्रीजीने काशी, नासिक आदि तीर्थोंसे वैदिक कर्मकाण्डियोंका संग्रह किया और बड़े समारोहके साथ सोमयज्ञ सम्पन्न हुआ। विविध प्रान्तोंसे अनेक विद्वान् और नरपति यज्ञदर्शनार्थ उपस्थित हुए थे, जो धार्मिक प्रवर किशनगढ़ नरेशद्वारा उत्तमतया सम्मानित हुए। ऋत्विजोंको पुष्ट दक्षिणा भी दी गयी। यह यज्ञ ऐसा धूमधामसे हुआ कि, राजपूताने भरमें इसकी प्रशंसा होने लगी और वृद्धलोग कहने लगे कि, ऐसा यज्ञ राजस्थानमें सैकड़ों वर्षोंसे नहीं हुआ था। यह धर्म-कार्य श्रीजीके ही तत्त्वावधानमें हुआ। वैदिक यज्ञोंमें विपुल धनव्यय करना पड़ता है, इस कारण ऐसे यज्ञोंका अनुष्ठान राजा-महाराजा

ही कर सकते हैं। आधुनिक नरेश यज्ञ-विमुख हो रहे हैं, इस कारण वे बलहीन होते जाते हैं और श्रौतकर्म भी लुप्त हो रहे हैं। जब यज्ञ करनेवाले ही नहीं, तो ब्राह्मण भी यज्ञ-प्रयोगोंके सीखनेमें क्यों दत्तचित्त होने लगे? उन्हें कहींसे तो उत्तेजना मिलनी चाहिये? श्रीनरेशके इस यज्ञसे उनकी बड़ी कीर्ति हुई और उस प्रान्तके लोग अब तक उस यज्ञका स्मरण करते हैं। किशनगढ़ नरेशके इस यशका श्रेय सर्वथा श्रीजीको ही है। यज्ञानुष्ठान समाप्त होनेपर किशनगढ़में ही कुछ दिन ठहरकर श्रीजीने अपने भावी धर्मकार्यकी योजना तैयार की और अपने कुछ शिष्योंको साथ लेकर मथुरापुरीमें 'निगमागममण्डली' की स्थापना कर दी। इसके प्रारम्भिक सब कार्यकर्ता परोपकार-व्रतधारी साधु-संन्यासी ही थे। इसका उद्देश्य था, सनातनधर्मका पुनरुद्धार, सद्विद्या-विस्तार और भारत-वर्षव्यापी एक नियमबद्ध स्वजातीय महासभाकी स्थापना। मंडलीके कार्यालयके लिये मथुराके सुप्रसिद्ध सेठजीके बाड़े (कोठी) में स्थान भी मिल गया। वहीं श्रीजी विराजमान होकर मण्डलीका काम सम्हालने लगे। 'निगमागम चन्द्रिका' नामक हिन्दी मासिक पत्रिका निकाली गयी, छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जाने लगीं और मण्डलीके कार्यसञ्चालनके लिये लोकसंग्रह और धनसंग्रह भी किया जाने लगा। इस पवित्र कार्यमें सबसे पहले श्रीमान् किशनगढ़ नरेशने ही दानपत्र लिखकर आर्थिक सहायता प्रदान की थी। तदनन्तर अनेक राजा-महाराजाओंके दानपत्र प्राप्त हुए। श्रीभारतधर्म-महामण्डलके वे ही सर्वप्रथम आश्रयदाता थे।

इसका उल्लेख पहले हो चुका है कि आबूमें श्रीजीके तपस्या करते समय शाहपुरा नरेश भी श्रीजीकी सेवामें उपस्थित हुए थे। वे श्रीजीके परमभक्त हो चुके थे। जब श्रीजी किशनगढ़-नरेशकी प्रार्थनासे किशनगढ़ पधारे और जब यज्ञका पुण्यकार्य सम्पन्न

हो चुका, उसके पश्चात् ही शाहपुरा नरेशने श्रीजीको अपने राज्यमें बड़े आग्रहसे आमन्त्रित किया। श्रीजी उनके प्रेमपूर्ण आमन्त्रण-को टाल नहीं सके। निगमागममण्डलीका कार्य प्रारम्भ हो चुका था। अब लोक-संग्रह एवं धनसंग्रहका कार्य मण्डलीका ही एक प्रधान अङ्ग था। अतः श्रीजी समय निकालकर शाहपुरा पधारे। शाहपुरामें नरेशके आग्रहसे कुछ दिन ठहरे रहे। वहाँ प्रतिदिन नियमित धर्म-चर्चा एवं सत्सङ्ग होता था। शाहपुरा-नरेश अपने इष्टमित्रों एवं विशिष्ट लोगोंके साथ श्रीजीका उपदेश सुनते नहीं अघाते थे। शाह-पुरा उदयपुरके निकट ही है। क्रमशः उदयपुरके तत्कालीन महाराणा हिन्दू सूर्य महाराणा फतेहसिंहके कानोंमेंभी श्रीजीके असाधारण व्यक्तित्व अलौकिक प्रतिभा एवं प्रगाढ़ पाण्डित्यकी बात पड़ी। महा-राणाने अपने एक सरदारको श्रीजीको उदयपुर पधारनेकी प्रार्थना करनेके लिये भेजा। तदनुसार श्रीजी शाहपुरासे उदयपुर पधारे। श्रीजीको उदयपुरकी अतिथिशालामें ठहराया गया एवं उनकी सेवाका समुचित प्रबन्ध किया गया। महाराणा साहब श्रीजीके दर्शनोंके लिये बड़े उत्सुक थे। दूसरे दिन अपराह्नमें श्रीजीके महलमें पधारनेका समय निश्चित हुआ। श्रीजीको अतिथिशालासे राजप्रासाद आनेके लिये सवारीके लिये घोड़ा भेजा गया। श्रीजी अच्छे घुड़सवार भी थे। वे घोड़ेसे राजभवनमें पधारे। वहाँ श्रीजीने महाराणा साहबके मिलनेकी विचित्र रीति देखी। महलके एक सुसज्ज कमरेमें महाराणा बैठे थे, उनके दाहिने व बायें कई सरदार बैठे थे। श्रीजी सामने विराजमान हुए। तदनन्तर महाराणा साहबने अपने एक सरदारसे पूछा कि, श्रीजीका स्थान कहाँ है, तब उक्त सरदारने श्रीजीसे पूछा—स्वामीजी महाराज! श्रीजी हुजूर पूछते हैं, कि आपका स्थान कहां है?" बात करनेकी यह राजसिक रीति श्रीजीको अच्छी नहीं लगी। वे तत्काल उठ खड़े हुए एवं

महाराणा साहबको सम्बोधन करके बोले—"राजन्! मैंने आपको देखा और आपका दरबार भी देखा, अब मैं जाता हूँ।" इतना कहकर श्रीजी अतिथिशालामें लौट आये। महाराणा साहब श्रीजीकी यह तेजस्विता तथा निस्पृहताको देखकर बड़े ही प्रभावित हुए। उनकी रियासती ठाट-बाट की जो प्रथा दूसरे लोगोंके साथ बरतनेकी थी, उसका बर्ताव श्रीजी जैसे एक महान् सन्तके साथ करनेपर महाराणाको पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने उसी समय अतिथिशालामें अपने एक विशिष्ट सरदारको दौड़ाया। श्रीजी तो वहाँ से जानेको प्रस्तुत थे। सरदारने बड़ी नम्रतासे क्षमा प्रार्थना की, एवं महाराणा साहबकी ओरसे यह भी प्रार्थना की कि, थोड़ा समय यहाँ विराजकर हमें कृतार्थ करनेकी कृपा करें। श्रीजी उच्चकोटिके संत थे, प्रार्थना स्वीकार कर ली। दूसरे दिन श्रीजीको अतिथिशालासे दूसरे स्वतन्त्र एकान्त स्थानमें ठहरनेका प्रबन्ध किया गया। महाराणा साहबने दर्शनकी इच्छा की, तब श्रीजीके निवास-स्थानसे महलोंतक जानेकेलिये दो घोड़ोंकी बग्गी आयी। उन दिनों तबतक मोटरका प्रचलन नहीं था। श्रीजी इस बार जब महलमें पधारे तो, उसी सुसज्ज कमरेमें महाराणा साहब एकाकी बैठे थे। बड़ी श्रद्धासे वे श्रीजीसे मिले। श्रीमान् महाराणा साहबके प्रेमपूर्ण आग्रहसे श्रीजी कई महीनोंतक उदयपुरमें ही विराजते रहे और महाराणा साहब प्रतिदिन घण्टों श्रीजीके चरणोंमें बैठे रहते एवं आत्मा-परमात्मा, परलोक, कर्मविज्ञान, योग, भक्ति आदि विषयोंका उपदेश सुनते तृप्त नहीं होते थे। महाराणा साहबकी श्रीजीपर प्रगाढ़ श्रद्धा हो गयी, अतः वे श्रीजीको उदयपुरसे जाने देना नहीं चाहते थे। फिर आनेका आश्वासन देकर श्रीजी उदयपुरसे मथुरा लौट आये। हिन्दू-सूर्य महाराणा फतेहसिंहने अबतक किसी साधु-सन्तको कभी शिर नहीं नवाया था, वे दिल्ली-दरबारमें तत्कालीन वाइसरायके बार-बार

बुलानेपर भी दिल्ली नहीं गये। इतने तेजस्वी एवं स्वाभिमानी नरेश श्रीजीके ऐसे अनन्य भक्त हो गये, इसका राजपूतानेके सभी नरेशों-पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फलतः राजपूतानेके प्रायः सभी नरेशोंने अपनी राजधानीमें श्रीजीको आमन्त्रित किया था। सुविधाके अनुसार श्रीजी सभी स्थानोंमें पधारे। आगे चलकर ये सभी नरपति श्रीभारत-धर्म-महामण्डलके संरक्षक तथा सहायक बने।

उदयपुरके महाराणा फतेहसिंहकी प्रबल इच्छा थी कि श्रीजी उनके राजमें ही सदा विराजते रहें। महाराणा साहबने चित्तौरगढ़में श्रीजीके रहनेका उत्तम स्थान निर्माण कराने एवं पचास हजार वार्षिक आयकी जागीर स्थायीरूपसे श्रीजीको भेंट करनेकी भी इच्छा प्रकट की, किन्तु श्रीजीने इस प्रस्तावको ठुकरा दिया। श्रीजी-ने कहा कि हमारे जैसे भिक्षुक साधुको महल तथा जागीरसे क्या प्रयोजन है। ठीक ही है, जिन्होंने अपने पूर्वाश्रमके प्रेम-वैभव, ऐश्वर्य एवं लाखोंकी सम्पत्तिकी तिलांजलि देकर संन्यास ग्रहण किया था, उनको इन हेय तुच्छ वस्तुओंका क्या प्रलोभन हो सकता था?

अब श्रीजी इस उद्योगमें लग गये कि, भारतमें जितनी धर्म-सभा या महासभाएँ हों, उन सबको एक सूत्रमें आबद्ध कर एक समष्टि धर्मशक्ति उत्पन्न की जाय और उसीकेद्वारा स्थायी और सामाजिक धर्मसेवाके कार्य होते रहें। इसका प्रयोजन श्रीजीने इस प्रकार बताया था।

"हमारे आर्यावर्तपर श्रीभगवान्‌की सदासे कृपा रहती आयी है और रहेगी भी। यद्यपि इस समय इस देशमें विदेशी शासन है, तथापि सम्पूर्ण भारतकी प्रजा एक ही सम्राट्के अधीन होनेसे आर्य-प्रजा अपने अभ्युदयकेलिये सुगमतासे प्रयत्न कर सकती है। परन्तु सम्राट्के अन्य-धर्मावलम्बी होनेसे उनसे आर्यप्रजाकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक उन्नतिमें विशेष सहायता नहीं मिल

सकती। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी धर्मसम्बन्धी, विद्या-सम्बन्धी और समाज-सम्बन्धी उन्नति करनेमें स्वयं तत्पर हों। अभी आर्यजातिमें वर्णाश्रमका बीज विद्यमान है। अब भी यहाँ धर्मप्राण गृहस्थ, तपस्वी ब्राह्मण और वैराग्य-सम्पन्न परोपकार-व्रतधारी संन्यासी देख पड़ते हैं। बिना प्रयत्नके विभिन्न तीर्थ-स्थानोंमें अगणित धार्मिक नर-नारियोंकी भीड़ एकत्र हो जाती है। संस्कृतके विद्वानोंकी कहीं पूछ न होनेपर भी भिक्षावृत्तिसे बड़ी संख्यामें पठन-पाठनकेद्वारा ब्राह्मण-बालक इस देवभाषाकी सुरक्षा करनेमें संलग्न हैं। अधिकांश संस्कृतसाहित्यके नष्ट हो जानेपर भी जो थोड़ा-सा अंश बच रहा है, उसकी गम्भीरतामें प्रवेश करनेकी शक्ति पृथ्वीके किसी देशके विद्वानोंमें नहीं देख पड़ती। त्रिलोकपावन सतीत्वधर्मका आदर्श भारतमें ही देखनेमें आता है। इन भयानक अन्न-संकटके दिनोंमें भी अन्नदानका महत्त्व आर्यजाति नहीं भूली है। नये-नये देवस्थान और जलाशय दुर्भिक्षके दिनोंमें भी बन रहे हैं। पृथ्वीकी सभ्य कहानेवाली-जातियोंमें बहिर्लक्ष्य, इन्द्रिय-सुख और जड़वादकी ही प्रबलता है; परन्तु आर्यजातिमें अन्तर्लक्ष्य विषय-वैराग्य-बुद्धि और आध्यात्मिक लक्ष्यका आदर्श जीवन आज भी देख पड़ता है। सकल सद्भावोंका बीज अभीतक आर्यजातिमेंसे नष्ट नहीं हुआ है। इस प्रतिकूल परिस्थितिमें भी जो अनुकूल बातें देख पड़ती हैं, उनसे लाभ उठाकर उनके बीजोंकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यदि इस कर्तव्यकी हम उपेक्षा करेंगे, तो हमारा अस्तित्व ही संकटमें पड़ जायगा। संसारकी अनेक उन्नत जातियोंकी तरह हमारी भी समाप्ति हो जायगी"।

सामाजिक अनुशासन

चाहे धार्मिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, या राजनीतिक क्षेत्र

हो, अनुशासनकी आवश्यकता सर्वत्र होती है। मानव-समाजकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाके लिये दो ही अनुशासन कार्यकारी होते हैं, राजानुशासन और समाजानुशासन। इस समय हमें राजानुशासनकी सहायता मिल नहीं सकती; किन्तु समाजानुशासनके लिये कोई रोक-टोक नहीं है। चारों वर्णोंमें ब्राह्मण और चारों आश्रमोंमें संन्यासी शीर्षस्थानीय हैं। इन्हींकी अवनतिसे हिन्दू-समाजकी अवनति हुई है। अतः समाजानुशासनके द्वारा ऐसा प्रयत्न होना चाहिये, जिससे उक्त दोनों श्रेणियोंमें स्वार्थपरता और भोगलालसाकी कमी होकर संयम और निष्काम कर्मयोगकी प्रवृत्ति बढ़े। ब्राह्मणोंमें तप, स्वाध्याय और विद्यानुरागका उदय हो और साधु-संन्यासियोंमें विषयवैराग्य और परोपकारकी प्रवृत्ति जाग उठे।

सनातनधर्म सर्वजीवहितकारी होनेसे जगतके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सब प्रकारके अधिकारियोंको समान दृष्टिसे देखता है। भूत-प्रेतोंसे लेकर ब्रह्मतककी उपासना करनेवालोंका इसमें स्थान है और सब प्रकारके उपासक-सम्प्रदाय यहाँ देख पड़ते भी हैं। विज्ञान-भूमिमें अन्तर होनेपर भी द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मत यहाँ प्रचलित हैं; परन्तु साधारण धर्म-शिक्षाका लोप हो जानेसे जिस मूल वृक्षकी ये शाखाएँ हैं, उस वेदमूलक सत्यकी सार्वभौम दृष्टि दिन-दिन घटती जा रही है। प्राचीनकालमें वर्णाश्रम-धर्मावलम्बी लोग अपने सदाचार और शास्त्रोक्त स्वाभाविक अनुशासनके द्वारा अपनी त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) उन्नति करते रहते थे। उन्हें अन्य किसी अनुशासनकी आवश्यकता ही नहीं थी। परन्तु बौद्धकालमें उस व्यवस्थामें शिथिलता आ जानेके कारण समाजानुशासनका उदय हुआ और वह अनुशासन अँग्रेजीशासनके पहलेतक बराबर चलता रहा। अँग्रेज इतिहासज्ञोंकी यह सम्मति है कि, मुसलमानी साम्राज्यके दिनोंमें

हिन्दुस्तानके ग्रामों और नगरोंकी पञ्चायती शक्तिने ही हिन्दुओंको विधर्मी होनेसे बचाया था। उसी सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठा करनेका समय उपस्थित हो गया है।

योग्य अधिकारियोंको पुरस्कार देने और अयोग्य अधिकारियोंका तिरस्कार करनेसे समाजका सब प्रकारसे अभ्युदय होता है। निकृष्ट श्रेणीके मनुष्य तिरस्कार-रूपी सामाजिक दण्डके भयसे सीधे रास्तेपर आ जाते हैं और मध्यम श्रेणीके लोग पुरस्कारकी आशासे अपने कर्तव्योंका पालन किया करते हैं। उन्नत श्रेणीके लोग शास्त्र और अपनी विशुद्ध बुद्धिके आश्रयसे आपही अपने कर्तव्य-पालनमें निरत रहते हैं। उन्हें न पुरस्कारका प्रलोभन होता है, न तिरस्कारका भय। सर्वसाधारणकी धर्मोन्नति, विद्योन्नति, सामाजिक उन्नति और शिल्पादिकी उन्नतिके विचारसे योग्य व्यक्तियोंको जातीय सम्मान आदिद्वारा पुरस्कृत और अयोग्य व्यक्तियोंको सामाजिक दण्डद्वारा तिरस्कृत करनेकी प्रथा पुनः प्रचलित होनी चाहिये। इसीसे हमारा सामाजिक संघटन हो सकता है। इस विशाल देशके अनगिनती तीर्थ-स्थानोंकी सम्हाल करना, देवालयों, धर्म-स्थानों और अन्नसत्रोंकी सुव्यवस्था करना, संस्कृत-पाठशालाओंको एक सूत्रमें आबद्ध कर प्राचीन विद्यापीठोंका पुनः संस्कार करना आदि समाजहितकारी कार्य सामाजिक संघटन अथवा समाजानुशासनके द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं। अगणित राजविप्लव और धर्मविप्लव होनेपर भी हमारा अनादि धर्म अपने स्वरूपमें स्थित है। अतः आर्यजातिकी धर्मोन्नति, विद्योन्नति, समाजोन्नति और आधिभौतिक उन्नतिके लिये भारतमें एक सार्वजनिक प्रबल पञ्चायती-शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये और इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये देशकी सब धर्मसभाओं, विद्यापीठों, संस्कृत-पाठशालाओं, सामाजिक सभाओं, शिल्प-सभाओं, धर्मपीठों, मठों, देवस्थानों, धर्मालयों और

पञ्चायतोंके सम्मेलनसे हिन्दू-समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाली भारतवर्ष-व्यापिनी एक विराट् धर्ममहासभा स्थापन करनेकी बहुत-ही आवश्यकता है। स्वामी केशवानन्दजी और कात्यायनी प्रतिष्ठा श्रीजीके निगमागम-मण्डलीके द्वारा यथासम्भव अपने विचारके अनुसार कार्य संचालन कर रहे थे। इधर उनके गुरुदेव स्वामी केशवानन्दजी महाराजने भी अपना एक आश्रम वृन्दावनमें बना लिया था; वे प्राय: श्रीजीके निकट मथुरा आया करते थे और श्रीजीके निकट रहा करते थे। श्रीजीके उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेके पश्चात् स्वामी केशवानन्दजी महाराजका भी यश एवं महिमा-में विशेष वृद्धि होने लगी और अनेक नरपतिगण भी उनके शिष्य रूपमें दीक्षित हो गये, उनकी सिद्धिका चमत्कार भी होने लगा।

यद्यपि श्रीजीका श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजके साथ गुरु और शिष्यका सम्बन्ध था, तथापि श्रीजीकी ज्ञानकाण्डकी योग्यता-को वे जानते थे। व्यवहारत: वे गुरुदेव थे, किन्तु श्रीजीको ही अपना गुरु मानते थे। अध्यात्मसम्बन्धी अनेक विषय उन्होंने श्रीजीसे ही समझे थे और यद्यपि श्रीजी उनके प्रति नम्रतापूर्ण अपना शिष्यभाव ही प्रकट किया करते थे, तथापि गुरुजी उनको बराबरीका आसन दिया करते और उनके ज्ञानवैभवका हार्दिक आदर किया करते थे।

स्वामी केशवानन्दजीके चमत्कारपर मुग्ध होकर अनेक धनी-मानी सज्जन उनके शिष्य हो गये। वे किसीका मुकद्दमा जिता देते, तो किसीके डूबते धनको दिला देते; किसीको कठिन रोगसे मुक्त कर देते, तो किसी वन्ध्या स्त्रीको सन्तान देकर उसका घर बसा देते; किसीका वैर-विरोध मिटा देते, तो किसीका बिगड़ा काम बना देते थे। सारांश, तांत्रिक षट्कर्मों (जारण, मारण, मोहन, स्तम्भन, उच्चाटन और वशीकरण) को कुशलतापूर्वक कर दिखाना उनके

बाएँ हाथका खेल था। इसीके बलपर उन्होंने अपनी महन्ती जमायी थी और लाखोंकी सम्पत्ति बटोर ली थी। पूर्ण शाक्त होनेके कारण वे श्रीजगदम्बाके अनन्य उपासक थे और उनके लिये तन्त्र-का यह वचन चरितार्थ होता था :—

"यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षः,
यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां,
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव"॥

इस प्रकार भोग और मोक्ष दोनों उनके करतलगत हो रहे थे। शक्ति उपासकोंके चक्रार्चनमें भी यदा-कदा वे उपस्थित हो जाया करते थे। स्वर्गीय श्रीमहाराजाधिराज सर रमेश्वरसिंहजी दरभंगा-नरेशपर उनकी विशेष कृपा रहा करती थी। जब वे किसी समय श्रीनरेशके चक्रार्चनमें उपस्थित होते, तो उनके भव्य डीलडौल, विशाल नेत्र, श्यामवर्ण, कृष्ण जटाजूट, विस्तृत भाल आदिको देखकर वे भैरवनाथके रूपमें उनका श्रद्धापूर्वक स्वागत किया करते थे। श्री स्वामीजी भी बड़ी मस्तीसे इसका उत्तर देते :—

"अलि-पिशित-पुरन्ध्री-भोग-पूजापरोऽहं।
बहुविध-कुलमार्गारम्भसम्भावितोऽहम्॥
पशुजनविमुखोऽहं भैरवीमाश्रितोऽहं।
गुरुचरणरतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्॥

"हाँ, मैं मधु, शुद्धि और शक्तिकी भोगरूपी पूजामें लगा रहता हूँ, नाना प्रकारके कौलोंके उत्सवोंमें मेरा आदर होता है, जगदम्बासे जो विमुख हैं, उनसे मैं दूर रहता हूँ, भैरवी-शक्तिका आश्रय किये रहता हूँ, श्री सद्गुरुके चरणोंमें निरत रहता हूँ और मैं भैरव हूँ, शिव हूँ"।

यों श्रीस्वामीजी शाक्ताचारोंका समर्थन अवश्य करते थे, किन्तु उसके रहस्य और विज्ञानको नहीं जानते थे। वह उन्होंने श्रीजीसे-ही समझा। श्रीजीने विज्ञान, उपनिषद्, दर्शन तथा तन्त्रादि शास्त्रोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि, मनुष्य जिस अधिकार और मनोवृत्तिका होता है, उसीके अनुसार वह उपासना करता है। स्वामीजीकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर श्रीजीने उनको उपासनाके भेद और उनके रहस्यको अच्छी तरहसे समझाकर विशेष अनुरोध किया कि, यदि आपकी ऐसी ही प्रवृत्ति है, तो आप शाक्तधर्ममें दीक्षित होकर यथाविधि श्रीजगदम्बाकी उपासना किया करें। श्रीभगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

> "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"

"जो शास्त्र-विधिकी उपेक्षाकर चित्त-शुद्धिके न होनेसे स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होते हैं, वे न तो सिद्धिको, न सुखको और न परमगति-को ही प्राप्त कर सकते हैं। अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं, उसके निर्णयके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है। हे अर्जुन! तुम शास्त्र-के विधानको जानकर तदनुसार कर्मका आचरण करो।" और भी कहा है :—

> "त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
> सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥
> सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥"

"प्राणियोंमें स्वाभाविक रूपसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इन-तीनों प्रकारकी श्रद्धाका विषय

श्रवण करो। हे भारत! सबकी (विवेकी या अविवेकियोंकी) श्रद्धा अपने-अपने अन्तःकरणकी वृत्तिके अनुरूप होती है। यह लौकिक पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही वह हो जाता है।" त्रिगुणोंके अनुसार—

"यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः।
दम्भाहङ्कार-संयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥"

सात्त्विक लोग देवी-देवताओं, राजसिक यक्ष-राक्षसों और तामसिक भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं। परिणामतः वे पूजक अपने पूज्यके रूपमें ही परिणत हो जाते हैं। परन्तु जो अशास्त्रीय कठोर तपस्या करते, दम्भ, अहङ्कार, वासना, आसक्ति और बलसे युक्त होकर शरीरमें स्थित पञ्चमहाभूतोंको दुर्बल बना डालते तथा मुझको भी क्लेश देते हैं, उन अविवेकी लोगोंको निश्चित रूपसे तुम असुर ही समझो।" अतः अपना कल्याण चाहनेवालोंको शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक उपासनामें ही रममाण होना चाहिये।

शक्ति-उपासनाका रहस्य

तन्त्रोंमें शक्ति-उपासनाका ही प्राधान्य होनेसे इसका रहस्य श्रीजीने इस प्रकार समझाया है :—वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान्में अभेद है। परन्तु शक्ति और शक्तिमान्की पृथक् सत्ता जबतक परोक्ष अथवा अपरोक्ष अनुभूतिके द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है, तबतक शक्ति-मान्से शक्तिका प्राधान्य मानना ही पड़ेगा। गायककी अपेक्षा उसकी

गानशक्तिका प्राधान्य अधिक होता है। गायकके रूपपर कोई मुग्ध नहीं होता, किन्तु उसकी गानशक्तिपर होता है। इसीसे पुराण, तन्त्रादिमें शक्ति उपासनाका विस्तार, उपयोग और महत्त्व अधिक पाया जाता है। उपासना सगुण ब्रह्मकी ही होती है। सगुणत्वमें द्वैतभाव रहना अनिवार्य है। किसी उपासनामें शक्तिमान्‌को प्रधान मानकर उसकी शक्तिके अवलम्बनसे साधन-प्रणाली निश्चित की गयी है और कहीं-कहीं शक्तिको प्रधान मानकर शक्तिमान्‌का अनुमान करनेकी साधन-प्रणाली बतायी गयी है। परन्तु श्रीभगवान्‌की मातृभावसे उपासना करनेकी जो अनन्त वैचित्र्यपूर्ण शक्ति-उपासनाकी प्रणाली है, वह इन दोनोंसे विलक्षण है। इसमें शक्ति और शक्तिमान्‌के अभेदका बराबर लक्ष्य रक्खा गया है। वे ही शक्तिरूपमें उपास्य-उपासकका सम्बन्ध स्थापन करते और वे ही शक्तिमान् रूपसे शक्तिभावापन्न भक्तको अपनेमें लीन कर मुक्त कर देते हैं। यही इस अनुपम शैलीका मधुर और गम्भीर रहस्य है। शाक्त-सम्प्रदायके दो मार्ग हैं,—दक्षिण और वाम। दोनों मार्ग यद्यपि समान फलप्रद हैं, तथापि श्रीजी दक्षिणमार्गको ही प्रशस्त मानते थे।

ब्रह्मानन्द-विलासरूपी सृष्टिदशामें ब्रह्मपदसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले चित्, सत्, तेज, बुद्धि और शक्ति ये ही पाँच भाव हैं और इन्हीं भावोंके अनुसार पञ्चदेवोंकी उपासना-प्रणाली प्रचलित हुई है। चित् भावके आश्रयसे विष्णु-उपासना, सत् भावके आश्रयसे शिव-उपासना, भगवत्तेजके आश्रयसे सूर्य-उपासना, भगवद्भावमयी बुद्धिके आश्रयसे गणपति-उपासना और भगवत्-शक्तिके आश्रयसे शक्तिकी उपासना की जाती है। चित्सत्ता जगत्‌को प्रकाशित करती है, सत्सत्ता जगत्‌के अस्तित्वका अनुभव कराती है, तेजःसत्ता जगत्‌को ब्रह्मकी ओर आकृष्ट करती है, बुद्धि सत्ता सत् ब्रह्म और

असत् जगत्का भेद बताती है और शक्ति-सत्ता सृष्टि-स्थिति लय-का कार्य करती हुई जीवको बद्ध करती है और मुक्त भी। इन पाँच सगुण ब्रह्मकी उपासनाओंके अवलम्बनसे ही उपासक ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हो जाता है। यही पञ्चोपासनाका गूढ़ विज्ञान है। यह ब्रह्म-शक्तिकी ही उपासना है।

समस्त पिण्डों और ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि ब्रह्मशक्तिका ही विलास है। ब्रह्मशक्तिके शास्त्रोंने चार रूप माने हैं—स्थूल-शक्ति, सूक्ष्म-शक्ति, कारण शक्ति और तुरीया शक्ति। उसकी स्थूल-शक्ति पंचभूतात्मिका है। जो कुछ हम इस स्थूल सृष्टिमें देखते हैं, वह उसी स्थूल शक्तिका स्वरूप है। इसका अनुभव पदार्थ-विद्याके द्वारा भी होता है। स्थूल जगत्की अवस्थाओंका परिवर्तन, धारण आदि कार्य इसी शक्तिके द्वारा सम्पन्न होते हैं। तड़ित् शक्ति आदि अनेक इसके भेद हैं, इस कारण शक्ति-उपासनाके भी विस्तार और महत्त्वके अनुसार अनेक भेद हैं। उस महाशक्तिकी सूक्ष्म-शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं,—ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी शक्ति और शैवी शक्ति। चाहे स्थावर-जंगम सृष्टि हो या पिण्ड ब्रह्माण्ड सृष्टि, सर्वत्र उत्पत्ति, स्थिति और लयके क्रम और अस्तित्वको ये-ही शक्तियाँ बनाये रहती हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डके अधिनायक ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन्हींकी सहायतासे अपने-अपने कार्य सुसम्पन्न किया करते हैं। उस महाशक्तिकी तीसरी अवस्था, जो कारण-शक्ति कहाती है, वह ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी जननी है, निर्गुण ब्रह्मका सगुण रूपसे दर्शन करानेवाली है और ब्रह्मसे आलिङ्गित है। यही कभी विद्या बन जाती है और कभी अविद्या भी। ब्रह्मशक्तिके सत्त्व-प्रधान और तमः प्रधान पृथक्-पृथक् दो भाव ही इसके कारण हैं। वही ब्रह्मशक्ति जब सदा ब्रह्ममें ही विलीन रहती है, तब तुरीया शक्ति कहाती है। यही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। यही ब्रह्मशक्ति स्वरूप-

प्रकाशिनी है। जब वह ब्रह्मसे आलिङ्गित होती है, तब सृष्टि-प्रपञ्चका परदा खुलता है और जब ब्रह्ममें विलीन रहती है, तब सिमट जाता है। उस समय केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। चाहे किसी रूपमें हो इसी ब्रह्म-शक्तिकी उपासना सर्वत्र प्रचलित है और इसीके अवलम्बनसे साधक अपनी क्रमोन्नति करनेमें समर्थ होता है।

जगत्कारण परमात्मा (ब्रह्म) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दरूपसे त्रिभावोंकेद्वारा जाने जाते हैं और परा-भक्तिके अधिकारी भावुक भक्तगण उनके उक्त तीन भावोंके अनुसार ब्रह्म, ईश्वर और विराट् रूपसे अपने हृदय-मन्दिरमें पृथक्-पृथक् रूपसे उनका दर्शनकर आनन्द-सागरमें अवगाहन करते हैं, उसी प्रकार संसारकी सब वस्तुएँ त्रिभावात्मक हुआ करती हैं। कारण ब्रह्म-की तरह कार्यब्रह्म भी त्रिभावमय है। स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्म-दैवीलोकमें भी अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म तीनों भाव विद्यमान हैं। उनका यथाधिकार सन्तुलन रखना उसी महाशक्ति-का कार्य है, क्योंकि संसारमें त्रिगुण और त्रिभावोंसे रहित कोई वस्तु नहीं है।

पूर्वकर्मानुसार वह महाशक्ति सब पिण्डोंकी प्रकृति गठित करती है। वासनाके अनुसार कर्म, कर्मके अनुसार जन्म और जन्मके उप-रान्त फिर वासना, इस प्रकार आवागमनका चक्र बराबर चलता रहता है। पिण्ड तीन प्रकारके होते हैं,—सहजपिण्ड, मानव-पिण्ड और दैवपिण्ड। उद्भिदादि योनियोंके सहज पिण्ड हैं, जो प्राकृतिक नियमानुसार क्रमोन्नति करते हैं। उनमें शुभाशुभ कर्म या पाप-पुण्यका सम्पर्क नहीं रहता। मानव-पिण्ड प्रकृतिका स्वामी होनेके कारण शुभाशुभ और पाप-पुण्यका भागी होता है। चाहे तो वह देवता बन सकता है और राक्षस भी। उसका भाग्य

उसीके हाथ रहता है। दैव-पिण्डके दो भेद हैं, देवता और असुर। देवताओंमें आत्मोन्मुख वृत्तिकी और असुरोंमें इन्द्रियोन्मुख वृत्तिकी प्रधानता रहती है। इसीसे उस महाशक्तिने उनके निवासके लिये ब्रह्माण्डमें ऊर्द्ध्वलोक और अधोलोक निश्चित किये हैं। देवता स्वर्गादि ऊर्द्ध्वलोकों और असुर पातालादि अधोलोकोंमें बसा करते हैं। यही कारण है कि, सूक्ष्म दैवीलोकों और इस स्थूल-मृत्युलोकमें भी सदा देवासुर-संग्राम छिड़ा रहता है। क्योंकि यह स्थूल मृत्युलोक सूक्ष्म दैवीलोकके द्वारा ही परिचालित होता है। आत्मोन्मुख वृत्तिशाली देवता उन्नत अधिकारी होनेसे कदापि असुरराज्यको छाननेकी इच्छा नहीं करते, अपने लोकोंमें ही सन्तुष्ट रहते हैं; परन्तु विषयलोलुप असुर निकृष्ट वृत्तिके होनेसे दैवराज्यपर आक्रमण किया करते हैं। क्योंकि मनुष्योंके शरीर देवता और असुरोंके किले हैं। यही देवासुर-संग्रामका मूल कारण है। मृत्युलोकके मानव-पिण्डमें भी सदा देवासुर-संग्राम चलता रहता है। मनुष्योंको देवता और असुर दोनों अपने-अपने ढङ्ग पर अपने अधिकारमें लानेका प्रयत्न करते रहते हैं। यही मनुष्य-पिण्डमें पाप-पुण्यसे सम्बन्ध युक्त कुमति और सुमतिका युद्ध है। इस संग्राममें जब असुरोंकी जय होती है, तब ब्रह्म-शक्ति महामाया-ही असुरोंका पराभव कर दैवराज्यमें शान्ति स्थापित करती है। दैवराज्यमें शान्ति रहनेसे उसके द्वारा परिचालित इस मृत्युलोकमें शान्तिका वातावरण बना रहता है। यही श्रीजगदम्बाके द्वारा होने-वाला त्रिगुणों और त्रिभावोंका सन्तुलन है।

प्राकृतिक नियमानुसार होनेवाले देवासुर-संग्रामके त्रिगुणों और त्रिभावोंके अनुसार तीन स्वरूप होते हैं। उसका अध्यात्म-स्वरूप प्रत्येक पिण्डमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियोंके नित्य युद्धके द्वारा प्रकट होता है। अधिदैव स्वरूप सूक्ष्म दैवराज्यमें देवराज

और असुरराजकी सेनाओंद्वारा प्रकट होता है और अधिभूत स्वरूप मृत्युलोकमें नाना सामाजिक और राजनीतिक संघर्षोंके द्वारा प्रकट होता है। मनुष्यकी मनोवृत्ति सदा अधोगामिनी हुआ करती है। उसे उन्नत बनानेमें सर्वशक्तिमयी श्रीजगदम्बाके चरणकमलों-का, उनकी उपासनाका, ही एकमात्र सहारा है। जब पूर्वकर्मानुसार ही मनुष्यकी प्रकृति गठित होती है, तब उसके अनुसार उसका आचरण होना भी स्वाभाविक है। गीतामें कहा है:—

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्"॥

"ज्ञानी पुरुषभी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कार्य-क्रिया करते हैं। प्राणिमात्र प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, इन्द्रिय-निग्रह

क्या कर सकता है? हर एक इन्द्रियका अपने-अपने विषयमें अनुराग होता है। इस राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होना चाहिये, क्योंकि मुमुक्षुके लिये ये दोनों बटमार हैं। काम और क्रोध दोनों रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे काम (कामनाएँ) बड़ा ही भुक्कड़ (पेटू) और पापी है। मोक्षमार्गमें इसको शत्रु जानो। जिस प्रकार धुँवाँ आगको, धूल-मट्टी आइनेको और खेरी गर्भको आच्छादित किये रहती है, उसी प्रकार यह काम ज्ञानको आवृत कर लेता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि इसका अधिष्ठान क्षेत्र है। इनके द्वारा काम ज्ञानको आच्छादित कर जीवको मोह (अज्ञान) में डाल देता है। अतः हे भरतश्रेष्ठ! तुम पहले इन्द्रियोंको संयत कर ज्ञान-विज्ञाननाशक इस पापी कामको नष्ट कर दो। स्थूल-शरीरकी अपेक्षा इन्द्रिय श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे भी भी बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे भी परे है, वही साक्षी रूपसे सबके अन्तःकरणोंमें अवस्थित आत्मा है। हे महाबाहो! बुद्धिसे भी परे जो आत्मा है, उसे जानकर और आत्माके ही द्वारा आत्मा (मन) को सुस्थिर कर इस कामरूपी दुर्निवार शत्रुका विनाश कर दो"।

यह साधना श्रीजगदम्बाकी शरणमें जानेसे ही सिद्ध हो सकती है। यज्ञोंमें उपासनायज्ञ (जपयज्ञ) श्रेष्ठ माना गया है। श्रीजगदम्बाकी उपासना यज्ञानुष्ठान ही है। कहा भी है—

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

"जब कि, कर्मसे ही यज्ञकी उत्पत्ति है, कर्म ब्रह्म-(प्रकृति) से उत्पन्न हुआ है और प्रकृति परब्रह्मसे उत्पन्न है, तब सर्व-व्यापी परब्रह्म सर्वदा यज्ञमें अधिष्ठित है, ऐसा जानो। यज्ञके लिये जो कर्म किया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कर्म बन्धनके ही कारण हैं। अतः हे कौन्तेय! तुम निष्कामभावसे यज्ञके लिये ही कर्म किया करो। सृष्टिके आरम्भमें प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाओंकी सृष्टि कर उनसे कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम उत्तरो-त्तर अपना उत्कर्ष करो। यही तुम्हारे मनोभिलाषोंको पूर्ण करनेके

लिये कामधेनु स्वरूप है। यज्ञके द्वारा तुम देवताओंका पोषण करो और देवता वृष्टि आदिके द्वारा तुम्हारा पोषण करेंगे। इस प्रकार एक दूसरेका पोषण करते हुए तुम परम कल्याणको प्राप्त करो। जब कि, यज्ञके द्वारा संवर्द्धित होकर देवता तुम्हें तुम्हारे वाञ्छित भोग्य पदार्थ प्रदान किया करते हैं, तब देवताओंके प्रदान किये पदार्थ उनको अर्पण न कर जो स्वयं हड़प लेते हैं, वे चोर हैं, ऐसा समझो। यज्ञसे जो कुछ बच जाय, उसीका जो उपभोग करते हैं, वे सज्जन सब प्रकारके पातकोंसे छुटकारा पा जाते हैं। जो केवल अपने ही लिये रसोई बनाते हैं, वे पापी पापका ही भोजन करते हैं। यज्ञसे जो बच रहता है, उसको अमृत कहते हैं। उसका जो सेवन करते हैं, वे सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। यज्ञ-हीन मनुष्योंका हे कुरुसत्तम! यह लोक भी नहीं बनता, परलोककी तो बात ही दूर है।"

गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करके तब भोजन करनेका विधान है। पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार है—पहला—देवयज्ञ (देवपूजा अग्निहोत्र—श्रौतस्मार्तयागादि), दूसरा—ऋषियज्ञ (वेदशास्त्रा-ध्ययन तथा अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्यायादि), तीसरा—भूतयज्ञ (बलिवैश्यदेवादि), चौथा—मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सत्कार आदि) और पांचवां—पितृयज्ञ (श्राद्धतर्पणादि)। गृहस्थोंके पाँच हिंसा-स्थान होते हैं, जहाँ अज्ञातरूपसे जीवहिंसा हो जाती है। वे स्थान ये हैं—पहला—उखली, दूसरा—जाँता, तीसरा—चूल्हा, चौथा—पानीका घड़ा और पांचवां—झाड़ू। इन स्थानोंमें जो हिंसा होती है, उसके पापसे बलिवैश्यदेवादिके द्वारा मुक्ति हो जाती है। शेष चार यज्ञ देवता, ऋषि, पितृगण और अतिथियोंके संवर्द्धनार्थ किये जाते हैं, इनसे कर्ताका आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सर्वविध उत्कर्ष होता है। नित्य, नैमित्तिक और

काम्यरूपसे कितने ही प्रकारके यज्ञ होते हैं। यज्ञ साक्षात् विष्णुका ही स्वरूप है और विष्णु श्रीजगदम्बाके स्वरूप हैं। उनकी उपासना सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है। इसका फल श्रीभगवान्ने इस प्रकार बताया है—

"हे कौन्तेय! चाहे कितना ही दुराचारी (पापी) क्यों न हो, यदि वह अनन्यभावसे मेरी उपासना करता हो, तो उसको साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसका अध्यवसाय अतिपुण्यमय होता है। जो पातकी मेरी शरणामें आ जाता है, वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और चिरन्तन शान्ति सुखको प्राप्त करता है। तुम यह प्रतिज्ञापूर्वक समझो कि, मेरा भक्त कदापि नाशको प्राप्त नहीं होता।" श्रीभगवान्ने यहाँ तक कह डाला है कि, "हे पार्थ! जो जीव हीनयोनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे और कृषि-पशु पालनादिमें निरत वैश्यगण; यही क्यों, वेदाध्ययनादिका जिनको अधिकार नहीं है, वे स्त्री और शूद्र भी यदि मेरी उपासना करें, तो उन्हें परमगति (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है। फिर पुण्यशील ब्राह्मणों और भक्त प्रवर क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है। उनको परमगति प्राप्त हो जाना तो निश्चित ही है। अतः तुम इस अनित्य और दुःखपूर्ण मृत्युलोकमें मनुष्यरूपमें जन्म प्राप्त कर मेरी ही उपासना किया करो।" श्री-जगदम्बाके चरणोंके आश्रयमें पहुँच जानेपर साधकके लिये किस बातकी कमी रह सकती है? अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तो उसके करतलगत हो जाते हैं। जो अविधि-अशास्त्रीय-यथेच्छाचार करते हैं, उनको सुख या परमगति कहाँ? कर्तव्या-कर्तव्यके विचारमें शास्त्र ही प्रमाण माना जा सकता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको शास्त्रविधानके अनुसार ही सब कर्म करने चाहिये।

श्रीजीका यह उपदेश श्रीस्वामीजीको जँच गया और उन्होंने किसी योग्य तान्त्रिक सिद्धपुरुषसे शाक्त-दीक्षा ग्रहण करनेका

निश्चय कर लिया। इससे श्रीजीको बहुत प्रसन्नता हुई। श्रीस्वामीजी गृहस्थाश्रमसे ही श्रीजीकी बात मान लिया करते और श्रीजी भी उनके प्रति सद्भाव रखते थे। अब सिद्ध सत्पुरुषकी खोज होने लगी। कई साधकों, उपासकों और महात्माओंसे मिलना हुआ। उन दिनों काशीमें श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी नामक साधककी बड़ी प्रसिद्धि हो रही थी। दूर-दूरसे जिज्ञासु भक्त उनके दर्शनोंको आते और उनके उपदेशोंसे कृतार्थ होते थे। श्रीलाहिड़ीजी केवल उपासक ही नहीं थे, किन्तु शास्त्रोंके अच्छे ज्ञाता, विद्वान्, वाग्मी और योगाभ्यासी भी थे। कहते हैं कि, उन्हें श्रीजगदम्बाके साक्षात् दर्शन होते थे। उनकी प्रस्तर मूर्ति दशाश्वमेधघाटके पास एक गलीमें उन्हींके घरमें स्थापित है और वहीं उनके पंचमुंडी आसनकी वेदी बनी है। उनसे मिलकर श्रीस्वामीजी और श्रीजी बड़े प्रसन्न हुए। श्रीलाहिड़ीजीके शिष्यने कुछ टीका ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनमें निमाई-चरित और श्रीमद्भगवद्गीताकी आध्यात्मिक टीका सर्वलोकप्रिय हुई है। उन्हींसे दीक्षा लेना स्थिर हुआ और श्रीलाहिड़ीजीने प्रसन्नतासे इस प्रस्तावको स्वीकार भी कर लिया। शुभ दिन और शुभ मुहूर्तमें श्रीकेशवानन्द महाराजने शाक्तदीक्षा ग्रहण कर ली और क्रमदीक्षासे लेकर महापूर्णाभिषेक तकके सब शास्त्रीयसंस्कार करा लिये।

मनुष्य जन्मसे शूद्र ही होता है, किन्तु संस्कार (दीक्षा उपनयनादि) के द्वारा उसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। उसका दूसरा जन्म हो जाता है। उक्त शाक्त-दीक्षासे सुसंस्कृत होनेपर श्रीस्वामीजीका एक प्रकारसे दूसरा जन्म हो गया। उनकी मनोवृत्ति, प्रवृत्ति, प्रकृति, धारणा और भावना ही बदल गयी। उनके जीवन क्रममें आमूलाग्र परिवर्तन हो गया। उनके सब संस्कार ही परिवर्तित हो गये। अब वे पुरश्चरणादि तान्त्रिक अनुष्ठान दृढ़तासे करने लगे। चक्रार्चन,

पूजन, प्रयोग तथा तांत्रिक कर्मकाण्डमें वे अच्छे प्रवीण हो गये और श्रीजगदम्बाकी उपासनाके प्रभावसे उन्हें सिद्धि भी प्राप्त हो गयी थी।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीजीने अपने गृहस्थाश्रममें सत्सङ्गका सुन्दर प्रबन्ध कर रखा था, वहाँ स्वामी केशवानन्दजी महाराज भी आकर प्राय: श्रीजीके पास ठहरा करते थे, तबतक वे अवधूत वेशमें घूमा करते थे, उन्होंने विधिवत किसीसे दीक्षा नहीं ली थी। श्रीजी इन सब शास्त्रीय विषयोंको सत्सङ्गके प्रसङ्गमें उनको समझाया करते थे।

श्रीजीके सत्सङ्ग और उपदेशोंसे तथा श्रीजगदम्बाकी कृपा हो जानेसे उनकी बुद्धि रजोगुणसे हटकर सत्त्वगुणकी ओर बढ़ने लगी। उपासनाका यह एक विशिष्ट चमत्कार है कि, उपासककी उससे चित्तशुद्धि हो जाती है और उसके सत्त्वोन्मुख हो जानेसे वह ज्ञानमार्गमें प्रवेश करने योग्य हो जाता है। मनमें उनके वैराग्यका उदय हो चला था। इसी अवस्थामें श्रीजीने उन्हें संन्यासका महत्त्व समझाना आरम्भ किया। वह भी उनके चित्तमें जम गया और कामाक्षाक्षेत्रमें जाकर उन्होंने एक सत्पुरुष संन्यासीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि वे संन्यासी हो गये थे, तथापि कर्मकाण्ड और उपासनाका त्याग नहीं किया था। काम्य कर्मोंसे भी वे विरत नहीं हुए थे। कर्म, उपासना और ज्ञानके क्षेत्रोंमें वे एक साथ ही विचरण किया करते थे। उन्होंने बहुत देश भ्रमण किया। तन्त्रोंकी रगरगको जान लिया। रस, औषधि, गुटिका आदिका भी उनको अच्छा ज्ञान था और वनस्पतियोंकी अच्छी पहचान थी। नित्यकर्म (संध्या, पूजा, तर्पण आदि) बड़ी निष्ठासे करते थे। हरद्वार, भुवनेश्वर, ब्रह्माण्ड घाट, विन्ध्याचल, वृन्दावन आदि स्थानोंमें उन्होंने बड़े-बड़े मूल्यवान् आश्रम बनवाये। हरिद्वारका

आश्रम श्रीजीकी ही आर्थिक सहायतासे उन्होंने बनवाया था, जब श्रीजी गृहस्थाश्रममें ही थे। आगे चलकर विन्ध्याचलका आश्रम भी श्रीजीकी ही आर्थिक सहायतासे बना था। उनको भण्डारे करनेकी भी रुचि थी उन्होंने बड़े-बड़े भण्डारे किये और अन्तमें श्रीजीके ही अनुरोधसे वृन्दावनमें बड़े समारोहसे कात्यायनीपीठ स्थापित किया, जिसका वहाँ चिह्न भी नहीं रह गया था। शास्त्रमें लिखा है:—श्रीजगदम्बा आज्ञा करती हैं, 'मैं कात्यायनीके रूपमें व्रजमें रहा करती हूँ।' 'व्रजे कात्यायनी परा, परन्तु वैष्णवोंके प्रभावसे वह पीठ कहाँ गया, किसीको पता नहीं। गोपियोंने व्रजमें श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्तिकेलिये श्रीकात्यायनी देवीका व्रत ग्रहण कर उनकी आराधना की थी, जिससे श्रीभगवान्‌को 'गोपवधूटी दुकूलचोर' बनना पड़ा था। श्रीस्वामीजीके द्वारा इस पीठके पुनः स्थापित हो जानेसे पहलेकी आधिदैविक क्षतिकी पूर्ति हो गयी है। इस पीठकी स्थापनाके समय श्रीजीको श्रीजगदम्बाकी जो चमत्कारपूर्ण आज्ञा मिली, इसका विवरण देनेसे पहले यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि, उन्होंने अपने भावी श्रीगुरुदेवके अन्तःकरणपर संन्यास और संन्यासपद्धतिके सम्बन्धमें किस प्रकार प्रकाश डाला था।

संन्यासतत्त्व

श्रीजीने जो विषय श्रीगुरुदेवको समझाया, वह उन्होंने बड़े परिश्रम और खोजके साथ तैयार की हुई 'संन्यासपद्धति' में प्रकाशितकर दिया है। उसका संक्षेप इस प्रकार है :—

"'नारद परिव्राजकोपनिषद्‌में लिखा है कि, एक बार देवर्षि नारदने ब्रह्माजीसे जिज्ञासा की,—भगवन्! आप आज्ञा करते हैं कि, अपने आश्रमके आचारोंका पालन करो। साथ ही यह भी

कहते हैं कि, संन्यासाश्रम सर्वकर्म निवर्तक होता है, तो अब यह बताइये कि, संन्यासके कितने भेद हैं और उसके आचार कैसे होते हैं। पितामहने उत्तर दिया कि, वास्तवमें संन्यास एक ही है; किन्तु अधिकारभेदसे उसके चार भेद हो जाते हैं। यथा :—वैराग्य-संन्यास, ज्ञानसंन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्मसंन्यास। विषय-विमुख होकर पूर्वपुण्यबलसे जो संन्यास ग्रहण करता है, वह वैराग्य संन्यासी है। शास्त्रोंके द्वारा पाप-पुण्यलोकोंके अनुभवको जानकर प्रपञ्चसे जो उपरत होकर, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, अहंकार और अभिमानसे पूर्ण सारे संसारसे मुँह मोड़कर, दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, आदि देहवासना, शास्त्रवासना और लोक-वासनाको त्यागकर, इन सबको हेय जानकर, साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर संन्यास ग्रहण करता है, वह ज्ञानसंन्यासी कहाता है। क्रमशः सब कुछ अभ्यास कर, सबका अनुभवकर ज्ञान और वैराग्यके द्वारा स्वरूपानुसन्धान करता हुआ जो संन्यास ग्रहण करता है, वह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी समझा जाता है। ब्रह्मचर्य समाप्तकर गृहस्थ होनेके उपरान्त वानप्रस्थाश्रममें पहुँचकर वैराग्य उत्पन्न न होनेपर भी आश्रमधर्मानुसार जो संन्यासी होता है, वह कर्मसंन्यासी कहा जाता है। ब्रह्मचर्यसे ही जो विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करता है, वह भी वैराग्यसंन्यासी है। कर्मसंन्यास दो प्रकारका होता है, निमित्त संन्यास और अनिमित्त-संन्यास। निमित्त-संन्यासको आतुर संन्यास भी कहते हैं, जो प्राणोत्क्रमणके समय लिया जाता है। अनिमित्त संन्यास क्रमसंन्यास है। जो दृढ़ अन्तःकरणसे सब संसारको नश्वर और देहादिको हेय समझकर ब्रह्मको ही सत्य मानता है तथा क्रमपूर्वक संन्यास ग्रहण करता है, वह अनिमित्त संन्यासी कहाता है। इसके छः भेद हैं,—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। आतुर यदि जी जाय, तो उसे

क्रमशः कुटीचकादिक्रम संन्यासको ग्रहण करना चाहिये। अथर्ववेदके आश्रमोपनिषद्में कुटीचकादि चतुर्विध संन्यासियोंको परिव्राजक कहा है और संन्यासोपनिषद्में वैराग्य-संन्यासी आदि चतुर्विध संन्यासियोंके धर्म और आचार वर्णित हुए हैं, जो एक दूसरेसे मिलते हैं। कुटीचक, बहूदक और हंस संन्यासीकी दीक्षाविधि पायी जाती है। परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतोंकी कोई दीक्षाविधि नहीं है और न उनके कोई विशिष्ट धर्म या आचार ही हैं। उन्हें क्रमशः वे अवस्थाएँ अनायास ही प्राप्त होती हैं। संन्यासका फल नारद परिव्राजकोपनिषद्में यह बताया गया है कि, आतुर और कुटीचकको भूर्लोक और भुवर्लोककी, बहूदकको स्वर्गलोककी, और हंसको तपोलोककी प्राप्ति होती है तथा शेष तीनोंको स्वरूपानुसन्धानके द्वारा भ्रमर-कीटन्यायसे आत्मामें ही कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। वे विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त हैं। उन्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ता।

वास्तवमें निःश्रेयस-साधन ही संन्यासका परम प्रयोजन है। कर्म-बन्धनसे मुक्त होने तथा स्वस्वरूपकी उपलब्धिकेलिये ही इसका उपयोग है और मानव-पिण्डमें ही जीवन्मुक्त दशाकी प्राप्ति इसका फल है। इस संबंधमें मीमांस-दर्शन प्रतिपादित कर्म-विज्ञानका कुछ पर्यालोचन कर लेना उचित जान पड़ता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके स्पन्दनसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। वह कर्म तीन प्रकारका होता है,—सहज, जैव और ईश। प्रलयके उपरान्त सृष्टिदशामें जिसके द्वारा यह ब्राह्माण्ड उत्पन्न होता है, जड़-चेतनात्मक इस विश्वकी उत्पत्ति होती है और सहज-पिण्डधारी चतुर्विध-भूतसंघ (जीव) उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त करते हुए मानव-पिण्ड तक पहुँचते हैं, वही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिसे सम्बन्धयुक्त सहज कर्म कहाता है। प्रत्येक मानव-पिण्डसे सम्बन्धयुक्त जैवकर्म

कहा जाता है। इन दोनोंसे विलक्षण दैवपिण्ड और दैवलोकसे सम्बन्ध युक्त ऐश कर्म समझा जाता है। क्योंकि सहज और जैव-कर्मके सञ्चालक और व्यवस्थापक देवता ही होते हैं। फिर भी जैव-कर्मकी प्रधानता मानी गयी है। क्योंकि यह मनुष्यलोक अथवा-मृत्युलोक ही इस ब्रह्माण्डका केन्द्र है। मृत्युलोकसे ही देवलोकमें गये हुए नित्य और नैमित्तिक देवता सृष्टिकी सामञ्जस्य रक्षाके लिए मानवलोकमें अवतार धारण करते हैं। इस ब्रह्माण्डमें मानवलोक ही कर्मभूमि है, शेष सब भोगभूमि जाननी चाहिये। मृत्युलोक अथवा मानवलोक ही भारतवर्ष अथवा कर्मभूमि है। देवदुर्लभ जीवन्मुक्ता-वस्थाको प्राप्त करानेवाला मुक्तिप्रद भारत द्वीप है। पृथ्वीका प्राचीन नाम भारतवर्ष और तदन्तर्गत हिन्दुस्थानका भारतद्वीप है। मुक्तिकी तीन गतियाँ होती हैं,—शुक्ला, ऐशी और सहजा उग्र पुण्यकर्मा ज्ञानी महात्मा सूर्यमण्डलको भेदनकर उन्नत लोकोंमें होते हुए जिसके द्वारा सत्यलोकको प्राप्तकर ब्रह्मीभूत हो जाते हैं, वहशुक्ला गति कहाती है। जिसके द्वारा मानवलोकसे गये हुए जीव समुन्नत देव-योनियोंमें भी दुर्लभ ईशभावको प्राप्तकर अन्तमें ब्रह्मा, विष्णु या शिव पदका लाभ करते हुए प्रलयमें ब्रह्मभावको प्राप्त करते हैं, वह ऐशी गति जाननी चाहिये। शुक्ला और ऐशगति देशकाल सापेक्ष होती हैं, परन्तु देवदुर्लभ सहज-गति इन दोनोंसे विलक्षण है। इसमें देशकालकी सापेक्षता नहीं रहती। जिसके द्वारा कोई कोई महात्मा ज्ञानके प्रभाव-से अपनी समस्त वासनाओंका नाशकर, मनका भी विलयकर, पाँचों कोषोंसे अतीत होकर और संचित तथा क्रियमाण कर्मबीजोंसे सम्बन्ध-रहित होकर केवल प्रारब्ध कर्मोंको भोगते हुए जीवित अवस्थामें ही मुक्त होकर ब्रह्मभावका अनुभव करते हैं, वह सहजगति कही जाती है। जीवन्मुक्त-दशामें सञ्चित कर्मबीज ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जानेके कारण फिर नहीं पनपते। वासनारहित होनेके कारण क्रियमाण कर्म

भी जीवन्मुक्तको नहीं स्पर्श कर सकते। सञ्चित और क्रियमाण दोनों प्रकारके कर्म जीवन्मुक्तके चित्ताकाशसे हटकर ब्रह्माण्ड प्रकृतिके चिदाकाशका आश्रय कर लेते हैं। उसके शरीरकी उत्पत्तिके कारण-स्वरूप प्रारब्धकर्म भी कुम्हारके चक्रकी तरह घूमते हुए भोगका अवसान हो जानेपर शरीरपातके साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं। इसी जीवन्मुक्त दशाकी प्राप्ति ही संन्यास-दीक्षाका अन्तिम लक्ष्य है। यह लक्ष्य संन्यासकी परमहंस दशामें सिद्ध होता है। तुरीयातीत और अवधूतदशा परमहंस दशाके ही नामान्तर हैं। जीवन्मुक्त भी दो प्रकारके होते हैं, ईश कोटिके और ब्रह्मकोटिके। इनका विवरण 'संन्यासगीता' में देखने योग्य है।

संन्यासमें प्रेषमन्त्रका ही प्राधान्य है। महान् वटवृक्षका सम्पूर्ण स्वरूपसे जिस प्रकार उसके छोटेसे बीजमें सूक्ष्मरूपसे निहित रहता है, उसी प्रकार निवृत्तिधर्मका आधारभूत, जीवन्मुक्तिप्रद संन्यास-का तत्त्व वैदिक प्रेषमन्त्रमें विद्यमान है। जैसे धर्मके सत्य, शौच, दया और दान ये चार पाद हैं, वैसे ही सात्त्विक धैर्य, सात्त्विक ज्ञान, परमवैराग्य और प्रेषमन्त्रका स्वानुभव इन चार व्यूहोंसे संन्यास-धर्म सुरक्षित है। सात्त्विक धृति, सात्त्विकज्ञान और परम-वैराग्यके लक्षण वेद-शास्त्रोंमें बताये गये हैं। सब प्रकारके साधु-संन्यासियोंको प्रेषमन्त्रके रहस्यका अनुशीलन अवश्य ही करना चाहिए। भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकोंके परित्यागका संकल्प करना प्रेषमन्त्रका बहिरङ्गमात्र है। "मैंने तीनों लोकोंसे सम्बन्धयुक्त सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग कर दिया।" इस वाक्यका उच्चारणकर उसके अर्थका मनन करनेसे ही प्रेषमन्त्र सुसिद्ध होता है।

यह कहा गया है कि, कुटीचक, बहूदक और हंस संन्यासियोंके लिये ही दीक्षा विधि है, परमहंस, तुरीयातीत और अव-

धूर्तोंकेलिये कोई विधि-निषेध नहीं है। वह तो एक स्वयं प्राप्त अवस्था-विशेष है। वे प्रायः 'बालोन्मत्तपिशाचवत्' ही होते हैं। अतः कुटीचक, बहूदक और हंसोंके आचारोंका ही कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिनसे बाह्यलक्षणों द्वारा उनके पहचाननेमें सुगमता हो और उनके अधिकारोंको जान लिया जा सके। कुटीचक संन्यासीके सामान्य आचार इस प्रकारके होते हैं :—

दृष्ट और आनुश्रविक ऊर्ध्वलोकादिके सब ऐश्वर्योंका, इन्द्रिय-संयमपूर्वक विषयवासनाओं और सकाम कर्मोंका, स्थूलशरीरके अध्यासका और गृहस्थों और वानप्रस्थोंके धर्मोंका संकल्पपूर्वक त्याग कर जब विषयोंमें वैराग्य हो जाय और योगसाधन, पराभक्तिके लाभ और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये संन्यासकी तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हो, तब आत्मीय, कुल और जातिसे सम्बन्ध तोड़कर मुमुक्षुको कुटीचक संन्यासमें व्रती हो जाना चाहिए। यदि उसकी धर्मात्मा सन्तति हो, तो कुटीचक उससे अन्न-वस्त्र ग्रहण कर सकता है अथवा सात या नौ घर भिक्षाकर निर्वाह कर सकता है। उसको एक ही वार भिक्षा करनी चाहिये। भिक्षामें अधिक आसक्ति होनेपर विषयोंमें उसकी प्रवृत्ति हो सकती है। उसके उपयोगके लिये प्रजापति मनुने तुम्बी और काठ, मृत्तिका या बाँसके पात्रोंको प्रशस्त माना है। वह यदि भूलकर भी स्त्रीसंग करे, झूठ बोले या हिंसा करें, तो कठोर प्रायश्चित्ती हो जाता है। उसे दो दो मासोंमें दाढ़ी और सिर मुंडवा देना चाहिये। किसी किसीका मत है कि, वह दाढ़ी और जटा बढ़ा भी सकता है। गाँवकी सीमापर मनोहर कुटिया बनवाकर उसमें निवास कर सकता है। उसे शिखासूत्र और ब्रह्मकर्मका त्याग नहीं करना चाहिये और देहान्तके उपरान्त उसके शरीरको जला देना चाहिये।

वैराग्य चार प्रकारका होता है,—माध्यम, उत्तम, अधिमात्र

और परम। उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों मध्यमादि उक्त वैराग्य बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों कुटीचकादि अवस्थाओंमें मुमुक्षु चढ़ता जायगा, इन वैराग्योंके लक्षण शास्त्रोंने इस प्रकार बताये हैं :—इन्द्रिय भोगके साधनीभूत विषयोंसे चित्तको हटाकर साधारण एषणाओंमें दोष-दर्शन करना मध्यम वैराग्य कहाता है। वैषयिक सङ्गमें दुःखप्रतीति होना उत्तम वैराग्य है। विषयोंके स्मरणमात्रसे अन्तःकरणमें आध्यात्मिक सुखके अभावरूप दुःखसद्भावका अनुभव होना अधिमात्र वैराग्य समझा जाता है और अन्तःकरणकी विषयाकार धारणाका पूर्ण परित्यागकर, विषयोंसे मनको पूर्ण रूपसे परावृत्तकर, चित्तकी एकतत्त्वमयी अवस्था हो जाना परमवैराग्य माना गया है। इस अवस्थामें नर साक्षात्नारायण ही हो जाता है। वास्तवमें ब्रह्म-सद्भाव, स्वरूपोपलब्धि, पराभक्ति, परम वैराग्य, कर्मयोगित्व, तुरी-यातीत, जीवन्मुक्ति आदि परमहंस अवस्थाके ही नामान्तर हैं। इस अवस्थाका अनुसरण करना साधारण बुद्धिकेलिये अगोचर है। मध्यम, उत्तम और अधिमात्र ये तीन वैराग्य समझमें आ सकते हैं। इनके उदित होनेपर क्रमशः कुटीचक, बहूदक और हंस संन्यासके अधिकारकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रसे सिद्ध है।

साधन चतुष्टयके संबन्धमें भी ऐसा ही जानना चाहिये। शम-दमादि षट् साधन-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, और समाधान), नित्यानित्य वस्तुविवेक इहामुत्र फलभोग विराग मुमुक्षुत्व यह साधनचतुष्टय कहाता है। इसमेंसे मुमुक्षुत्व तो सर्वहित साधक होनेसे सबकेलिये समानरूपसे अवलम्बनीय है। शेष तीन शनैः शनैः एक-एक करके पूर्णरूपसे प्राप्त करने पड़ते हैं। कुटीचकको षट् सम्पत्तियोंकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। बहूदकको नित्यानित्य वस्तुके विवेकमें लग जाना चाहिये। इन दोनोंमें प्रगति हो जानेपर इहामुत्र-

फलभोग-विरागकेलिये मुमुक्षुको हंससंन्यासका अधिकार प्राप्त होता है।

इसी तरह राजयोगकी ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्पदा, आनन्दपदा और परात्परा इन राजयोगोक्त सात ज्ञान-भूमियोंमेंसे प्रथम दो भूमियाँ कुटीचकके लिये, बीचकी दो बहूदकके लिये और शेष तीन हंसकेलिये कल्याणकारक कही गयी हैं। आचार, प्रकृति, प्रवृत्ति, संस्कार और शक्तिके तारतम्यके विचारानुसार कुटीचक, बहूदक और हंसका अधिकार प्राप्त होता है और इसका निर्णय गुरुदेव ही कर सकते हैं। जीवका पतन करानेवाला अहंकार ज्यों-ज्यों घटता जाता है, त्यों-त्यों ऊँचे अधिकारकी प्राप्ति होती जाती है। अहङ्कारीको बहूदकका अधिकार दिया जानेसे उसका अमङ्गल ही होगा। अतः जबतक अहंकारका लेश भी बच रहे, तबतक कुटीचक-व्रतका ही पालन करते जाना हितकारी होगा।

एषणाएँ भी चार प्रकारकी होती हैं,--वित्तैषणा, दारैषणा, पुत्रैषणा (शिष्यैषणा) और लोकैषणा। इनका परित्याग करनेके उपरान्त ही बहूदकका अधिकार प्राप्त होता है। कुटीचक-संन्यासीके लिये शास्त्र तो यही सीधा मार्ग बताता है कि, उसे गुरुकृपासे शास्त्र व्यासङ्ग, तपःसाधन आदिके द्वारा चारों एषणाओंको जीतकर ही बहूदक संन्यासकी दीक्षा लेनी चाहिये। लोकैषणा और शिष्यैषणा संन्यासियोंको हंसधर्मके पालनमें बाधा देती है। अतः बहूदक व्रत ग्रहण करनेसे पहले ही नाम, यश, शिष्य समृद्धिकी अभिलाषाको त्याग देना चाहिये। एषणाओंके रहते संन्यासधर्मकी चरितार्थता असम्भव है। कोई आचार्य शिष्य-सम्प्रदायके परिवर्द्धनका अनुमोदन करते हैं, क्योंकि शिष्यकी विद्यासन्तति मानी गयी है। परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि, सम्प्रदाय-विशेषसे जिनका सम्बन्ध है, जो लोकसंग्रहके द्वारा धर्मस्थापनामें प्रवृत्त हुए हैं और स्वाभा-

विक अहङ्कारके मोहसे जो परावृत्त हो चुके हैं, उन्हीं बहूदकों, हंसों या परमहंसोंको विद्या-सन्ततिका—शिष्य-शाखाओंका परिवर्द्धन करना समुचित है। कुटीचक व्रतधारी अपने सम्प्रदायके अनुसार साधारण धर्मोपदेश दे सकता है।

देवदुर्लभा परमहंसगति और त्रिलोक पवित्रकारिणी जीवन्मुक्त-दशाकी प्राप्तिकेलिये जिस प्रकार संन्यासाश्रमका महत्त्व है, उसी-प्रकार अन्य आश्रमोंकी अपेक्षा संन्यासाश्रमके नियमोंका पालन करना भी कठिन है। इसीसे शास्त्रोंमें कलिवर्ज्य प्रकरणमें कहीं-कहीं संन्यासका भी उल्लेख किया है। यथा :—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

अर्थात्-अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, पितृश्राद्धमें माँसका उपयोग और देवरसे पुत्र पैदा करना, ये पाँच बातें कलिकालमें वर्ज्य हैं। इस सम्बन्धमें शास्त्रका अभिप्राय समझने योग्य है। जीवोंके समष्टि-कर्मोंके अनुसार अनादि और अनन्त महाकाल ही कल्प-मन्वन्तर-कृतत्रेता-द्वापर कलियुगादि भेदोंसे अनेक रूप धारण कर लेता है। कलि सबसे निकृष्ट होनेके कारण इसमें जीवोंकी आयु, मेधा और शक्ति बहुत ही घट जाती हैं, धृति-शक्ति आदिकी न्यूनतासे देवलोक-का मृत्युलोकके साथ जो सम्बन्ध है, वह बहुत शिथिल हो जाता है और मनुष्यलोकके जीवोंके धर्मसाधनके अधिकार आदि भी अति क्षीण हो जाते हैं। इसीसे उपर्युक्त पाँच बातें कलिकालमें वृहन्नादीयपुराण आदिमें वर्ज्य मानी गयी हैं। पुराण भी वेदके भाष्यरूप होनेसे ये वचन उपेक्षणीय नहीं, किन्तु मीमांसा करनेके योग्य हैं। कलिकालमें इन बातोंका इसलिये निषेध किया गया है कि, कलिमें मौलिक कारणोंका अभाव हो जाता है और लोगों-

की शक्ति बहुत घट जाती है। अश्वमेध इसी तरह मौलिक कारणके अभावसे ही निषिद्ध माना गया है। क्योंकि इस समय कोई एक ही सम्राट् समस्त भमण्डलको अपने अधीन कर शासन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इसका कारण यही है कि मृत्युलोकका देवलोकसे सम्बन्ध टूट गया है। गोमेधके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि गोमेधमें मारी हुई गाय पुनः जीवित हो जाती थी। यथाविधि यज्ञानुष्ठान करनेसे दैवी सहायतासे यज्ञीय-पशुको सद्गति प्राप्त होती है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। गोजातिके गुरुतर गौरवका विचार कर ऐसे दैवजगत्से सम्बन्धयुक्त विषयोंको दैवजगत्-सम्बन्धशून्य कलियुगमें निषिद्ध माना गया है। मूल-कारणके अभावसे ही देवरसे सन्तानोत्पत्ति भी वर्ज्य है। कलि-कालमें कामज सृष्टि ही होती है। क्योंकि पुरुषोंमें योगशक्ति और स्त्रियोंमें धर्मशक्तिका कलिकालमें अभाव हो जाता है। इन मौलिक कारणोंके न रह जानेसे ही देवरसे सन्तानोत्पत्ति अर्थात् नियोग करना मना किया गया है। नियोगकी शास्त्रोक्त पवित्रताका संरक्षण करना कलिकालमें असम्भव है। परन्तु श्राद्धमें माँसका पिण्डदान और संन्यासका निषेध मौलिक कारणोंके अभावसे नहीं, किन्तु शक्तिका अभाव हो जानेसे किया गया है। श्राद्धमें मांसपिण्ड-दानका तन्त्रोक्त और वेदोक्त पद्धतियोंमें परम प्रयोजनीयरूपसे समर्थन किया गया है। अब भी भारतके किसी किसी प्रान्तमें यह प्रथा प्रचलित है। और संन्यासका अनुमोदन भी शास्त्रोंमें पाया जाता है। यथा :—

यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते।
तावन्न्यासोऽग्निहोत्रश्च कर्तव्यन्तु कलौ युगे ॥

अर्थात् जब तक वर्णव्यवस्था विद्यमान है और वेदोंका अस्तित्व है, तब तक कलियुगमें भी संन्यास और अग्निहोत्र करना

ही चाहिये। अन्ततः कलियुगमें संन्यास त्याज्य नहीं, किन्तु कठिन है। सहसा किसीसे निभ नहीं सकता। उसे समयानुकूल रीतिसे अक्षुण्ण रखना हमारा कर्तव्य है। परन्तु आजकल संन्यासमें जैसी स्वेच्छाचारिता और अव्यवस्था हो रही है, उसका अवश्य ही संयमन करना चाहिये। आजकल संन्यासकी सोपान-परम्पराको त्यागकर सभी परमहंस या अवधूत कहाने लगते हैं, कुटीचकादि सोपानोंको जानते ही नहीं, यह संन्यासकी विडम्बनामात्र है। अतः इस पतनकारी स्वेच्छाचारको रोककर शास्त्रीय मार्गपर मुमुक्षुओंको ले जानेका पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये।

कुटीचकसे बहूदकका और बहूदकसे हंसका अधिकार उन्नत है, यह उनके आचारोंसे ही जाना जा सकता है। वर्णाश्रमसंबंधी विभागोंसे सम्बद्ध धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको आचार कहते हैं। वर्णाश्रमधर्ममें आचारकी ही प्रधानता है। कुटीचकादि संन्यासियोंको अपने अपने अधिकारानुसार आचारोंके पालनमें प्रवृत्त होना चाहिये। इसीसे शास्त्रोंकी आज्ञा है,—'आचारः प्रथमो धर्मः' अथवा 'प्रधानो धर्म आचारः'। तदनुसार कुटीचकोंके आचार संक्षेपमें ऊपर बता दिये गये हैं। अब बहूदकोंके आचार बताये जाते हैं—

बहूदकको सूक्ष्मशरीरका भी अभ्यास त्याग देना चाहिये। वह केवल यज्ञोपवीतधारण किया करे और जटा बढ़ावे। उसका देहपात हो जाय, तब उसको जला दे, गाड़ दे या जलमें विसर्जन कर दे। कुटीचकव्रतकी साधना तीन वर्ष हो जानेपर बहूदकका अधिकार प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञानमें अग्रसर हुए बिना यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। निष्काम कर्म ही बहूदकका अवलम्ब है। उसे कुटिया या घर नहीं बनाना चाहिये। वह स्थिरमति और दृढ़ संयमी भी हो और किसीसे सम्पर्क न रक्खा करे। तीर्थाटन करते रहना उसके

लिये श्रेयस्कर है। कामिनी-काञ्चनसे जब तक विराग न हो जाय जाति, कुल और बन्धु-बान्धवोंकी ममताका संस्कार जब तक न मिट जाय और जब तक वह आत्मामें ही न रम जाय, तब तक बहूदकव्रत ग्रहण नहीं करना चाहिये। इन्द्रियोंके निरोध, राग-द्वेषके क्षय और अहिंसाके प्रभावसे उसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। चाहे शरीर पात ही क्यों न हो जाय, जीवमात्रकी रक्षाके लिये उसे दिन रात प्रयत्न करते हुए भूमण्डलमें सञ्चार करना चाहिये। हड्डियोंपर खड़े किये, स्नायुओंसे जकड़े हुए, मांस रक्तसे पुते हुए, चमड़ेसे मढ़े हुए, मलमूत्रसे दुर्गन्धि युक्त, जरा-शोकादिसे पीड़ित, रोगायतन, आतुर, रजस्वल, अनित्य और भूतोंके आवासरूप शरीरका मोह बहूदकको त्यागकर, प्रियजनको अपना पुण्य और अप्रिय जनको पाप समर्पण कर, सब प्रकार निःस्पृह होकर ब्रह्मचिन्तन करते रहना चाहिये। इसीसे उसे देह रहते और देहान्त होनेपर भी सुखकी प्राप्ति होती है। वर्णाश्रमधर्म और आर्यत्वकी रक्षाकी सिद्धिके लिये किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा न कर अकेला ही चेष्टा करता रहे। किसीसे वाद-विवाद न करे, किसीका अपमान न करे और देहका अभिमान कर किसीसे वैर भी न करे। कोई क्रुद्ध हो जाय, तो उसपर क्रोध न करे और कोई चिचियाने लगे, तो उससे प्रिय वचन कहे। सप्तद्वारोंसे आकीर्ण मिथ्या वचन न कहे। जो सुख चाहते हैं, वे अध्यात्ममें रँगे रहकर निरपेक्ष और निरामिष होकर आत्माकी ही सहायतासे इस भूमण्डलमें विचरता रहे। उत्पातोंके निवारणके निमित्तसे, फलितज्योतिषकी सहायतासे, अनुशासन और विवादके द्वारा भिक्षा पानेकी इच्छा न करे। तपस्वियोंसे भरे हुए घरमें भिक्षाके लिये न जाय। ग्राममें एक रात और नगरमें पाँच रात निवास करे। वर्षाकालमें कहीं एक ही स्थानमें चार मास रहे। जो मुनि प्राणिमात्रको

अभय प्रदान करता हुआ सञ्चार करता है, उसे किसी प्राणीसे भय नहीं होता। ये ही बहूदकके संक्षिप्त आचार हैं।

जीवन्मुक्तिपदकी प्राप्तिकेलिये कुटीचक, बहूदक और हंस ये तीन व्रत सोपान स्वरूप हैं। हंसव्रत तीसरा सोपान है। साधनावस्थामें हंसाधिकार सबसे श्रेष्ठ हैं। साधकमें जब तक पूर्वोक्त चारों एषणाएँ विलीन न हो जायँ, विषयोंमें पूर्ण वैराग्य उदित न हो जाय, साधन चतुष्टयकी सिद्धिके लक्षण देख न पड़े, अहंकारका समूल नाश न हो जाय, दम्भत्यागसे कर्मयोगकी, आलस्यके त्यागसे भक्तियोगकी और अहंकारके त्यागसे ज्ञानयोगकी सिद्धिके लक्षण प्रकाशित न हो जायँ, तटस्थ ज्ञान और स्वरूप ज्ञानके पार्थक्यका अनुभव न हो जाय, तब तक वह हंसव्रत ग्रहणका पूर्ण अधिकारी नहीं हो सकता। साधकके सर्वविध उन्नत लक्षण यदि गुरुदेवको देख पड़े, तो वे उसे एकसाथ तीनों व्रतोंकी दीक्षा दे सकते हैं। हंसव्रती या परमहंस ही हंसदीक्षा दे सकता है।

सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीजातिकी पवित्रता, सब बातोंमें आध्यात्मिक लक्ष्य ये आर्यजातिके लक्षण हैं। जो यह नहीं मानती वह अनार्यजाति कहाती है। त्रिलोक-पावनी, देवर्षि-पितृ-संवर्द्धनकारिणी, आध्यात्मिकोन्नति-शालिनी आर्यजातिका शिखा और सूत्र ये प्रधान चिह्न हैं। आर्योंकी शिखा आध्यात्मिक-लक्ष्यकी सूचक है और उनका जीवन यज्ञमय होनेसे वे यज्ञोपवीत धारण करते हैं। सदाचारपरायण मनुष्योंकी शिखामें ब्रह्मा, विष्णु, महेश और नित्य देवर्षि पितरोंका निवास रहता है। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिके लिये तीन लड़ोंका यज्ञोपवीत धारण करते हैं। अतः ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थोंको शिखा-सूत्रका त्याग नहीं करना चाहिये। कुटीचक और बहूदकको भी शिखा-सूत्र नहीं त्यागना

चाहिये। आध्यात्मिक पथका पथिक मुमुक्षु जबतक कृतकृत्य और योगारूढ़ न हो जाय, तबतक वह त्रिलोकपवित्रकारी वर्णाश्रमके चिह्नोंका त्याग न करे। जब साधकको अन्तिम हंसदशा प्राप्त हो जाती है, तब वह बाह्य चिह्नोंका त्यागकर अन्तर्मुख होनेका अधिकार प्राप्त करता है। हंसदीक्षा ग्रहणके समय साधक शिखा-सूत्रका त्यागकर उनका हवन कर देता है। क्योंकि आत्माराम हो जानेसे त्रिलोकके साथ उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। उस महात्मा और योगारूढ़केलिये आध्यात्मिक उन्नतिके बहिर्लक्षणस्वरूप शिखा अनावश्यक है। निर्विकल्प समाधियुक्त महात्माओंका अन्तःकरण सदा यज्ञमय ही रहता है। अतः उसके लिये यज्ञमय जीवनके बहिर्लक्षणस्वरूप यज्ञ-सूत्र भी निष्प्रयोजनीय है।

योग चार प्रकारके होते हैं:—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। मन्त्रयोगमें मूर्तिध्यान, हठयोगमें ज्योतिध्यान, लययोगमें बिन्दुध्यान और राजयोगमें ब्रह्मध्यान विहित है। कुटीचकादि संन्यासियोंको क्रमशः इन्हीं योगोंका साधन करना पड़ता है। हंस-संन्यासियोंको लययोगके उन्नत साधनों और राजयोगके साधनोंका भी अधिकार प्राप्त हो जाता है। परमहंस या योगारूढ़ महात्मा तो सर्वदा साधन निरत ही रहते हैं। उनकेलिये कोई विधि-निषेध नहीं है। बहूदक आत्मोन्नति करता हुआ हंस दशाको प्राप्त हो सकता है। जब मनोनाशकी योग्यता प्राप्त हो जाय, दृष्ट और अनुश्राविक विषयोंसे पूर्ण वैराग्य हो जाय, पराभक्तिके रहस्यको जानकर तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाय, मन्त्र-हठ-लययोगोंका आचार्य और तत्त्ववेत्ता योगी हो जाय, राजयोगका पूर्ण अधिकारी हो जाय, तभी मुमुक्षुको हंसव्रत ग्रहण करना चाहिये। साधक जब तक कर्मयोगकी सात, भक्तियोगकी सात और

ज्ञानयोगकी सात भूमिकाओंको अच्छी तरह न जान ले, सप्तदर्शनों-का हृद्गत रहस्य न समझ ले और चारों योगोंकी साधनामें पारङ्गत न हो जाय, तब तक हंसदशामें प्रवेश नहीं कर सकता। जिसे उक्त ज्ञानाधिकार प्राप्त हो जाता है, वह जगद्गुरुपदवीको प्राप्त हो जाता है। ऊपर कर्म, उपासना और ज्ञानकी सात-सात भूमिकाएँ कही गयी हैं, वे इस प्रकार हैं—

भूमिका कर्मयोगस्य शुभेच्छा प्रथमा स्मृता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा॥
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्नहि।
उपासनाया भक्तेश्च भूमिका गदतः शृणु॥
प्रथमा भूमिका नाम पराऽरूपपराऽपरा।
स्याद्विभूतिपरा नाम्ना तृतीया भूमिका मता॥
तथा शक्तिपरा नाम चतुर्थी भूमिका भवेत्।
एवं गुणपरा ज्ञेया भूमिका पञ्चमी बुधैः॥
षष्ठी भावपरा ज्ञेया सा स्वरूपपरान्तिमा।
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्नहि॥
ज्ञानस्य भूमिका विप्राः! इमाः सर्वाः प्रकीर्तिताः।
ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता॥
संन्यासदा द्वितीया स्यात् तृतीया योगदा भवेत्।
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता॥
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी तु परात्परा।
पूर्णज्ञानं विनैतासां तद्वच्चानुभवं बिना॥
सम्बन्धज्ञानमन्योन्यमेतासामन्तरा तथा।
कथञ्चिदपि संन्यासी राजयोगी भवेन्नहि॥

अर्थात् कर्मयोगकी शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा ये सात भूमियाँ हैं, भक्तियोग अथवा उपासनाकी परा, रूपपरा, विभूतिपरा, शक्तिपरा, गुणपरा, भावपरा और स्वरूपपरा, ये सात भूमियाँ हैं और ज्ञानयोगकी ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्पदा, आनन्दपदा और परात्परा, ये सात भूमियाँ हैं। इनका पूर्ण ज्ञान, अनुभव तथा इनके परस्पर सम्बन्धका रहस्य हृदयङ्गम किये बिना कोई संन्यासी किसी प्रकार राजयोगी हो नहीं सकता। इन भूमिकाओंको भली भाँति जानकर तत्त्वज्ञानकी योग्यता प्राप्त हो जानेपर ज्ञानवान् हंस ज्ञानका विस्तार करता हुआ सञ्चार करता रहे। ब्रह्मविद्याका वह अभ्यास करे और लोकसंग्रहमें प्रवृत्त रहे। वह सम्यक्दर्शन सम्पन्न होनेसे कर्मके बन्धनमें नहीं फँसता, अन्यथा उसे पुनः संसारमें आना पड़ता है। अहिंसा, इन्द्रियसंयम, वैदिक कर्म और उग्रतपस्यासे ही हंसपदकी प्राप्ति होती है। जिस सूत्रमें यह सब कुछ पिरोया है, वही ज्ञान (ब्रह्म) सूत्र और ज्ञाननिष्ठारूपी शिखा वह धारण करता है। त्रिगुणों और आध्यात्मिकादि त्रिभावोंकी धारणा ही उसका त्रिदण्ड है। स्थूलदण्ड इसीके द्योतक होते हैं। बिना दण्डके यतिको कहीं नहीं जाना चाहिये। संन्यासग्रहण करते समय प्रेषमन्त्रका उपदेश होता है। उसके प्रभावसे सन्तान सम्बन्धी और देह सम्बन्धी दोष भस्म हो जाते हैं। जो संन्यास ग्रहण करता है, वह अपने अतीत साठ और आगामी साठ कुलोंका उद्धार कर देता है। जो कपाल धारण करता है, वृक्षोंके नीचे निवास करता है, बढ़ियाँ वस्त्र नहीं पहनता, किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता और प्राणिमात्रसे राग-द्वेष नहीं रखता; वही भिक्षु कहाता है। हंस और परमहंस माथा मुड़ा सकते या जटा भी बढ़ा सकते हैं। हंस

एक दण्ड धारण करे, एक ही बार स्नान करे, भस्मधारण करे और अजगरी वृत्तिसे रहे। देहान्त होनेपर उसे नदीमें बहा दिया जाय या भूमिमें गाड़ दिया जाय। निष्काम व्रत ही उसका व्रत है। जगत्कल्याण धारणा ही उसकी धारणा है। सब धर्मों और सम्प्रदायोंमें ऐक्य बुद्धि ही उसकी बुद्धि है। ब्रह्मज्ञान ही उसका ध्यान है और सब द्वन्द्वों और प्राणियोंमें समभाव ही उसकी समाधि है। महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरी विष्ठाके समान माना है। अतः यतिको उससे बचे रहकर कीटके समान निर्द्वन्द्व होकर विचरण करना चाहिये।

योगारूढ, जीवन्मुक्त, परमहंस तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जिस संन्यासीने हंस-व्रतपालनमें परिश्रम किये हों, उसे यह दशा आप ही प्राप्त होती है। उनकी यह एक विशेषावस्था होनेसे इस दशामें जब मुमुक्षु पहुँच जाता है, तब उसे किसी साधनका प्रयोजन ही नहीं रहता, न शास्त्रोंमें उसकेलिये विधिनिषेधकी व्यवस्था ही पायी जाती है। परमहंस कुछ कर्म (श्रौतस्मार्त) करे या न करे, ब्रह्मोपासनामें आप ही समर्थ होनेसे वह साक्षात् नारायणरूप ही हो जाता है। स्वयं आत्माराम होनेसे उसे देवपूजाकी आवश्यकता नहीं रहती। राजयोगमें सदा अवस्थित होनेसे योगसिद्धियोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह अपने अन्तःकरणमें सर्वदा प्रणवका अनुभव करता रहता है। इस कारण वह देवोंका भी देव अथवा ब्रह्मरूप ही माना गया है। ब्रह्मके साथ उसका कोई भेद ही नहीं रह जाता। मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा अनुभव हुए बिना कोई परमहंसकी पदवीको पा नहीं सकता। उसका देहपात होनेपर चाहे जलाया जाय, चाहे बहाया जाय या गाड़ दिया जाय, उसके लिये कोई विशेष नियम नहीं है। प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार परमहंस भी ब्रह्मकोटि और ईशकोटिके इस प्रकार दो प्रकारके होते हैं। ब्रह्मकोटिके परमहंस

मूक, स्तब्ध, जड़, उन्मत्त और बालकके समान स्वभाववाले होनेसे वे आत्माराम अवश्य होते हैं, परन्तु उनसे जगत्‌को कोई लाभ नहीं होता। ईशकोटिके परमहंसमें जगज्जन्मादिकी शक्ति विद्यमान रहती है। वे निष्काम व्रतकी पराकाष्ठाको पहुँच जाते हैं, इस कारण जगत्‌हितकारी भगवत्कार्य करते हुए वे जगदीशके प्रतिनिधि ही बन जाते हैं। ब्रह्मस्वरूप ईशकोटिके परमहंस देवताओं और ऋषियोंकी शक्तिसे सम्पन्न होते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उन्होंने ज्ञानदण्ड ग्रहण किया है, अतः एकदण्डी कहाते हैं। अयाचित रूपसे ही उनका भोजनाच्छादन होता है। दूसरोंकी इच्छासे ही वे भोजन करते, कपड़े पहनते और स्नान करते हैं। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति दशामें भी वे ब्रह्मसे युक्त रहते हैं, इस कारण ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन धारण कर वे दयालु, जितेन्द्रिय और निरिच्छ और उदार महात्मा ज्ञानयज्ञमें निरत रहकर वनमें या जहाँ कहीं कालकी प्रतीक्षा करते हुए विचरण करते रहते और अन्तमें ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं। उन निर्मान, निर्द्वन्द्व, निरहंकार ज्ञानी पुरुषोंके सब सन्देह निवृत्त हो जानेके कारण वे न क्रोध या द्वेष करते हैं, न झूठ बोलते हैं और न किसी प्राणीको कष्ट ही पहुँचाते हैं। उनका कोई बाह्यचिह्न नहीं होता, न कोई अभिप्राय ही होता है, जिससे वे पहिचाने जा सकें। मुनि पहुँचे हुए विद्वान् होकर भी वे उन्मत्त या बालकके समान कवि होकर भी गूँगेके समान और पण्डित होकर भी लण्ठके समान बन जाते हैं। न कुछ करते हैं न बोलते हैं और न भले-बुरेका विचार ही करते हैं, वे आत्मक्रीड, आत्मरत, आत्मवान् और सम-दर्शी होते हैं। कोई मूर्ख पापी उनको बाँधे, पीटें, अपमानित करें, दोष लगावे, द्वेष करे, उनपर मल-मूत्र त्याग करे, या नाना प्रकारके क्लेश दे, तो इससे विचलित न होकर वे अपना आप ही उद्धार कर

लेते हैं। वे जानते हैं कि, सम्मानसे योगसिद्धिकी महती हानि होती है और अपमानसे ही योगीको सिद्धि प्राप्त होती है। लोगों द्वारा अपमानित होनेसे लोक सम्मर्दसे वे बचे रहते हैं। सुख दुःख, पाप पुण्यरहित वे क्षमाशील महापुरुष मौनावलम्बन पूर्वक वायुके समान यथेष्ट विचरते रहते हैं।

उपर्युक्त संन्यासधर्म और उसके विज्ञानको श्रीजीने जिस प्रकार समझाया था, उसका विस्तृत विवेचन अपनी प्रस्तुत की हुई 'संन्यास-पद्धति' में कर दिया है। अब भी भारतमें संन्यासियोंकी कमी नहीं है। परन्तु संन्यासकी न कोई व्यवस्थित पद्धति मिलती, न कोई निबन्ध-ग्रन्थ। इस अभावकी पूर्ति श्रीजीने 'संन्यासपद्धति' और 'संन्यास गीता'के प्रकाशनके द्वारा कर दी, जिससे चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए मुमुक्षुओंका बड़ा उपकार हुआ है। आजकल इन्हीं ग्रन्थोंके अवलम्बनसे संन्यास-दीक्षा, संन्यासियोंकी अन्त्येष्टि आदि कार्य किये जाते हैं और सब प्रकारके संन्यासियोंको अपने आचारपालनमें सुविधा हो गयी है। पूज्यचरण श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजको संन्यास-विज्ञानके जान लेनेसे बहुत लाभ हुआ। उनके हृदयमें वैराग्यका उदय हुआ और परिव्राजकरूपसे संचारके लिये निकल पड़े। अनेक स्थानोंमें श्रीजी भी साथमें गये थे। बंगाल, उड़ीसा; आसाम, बिहार, युक्तप्रान्त, उत्तराखण्ड, मालवा, राजस्थान, बम्बई आदि प्रान्तोंमें संचार कर श्रीजीने देश और देशवासियोंकी परिस्थितिका सूक्ष्म अध्ययन किया और जनताकी नाड़ी पहचान ली तथा यह भी जान लिया कि, लोगोंकी विपत्ति क्या है और उसके निवारणका उपाय क्या हो सकता है। श्रीजी निष्काम कर्मके व्रती थे ही, परन्तु जगत्कल्याणकारी उनके भावी कार्योंमें गुरुदेवसे कोई विशेष सहायता नहीं मिली, उलटे गुरुदेवके कार्योंमें उन्हें श्रीजीसे बराबर सहायता मिलती रही।

श्रीजीकी प्रेरणा और सहायतासे गुरुदेवने वृन्दावनमें कात्यायनीपीठकी स्थापना की। स्वामी केशवानन्दजी महाराज बंगाली गृहस्थोंकी तरह प्रतिवर्ष शारदीय नवरात्रोंमें बड़ी धूमधामसे दुर्गापूजा किया करते थे। बड़ा भारी समारोह होता था; उनके सभी शिष्यवृन्द एव भक्तवृन्द इस अवसरपर एकत्र होते थे। स्वामीजी प्रतिवर्ष श्रीजीको बड़े प्रेम एवं आग्रहसे वृन्दावन इस महोत्सवके समय बुलाते परन्तु श्रीजी कभी नहीं जाते थे। क्योंकि इसप्रकार उत्सव अभीष्ट नहीं था, वे चाहते थे कि वहाँ कात्यायनीदेवीकी प्रतिष्ठा हो, जिससे वृन्दावनके एक महान् अभावकी पूर्त्ति हो जाय और स्थायी कार्य होजाय। अतः श्रीजीने श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजसे कहा कि जब कात्यायनी प्रतिष्ठा करेंगे, तभी मैं वृन्दावन आऊँगा अन्यथा नहीं। श्रीजी बारह वर्ष तक वृन्दावन नहीं गये। श्रीस्वामी केशवानन्दजीमहाराजने मन्दिर बनवाया एवं सन् १९२३ में कात्यायनी प्रतिष्ठा की। कात्यायनी देवीकी अष्टधातुकी मूर्त्ति श्रीजीने ही बनवाकर दी एवं स्वयं प्रतिष्ठाके अवसरपर अपने अनेक भक्तों एवं तथा शिष्योंके साथ वृन्दावन पधारे थे, यह पहले बताया जा चुका है; परन्तु यह बताना रह गया है कि, पीठ स्थापनाके समय दैवी कृपाका कैसा श्रीजीको चमत्कार पूर्ण अनुभव हुआ। पीठस्थापनाका सारा आयोजन सिद्ध हो चुका था। अष्टधातुकी सुन्दर मूर्त्ति तैयार हो चुकी थी। सैकड़ों बीघा भूमि (जिसका वर्तमान नाम राधाबाग है) हस्तगत हो गयी थी और वहाँ भव्य प्रासाद और मन्दिर बन चुका था। काशी, कश्मीर, बंगाल, मिथिला आदि प्रान्तोंसे अनेक कर्मकाण्डी विद्वान् ब्राह्मण उपस्थित हो गये थे। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि श्रीजगदम्ब की स्थापना बामाचारके अनुसार की जाय, या वैष्णवाचारके अनुसार। श्रीस्वामी केशवानन्दजी महाराजका आग्रह बामाचारकी ओर था; क्योंकि शाक्तधर्ममें उनका विशेष अनुराग था।

पण्डितोंकी अनुकूलता भी उनको प्राप्त हो गयी और निश्चय हुआ कि, शाक्ताचारके अनुसार ही स्थापना की जाय। परन्तु श्रीजी इसके प्रतिकूल थे। बीचमें एक ही दिन रह गया। कल स्थापना होनेवाली थी, तो आजकी मध्यरात्रिमें श्रीजी अपने आसनपर ही ध्यान मग्न हो रहे थे। क्या देखते हैं कि, उनके सामने एक प्रकाशपुञ्ज जगमगा रहा है और उसमेंसे रक्ताम्बरधारिणी, षोडशी सुन्दरी स्त्री प्रकट होकर स्मित हास्य करती हुई श्रीजीके पास धीरे-धीरे आ रही है। सर्वालंकारभूषिता पाशांकुश-वरदाभयकरा उस कान्तिमयी दिव्य मूर्तिको देखकर श्रीजीने मन ही मन प्रणाम कर जिज्ञासा की,—"मातः! सेवकको क्या आज्ञा है?" माँने हँस कर उत्तर दिया,—"वत्स! तुम उच्छिन्न मेरे (कात्यायनी) पीठका उद्धार कर रहे हो, यह शुभ है। इससे जगतका कल्याण ही होगा। परन्तु जिस विधिसे पीठकी प्रतिष्ठा होने जा रही है वह इस स्थानकी मर्यादाके अनुकूल नहीं है। तुम जानते हो कि, व्रजमें मैं वैष्णवी रूपमें ही मैं निवास करती हूँ। अतः यहाँ वैष्णवाचार ही मुझे प्रिय है। वैदिक विधिसे वैष्णवाचारानुसार ही मेरी प्रतिष्ठा होनी चाहिये, अन्यथा यह धर्मकार्य भी अधर्म कार्यके रूपमें परिणत हो जायगा और मेरी कृपाके बदले आप लोगोंका अमङ्गल ही होगा।" माँकी आज्ञाको सिर चढ़ाकर श्रीजीने निवेदन किया,—"मातेश्वरि' ऐसा ही होगा और हम अनुगृहीत होंगे।" मूर्त्ति अदृश्य हो गयी; परन्तु श्रीजीको रातभर नींद नहीं आयी और उस देखी हुई दिव्य मूर्त्तिका ध्यान करते हुए सबेरा हो गया। श्रीजीने इस दैवी चमत्कारका सब विवरण गुरुदेवको सुनाकर अनुरोध किया कि, आप अपना निश्चय बदल दीजिये और माताकी आज्ञाका पालन कीजिये। इसीमें देशका और सबका कल्याण है। पण्डितोंसे फिर परामर्श हुआ और गुरुदेव तथा पण्डितोंने सर्वानु-

मतिसे श्रीजीका अनुरोध मान लिया। तदनुसार शाक्ताचारकी जो सामग्री आयी थी, उसका उपयोग न कर वैष्णवाचारके अनुसार ही बड़े ठाट और वैभवके साथ वैदिक विधिसे मातृमूर्त्तिकी स्थापना की गयी। श्रीजीको माँके ऐसे चमत्कार अपने जीवनमें कई बार देख पड़े। जब जब उनके प्रवर्तित धर्मकार्योंमें कोई संकट, विघ्न या बाधा उपस्थित हो जाती, तब तब माँ उन्हें दर्शन देती और विपत्तिके निवारणका उपाय बता देती थीं। इष्टसिद्ध होनेका ही यह फल है कि, श्रीजी अपने कार्योंमें कभी विफल नहीं हुए। उनके सब कार्य प्रतिकूल समयमें भी श्रीजगदम्बा स्वयं सम्हालती थीं।

श्रीभारत-धर्ममहामण्डल

श्रीभगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य संसारमें सफल नहीं होता है और जब उनकी इच्छा अनुकूल होती है, तब सफलताके सब साधन स्वतः जुट जाते हैं और सारा बनाव स्वयं स्वयं बन जाता है। भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल श्रीजीके पूर्वोक्त संकल्पके अनुसार अखिल भारतीय विराट् धर्मसभाकी स्थापनाके लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगे। उनदिनों कुछ विद्वान् ब्राह्मणोंद्वारा 'भारत-धर्ममहामण्डल, नामक सभा स्थापित हो चुकी थी। उसमें स्वर्गीय पं० दीनदयालुशर्मा व्याख्यानवाचस्पति जैसे वाग्मी सम्मिलित थे; परन्तु उनकी सभा—महामण्डलकी न तो कोई नियमवद्ध व्यवस्था थी न उनके सदस्योंकी तथा सम्बन्धयुक्त सभाओंकी कोई नामावली थी और न आय-व्ययका ही लेखा रखा जाता था। उनके नेताओंका भी परस्परमें मनमुटाव हो गया था। दल-बन्दी हो गयी थी और स्पष्ट रूपसे दो दल बन गये थे। इधर निगमागम-मण्डलीके सब कार्य सुव्यवस्थितरूपसे चल रहा था और

उसके व्यवस्थापक श्रीजीका प्रभाव भी बढ़ रहा था। कर्मोंके नियन्ता भगवान्‌की इच्छासे महामण्डलके दोनों दलोंके नेताओंके चित्तमें ऐसी कुछ प्रेरणा हुई कि, दोनों दलके नेता आपसका झगड़ा मिटानेके लिये श्रीजीके निकट उपस्थित हुए और श्रीजीने अपनी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धिकी सहायतासे सब मतभेद मिटा दिया और ऐक्यस्थापनापूर्वक इस धर्मकार्यको नियमबद्ध होकर चलानेका उपदेश दिया। साथ ही यह प्रस्ताव किया कि, यदि महामण्डल और निगमागममण्डली दोनों मिलकर एक भारतवर्षव्यापी विराट् सभा बनावें और नियमबद्ध होकर पुरुषार्थ करें, तो वह सर्वजन-प्रिय-तो होगा ही; किन्तु सर्वलोकहितकर भी होगा। श्रीजी जैसे प्रभावशाली पुरुषकी उनको आवश्यकता थी ही, इसकारण उनका प्रस्ताव दोनों पक्षोंके नेताओंने स्वीकार कर लिया और निश्चय हुआ कि दो मासमें ही महामण्डलका एक महाधिवेशन कर दोनों सभा-ओंके सम्मेलनसे नवीन संस्कार-युक्त 'श्रीभारत धर्ममहामण्डल' की स्थापना की जाय तथा उसके नियमादि बनाकर सरकारी कानूनके अनुसार उसकी रजिष्ट्री करायी जाय। इस प्रस्तावकी सूचना निग-मागममण्डलीने भारतके सब प्रान्तोंके प्रधान प्रधान धर्मोत्साही पुरुषोंको दे दी, जिनमें अधिकांश सज्जन श्रीजीके प्रभावमें थे और श्रीजीकी कर्तृत्व शक्तिसे परिचित थे। सभीने पत्रद्वारा और स्वयं उपस्थित होकर इस प्रस्तावका अनुमोदन किया और अपना सहयोग देनेकी उत्कण्ठा प्रकट की, सनातनधर्मके दृढ़ पक्षपाती, ब्राह्मणकुलभूषण, मिथिलाधिपति हिजहाईनेस श्रीमान् महाराजा-धिराज आनरेबल सर रमेश्वरसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० द्वारवङ्गेश्वर महामण्डलके सभापति थे। उनसे मिलकर और उन्हें विस्तृतरूपसे इस प्रस्तावको सुनाकर श्रीजीने उनसे पूर्ण सहानुभूति प्राप्त की।

महामण्डलके दो दलोंमेंसे एक दलके नेता, जिनपर महामण्डलके कार्योंका विशेष भार था, उक्त व्यवस्थाके अनुकूल नहीं थे। वे नहीं चाहते थे कि, महामण्डलका कार्य नियमबद्ध हो; क्योंकि वे महामण्डलको व्यवसायकी एक दूकान समझकर धाँधली किया करते थे। महामण्डलका कार्य नियमबद्ध होनेपर उनकी धाँधली चल नहीं सकती थी, इसीसे महाधिवेशनके सम्बन्धमें टालाटूली करते जाते थे। श्रीजीका सहयोग पानेसे तो उनकी धाँधलीमें अच्छा सुभीता हो गया। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। वे जानते थे कि, श्रीजी रुपया-पैसा अपने पास नहीं रखते और निरपेक्ष भावसे देश और धर्मकी सेवा किया करते हैं। श्रीजीके स्वरूप और वाणीमें भी आकर्षकता थी। इससे लाभ उठाकर अनेक धनी-मानी सेठ-साहूकारोंको श्रीजीके दर्शनार्थ पकड़ लाते और कहते—'महात्माजी-को दक्षिणा चढ़ाओ।' सेठजी श्रद्धासे हजार-पाँच सौ जो कुछ रुपया चढ़ाते, वह वे अपने पाकिटमें रख लेते थे। उस रुपयेका न कहीं हिसाब रहता और न कोई पूछनेवाला ही रहता। श्रीजी यह सब देखा करते; परन्तु कुछ कह नहीं सकते थे। मन ही मन इस दूकानदारीसे घृणा करते और ब्राह्मणोंकी इस लोभवृत्ति और धर्म-पर ठेस पहुँचानेवाली कार्यवाहीसे दुःखित हुआ करते थे।

दो मासके स्थानमें एक वर्ष बीत गया; परन्तु महाधिवेशनके आयोजनका कोई प्रबन्ध होता नहीं दिखाई दिया और इधर क्षुद्र मनोवृत्तिके लोगोंकी धाँधली बराबर चलती ही रही। इसे रोकने और व्यवस्थितरूपसे धर्मकार्य अग्रसर करनेकेलिये श्रीजीने यह निश्चय किया कि, महाधिवेशनके सम्बन्धमें सर्वसाधारण सनातन-धर्मावलम्बियोंकी सम्मतियाँ संग्रह की जायँ। तदनुसार श्रीजीके परामर्शसे भारतके सब प्रान्तोंके प्रतिष्ठित सज्जनोंकी सम्मतियाँ संग्रह करनेका कार्य आरम्भ किया गया। इस कार्यमें खवानरेश

श्रीमान् राव गोपालसिंह बहादुर, किशनगढ़राज्यके दीवान श्रीमान् रावबहादुर बाबू श्यामसुन्दरलालजी सी० आई० ई० और फरीदकोट राज्यके वजीर रायरायान् श्रीमान् वरदाकान्त लाहिडी महाशयने विशेष परिश्रम कर बङ्गाल, बिहार, राजपूताना, संयुक्तप्रान्त, मालवा, मध्यप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई आदि प्रान्तोंके धर्माचार्य, राजा-महाराजा, विद्वज्जन और समाजके नेताओंके पाँच सौसे अधिक पूर्ण सहानुभूतियुक्त सम्मतिपत्र संग्रह कर लिये।

जब यह देखा गया कि, भारतके सब प्रान्तोंके नेतृवर्गके इस धर्मकार्यसे सहमत होनेपर भी केवल महामण्डलके एक पक्षके लोग योग नहीं दे रहे हैं, तब यह निश्चय किया गया कि महामण्डलके सभापतिमहोदयसे पुनः आज्ञा लेकर महाधिवेशनका कार्य अग्रसर करते हुए महामण्डलको नियमबद्ध बनाकर धाँधली रोकी जाय। तदनुसार मेवाड़ान्तर्गत शाहपुराके जागीरदार ठाकुर केसरीसिंह बारहट महाशय उक्त सम्मतिपत्रों और निगमागम-मण्डलीके नेताओंमेंसे कई नरपतियों तथा गण्यमान्य सज्जनोंके परिचयपत्रोंको लेकर प्रतिनिधिरूपसे श्रीमान् मिथिलाधिपतिके पास कलकत्ते भेजे गये। वे सभापति महोदयका अनुकूल सम्मति-पत्र लेकर जब मथुरापुरीमें लौट आये, तब महाधिवेशनका आयोजन किया जाने लगा। श्रीमान् बारहटजी इस यात्रामें अनेक प्रधान-प्रधान स्थानोंसे भी बहुत सी सम्मतियाँ एकत्र कर लाये थे। महाधिवेशनका प्रबन्ध मथुराके प्रसिद्ध रईस जोशी बाबा माधवलालजी और शिवप्रकाशलालजीके विशेष प्रयत्न और उदारतासे ही हुआ था।

महाधिवेशनकी सफलताकेलिये भारतके सब प्रान्तोंके विशिष्ट धर्मोत्साही सज्जनों, भारतीय और प्रान्तीय धर्मसभाओंके ज्ञात-प्रतिनिधियों, महामण्डलके नेताओं, धर्मोपदेशकों, निगमागम-

मण्डलीके सभ्यों, प्रान्तीय नेताओं, धर्माचार्यों, संस्कृतके अध्यापकों और देशी राजा-महाराजाओंको स्वतन्त्र निमन्त्रणपत्र भेजे गये और अंग्रेजी तथा देशीभाषाके समाचारपत्रोंमें निमंत्रणपत्र प्रकाशित भी करा दिया गया। फलतः सभी प्रान्तोंके प्रतिनिधि और सहस्रोंकी संख्यामें धर्मप्रेमी जन-साधारण महाधिवेशनके लिये मथुरापुरीमें एकत्रित हो गये थे। स्वर्गीय सैलाना राज्याधिपति हिज़ हाईनेस श्रीमान् महाराजा सर यशवन्तसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० महोदयने बहुत ही उत्साहके साथ अधिवेशनके सभापतिका आसन अलंकृत करना स्वीकार किया था; उनके राज्यमें एकाएक दुर्भिक्ष उपस्थित हो जानेके कारण वे स्वयं पधार न सके और उन्होंने अन्य-अनेक धार्मिक नरेशोंकी तरह प्रतिनिधिरूपसे अपने प्राइवेट सेक्रेटरियों और सरदारोंको भेजकर अधिवेशनके कार्यकर्ताओंको उत्साहित किया था। उन्हींके शुभ प्रस्तावसे, जो उन्होंने तार द्वारा किया था, खरवाके ठाकुर साहब राव गोपालसिंह बहादुरने उनके स्थानमें अधिवेशनके सभापतिका आसन सुशोभित किया था। यह अधिवेशन मथुराके सुप्रसिद्ध सेठजीके बाड़ेमें बड़ी धूमधाम से मिती चैत्र कृष्ण ४ शुक्रवार सं० १९५८ ता० २८ मार्च सन १९०२ से चैत्र कृष्ण ६ रविवार ता० ३० मार्च तक हुआ। सभागृहमें नाना प्रान्तोंसे आये हुए प्रतिनिधियों और सभ्योंके सम्मिलनकी शोभा देखते ही बनती थी। वेद भगवान्का पूजन और वेदपाठ-शान्तिपाठ होनेके उपरान्त वाग्मिवर श्रीमान् पं० दीनदयालुशर्मा व्याख्यान-वाचस्पति महाशयकी सुमधुर वक्तृताद्वारा अधिवेशनका कार्य प्रारम्भ हुआ। पण्डितजीके इस महाधिवेशनका प्रयोजन अच्छी तरह समझा देनेपर बाबा नारायणसिंहजी वकीलने पहला प्रस्ताव इस प्रकार उपस्थित किया :—"(क) आज भारतधर्म महामण्डल और श्रीनिगमागममण्डली ये दोनों सभाएँ सर्वांशसे सम्मिलित होकर

और एक रूपको प्राप्त होकर एक विराट् सभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलके नामसे स्थापित हुई।" (ख) "इस सम्मिलित विराट् सभाकी रजिस्ट्री करानेके अर्थ नियम बनाकर कानूनके अनुसार इसकी रजिस्ट्री करायी जाय।"

श्रीमान् पं० दीनदयालु शर्माने प्रस्ताव किया :—"इस सभाके नियमोंका निश्चय तथा आवश्यकीय परिवर्तन करनेके लिये एक सब कमेटी नियत कर दी जाय।" ये दोनों प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे स्वीकृत हुए। दूसरे प्रस्तावानुसार जो सब कमेटी बनी, उसमें पंजाबके ४, युक्त प्रदेशके ३, राजपूतानेके ३, दक्षिणप्रान्तका १ और मध्यभारतका १, इस प्रकार सब मिलाकर १२ सदस्य चुने गये और वह कमेटी परिश्रमपूर्वक अपना कार्य करने लगी। कमेटीने सभाका 'मेमोरेण्डम आफ असोसिएशन (उद्देश्य) और 'आर्टिकल आफ असोसिएशन' (नियम) बना लिया, तब अलीगढ़के स्वर्गीय वकील बाबू तोतारामजीने प्रस्ताव किया कि, कानूनके अनुसार उपस्थित सभ्योंमेंसे कमसे कम सात सभ्योंके सभाके उद्देश्यों और नियमोंपर हस्ताक्षर कराके इसकी रजिस्ट्री करायी जाय। पं० दीनदयालुजीने इस प्रस्तावका विरोध किया। उनका कहना था कि, जबतक महाराजा बहादुरदरभङ्गाके दस्तावेजपर हस्ताक्षर न हो जायँ, तबतक इसकी रजिस्ट्री न करायी जाय। इसपर बहुत वाद-विवाद होनेपर सर्व-सम्मतिसे यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ :—"श्रीमहामण्डलके इस मथुरा-अधिवेशनमें जो सभ्य महोदय उपस्थित हुए हैं, उनमेंसे कमसे कम सात सज्जनोंके हस्ताक्षर कराकर सभाके उद्देश्य और नियमोंकी रजिस्ट्री करायी जाय; क्योंकि अनुपस्थित सभ्योंके हस्ताक्षर करानेकी कानूनके अनुसार आवश्यकता नहीं है। इसकी सूचना महाराजा बहादुर दरभंगाके पास भेज दी जाय।" यह प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे स्वीकृत हो जानेपर माननीय

सभापति महोदयके पास तारसे इसकी सूचना भेजी गयी और तारसे ही श्रीमान्‌की प्रसन्नता सूचक अनुमति उसी दिन आ गयी। तब बाबू तोतारामजीने श्रीमहामण्डलके उद्देश्य और नियम महासभामें दुबारा पढ़ सुनाये और यथानियम सातसे भी अधिक सभ्योंके दस्तावेज पर हस्ताक्षर करा लिये। फिर प्रतिनिधियोंका चुनाव हुआ और प्रारम्भिक प्रबन्धके लिये एक प्रोविजनल कमेटी बना दी गयी। दस्तावेज पर जिन सदस्योंने हस्ताक्षर किये थे, उनके शुभ नाम इस प्रकार हैं :—

श्री पं० गोविन्दराम शास्त्रीजी
श्रीराव गोपालसिंह राठोर (खरवा)
श्री ज्योतिषी बाबा माधवलाल शर्मा
श्री रायवरदाकान्त लाहिड़ीजी
श्री बा० दुर्गाप्रसादजी
श्री बा० तोतारामजी
श्री ठाकुर मोहनचन्दजी
श्री गोस्वामी मधुसूदनलालजी
श्री बाबा नारायणसिंहजी
श्री बाबू राधाकृष्णदासजी
श्री पं० लक्ष्मीनारायण दुबेजी,

स्थानीय सेंट्रल हिन्दुकालेजके प्रति श्रीमहामण्डलकी प्रारम्भसे ही सहानुभूति रही आयी है। तदनुसार यह प्रस्ताव सर्वानुमतिसे स्वीकृत हुआ:—"श्रीमान् बाबू (अब स्वर्गीय डाक्टर) भगवान्‌दास-जीके प्रस्तावानुसारसर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि, श्रीमहामण्डलकी हिन्दु कालेजके साथ सदासे सहानुभूति रही आयी है। अतः महा-

मण्डलके विद्या-प्रचारविभागके साथ हिन्दुकालेजका सम्बन्ध रक्खा जाय"। महासभाके इस अधिवेशनको सुसम्पन्न करनेके लिये सभापति महाशयोंके अतिरिक्त ठाकुर केसरीसिंहजी बारहट, रायरायान बरदाकान्त लाहिड़ीजी, पं० माधवप्रसादमिश्र, बाबू तोतारामजी, बाबू भगवानदासजी और बाबा नारायणसिंहजीने विशेष परिश्रम किये थे।

पूर्वकथित दोनों सभाओंका आय-व्यय देखकर श्रीमथुरा प्रधान-कार्यालयका कार्य निर्वाह करनेका प्रस्ताव हुआ; परन्तु श्रीमहामण्डल-के आय-व्ययका न कोई हिसाब मिला, न कोई कागजात मिले और न कोई आमदनी ही प्राप्त हुई। वहाँ तो सब घपला चल रहा था, हिसाब, कागजात या आमदनी मिलना सम्भव ही नहीं था। श्री मिथिलाधिपति और अन्यान्य लोगोंसे मासिक या एककालिक जो आमदनी होती थी, उसका अवशिष्ट धन कहाँ गया, कौन जाने! जो थोड़ी-सी मासिक आमदनी निगमागम-मण्डलीको होती थी, उसीसे इस विराट् सभाके कार्यालयका धर्मकार्य आरम्भ किया गया। महाधिवेशनका प्रारम्भिक सब व्यय निगमागममण्डलीके कोषसे ही किया गया। इसके अतिरिक्त इस महाधिवेशनके व्ययकेलिये श्रीजीके परम भक्त धार्मिक प्रवर स्वर्गीय हिज़हाइनेस महाराजा सर शार्दूलसिंह बहादुर जी० सी० एस० आई० किशनगढ़ राज्याधिपतिने यथावश्यक धन भेज दिया था, इस कारण इस धर्मकार्यके लिये सर्वसाधारणसे आर्थिक सहायता माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं हुई। मथुराके स्वर्गीय जोशी बाबा माधवलालजी महाशयका भी कुछ धन भारतके सब प्रान्तोंके प्रतिनिधियोंके आतिथ्यमें व्यय हुआ था। अधिवेशनका कार्य समाप्त होनेपर प्रतिनिधियोंके रहते हुए ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी सरकारी कानूनके अनुसार रजिस्ट्री हो गयी। परन्तु इसके धर्मकार्य अग्रसर करनेका कोई उचित

प्रबन्ध नहीं हो सका। श्रीमहामण्डलका केवल नाम ही इस संयुक्त-महासभाको प्राप्त हुआ, कागजपत्र, शेष धन या अन्य कोई साधन-सामग्री नहीं मिली। अन्तत: निगमागममण्डलीकी थोड़ी-सी आमदनीसे ही काम चलाना पड़ा। श्रीजीके भक्तोंसे अब कुछ-कुछ प्राप्ति होने लगी थी, जिससे काम चलाया जाने लगा सही, किन्तु अनेक बाधाएँ और विपत्तियाँ सामने खड़ी हो गयीं और निन्दकोंके मुँहसे निन्दा भी सुनायी देने लगी। श्रीजीका धैर्य सुमेरु पर्वत जैसा अटल था। धैर्यके साथ इन सब विघ्नोंसे सामना करते हुए श्रीजी द्वारा प्रारम्भित यह धर्मकार्य शनैः शनैः अग्रसर ही होता गया।

श्रीजीका कार्य भगवत्कार्य था और भगवत्कार्यमें भगवान्‌की सहायता हुआ ही करती है। जो धर्मकार्य व्यक्तिगत कल्याणके लिये किया जाता है, उसकी सफलता अथवा विफलता उस व्यक्तिके पुरुषार्थ और प्रारब्धके अनुसार हुआ करती है; परन्तु जो धर्मकार्य भगवत्कार्य समझकर जगत्कल्याण बुद्धिसे किया जाता है, जिसके साथ मनुष्यजातिके मङ्गलका सम्बन्ध हो और जिसका कर्ता निष्काम-व्रतपरायण हो, उसमें चाहे कितनी ही बाधाएँ हों, कितना-ही विरोध हो, चाहे वह कालप्रवाहके प्रतिकूल ही क्यों न हो, उसमें कदापि विफलता हो नहीं सकती। श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

अर्थात्-निष्काम कर्मयोगमें विफलता नहीं है, विघ्न नहीं है, इस कर्मयोगरूपी धर्मका थोड़ा-सा भी यदि साधन किया जाय, तो मनुष्य महाभयसे मुक्त हो जाता है। श्रीजी इसी सिद्धान्तके अनुसार धर्मक्षेत्रमें एक-एक पैर अविचलित भावसे बढ़ाते गये।

उस समय ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाजकी बड़ी प्रबलता थी। ये समाज, ईसाई, मुसलमान जैसे विधर्मियोंके

आक्रमणोंसे आत्मरक्षा करनेका प्रयत्न अवश्य करते थे, परन्तु उनके विचार और कार्यकलाप ऐसे कुछ विचित्र और बेतुके थे; जिनसे सनातनधर्मको ठेस लगती थी और वह संकटमें पड़ गया था। उनके उत्पातोंसे यह लाभ अवश्य हुआ कि, सनातनधर्मी प्रजा घोर मोह-निद्रासे हड़बड़ाकर जाग उठी। हिन्दुजातिके अभ्युत्थानकी यह प्रथम अवस्था थी। इसी समय श्रीभारतधर्म-महामण्डलद्वारा धर्मप्रेमी ब्राह्मणोंने धर्मप्रचारका कार्य आरम्भ किया। तदनन्तर अनेक साधु और ब्राह्मण निरलस भावसे पचीस वर्षोंतक उक्त समाजोंके प्रचारका प्रतिवाद करते रहे। अभ्युत्थानकी यह द्वितीय अवस्था कही जा सकती है। तीसरी अवस्था वह है, जब श्रीजी जैसे एक परोपकार-व्रतधारी महापुरुषने यह संकल्प कर लिया कि, हिन्दु-जातिके पुनरभ्युदय और सनातनधर्मके पुनः प्रचारार्थ अखिल भारत-वर्षीय एक प्रतिनिधिभूत स्वजातीय संस्था स्थापित की जाय। इस संकल्पको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये श्रीजीने सर्वप्रथम भारतके प्रसिद्ध प्रसिद्ध अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न महात्माओंसे सम्मतियाँ संग्रह कीं और प्रयागमें त्रिवेणी-महाकुम्भके अवसरपर सब श्रेणीके प्रधान प्रधान साधु-महात्माओंके आशीर्वादसूचक सहस्रों हस्ताक्षर एक प्रस्तावपत्रपर लेकर इस महायज्ञको आरम्भ किया। भारतमें प्रथम श्रीनिगमागम-मण्डलीके रूपमें यह महायज्ञ प्रकट हुआ और फिर मथुराके उक्त महाधिवेशनमें श्रीभारतधर्ममहामण्डलके रूपमें वह परिणत हुआ। श्रीमहामण्डलकी रजिस्ट्री होते ही इसकी ओरसे धर्मप्रचारार्थ उपदेशकगण देशभरमें भ्रमण करने लगे और लोक-संग्रह तथा धनसंग्रहकी भी व्यवस्था होने लगी।

लोकसंग्रह और धनसंग्रहकी दृष्टिसे श्रीजीने प्रथम देशके धन-सम्पन्न वैश्यवर्गको टटोला, तो उन्हें उनमें कुछ सार नहीं देख पड़ा। धर्मरक्षाकेलिये त्याग और कर्तव्यपालन करनेमें उन्होंने कुछ

भी उत्कण्ठा नहीं दिखायी। तब क्षत्रियवर्गपर श्रीजीने दृष्टि डाली, तो कुछ आशाकी झलक दिखायी दी। अतः उन्हींके संघटनकी योजना श्रीजीने तैयार की, क्योंकि श्रीजी जानते थेः—

नाब्रह्मक्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
उभयोरपि सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

अर्थात् बिना ब्राह्मणशक्तिकी सहायतासे क्षात्रशक्ति और बिना क्षात्रशक्तिकी सहायताके ब्रह्मशक्ति बढ़ नहीं सकती। दोनों संयुक्त होकर ही इहलोक और परलोकमें अभ्युदय कर सकते हैं। श्रीभगवान्की कृपासे ऐसा संयोग भी उपस्थित हो गया।

क्षत्रिय-महासभा

जिस प्रकार ब्राह्मणजाति भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें बँट जानेसे परस्पर सहानुभूतिशून्य होकर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र समाजोंमें विभक्त हो गयी और अपनी सामाजिक शक्ति खो बैठी, उसी प्रकार क्षत्रियजाति भी दूर-दूरके प्रान्तोंमें बस जानेके कारण पारस्परिक सम्बन्धसे शून्य हो गयी है। इस अव्यवस्थाको दूरकर सुदूर प्रान्तोंके क्षत्रियोंमें पुनः रोटी-बेटीका सम्बन्ध स्थापन करनेके विचारसे कुछ समाजके शुभचिन्तक दूरदर्शी क्षत्रिय नेताओंने कुछ उद्योग करनेका निश्चय किया और इस कार्यमें सहायता देनेकेलिये उन्होंने श्रीचरणोंमें उपस्थित होकर प्रार्थना की। श्रीजीको क्षत्रियोंके संघटनके विचारसे यह बात अभीष्ट ही थी। उन्होंने सहायता देना स्वीकार किया और इस कार्यके सम्पादनार्थ एक विराट् क्षत्रिय महासभा स्थापित करनेका परामर्श दिया, जो उन नेताओंको जँच गया। ब्राह्मणोंमें जिस प्रकार नेताओंका अभाव हो गया है, उस प्रकार क्षत्रिय-समाजमें असुविधा नहीं थी। क्षत्रिय-समाजके स्वाभाविक

नेता क्षत्रिय राजन्यगण अब भी भारतमें विद्यमान थे। इस कारण इस समाजहितकारी कार्यका प्रारम्भ उन्हींके द्वारा कराना श्रीजीने समुचित समझा।

पश्चिम हिमालय-प्रान्तमें कई लाख क्षत्रिय निवास करते हैं, जिनके नेता श्रीमान् महाराजा बहादुर काश्मीराधिपति माने जाते थे। श्रीजीके परामर्शसे क्षत्रिय-समाजके उक्त नेताओंने यह निश्चय किया कि, राजपूतानेके क्षत्रियोंके साथ काश्मीरके राजवंशका सामाजिक सम्बन्ध पुन: स्थापित हो जाय, तो क्षत्रियसमाजमें सामाजिक दृढ़ता हो जायगी। इस निश्चयको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये श्रीजीकी प्रेरणासे श्रीमहामण्डलका एक डेपुटेशन श्रीनगरमें भेजा गया। उसने श्रीनरेशसे विचार विनिमयकर इस कार्यको अग्रसर करनेकेलिये काश्मीर-राजकुलके द्वारा अपनी राजधानी श्रीनगरमें राजपूतानेके प्रधान प्रधान क्षत्रिय-नेताओंको अति आदरपूर्वक निमन्त्रित करके एक महाधिवेशन करनेका आयोजन किया और तदनुसार राजपूतानेके बड़े बड़े राज्योंसे अनेक गण्यमान्य क्षत्रिय नेता राजन्यवर्गके प्रतिनिधिगण श्रीनगरमें उपस्थित भी हुए। पश्चिम हिमालय प्रान्तके अनेक क्षत्रियनेता भी इस महाधिवेशनमें सम्मिलित हुए थे। कई दिनों तक श्रीनगरके राजभवनमें महाधिवेशनका कार्य होता रहा, जिसके सूत्र श्रीजीद्वारा ही परिचालित होते थे। इसके सफल बनानेमें श्रीमहामण्डलने पर्याप्त परिश्रम किये थे। फलत: श्रीजीके विचार सुसिद्ध हुए। क्षत्रियोंका उत्तम संघटन हुआ। परस्परमें खान-पान आदि होकर सामाजिक सम्बन्धकी दृढ़ता पुन: स्थापित हुई और ब्रह्मशक्तिकी सहायता प्राप्त होनेके लिये उपस्थित राजा महाराजा तथा दोनों ओर (राजपूताना और काश्मीर) के प्रतिनिधियोंने एकमतसे श्रीमहामण्डलको हिन्दुजातिकी प्रतिनिधिभूत एक-

मात्र विराट्धर्मसभा मानकर निम्नलिखित प्रतिज्ञापत्र घोषित किया :—

"क्षत्रिय जातिमें संस्कारोंका पुनः प्रवर्तन तथा आर्यसदाचारोंका पालन करानेके लिये ऐसी एक स्वतन्त्र क्षत्रियहितकारिणी महासभा स्थापित होना उचित है, जिसमें द्विज-संस्कार सम्पन्न तथा सदाचारनिरत क्षत्रिय ही सम्मिलित हो सकें और उस सभाके द्वारा ऐसा यत्न किया जाय कि, जिससे क्षत्रियजातिमें संस्कारोंका पुनः प्रवर्तन होकर उच्छृङ्खलताका अन्त हो जाय और सदाचारकी मर्यादाओंकी दृढ़ता हो सके। इन पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये हम लोगोंका कर्तव्य है कि, श्रीभारतधर्ममहामण्डल जैसी विराट्धर्म-महासभाके साथ अधिक सम्बन्ध स्थापित करके उसकी शक्ति तथा प्रबन्धकी सहायता प्राप्त करें।"

क्षत्रिय जातिके संघटनकेलिये यह जो महाधिवेशन हुआ और इसकी सफलताके लिये महामण्डलका जो डेपुटेशन भेजा गया था, उसमें फरीदकोटके वजीर रायराथान बाबू वरदाकान्त लाहिडीजी प्रधान थे। वे आदिसे लेकर अन्ततक निःस्वार्थभावसे इस कार्यमें तत्पर थे। महाधिवेशनमें श्रीमहामण्डलके महामहोपदेशक गोस्वामी पं० नन्दकिशोरदेव शर्मा विद्यारत्नके जो डेपुटेशनमें सम्मिलित थे—बड़े ही प्रभावशाली व्याख्यान हुए और श्रीनगरमें समस्त काश्मीरी ब्राह्मणोंकी जो जातीय-धर्मसभा प्रायः दो सौ वर्षोंसे स्थापित थी, वह श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी शाखासभाओंकी श्रेणीमें अन्तर्भुक्त हो गयी। महामण्डलके डेपुटेशनके प्रयत्नसे काश्मीरराज्यके गण्यमान्य पण्डित तथा राजपूतानेसे आये हुए संस्कृत विद्वान् श्रीदरबार काश्मीरके द्वारा सुवर्ण तथा रजत-मुद्राओंसे सम्मानित किये गये। श्रीमहामण्डलकी कार्यशक्ति, पुरुषार्थ और प्रयत्नशीलताका श्रीनरेशपर बड़ा प्रभाव पड़ा। श्रीजीके भक्त तो वे हो

ही चुके थे; इसके निदर्शनार्थ अधिवेशनका कार्य समाप्त होनेपर धार्मिक प्रवर हिज हाइनेस जनरल सर महाराजा प्रतापसिंह इन्द्र-महेन्द्र बहादुर जी० सी० एस० आई० काश्मीर-जम्बू नरेशने श्रीमहा-मण्डलको चिरस्थायी रूपसे सहायता देनेके अर्थ एक दानपत्र लिख दिया, जिसमें श्रीदरबारने पचीस हजार रुपये एककालिक और पाँच सौ रुपये मासिक दान देनेकी प्रतिज्ञा की है। श्रीदरबारके कनिष्ठ भ्राता श्रीमान् जनरल सर राजा अमरसिंह बहादुर के० सी० एस० आई० ने श्रीमहामण्डलको एक स्वतन्त्र दान-पत्र लिख दिया, जिसमें एक सहस्र रुपये एककालिक और पचीस रुपया मासिक सहायता करनेकी प्रतिज्ञा की। इसी तरह महामण्डल-डेपुटेशनके विशेष प्रयत्नसे बनारस सेंट्रलहिन्दू कालेजकेलिये दो दानपत्र प्राप्त हुए। कालेजको श्रीदरबारने ५००) और उनके कनिष्ठ भ्राताने २०) मासिक सहायता देनेका दानपत्र लिख दिया। काश्मीरके राजकुलके द्वारा वर्णाश्रमधर्मावलम्बियों—विशेषतः क्षत्रियजाति-की उन्नतिका यह प्रशंसनीय कार्य हुआ, जो इतिहासमें अमर रहेगा; क्योंकि इसका विवरण काश्मीर-राजकुलके 'राजतरङ्गिणी' नामक इतिहास-ग्रन्थमें लिपिबद्ध करानेका प्रबन्ध कर दिया गया था। इस महाधिवेशनकी सफलतामें राज्यके दीवान श्रीमान् रायबहादुर पं० दयाकिशन कौल एम० ए०, सी० आई० ई० महोदयका बहुत कुछ हाथ रहा और वे पूर्ण यशस्वी हुए।

इस क्षत्रियजाति हितकारी कार्यके सुसम्पन्न हो जानेसे श्रीमहा-मण्डलके लोकसंग्रहके कार्यमें बहुत कुछ सुगमता हुई और श्रीमहा-मण्डलका धनाभाव भी कुछ दूर हुआ। श्रीमहामण्डलके अर्थ-संग्रह और लोकसंग्रहका कार्य इस प्रकार श्रीजीके प्रयत्नसे दिन-दिन बढ़ता ही गया और धर्मसेवाके कार्यमें सुगमता होती गयी। क्षत्रिय-राजन्यवर्गसे अधिकाधिक सहायता मिलने लगी। नियमित डेपुटेशन

जहाँ-तहाँ भेजे जाने लगे और उनके द्वारा अनेक दानपत्र प्राप्त होने लगे तथा धनबल एवं लोकबल बढ़ाया जाने लगा।

दिल्लीका महाधिवेशन

श्रीमहामण्डलका कार्य कुछ कुछ अग्रसर हो चला था कि, सम्राज्ञी विक्टोरियाका देहावसान होनेका समाचार मिला। तदनन्तर सम्राट् एडवर्डके राज्यारोहणके उपलक्ष्यमें दिल्ली-दरबारकी योजनाकी घोषणा हुई। धर्मकार्यके उत्कर्षके विचारसे श्रीजीने इस शुभ अवसरसे लाभ उठाना उचित समझा। तदनुसार श्रीभारतधर्म-महामण्डलका एक डेपुटेशन दिल्ली भेजा गया और उसके द्वारा महामण्डलका एक अधिवेशन करनेकी व्यवस्था हुई। क्षत्रिय महासभा और श्रीमहामण्डल संयुक्त होकर इस अधिवेशनको सफल बनानेवाले थे; परन्तु अधिवेशनके मनोनीत सभापति हिन्दूसूर्य श्रीमान् महाराजाधिराज महाराणा बहादुर उदयपुरके एकाएक अस्वस्थ हो जानेसे ऐसा न हो सका और दोनों संस्थाओंके अधिवेशन पृथक्-पृथक् हुए। श्रीमहामण्डलके अधिवेशनमें काश्मीराधिपति हिज हाइनेस जनरल सर महाराजा प्रतापसिंह बहादुर जी० सी० एस० आई०, मिथिलाधिपति हिज हाईनेस आनरेबल महाराजाधिराज सर रमेश्वरसिंह बहादुर के० सी० आई० ई०, खरवाधिपति ठाकुर राव गोपालसिंह बहादुर, श्री कुँवर धनपाल सिंहजी, श्रीमहामहोपाध्याय पण्डितराज शिवकुमारशास्त्रीजी, श्रीमहोपदेशक गणेशदत्तशास्त्रीजी, श्री पं० श्यामशंकर शर्मा एम० ए०, श्री पं० हरिप्रसाद जोशी एम० ए०, श्री बारहट केसरी सिंहजी, श्री बारहट समर्थदानजी, रायरायान श्रीबरदाकान्त लाहिड़ीजी, रायबहादुर दीवान दयाकिशन कौल एम० ए०, सी० आई० ई०, रायबहादुर दीवान हरिचन्दजी, अनेक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार देशी राज्यों और भारतके सब प्रान्तोंके

प्रतिनिधिगण, गणयमान्य संस्कृताध्यापक तथा धर्मोपदेशक उपस्थित हुए थे। महामण्डलकी रजिस्ट्री होनेके अनन्तर इतने योग्य पुरुषों और उत्साही सभ्य सज्जनोंको एकत्र होकर परामर्श करनेका यह पहला ही अवसर था। इन सब महापुरुषोंके सम्मिलित हो जानेसे श्रीमहामण्डलके इस दिल्लीके अधिवेशनमें असाधारण सफलता प्राप्त हुई।

इसी अधिवेशनमें श्रीमहामण्डलके धर्मकार्योंका विस्तारकरनेके अभिप्रायसे भारतके सब प्रान्तोंमें प्रान्तीय-मण्डल स्थापित करने, धर्म-शिक्षाके उपयोगी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने, धर्मोपदेश-कोंको नियमबद्ध होकर प्रचारकार्य करने, श्रीमहामण्डलके धनकी सुव्यवस्था करने, अन्य उपधर्मोंके आक्रमणोंसे सनातनधर्मकी सुरक्षा करने आदिके प्रस्ताव स्वीकृत हुए, जिनका प्रभाव राजा-महाराजाओंसे लेकर साधारण प्रजापर्यन्त सबपर अच्छा रहा और सर्वसाधा-रणको श्रीभारतधर्म-महामण्डलका अच्छा परिचय हो गया। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है कि, श्रीमहामण्डलके इस दिल्ली-डेपुटेशनके आतिथ्यादिका सब व्यय कोटलाके ठाकुर साहब और जयपुरके मन्त्री श्रीमान् उमरावसिंहजी तथा क्षत्रिय-सभाके मन्त्री कुंवर ध्यानपाल सिंहजीने बड़ी उदारतासे किया था। दिल्ली-दरबार होनेसे पहले श्रीजी कुछ योग्य क्षत्रिय सरदारोंको साथ लेकर राजपूतानेके प्रधान-प्रधान नरपतियोंसे मिले थे और अनेक विचार विनिमयके पश्चात् यह निश्चय हुआ था कि, भारतके सब क्षत्रिय नरपतियोंकी एक प्रतिनिधि मण्डली गठित की जाय और इसी तरह ब्राह्मण-नरपतियों और बड़े-बड़े अध्यापकोंकी भी एक प्रतिनिधिमण्डली बने और दोनों मिलकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें पारस्परिक प्रेम बढाने और धर्मोन्नतिके विषयमें सत्परा-मर्श किया करें। इस निश्चयके अनुसार यद्यपि दोनों मण्डलियाँ

गठित नहीं हो सकी, तथापि यह महत्कार्य श्रीभारतधर्ममहामण्डलको माध्यम बनाकर श्रीजीके द्वारा बराबर होता रहा ।

धर्माचार्यों और स्वाधीन नरेशोंकी अनुकूलता

भारतके सब प्रान्तोंमें श्रीमहामण्डलका प्रभाव प्रस्थापित करने, आर्यप्रजाको सार्वजनिक अनुशासन व्यवस्थाका रहस्य समझाने और श्रीमहामण्डलके इस महायज्ञके सम्पादनार्थ लोकसंग्रह तथा धनसंग्रह करनेकेलिये श्रीजीने यह नीति स्थिर की कि, भारतके जिस प्रान्तमें जब कभी कोई जातीय, राजनीतिक व्यावसायिक, सामाजिक या धार्मिक सम्मेलन हो, तब वहाँ और महाकुम्भ जैसे धार्मिक मेलोंके अवसरोंपर श्रीमहामण्डलका जनताको परिचय कराने तथा इसके धर्मपुरुषार्थको अग्रसर करनेकेलिये श्रीमहामण्डलके विशेष अधिवेशन किये जायँ और उनमें विद्वान् धर्मवक्ताओंके व्याख्यानोंद्वारा तथा पुस्तक-पुस्तिकाओंके वितरण द्वारा अविच्छन्न रूपसे धर्मप्रचार होता रहे । तदनुसार पहलेही वर्षमें हरद्वार और प्रयागके महाकुम्भके मेलों, कलकत्तेकी सुप्रसिद्ध प्रदर्शनी और कांग्रेस अधिवेशनके अवसरों, हरिहरक्षेत्र और पुष्कर तीर्थके सम्मेलनों तथा दक्षिणके कलादितीर्थके कुम्भाभिषेकके उत्सवमें अपने डेपुटेशन, धर्मवक्ता और पुस्तक-पुस्तिकाएँ भेजकर श्रीमहामण्डलने सब मिलाकर इक्कीस स्थानोंमें अपने उद्देश्योंके प्रचारके साथ ही साथ धर्मप्रचारका कार्य बड़ी लगनसे किया था और उसमें उसे अच्छी सफलता मिली थी । इस रीतिसे श्रीमहामण्डलका कार्यक्षेत्र श्रीजीके द्वारा क्रमशः विस्तृत होता गया और भारतके सब प्रधान प्रधान धर्माचार्यों, राजामहाराजाओं तथा सामाजिक नेताओंके आज्ञापत्र, घोषणापत्र, दानपत्र आदि संग्रह करके लोकबल और धनबलके द्वारा श्रीमहामण्डलकी शक्ति बढ़ानेका प्रयत्न किया जाने लगा ।

धर्मके सम्बन्धसे पूज्यपाद धर्माचार्योंका अधिकार सर्वोपरि माना गया है। परन्तु अपने देशमें परस्पर विरोधी अनेक सम्प्रदाय और पन्थ प्रचलित हैं। उनको धर्मके एक ही छत्रकी छायामें ले आना सहज नहीं था। श्रीजीका संकल्प था कि, इन सबको एकही धर्म-सूत्रमें आबद्ध किया जाय। तदनुसार अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सिद्धान्तोंके माननेवाले सम्प्रदायाचार्यों, भक्तिपन्थके महन्तों और निर्गुणपन्थके मठाधीशोंसे श्रीजी मिले और उनको विश्वव्यापक धर्मकी मौलिकताकी ओर ध्यान आकृष्ट कर उनको एकमुख करते हुए संरक्षकरूपसे श्रीमहामण्डलके झण्डेतले एकत्र कर लिया। उनके अनुकूल हो जानेसे जो धर्माचार्य एक दूसरेको फूटी आँखसे देखना नहीं चाहते थे, वे प्रेमपूर्वक आसनसे आसन सटाकर बैठने लगे और धर्मकी सर्वाङ्गीण उन्नतिकी बातोंमें विचार-विनिमय करने लगे। अबतक जो अलौकिक कार्य किसी महापुरुषसे करते नहीं बन पड़ा था, वह श्रीजीने अपने प्रभावसे कर दिखाया। श्रीजीके द्वारा यह अनहोनी बात जादूकी तरह हो गयी, जिसे देखकर सभी धर्मप्रेमी चकित हो गये।

बौद्ध-विप्लवके उपरान्त सनातन वैदिक धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिये श्रीभगवान् शंकराचार्य प्रभुने भारतकी चार दिशाओंमें चार धर्मराज्योंकी जो गद्दियाँ स्थापित की थीं, उनमेंसे उस समय तीन गद्दियाँ (श्रीजगन्नाथपुरीकी, श्रीद्वारकापुरीकी और श्रीशृंगेरीकी) अपने स्वरूपमें विद्यमान थीं। चौथी उत्तराखण्डकी गद्दी श्रीजीके पुरुषार्थसे अब पुनः पूर्वरूपमें स्थापित हो गयी है, जो सैकड़ों वर्षोंसे उच्छिन्न हो गयी थी। इन गद्दियोंके आचार्य शंकराचार्यही कहाते हैं। उक्त आचार्य प्रभुओंमेंसे दो प्रभुओंके आज्ञापत्र और घोषणापत्र तथा एक प्रभुकी सहानुभूति श्रीमहामण्डलने प्राप्त कर ली। इसी तरह द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतोंके चारों वैष्णव सम्प्रदाया-

चार्योंकी भी सहानुभूति प्राप्त हो गयी। उनमेंसे तीन आचार्य प्रभुओंने श्रीमहामण्डलको हिन्दु जातिकी प्रतिनिधिभूत विराट् धर्म-महासभा मानकर अपनी खास मुहर सहित आज्ञापत्र और घोषणा-पत्र श्रीमहामण्डलको प्रदान किये हैं। कबीर-पन्थके नानक-पन्थके और दशनामी आदि संन्यासियोंके महन्त-मठाधीश जैसे अनेक महात्माओंकी भी सहानुभूति और सहयोगिता महामण्डलको प्राप्त है। इस प्रकार श्रीजीके अदम्य उद्योगसे देशके महान् राजन्यवर्गों और धर्माचार्य प्रभुओंका संरक्षकत्व प्राप्त होजानेसे श्रीभारत-धर्म-महामण्डलकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। आचार्यपीठोंके सम्बन्धमें इस ग्रन्थके परिशिष्ट 'श्रीमहामण्डलकी सेवाएँ' शीर्षक प्रबन्धमें विस्तारपूर्वक विवरण प्रकाशित किया गया है। उससे धर्माचार्योंके अधिकारोंकी श्रीजीने किस कौशलसे सुरक्षा की है, इसका आभास मिल जायगा।

विविध सम्प्रदायोंके धर्माचार्यों और स्वाधीन नरपतियोंसे जो दानपत्र, घोषणापत्र आदि श्रीमहामण्डलको प्राप्त हुए हैं, उनका स्वरूप जाननेकेलिये श्रीमान् मिथिलाधिपति महाराजाधिराजके दानपत्रसे कुछ अंश यहाँ उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है:— "भारतमें सनातनधर्मका पुनरभ्युदय करने, संस्कृतविद्याका पुनरुद्धार करने, आर्यजातिका निखिल कल्याण साधन करने और सकल धर्मसभाओं और धर्मालयोंके समष्टि रूपसे एक विराट् धर्म-सभाकी सृष्टिके द्वारा भारतव्यापिनी धर्मशक्तिकी उत्पत्ति करके संसारमें त्रिविध उन्नतिसे आनन्द और सुखकी वृद्धि करनेके अभि-प्रायसे एक महासभा स्थापित होनेकी बड़ी आवश्यकता थी। श्रीभारतधर्ममहामण्डलके नियमबद्ध होकर स्थापित हो जानेसे आर्यजातिको उन अभावोंके दूर होनेकी आशा हुई है। अब सना-तन धर्मावलम्बी नरपतियोंसे लेकर सर्वसाधारण प्रजा-पर्यन्त सबका

यह कर्तव्य होना उचित है कि, अपने-अपने देश, काल और शक्तिके अनुसार इस धर्मसभामें योग और सहायता दें; जिससे इस धर्मकार्यका पूर्णतः सम्पादन हो सके।

"श्रीभारत-धर्ममहामण्डलको आरम्भसे ही इस राज्यसे अनेक प्रकारसे सहायता दी गयी है। दिल्ली-महाधिवेशनकी सहायताके लिये बीस सहस्र, काशी और प्रयागके अधिवेशनोंके व्ययके लिये अठारह सहस्र और श्रीमहामण्डलके स्थायी कोषकेलिये बीस सहस्र मुद्राएँ इस राज्यसे प्रदान की गयी हैं। इसके अतिरिक्त कई शाखा-धर्मसभाओं और श्रीमहामण्डलके कई विभागोंकेलिये समय समयपर यथोचित सहायता इस राज्यसे दी गयी है। अबतक श्रीमहामण्डल-प्रधान कार्यालयके व्ययकेलिये राज्यसे एक सौ रुपया मासिक सहायता दी जाती थी; परन्तु अब श्रीमहामण्डलके साथ श्रीनरेशका स्थायी सम्बन्ध हो जाने और इस स्वजातीय महा-सभाके प्रधान सभापति होनेके कारण तथा श्रीमहामण्डलकी शुभोन्नति देखकर श्रीनरेशने बड़े उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक अपनी मासिक सहायता एक सौ रुपयेसे बढ़ाकर डेढ़ सौ रुपया कर दी है। श्रीमहामण्डलके विद्या-प्रचार-विभागके उद्देश्योंकी पूर्तिकेलिये काशीके अपने संस्कृतविद्यालयका संस्कार करनेके हेतु श्रीमहा-मण्डलके परामर्शानुसार एक कमेटी बना दी गयी है और उसकी सम्हालका भार श्रीमहामण्डल-प्रधानकार्यालयको सौंपा गया है। इसके व्ययकेलिये लगभग चार सौ रुपया मासिक दिया जाता है। श्रीमहामण्डलके उद्देश्योंमेंसे एक उद्देश्य यह है कि, भारतके सब प्राचीन विद्यापीठोंका संस्कार कर वहाँ एक-एक संस्कृतविद्यालय स्थापन करना। तदनुसार मिथिलामें एक संस्कृतविद्यालय श्रीनरेश स्थापन करना चाहते हैं और उसके व्ययकेलिये साढ़ेतीन सौ रुपया मासिक सहायता देनेकी श्रीनरेशने स्वीकृति दे दी है।

श्रीमहामण्डलके जितने सदस्य बढ़ेंगे, उतनी ही अधिक इसकी दृढ़ता और पुष्टि होगी। अतः श्रीनरेश चाहते हैं कि, इस राज्यकी प्रजामें श्रीमहामण्डलके सभ्योंकी अधिकसे अधिक वृद्धि हो। साथ ही वे आशा करते हैं कि, भारतके सनातनधर्मावलम्बी स्वाधीन नरपति तथा अन्यान्य राजा-महाराजा इस स्वजातीय धर्मकार्यकी श्रीवृद्धिके अर्थ यथाशक्ति सहायता देकर स्वधर्मका पुनरभ्युदय करते हुए धर्म और यशके अधिकारी होंगे"।

यह दानपत्र मिथिला-(दरभङ्गा) धिपति, श्रीमहामण्डलके प्रधान सभापति, श्रोत्रिय ब्राह्मणकुलोद्भव, दशविध ब्राह्मणोंमें मैथिल-ब्राह्मणोंके समाजपति श्रीनरेशने लिखा है। सन् १६०२ में श्रीमहा-मण्डलकी रजिस्ट्री हुई। तबसे सन् १६१० तककी ७–८ वर्षोंकी अवधिमें श्रीजीके प्रभाव और पुरुषार्थसे पूर्वोक्त धर्माचार्य प्रभुओंके अतिरिक्त श्रीदरबार उदयपुर, काश्मीर, किशनगढ़, सैलाना, फरीदकोट, मयूरभञ्ज, ओरछा, टेहरी, चरखारी, बाँसवाडा, करौली, अलवर, रीवाँ, देवास, क्यूँठल, टिपरा, लिमड़ी, इन्दौर, रतलाम, जयपुर, मैसोर, बड़ोदा, जामनगर, बीकानेर, कोचीन, बूँदी, कोटा, भज्जी, नरसिंहगढ़ और बिजावर श्रीभारत-धर्ममहामण्डलके संरक्षक हो गये। इनमेंसे अनेक नरपतियोंने विशेष सहानुभूति दिखाकर श्रीद्वारवङ्गेश्वरके अनुसार ही दानपत्र प्रदान किये। तबतक सब मिलाकर आज्ञापत्र, घोषणापत्र और दानपत्र ५७ प्राप्त हुए थे, जिससे श्रीमहामण्डलकी धनशक्ति और लोकशक्ति बहुत बढ़ गयी और इसको सार्वदेशिक स्वरूपप्राप्त हो गया। विशेष-ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि, जिन जिन राज्योंमें श्रीजीका पधारना हुआ, उन्हीं राज्योंसे दानपत्र प्राप्त हुए। शेष राज्योंसे भी दानपत्र मिलनेकी आशा होनेसे उन राज्योंमें डेपु-

टेशन, योग्य प्रतिनिधि और धर्मवक्ताओंको भेजकर प्रयत्न करनेका निश्चय किया गया।

श्रीमहामण्डलका कार्य-विस्तार।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके प्रधान कार्यालयकी सुव्यवस्था हो जानेपर इस संस्थाके कार्योंका विस्तार करनेकी एक योजना श्रीजीने तैयार की और तदनुसार उद्योग आरम्भ हुआ। श्रीजीने भारतके सब प्रान्तोंमें श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय-मण्डल स्थापन करनेका निश्चय किया, जिनके द्वारा उन प्रान्तोंमें उत्साह और स्वतन्त्रतापूर्वक धर्म-कार्यके करनेमें सुगमता हो। भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी भाषाओं और वहाँकी हिन्दुजनताकी रीति-नीति तथा आचार-विचारके आधारपर विचारपूर्वक प्रान्तोंकी व्यवस्था की और तदनुसारही उन प्रान्तोंमें अनेक प्रान्तीयमण्डल स्थापित किये। किसी जेता जातिको नये देशपर अधिकार कर लेनेपर वहाँ अनुशासन स्थापित करनेमें जिस प्रकार कठिनता होती है, उसी प्रकार श्रीमहामण्डलको भी अपने धर्मराज्यका देशभरमें अनुशासन स्थापित करनेमें कठिनताका सामना करना पड़ा। हिन्दू प्रजाको संघशक्तिका महत्त्व प्रायः विस्मृत हो जानेसे और महामण्डलका संघटन कार्य उसके वर्तमान अभ्यास-के विरुद्ध होनेसे इसके सञ्चालकोंको बड़ी बड़ी बाधाओंसे टकराना पड़ा। तब यह निश्चय हुआ कि, जबतक श्रीमहामण्डलके प्रधान व्यवस्थापक पूज्यपाद श्रीजीके नेतृत्वमें योग्य व्यक्तियोंका डेपुटेशन प्रत्येक प्रान्तमें नहीं भेजा जायगा, तबतक देशभरमें धर्मराज्य स्थापन करनेमें सफलता नहीं होगी।

प्रान्तीय-मण्डलोंकी स्थापना

तदनुसार सर्वप्रथम बंगालमें डेपुटेशन भेजा गया और उसके द्वारा कलकत्तेमें 'वंगधर्ममण्डल' स्थापित किया गया। उसका अधि-

कार पूर्व-पश्चिम बंगाल, टिपरा और उड़ीसाके साथ रक्खा गया, क्योंकि वहाँकी जनताकी रीति-नीति प्रायः मिलती-जुलती है। बंगालमें आधुनिक शिक्षाका प्रभाव अधिक होनेसे श्रीमहामण्डलके धर्मकार्यका विरोध भी बहुत हुआ। डेपुटेशनके सदस्योंको व्यक्तिशः प्रान्तीय नेताओंसे मिलकर या पत्रव्यवहार कर कार्य करना पड़ा। श्रीजी सदा कार्यव्यस्त रहा करते थे। पहले एक प्रान्तीय प्रतिनिधि-सभा बनायी गयी, जिसमें बंगप्रान्तके राजा महाराजा, सेठ-साहूकार और बड़े-बड़े सामाजिक नेता सम्मिलित हुए, जिनकी संख्या उनतीस थी। साथ ही एक व्यवस्थापक मण्डली चुनी गयी, जिसमें संस्कृतके विद्वान् और सदाचारी सत्ताइस ब्राह्मण ले लिये गये। इनमें अधि-कांश व्यक्ति पुराने ढंगके होनेके कारण उनसे सहानुभूतिप्राप्त करनेमें बहुत कठिनता हुई। उनकी देश-काल-पात्रकी अनभिज्ञता ही इसका कारण थी। धर्मकार्यके लिये आधुनिक प्रणालीकी सभा सोसाइटि-योंकी उपयोगिता उनकी आँखोंमें नहीं जँचती थी। श्रीजीने ही बड़े कौशलसे समझा-बुझाकर उनको ठीक किया और मार्ग-दर्शन कराया। श्रीमहामण्डलके नियम उनसे स्वीकार कराये और नं० ४ के सदस्य फार्मपर हस्ताक्षर करवा लिये। उस प्रान्तकी पुरानी धर्म-सभाओं और हरिसभाओंका बंगधर्ममण्डलमें समावेश कर लिया गया। वे सम्बन्धयुक्त सभाएँ बन गयीं। बंगालकी कठिनाइयाँ दूर करनेके विचारसे कलकत्तेके एक साप्ताहिक पत्रके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर उसको नियमित आर्थिक सहायता भी दी जाती थी; परन्तु यह प्रयत्न हितकारी सिद्ध नहीं हुआ। श्रीमहामण्डलके अपने पत्र निकलने लगे, तब यह प्रबन्ध बन्द कर दिया गया। यह डेपुटेशन कलकत्तेमें सात मास रहा। इसके व्ययका भार कलकत्ता बड़ाबाजारके सुप्रसिद्ध सेठ दुलीचन्द महोदयने बड़े प्रेमसे उठाया था।

बंगालके पुराने पण्डितोंकी विचारधाराको देखकर काशीके राजकीय संस्कृतपाठशाला (क्विन्स कालेज अब संस्कृतविश्व-विद्यालय) के प्रारम्भिक इतिहासका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। अनेक राजा-महाराजाओंसे धनसंग्रह कर सरकारने जब यह पाठ-शाला स्थापित की, तब तत्कालीन विद्वान् ब्राह्मणोंको निमन्त्रित कर उनसे अध्यापनका कार्य करनेकेलिये प्रार्थना की, तो वेतन लेकर अध्यापन करनेकेलिये कोई राजी नहीं हुआ, क्योंकि वेतन लेकर अध्यापन करना शास्त्रनिषिद्ध है। तब दक्षिणाके रूपमें वेतन देनेका निश्चय हुआ। परन्तु दक्षिणाकी रकम लेकर सरकारी चपरासी जब उन पण्डितोंके यहाँ दक्षिणा देने जाता, तो वृद्ध पण्डित लोग उसको डाँट-डपटकर, मारनेको उद्यत होकर, और गालियाँ देकर भगा देते और शूद्रके हाथसे दक्षिणा नहीं लेते थे। उसी मनोवृत्तिके लोगोंसे श्रीजीको भी काम पड़ा। पुराने ढङ्गके पण्डित सभा-सोसाइटियोंद्वारा धर्म-कार्य करनेके विरोधी थे। श्रीजीने शास्त्राधारसे ही उनको समझाया और संस्थामें सम्मिलित होनेके लिये उन्हें राजी कर लिया। यह जटिल कार्य अन्य किसीसे नहीं हो सकता। श्रीजी उनकी मनोवृत्तिसे पूर्ण परिचित थे, इसीसे सफल हुये।

सन् १६०२ से १६१० तकके आठ वर्षोंमें पुनः चार बार वंग-प्रान्तमें डेपुटेशन भेजा गया। पहले डेपुटेशनमें श्रीमहामण्डलका तीन हजारसे अधिक और उक्त सेठ साहबका लगभग दो हजार रुपया व्यय हुआ। कलकत्तेमें और आस-पासके नगरोंमें नियमित धर्म-व्याख्यान हुआ करते और प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंसे मिलकर लोक-संग्रहका कार्य होता रहा। पीछे जो डेपुटेशन गये, उनके लिये धन-व्यय कम हुआ और श्रीमहामण्डलका कुछ परिचय हो जानेसे विरोध भी कम हुआ। फलतः श्रीवङ्गधर्ममण्डल स्थापित हो

गया। जगन्नाथपुरी, नदिया, ढाका आदि प्रसिद्ध स्थानोंमें इसके विशेष केन्द्र स्थापित किये गये; अनेक शाखासभाएँ और पोषक-सभाएँ बनीं और अनेक संस्कृतपाठशालाएँ, मन्दिर, मठ, धर्मशालाएँ, अन्नसत्र, पुस्तकालय, स्कूल-कालेज आदि श्रीमहामण्डलके नियमानुसार सम्बन्धयुक्त किये गये। अनेक विद्वानों और धर्मपरायण दाताओंको श्रीमहामण्डलके सहायक सदस्य बनाकर इस धर्मकार्यकी दृढ़ता की गयी और दो हजारसे अधिक साधारण-सदस्य भी संग्रह किये गये।

बङ्गधर्ममण्डलके कार्यालयके एक भवन-निर्माणकी योजना पहले की गयी थी; परन्तु पीछे सोचा गया कि, यहाँ जो बड़े-बड़े मठ, मन्दिर, धर्मालय आदि इस समय विद्यमान हैं, उन्हींमेंसे किसी एकको श्रीमहामण्डलकी शाखा बनाकर उसमें कार्यालय रक्खा जाय। तदनुसार सुखिया स्ट्रीटमें स्थित महाकाली पाठशालाका स्थान चुना गया। उसकी सम्पत्तिका मूल्य एक-दो लाखसे भी अधिक थी और उसके ट्रस्टी दरभंगा नरेश ही थे। इस कारण उस स्थानके प्राप्त होनेमें कोई अड़चन नहीं हुई और वहीं कार्यालय स्थापित किया गया।

बङ्गधर्ममण्डलकी स्थापना हो जानेपर डेपुटेशन भेजकर अन्यान्य प्रान्तोंमें भी इसी ढङ्गके प्रान्तीय मण्डल स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाने लगा। बिहार, मिथिला, छोटा नागपुर और निकटके जिलोंके लिये दरभंगा राजधानीमें श्रीजीके परामर्शसे 'जनकधर्ममण्डल' स्थापित किया गया। दरभङ्गाराजभवनमें ही इसका कार्यालय स्थापित हुआ। इस प्रान्तमें दो बार डेपुटेशन भेजा गया। उसके प्रयत्नसे २२ प्रतिनिधि और १० व्यवस्थापक-सदस्य नियुक्त हुए, अनेक शाखा-सभाएँ खुलीं, सहायक और साधारण सभ्य सहस्रोंकी संख्यामें संगृहीत हुए और अनेक

पाठशालाएँ, पोषक सभाएँ, मठ, मन्दिर, धर्मालय श्रीमहामण्डलसे नियमानुसार संयुक्त किये गये। कार्यालयोंका कार्य सरकारी कार्यालयोंके ढंगपर व्यवस्थित रूपसे चलाया जाने लगा और फार्म भरने आदिकी व्यवस्था नये ढङ्गपर की गयी, जिससे धाँधली न रहे और कार्यकर्ताओंको धर्मकार्य करनेमें सुगमता हो।

इसी तरह उत्तर भारतके लिये कानपुरमें 'ब्रह्मावर्त धर्ममण्डल, स्थापित किया गया। कुरुक्षेत्रकी सरस्वती नदीसे लेकर अवधकी दृषद्वती नदीतकका प्रदेश शास्त्रोंमें ब्रह्मावर्त माना गया है, इसीसे इसका नाम ब्रह्मावर्त मण्डल रक्खा गया। तदुपरान्त डेपुटेशन भेजकर लाहोरमें 'पञ्जाब-धर्ममण्डल' स्थापित किया गया और अजमेरमें राजपूताना-मालवेके लिये 'राजस्थान-धर्ममण्डल' की स्थापना की गई। सबसे पीछे बम्बईमें डेपुटेशन भेजकर 'श्रीमहाराष्ट्र-गुर्जर-धर्ममण्डल' की स्थापना हो सकी; क्योंकि इस प्रान्तमें भी बङ्गालकी तरह बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा। वहाँ भी बहुत बाधाओं और विरोधसे सामना करना पड़ा। परन्तु अन्तमें मण्डल स्थापित हो ही गया। नियमानुसार प्रतिनिधियों और व्यवस्थापकोंका चुनाव हुआ, पोषक-सभाएँ श्रीमहामण्डलके साथ सम्बन्धयुक्त की गयीं और मठों, मन्दिरों, धर्मालयों, विद्यालयों तथा पुस्तकालयोंका श्रीमहामण्डलसे सम्बन्ध जोड़ा गया। सहायक और साधारण सदस्योंका भी अच्छा संग्रह हुआ और उक्त मण्डलोंका कार्य धड़ल्लेसे चलने लगा। उक्त मण्डलोंके प्रतिनिधि और व्यवस्थापकोंकी संख्या इस प्रकार थी:—
१—ब्रह्मावर्त धर्ममण्डल—प्रतिनिधि ३२ और व्यवस्थापक २१,
२—पञ्जाबधर्ममण्डल—प्रतिनिधि २५ और व्यवस्थापक १७,
३—राजस्थानधर्ममण्डल—प्रतिनिधि २६ और व्यवस्थापक १५
४—महाराष्ट्र-गुर्जरधर्ममण्डल—प्रतिनिधि ३९ और व्यवस्थापक २९। इन मण्डलोंकी स्थापनाकेलिये जो श्रीमहामण्डलके डेपु-

टेशन भेजे गये, उनके आतिथ्य आदिका व्यय दरभङ्गामें श्रीदरभंगा-नरेशने, लाहोरमें रायबहादुर रामशरणदासजीने, अजमेरमें श्रीमान् रावसाहब खरवा-नरेशने और बम्बईमें श्रीमान् सेठ धर्मसी मुरारजी गोकुलदासजी, सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजी, सेठ त्रिभुवन-दास वरजीवनदासजी तथा सेठ त्रिभुवनदास मंगलदास नाथूभाई महोदयने परम उदारताके साथ किया था। इस प्रकार आठ वर्षोंके श्रीमहामण्डलके पुरुषार्थसे १—बङ्गधर्ममण्डल, २—जनक धर्म-मण्डल, ३—ब्रह्मावर्त्तधर्ममण्डल, ४—राजस्थानधर्ममण्डल, ५—पञ्जाब-धर्ममण्डल और ६—महाराष्ट्र-गुर्जर-धर्ममण्डल तो स्थापित हो गये; परन्तु देश-काल-पात्रकी विभिन्नताके कारण सुदूर मद्रास-मैसोर प्रान्तमें अबतक प्रान्तीय-मण्डल स्थापित न हो सका। तथापि उस प्रान्तके प्रधान-प्रधान धर्माचार्यों और स्वाधीन नरपतियोंको विशेष प्रयत्नके साथ श्रीमहामण्डलका संरक्षक बना लिया गया और वहींके दो सुयोग्य सज्जनोंको अपने प्रतिनिधि (एजन्ट) बनाकर उनके द्वारा प्रान्तीय-मण्डलका प्रारम्भिक कार्य आरम्भ कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत और द्वैत-सम्प्रदायकी सभाओंके अधिवेशनोंमें तथा श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजी-के कलादि कुम्भाभिषेक जैसे महोत्सवके अवसरपर श्रीमहामण्लने अपने प्रतिनिधियोंको भेजकर अपनी व्यापकताका परिचय दिया था। क्रमशः श्रीमहामण्डलका कार्यक्षेत्र भारतभरमें विस्तृत हो जानेसे इसका विराट् स्वरूप प्रकट करनेका अवसर प्राप्त होता गया। उसी समय श्रीजीने यह विचार प्रकट किया था कि, श्री-महामण्डलका अर्थबल और लोकबल बढ़ जाने और पूर्व-प्रस्थापित छहों प्रान्तीय-मण्डलोंका कार्य व्यवस्थितरूपसे चलने लगनेपर मद्रास, मैसोर, मध्यप्रान्त और सिन्ध-सीमाप्रान्त बलू-चिस्थान-अफगानिस्थानके लिये चार प्रान्तीय-मण्डल और

स्थापित किये जायँ; परन्तु श्रीजीके अन्य धर्मकार्योंमें लग जाने और अन्य कार्यकर्त्ताओंका उस ओर ध्यान आकृष्ट न होनेसे श्रीजीका विचार कार्यरूपमें परिणत न हो सका। तथापि उन प्रान्तोंमें श्रीमहामण्डलका धर्मप्रचारका कार्य चलताही रहा और सदस्यसंग्रह भी होता गया। उन प्रान्तोंमें श्रीमहामण्डलके सहस्रों सभ्य बन गये।

हमारे पूज्यपाद महर्षियोंकी उन्नत और अवनतजातिके लक्षणोंकी यह व्याख्या बहुत ठीक है कि, जो जाति उन्नत होती है, वह गुणोंका आदर करती है और जो अधःपतित हो जाती है, वह दोषोंकोही देखा करती है, परनिन्दा और प्रमादमेंही निमग्न रहती है तथा सदसद्विचारको खो बैठती है। इसका अनुभव श्रीमहामण्डलके सञ्चालकों और कार्यकर्ताओंको प्रान्तीय-मण्डलोंके स्थापित करते समय पूर्णरूपसे हो गया। इस प्रसङ्गमें नीतिशास्त्रके इस वचनका स्मरण हुए बिना नहीं रहताः—

"गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने, दुर्जनमुखे—,
गुणा दोषायन्ते द्वयमपि हि तद्विस्मयकरम्।
महामेघः क्षारं पिबति मधुरं वारि कुरुते;
फणिः पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम्॥"

अर्थात् "सज्जनोंके मुखमें दोष भी गुण हो जाते हैं और दुर्जनोंके मुखमें गुण भी दोष बन जाते हैं, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। इसके लिये दृष्टान्त देते हैं कि, बड़े-बड़े मेघ (समुद्रका) खारा पानी पीकर भी उसको मधुर बनाकर वर्षा करते हैं, और साँप दूध पीकर भी अत्यन्त दुःसह विषही उगलता है।" श्रीगोस्वामीजीने भी इसी आशयसे कहा है :—

"खरको कहा अरगजा लेपन, श्वान नहाये गङ्ग।
कहा होय पय पान कराये, विष नहिं तजत भुवङ्ग॥"

प्रान्तीय मण्डलोंकी स्थापना करते समय महामण्डलके कार्य-कर्ताओंको अनेक विघ्न-बाधाओंसे सामना तो करना ही पड़ा; अनेक क्लेश और निन्दा भी सहनी पड़ी। ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि, ये बाधाएँ देशकी निरक्षर प्रजासे नहीं; किन्तु शिक्षित कहानेवाले पढ़े-लिखे गृहस्थों, धर्माचार्यों, धर्मवक्ताओं, संस्कृतके विद्वानों और पत्रसम्पादकोंसे हुई थीं। अकृतज्ञ लोग अपना-पराया भूल जाते और सत्कार्यमें बाधा देना, विघ्न डालना, अडङ्गा लगाना, उनका स्वभाव ही हो जाता है। स्वजनों और पढ़े लिखे लोगोंके द्वारा श्रीजीके प्रवर्तित धर्मकार्योंमें किस प्रकार विरोध हुआ और उस समय भी स्थितप्रज्ञ श्रीजीकी अलौकिक साम्य बुद्धि और क्षमाशीलता कैसी अटल बनी रही, इसका एकही उदाहरण पर्याप्त होगा। मनुष्यका यह साधारण स्वभाव होता है कि, वह यदि कोई काम उठाता है और शक्तिकी कमीसे उसमें विफल हो जाता है, उसके चलानेमें असमर्थ हो जाता है; परन्तु वही काम दूसरा कोई शक्तिसम्पन्न महापुरुष सफल कर दिखाता है, उसे इतना उन्नत करता है कि, जिसकी पहला कार्यकर्ता स्वप्नमें भी कल्पना नहीं कर सकता, तो उसे डाह या ईर्ष्या होने लगती है। वास्तवमें अपनाही कार्य सफल और उन्नत होता हुआ देखकर उसे प्रसन्नता होनी चाहिये और उसमें सच्चे हृदयसे योग देना चाहिये; परन्तु ऐसा होता नहीं। हिंसा और द्वेषके वशीभूत होकर वह उसके विरोधका झगडा खड़ा करता है। अन्तमें यद्यपि सत्यकी ही विजय होती है, तथापि निरहङ्कार होकर कर्तव्यकर्ममें अटल रहनेवाले कर्मयोगियोंको इससे बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसीका यह उत्तम उदाहरण है।

पहले कहा जा चुका है कि, पुराने भारतधर्ममहामण्डलके सञ्चालकोंमें स्वार्थवश मतभेद होकर उनमें दो दल हो गये थे,

जिनमें श्रीजीने आगे चलकर समझौता करा दिया था। उनमेंसे एक दलके नेता थे,—श्री पं० दीनदयालुशर्मा व्याख्यानवाचस्पति और दूसरे दलके नेता थे, श्री पं० माधवप्रसाद मिश्रजी। श्रीमिश्रजी भी अच्छे वक्ता थे और तत्कालीन उत्तम हिन्दी-लेखकोंमें उनकी गणना की जाती थी। श्रीमहामण्डलके नियोजित अखिल भारतीय सम्मेलनके करानेमें उन्हींकी ओरसे जानबूझकर ढिलाई की जा रही थी। महामण्डलका दूकानदारीका रूप नष्ट होने जा रहा था, जिससे उनके स्वार्थमें बाधा पड़नेवाली थी; इसीसे 'अशुभस्य कालहरणम्'की नीति वे बरत रहे थे। परन्तु श्रीभगवान्की दयासे महाधिवेशन सफलताके साथ सम्पन्न हुआ, श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी यथाविधि रजिस्टरी हो गयी, स्वार्थियोंकी धाँधली बन्द हुई और श्रीमहामण्डलकी दिन-प्रतिदिन उन्नति होने लगी। जिस संस्थाका नामतक प्रान्तवासी लोग भी नहीं जानते थे, उसका नाम और काम भारतवर्षके कोने-कोने तक फैल गया। यह देखकर श्रीमिश्रजीके पेटमें चूहे कूदने लगे। उनसे और तो कुछ करते नहीं बना, किन्तु जिस स्वार्थत्यागी महापुरुषने मुमूर्षु अवस्थामें पड़े हुए महामण्डलको जीवनदान देकर दीर्घायु बना दिया, उसीके विरुद्ध असम्बद्ध अलीक बातोंका प्रचार करनेमें वे अपनी सब शक्ति लगाने लगे।

इसके लिये उन्होंने देशके कई प्रान्तोंमें दौरा किया, सैकड़ों व्याख्यान दिये, 'भारतमित्र', 'बंगवासी' आदि पत्रोंमें पचीसों लेख लिखे, श्रीमहामण्डलसे सहानुभूति रखनेवाले धार्मिक सज्जनोंको बरगलाया और भरपेट श्रीजीकी निन्दाकर अपनेको कृतकृत्य किया। यह सब उछल-कूद श्रीजी शान्तभावसे देखते रहे। उन्होंने इसका न कुछ उत्तर दिया और न प्रतिवाद ही किया। श्रीजी नामरूपसे तो पृथक् रहा ही करते थे, किन्तु काम चाहते थे। जो धर्मकार्य उन्होंने आरम्भ किया था, उसकी लगन उन्हें लग रही थी।

धीरे-धीरे श्रीमहामण्डलका जगत्कल्याणकारी कार्य ज्यों-ज्यों लोगोंको जँचने लगा, त्यों-त्यों श्रीमिश्रजीकी भी पोल खुलती गयी। इधर जनता श्रीमहामण्डलके पक्षमें अनुकूल होने लगी और उधर श्रीमिश्रजी जनताकी दृष्टिमें गिरने लगे। अन्ततोगत्वा श्रीमिश्रजी ठण्ढे हो गये और उनका विरोधोद्योग पूर्णरूपसे असफल हो गया। फिर भी श्रीमिश्रजीके प्रति श्रीजीका वैसाही वात्सल्यभाव बना रहा, जैसा पहले था।

संयोगवश इसके कुछही दिनोंके पश्चात् श्रीमिश्रजीके कनिष्ठ भ्राता फरीदकोटराज्यमें किसी फौजदारी मामलेमें फँस गये और हिरासतमें ले लिये गये। श्रीमिश्रजी छटपटाने लगे। अन्य कोई उपाय न देखकर वे श्रीजीके चरणोंमें उपस्थित होकर भ्राताकी बन्धन-मुक्तिमें सहायता देनेके लिये गिड़गिड़ाने लगे। इसका कारण यही था कि, उस राज्यके तत्कालीन दीवान श्रीजीके एक परम भक्त राजनीतिज्ञ रायरायान वरदाकान्त लाहिडीजी थे। श्रीजीके संकेतमात्रसे श्रीमिश्रजीके भ्राताकी बन्धनमुक्ति हो सकती थी। इसीसे श्रीमिश्रजीने यह 'बिलैया-दण्डवत' का स्वांग रचा था। परन्तु श्रीजीने सरलतासे साधु-सुलभ स्वभावके अनुसार उनका स्वागत किया, मानों उन्हें इनकी पिछली अन्याय अधर्म और असभ्यतापूर्ण विरोधकी बातोंका पता ही न हो और दीवानसाहबसे इनके भ्राताके लिये सिफारिश कर दी, जिससे वे तुरन्त छोड़ दिये गये। लोकोत्तर पुरुष इसीप्रकार अक्रोधसे क्रोधको जीतकर अपकारका बदला उपकारसे चुकाया करते हैं। यद्यपि उस समय श्रीजीकी अधीनतामें धर्मकार्य करनेवाले विद्वान् सज्जनोंने श्रीजीसे प्रार्थना की थी कि, इस धर्मविरोधीकी सहायता न की जाय, तथापि श्रीरामचन्द्रके उसी वचनका स्मरण दिलाकर श्रीजीने यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की कि;—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥"

"एक बार मेरी शरणामें आकर जो यह कह देता है कि, मैं तुम्हारा हूँ ऐसे सब प्राणियोंको मैं अभय दिया करता हूँ, यही मेरा व्रत है।" श्रीजीसे पुनः निवेदन किया गया कि, हिन्दूशासन-कालमें मुसलमानोंके साथ प्रतापी हिन्दूनरपतियोंने इसी नीतिका अनुसरण कर आत्मघात कर लिया था। जब कोई मुसलमान सत्ताधीश हिन्दू राजाओंके हाथमें आ जाता, तो उसके शरणागत होनेपर हिन्दू राजा उसे छोड़ देते थे; परन्तु यदि कोई हिन्दू सरदार भाग्यवश मुसलमानोंकी चङ्गुलमें फँस जाता, तो उसे वे बिना मार डाले नहीं छोड़ते थे। अतः यह असफल नीति नहीं बरती जानी चाहिये। परन्तु श्रीजीने यही उत्तर दिया कि, साधु अपने व्रतको त्याग नहीं सकता, चाहे कुछ भी हो। महात्मा कबीरने ठीक कहा है :—

"जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोइ तू फूल।
तोहि फूलको फूल है, वाको है तिरसूल ॥"

हुआ भी यही। जहाँ सत्त्वगुणका पूर्ण विकास है, वहाँ तमोगुणका प्रभाव रहना असम्भव है। आसुरी प्रकृतिके लोगोंका बल दैवी सम्पत्तिशाली पुरुषोंके आगे आप ही तेजोहीन हो जाता है। उसके लिये 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की नीति बरतनेकी आवश्यकता ही नहीं होती।

श्रीमिश्रजी विषदन्तविहीन काले साँप हो रहे थे, लोगोंकी दृष्टिसे गिर चुके थे और उनके सब स्वार्थसाधन बिला गये थे। इसका उन्हें पश्चात्ताप भी होता था। अपने अपराधोंके परिमार्जनके लिये उन्होंने यह युक्ति की कि, एकदिन कलकत्तेमें श्रीजी कालीमाताके दर्शनके लिये जा रहे थे, श्रीमिश्रजीभी साथ हो लिये। जब दोनों

दर्शन कर चुके, तब श्रीमिश्रजीने आगे बढ़कर कालीमाताके चरणोंको छूकर प्रतिज्ञा की कि, अब तक श्रीजी जैसे परमपवित्र महात्माकी निन्दा और विरोध करनेका जो मैंने महान् अपराध किया है, उसके लिये माँ मुझे क्षमा करें। मैं माँ के चरणोंका स्पर्श करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि, अब जीवनमें कभी श्रीजीसे विरोधाचरण नहीं करूँगा।" साथ ही श्रीजीके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाने लगे, कि, "महाराज मेरे अपराधोंके लिये क्षमा करें।" श्रीजीने सदाकी भाँति मुसकराते हुए आशीर्वाद दिया कि, "तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो और धर्मके अवलम्बनसे तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति हो।" तुम्हारे किसी सत् या असत् कार्यका कोई संस्कार मेरे चित्तमें नहीं है। श्रीजीकी उदारताको देख श्रीमिश्रजी बहुत लज्जित हुए और अधिक दिनोंतक जी भी नहीं सके। श्रीजीके जीवनमें ऐसे अनेक उदाहरण देखे गये और जहाँ-तहाँ विरोधियोंको अपना सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

श्रीमहामण्डलके सञ्चालकोंको श्रीमहामण्डलके कार्यक्षेत्र और धर्मपुरुषार्थका विस्तार करते समय प्रमादयुक्त सनातनधर्मावलम्बी भाइयोंसे जो इतना क्लेश उठाना पड़ा, उसको झेलकर भी श्रीजीने अपना संकल्पित कार्य बड़े धैर्यसे पूरा करके ही छोड़ा। श्रीजीके धैर्य, अध्यवसाय और दूरदर्शितासे सब स्थानोंमें श्रीमहामण्डलकी ही विजय रही। श्रीजीने अपनी कर्त्तव्यपरायणतासे सिद्ध कर दिया कि, यदि कार्यकर्तामें चित्तकी उदारता, कर्तव्यकी निष्ठा, अन्तःकरणकी समता, विचारोंकी प्रौढ़ता, प्रतिज्ञाकी दृढ़ता और परोपकारका निश्चय सदा बना रहे, तो अनन्त बाधाएँ उपस्थित होनेपर वे आप ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं और विरोधी लोग अपना-सा मुँह लेकर नतशिर हो जाते हैं। परोपकारव्रत और ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोगमें विफलताकी सम्भावना ही नहीं रहती, क्योंकि कर्मयोगीके साथ सदा श्रीभगवान् बने रहते

अपना (धर्म) कार्य आप करा लिया करते हैं। अस्तु – सब कुछ होते हुए भी प्रान्तीय-मण्डलोंकी स्थापनाका कार्य आगे बढ़ा और इस देशव्यापी प्रान्तीय मण्डलोंकी स्थापनाके कार्यमें श्रीमहा-मण्डलके सब समेत ११२०८) रुपये व्यय हुए। कार्यकी गुरुताको देखते हुए यह रकम बहुत ही कम है और इस मितव्ययिताके कौशलका श्रेय सर्वथा श्रीजीको ही है। यद्यपि नियमानुसार प्रान्तीय मण्डलोंकी आय, उन्हींके पास रहती और उन्हींके इच्छानुसार व्यय भी होती थी, तथापि सुभीता और आवश्यकता होनेपर श्रीमहामण्डल उन्हें मासिक अथवा वार्षिक सहायता भी दिया करता था। उन्हें उपदेशकों और भजनिकों तथा डेपुटेशनकेद्वारा भी सहायता पहुँचायी जाती और अनुशासन व्यवस्थाकी रीति भी सिखायी जाती थी। आर्यजाति-हिन्दूजातिके पुनः संघटनका यह महत्त्वका कार्य श्रीजीके द्वारा ही सफल हो सका है और इसके लिये हिन्दूमात्र श्रीचरणोंके चिरऋणी रहेंगे।

शाखाएँ और पोषक सभाएँ

जिस प्रकार शरीरमें इनी-गिनी मुख्य-मुख्य स्थूल अस्थियाँ होती हैं, परन्तु उन्हें बाँध रखनेवाली सहस्रों शिराओं और नसोंके बिना शरीर कोई काम नहीं दे सकता, उसीप्रकार विराट् देहधारी श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी भारतकी प्रत्येक राजधानी, नगरी और ग्राम-ग्राममें शाखासभाएँ स्थापित होकर हिन्दु-पञ्चायती शक्ति और सामाजिक अनुशासनकी व्यवस्था प्रस्थापित न हो जाय, तब तक श्रीमहामण्डलके उद्देश्योंकी सर्वाङ्गीण पूर्ति नहीं हो सकती। अतः श्रीजीकी इस विचारधाराके अनुसार प्रान्तीय-मण्डलोंके स्थापित हो जानेपर शाखासभाओंकी स्थापनाका कार्य आरम्भ किया गया। इसके लिये बहुत पत्राचार हुआ, उपदेशक और डेपुटेशन भेजे गये और व्यक्तिगतरूपमें लोगोंसे मिलकर भी उद्योग किया

गया। फलतः थोड़े ही दिनोंमें विभिन्न प्रान्तोंमें ५०७ शाखा-सभाएँ स्थापित हो गयीं और उनकी संख्या बराबर बढ़ती ही गयी। जहाँ पुरानी हरिसभा, धर्मसभा आदि सनातनधर्मकी सेवा करनेवाली सभाएँ विद्यमान थीं, वहाँ उन्हींको श्रीमहामण्डलके नियमानुसार सम्बन्धयुक्त करके शाखासभाओंके रूपमें परिणत कर दिया गया और जहाँ ऐसी पुरानी सभाएँ नहीं थीं, वहाँ नयी शाखासभाएँ स्थापित की जाने लगीं। इनमेंसे कुछ शाखा सभाएँ ऐसी सम्पन्न थीं जिनके पास २० हजारसे लेकर २ लाख रुपये तककी सम्पत्ति विद्यमान थी और कुछके प्रबन्धमें संस्कृतविद्यालय, अंग्रेजी स्कूल, धर्मशालाएँ और अन्नसत्र भी थे। श्रीमहामण्डल-प्रधानकार्यालयमें भारतखण्डका एक ऐसा विशाल मानचित्र (नकशा) बनवाकर रक्खा गया था, जिसमें जहाँ-जहाँ श्रीमहामण्डलकी शाखासभाएँ थीं, वहाँ चिह्न लगा दिया गया था और जहाँ नयी शाखाएँ स्थापित होती थीं, वहाँ चिह्न लगा दिया जाता था।

ये सभी शाखा-सभाएँ श्रीमहामण्डलके व्यापक और सर्वजीवहितकारी उद्देश्योंका प्रचार करती, साथही अनुशासन-व्यवस्थाकी शिक्षा लाभ भी करती थीं, और अपने अपने स्थानमें सामाजिक शक्तिको बढ़ाकर धर्म, विद्या और समाजोन्नतिके कार्यमें तत्पर रहती थी, सर्वसाधारण प्रजामें भी श्रीमहामण्डलके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती थीं, पञ्चायती तिरस्कार और पुरस्कारकी प्रथा प्रचलित करती हुई श्रीमहामण्डलकी नानाविध सहायताको प्राप्त करती थीं। इन शाखा सभाओंकी श्रीमहामण्डल सुभीता होनेपर आर्थिक सहायता तो करता ही था, जैसा पहले गया है; सुयोग्य उपदेशकोंद्वारा सहायता भी पहुँचाता था, जिन्हें उनको कुछ नहीं देना पड़ता था। श्रीमहामण्डल-प्रधानकार्यालयसे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला, मराठी, गुजराती और उर्दू भाषाके सात मासिकपत्र नियमित-

रूपसे निकलते थे। उनमेंसे जो शाखा-सभा जिस भाषाका मासिकपत्र चाहती थी, उसको उस भाषाका मासिकपत्र विना मूल्य दिया जाता था। उनके धार्मिक विज्ञापन उन पत्रोंमें विना मूल्य छापे जाते थे और उनकी संक्षिप्त कार्य-विवरणी भी प्रकाशित की जाती थी। इसके अतिरिक्त आवश्यकता होनेपर केन्द्रीय प्रान्तीय सरकार अथवा देशी-राज्योंमें आवेदनपत्र भेजकर उनके कार्योंमें सहायता पहुँचायी जाती थी और अन्य सब विषयोंमें उचित परामर्श दिया जाता था। उनके साथ श्रीमहामण्डलका अङ्गाङ्गीभाव रहता था। अब कालप्रभावसे इन सभाओंके कार्यमें शिथिलता अवश्य आ गयी है, फिर भी जिस भाँति जो कार्य हो रहा है, समयको देखते हुए कम नहीं कहा जा सकता।

शाखा-सभाओंकी तरह श्रीमहामण्डलकी पोषक सभाएँ स्थापित करनेकी एक योजना श्रीजीने बड़ी बुद्धिमानीसे प्रस्तुत की, जिसके अनुसार भारतमें समाजोन्नति, विद्योन्नति, ऐश्वर्योन्नति और धर्मोन्नति करनेवाली ऐसी सभाएँ, जो श्रीमहामण्डलके किसी एकसे अधिक उद्देश्योंकी पूर्ति करती हों, उनको पोषक सभारूपसे महामण्डलके साथ सम्बन्धयुक्त कर लिया गया। उनको भी अपनी शाखासभाओं-को तरह श्रीमहामण्डल सब प्रकारसे सहायता करता था और वे भी अपने उद्देश्यानुसार श्रीमहामण्डलके भारतव्यापी स्वजातीय धर्म-कार्यका पोषण करनेमें तत्पर रहती थीं। उस समय तक श्रीमहा-मण्डल प्रधानकार्यालय तथा कलकत्ता, दरभंगा, मथुरा, लाहोर, अजमेर तथा बम्बईके प्रान्तीय कार्यालयों द्वारा ऐसी ८४ पोषक सभाएँ श्रीमहामण्डलके साथ सम्बन्धयुक्त हो सकी थीं। उनको साधारण सहायताके अतिरिक्त श्रीमहामण्डल विशेष-सहायता भी किसप्रकार किया करता था, दृष्टान्तरूपसे कुछ संस्थाओंको दी जानेवाली सहायताका यहाँ उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है।

काशीके सेंट्रल हिन्दू कालेजके साथ प्रारम्भसे ही श्रीमहामण्डलकी सहानुभूति रहती आयी है। इस विषयका मथुरा-अधिवेशनके प्रस्ताव और श्रीकाश्मीरनरेशका दान पहले प्रकाशित किया जा चुका है। कालेजकी उन्नतिकेलिये उसके नेताओंसे राजपूतानेके कई नरपतियोंका परिचय श्रीजीने ही कराया था और उनके द्वारा आर्थिक सहायता भी दिलवायी थी। इसी तरह हरद्वारके ऋषिकुलब्रह्मचर्याश्रमको आरम्भसे ही श्रीमहामण्डल सहायता देता रहा है। उसके अर्थसंग्रह तथा लोकसंग्रहकेलिये श्रीमहामण्डलने एक विद्वान् धर्मवक्ता नियुक्तकर दिया था, जो हरद्वारमें ही रहकर आश्रमका कार्य करता था और उसका वेतन श्रीमहामण्डलसे दिया जाता था। इसके अतिरिक्त श्रीजीने अपने परमभक्त हिन्दूसूर्य स्वर्गीय श्रीमान् महाराणा फतेहसिंह बहादुर उदयपुरको आश्रमके सहायक बनाकर उनसे दस हजार रुपये दिलवाये थे और बम्बई आदि स्थानोंसे भी आर्थिक सहायता दिलायी थी।

जिसप्रकार इस समयमें सेंट्रल हिन्दूकालेज हिन्दूविश्वविद्यालयमें परिणत होकर श्रीभागीरथीके तटपर स्थित है, उसीप्रकार बङ्गालके दौलतपुरका 'हिन्दु एकाडमी' नामक कालेज अर्ध चन्द्राकार भैरवनदके तटपर एक प्रशान्त और मनोहर स्थानमें स्थापित किया गया था। विशेषता यह थी कि, केवल ६-७ रुपया मासिकका प्रबन्ध हो जानेसे ही इस कालेजमें विद्यार्थी बी० ए० जैसी ऊँची कक्षामें अध्ययनकर सकते थे। कालेजके साथ संस्कृतविद्यालय भी संलग्न था। कालेज और विद्यालयमें श्रीमहामण्डलके परामर्शानुसार धार्मिक शिक्षा देनेका भी प्रबन्ध किया गया था। इस संस्थाके ट्रस्टी और प्रधान संचालक श्रीयुत व्रजलालशास्त्री चक्रवर्ती एम० ए०एलएल०-बी० महाशयको श्रीजीसे बहुत कुछ सहायता मिली थी और उनकी संस्था श्रीमहामण्डलकी पोषक सभा बन जानेपर श्रीमहामण्डलसे

भी उक्त संस्थाको श्रीजीके अनुरोधसे ही नियमित सहायता मिलती रही है, जिससे संस्थाकी बराबर श्रीवृद्धि ही होती गयी।

इसीप्रकार श्रीभारतधर्म महामण्डलने अपने उद्देश्योंकी सफलताकेलिये कई ब्राह्मण-सभाओं, क्षत्रिय-सभाओं, वैश्य-सभाओं, कायस्थ-सभाओं तथा विभिन्न जातियोंकी सामाजिक और ऐश्वर्योन्नतिकारिणी सभाओंको सम्बन्धयुक्त कर तथा नानाप्रकारसे सहायता देकर समस्त भारतव्यापी देश-काल-पात्रके अनुसार सुदृढ़ शृंखला बाँधी थीं। उक्त सभाओंके विद्या, धर्म, समाज और ऐश्वर्योन्नतिके सब कार्य श्रीमहामण्डलके भारतव्यापी विराट् पुरुषार्थके अन्तर्गत ही माने जाते थे। बहुत दूरदर्शिताके साथ श्रीजीके द्वारा बाँधी हुई इस सुदृढ़ शृंखलासे श्रीमहामण्डल, प्रान्तीयमण्डलों शाखासभाओं और पोषक-सभाओंके कार्यकर्ताओंको एक महान् संघटनद्वारा सत्पुरुषार्थ करनेमें सुभीता हो गया। इतनी व्यापक और सुगम अनुशासन-व्यवस्था भारतकी किसी सामाजिक धार्मिक महासभामें देख नहीं पड़ती। श्रीजीके बुद्धिवैभव और कर्मयोगका ही यह अनुकरणीय चमत्कार है।

श्रीमहामण्डलके सदस्य (सभ्य) पाँच प्रकारके होते हैं। उनमेंसे उस समयतक ३६ संरक्षक, १७५ प्रतिनिधि, १२० व्यवस्थापक, ५६२ सहायक और ६३२५ साधारण सदस्य बन चुके थे। सहायक और साधारण सदस्योंमें अनेक धर्मानुरागिणी कुलाङ्गनाएँ भी सम्मिलित हुई थीं। साधारण सदस्योंकी वृद्धिके लिये विशेष प्रयत्न आरम्भ हो गया था और उसमें सफलता भी हो रही थी। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक कहा करते थे कि, देशकार्यकेलिये मुझे किसी एक ही व्यक्तिसे एक लाख रुपया नहीं चाहिये, किन्तु मैं एक लाख व्यक्तियोंसे एक-एक करके एक लाख रुपया चाहता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि, उन्हें धनबलकी अपेक्षा लोकबलकी आवश्यकता

अधिक जँचती थी। श्रीमहामण्डलके प्रधान सञ्चालक श्रीजीकी भी यही नीति रही। उनका भी यही कहना था कि, श्रीमहामण्डलके साधारण सदस्योंकी जितनी वृद्धि होती जायगी, उतना ही वह अधिकाधिक सुदृढ़ होता जायगा।

संरक्षक सदस्य बड़े-बड़े धर्माचार्य और राजा-महाराजा ही होते हैं। सहायक सदस्य वे होते हैं, १—जो किसी भाषाके विद्वान् हों, लेखक हों या पत्रसम्पादक हों और जो अपनी लेखनीके द्वारा एक या एकाधिक धर्मकार्योंमें सहायता पहुँचाते हों। २—ऐसे धर्मात्मा सज्जन, जिन्होंने कोई देवमन्दिर, मठ, अन्नसत्र, गोशाला, धर्मशाला, जलाशय, सेतु, पाठशाला, छात्रनिवास, पुस्तकालयका निर्माण या स्थापन किया हो; जीर्णोद्धार किया हो अथवा तीर्थादिके संस्कारमें विशेष सहायता की हो। ३—जिन्होंने श्रीभारतधर्ममहामण्डल, प्रान्तीय मण्डल या शाखाधर्म सभाओंको धनके द्वारा विशेष सहायता की हो। ४—जिन विद्वान् ब्राह्मणोंने अपनी विद्या अथवा तपके द्वारा श्रीमहामण्डलके धर्मकार्योंमें विशेष सहायता की हो और ५—वे साधु-संन्यासी, जो कर्मयोग-परायण होकर श्रीमहामण्डलको सहायता पहुँचाना चाहें। व्यवस्थापक सदस्य उन्हींको बनाया जाता है, जो संस्कृतके विशेषतः धर्मशास्त्रके विद्वान् हों। क्योंकि धर्मव्यवस्था देनेका भार पूर्णरूपसे उन्हींपर सौंपा गया है। इस विराट् धर्ममहासभाके वास्तविक सञ्चालक संरक्षक और प्रतिनिधि सदस्य ही हैं। साधारण सभ्य हिन्दुमात्र हो सकते हैं। ये ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलके उपादान कारण हैं, इन्हींसे श्रीमहामण्डलका विराट् शरीर गठित हुआ है। श्रीमहामण्डल और प्रान्तीयमण्डलोंकी प्रबन्धकारिणी-सभाओंके पास साधारणरूपसे अपनी सम्मति भेजनेका इनको अधिकार है। श्रीमहामण्डलने अपने नियमोंमें ऐसी सुगमता कर दी है कि, जिससे सब प्रकारके सदस्योंमें

परस्पर प्रेमसम्बन्ध स्थापित होकर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे और वे श्रीमहामण्डलके सञ्चालकों तथा प्रधान कार्यकर्त्ताओंके अधिकारको समझ सकें। देशव्यापी संघटनका यह आदर्श श्रीजीने अपनी लोकोत्तर बुद्धिसे सर्वसाधारणके सामने क्रियात्मक रूपसे उपस्थित किया है। इससे श्रीभगवान् व्यासदेवकी 'संघे शक्तिः कलौ-युगे' की उक्ति यथार्थ रूपसे चरितार्थ हुई है।

इस प्रकार श्रीमहामण्डलकी कार्यशृंङ्खला (Organisation) ठीक कर लेनेपर श्रीजीकी दृष्टि धर्मरक्षा और धर्मप्रचारकी ओर आकृष्ट हुई, जो श्रीमहामण्डलके उद्देश्योंमेंसे प्रधान उद्देश्य है। श्रीजीने इस महान् उद्देश्यको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये 'धर्म-प्रचार विभाग' नामक एक स्वतन्त्र कार्यविभाग ही खोल दिया, जो श्रीमहामण्डलके अन्य कई विभागोंमेंसे पहला है। इस कार्य-विभागके प्रधानतः चार अङ्ग या साधन निश्चित किये गये हैं— १—प्रान्तीय मण्डलों, शाखासभाओं, पोषक सभाओं और अन्या-न्य संयुक्त सभाओंको उचित सहायता देकर उनके द्वारा धर्मप्रचार करना, २—छोटी-बड़ी धर्मसम्बन्धी पुस्तक-पुस्तिकाओंको प्रका-शित कर उनके द्वारा धर्मप्रचार करना, ३—भारतकी विभिन्न प्रान्तीय-भाषाओंमें मासिक, साप्ताहिक, दैनिक आदि सामयिक पत्रोंको निकालकर उनके द्वारा धर्म-प्रचार करना, और ४—योग्य साधुओं और गृहस्थोंको धर्मवक्ता बनाकर उनके द्वारा धर्मप्रचार करना। इन चारों साधनोंकी सहायतासे भारतवर्ष भरमें सनातन-धर्मका प्रचार सुगमतासे किया जा सकता है और इसी विचारसे यह विभाग खोला गया है तथा तदनुसार कार्य भी अग्रसर हो रहा है।

प्रान्तीय मण्डलों, शाखासभाओं और अन्यान्य सम्बन्धयुक्त सभाओंको उपदेशकों, पुस्तक-पुस्तिकाओं, नियतकालिक पत्रों द्वारा और अन्य प्रकारसे भी श्रीमहामण्डल नियमित सहायता

करता रहता है। यह पहला साधन है। दूसरे साधनको प्रस्तुत करनेके लिये इसी विभागके अन्तर्गत एक 'शास्त्र-प्रकाशन-विभाग' खोला गया है। इसके पुरुषार्थका—जो अकेले श्रीजीके द्वारा ही हुआ है, विस्तृत विवरण अन्यत्र प्रकाशित किया गया है। उसका सारांश यह है कि, इस विभागके द्वारा बालक-बालिकाओंकी धर्म-शिक्षाके लिये अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ निर्मित होकर प्रकाशित की गयी हैं। ये बालक-बालिकाओंके पाठ्यक्रममें धर्मशिक्षाके लिये रखने योग्य हैं। श्रीमहामण्डलके प्रयत्नसे कई स्कूलों और पाठ-शालाओंमें ये पढ़ायी भी जाती हैं और कई देशीराज्योंमें पाठ्य-पुस्तक रूपसे ये नियत भी हो गयी हैं। इनमेंसे कुछ पुस्तकोंके मराठी, बंगला और गुजराती भाषान्तर भी हो गये हैं और वे उन प्रान्तोंमें धर्मशिक्षाके काममें आ रहे हैं। प्रारम्भिक शिक्षाकी पहली कक्षासे लेकर कालेजकी अन्तिम कक्षातकमें पढाने योग्य धर्मग्रन्थ श्रीजीने बड़े परिश्रमसे निर्माण किये हैं, जिनका धीरे-धीरे प्रचार हो रहा है। धर्मशिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है। इसी शिक्षासे मनुष्य मनुष्य बनता है और धर्मरक्षा करता हुआ चिरञ्जीवी हो सकता है। इसीसे भगवान् व्यास कहते हैं—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"।

अर्थात् धर्मपर आघात करनेसे आघात करनेवाला मृत्युको प्राप्त करता है और धर्मकी सुरक्षा करनेसे सुरक्षाकरनेवालेकी सुरक्षा धर्म करता है और उसे दीर्घजीवन प्रदान करता है।

श्रीमहामण्डलके धर्मोपदेशक केवल मौखिक उपदेशही नहीं दिया करते; किन्तु सनातनधर्मावलम्बिनी प्रजाको क्रियात्मक धर्मसाधनकी भी विधि बताया करते हैं। जो संस्कारच्युत होनेसे व्रात्य हो गये हों, उन त्रैवर्णिकोंसे प्रायश्चित्त कराकर उनके यज्ञोप-

वीतादि संस्कार करते और उन्हें नित्य कर्म आदिकी शिक्षा देते हैं। त्रैवर्णिकोंके लिये धर्म-साधनोपयोगी संक्षिप्त संध्यापद्धति, संक्षिप्त-पञ्चमहायज्ञ-पद्धति, सुगम साधनचन्द्रिका आदि कितनीही पुस्तकें हिन्दी अनुवाद और टीकासहित निर्माण कर प्रकाशित की गयी हैं। वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और शैवसम्प्रदायोंके उपासकोंके लिये प्रत्येक देवताकी रहस्य-प्रकाशक गीताएँ तथा योगाभ्यासमें रुचि रखनेवालोंके लिये मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगकी संहिताएँ प्रकाशित हुई हैं। इनके प्रकाशन और प्रचारमें श्रीजीका यही उद्देश्य था कि, आचारात्मक धर्मकी परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे और लोग इनकी सहायतासे अपना ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय करते रहें। उनसे दूसरा एक और भी लाभ होनेकी सम्भावना है कि, इस देशमें सहस्रों वर्षोंसे प्रजामें जो साम्प्रदायिक विरोध चलता आया है, वह रुक जायगा और सब सम्प्रदायोंके अनुयायी परस्पर प्रेमबद्ध होकर श्रीमहामण्डलके झंडे-तले संघटित धर्म-साधनमें प्रवृत्त हो जायँगे।

तीसरे साधनकी सिद्धिकेलिये श्रीमहामण्डलके द्वारा सात भाषाओं (संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी और उर्दू) में नियमित रूपसे मासिक पत्र निकाले जाते थे, जिनको लाखों लोग प्रतिमास पढ़कर धर्म-ज्ञानका लाभ करते थे। इनमेंसे हिन्दी-अंग्रेजीके मासिक पत्रोंके सुभीतेके अनुसार समय-समयपर साप्ताहिक और दैनिक संस्करण भी निकला करते रहे। इस प्रकाशन कार्यसे धर्म-प्रचारमें अच्छी सहायता मिली।

धर्मवक्ता दो प्रकारके होते हैं—१—साधु-संन्यासी और २—गृहस्थ ब्राह्मण। निःस्वार्थ साधु-संन्यासी धर्मवक्ताओंका योग-क्षेम श्रीमहामण्डलके द्वारा चलाया जाता है। गृहस्थ ब्राह्मण धर्मवक्ता तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं,—१—वे जो नियमित वृत्ति लेकर

श्रीमहामण्डल या प्रान्तीय मण्डलोंमेंसे किसी एकके अधीन रहकर धर्मसेवा करते हैं, २—वे जो आवश्यकतानुसार जहाँ कहीं भेजे जाते हैं, वहींसे वृत्ति या दक्षिणा पाते हैं और ३—वे जो कुछ नहीं लेते और कर्तव्य समझकर धर्मपुरुषार्थ किया करते हैं। सब प्रकारके धर्मवक्ताओंके सुभीतेके लिये ऐसे फार्म बना दिये गये हैं, जिनको भरकर जहाँ कहीं प्रचारकार्यके लिये जाते हैं, अपनी कार्य-विवरणी श्रीमहामण्डल-प्रधान-कार्यालयमें भेज देते हैं, जिसको संक्षिप्त रूपसे श्रीमहामण्डलके मुखपत्रमें प्रकाशित कर दिया जाता है। जो सच्चरित्र, विद्वान् और स्वधर्म तथा स्वदेशके अनुरागी हों एवं कर्मयोगका आचरण करना चाहते हों, वे ही धर्मवक्ता हो सकते हैं। उनकी आध्यात्मिक उन्नति और धर्मप्रचार-सम्बन्धी शिक्षाके उद्देश्यसे श्रीजीने ऐसे सुन्दर ग्रन्थोंकी रचना कर दी है, जिनसे वे धर्मप्रवचन करनेमें निपुण हो जाते हैं; परन्तु उनमें निम्नलिखित विषयोंमें अच्छी योग्यता होनी चाहिये :—

१—वेदके कुछ सूक्तोंका सस्वर और सभाष्य अध्ययन, २—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और तीनों मीमांसाओंका सूत्रोंकी सहायतासे यथाक्रम अध्ययन और टीका भाष्योंकी सहायतासे उनका मनन, ३—पुराणों और उपपुराणोंका पाठ, उनकी गाथाओं तथा उपयुक्त वचनोंका संग्रह, ४—इसी तरह उपनिषदों और स्मृतियोंका पठन तथा सूक्तिसंग्रह, ५—योगशास्त्रके पाँचों प्रधान ग्रन्थोंका अध्ययन, ६—अन्यधर्म मतों और धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंका अध्ययन तथा उनके सिद्धान्तोंपर विचार, ७—हिन्दी और अन्य-भाषाओंका ज्ञान, ८—आवश्यक कर्मकाण्डका ज्ञान, ९—इतिहास, भूगोल, गणित, पदार्थविद्या आदिके विज्ञानका साधारण ज्ञान और १०—श्रीमहामण्डलके उद्देश्यों तथा कार्य-प्रणाली सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन।

धर्मवक्ताओंके उत्साह-वर्द्धनार्थ कई प्रकारके पारितोषिकोंका भी प्रबन्ध किया गया है। चाहे वे श्रीमहामण्डल प्रधान-कार्यालय, प्रान्तीय कार्यालय अथवा किसी शाखासभासे नियमित वृत्ति पाते हों या न पाते हों, उनके धर्मपुरुषार्थके अधिकारके अनुसार उन्हें आर्थिक सहायता और सम्मान आदि प्रदान किया जाता है। उनको प्रधानकार्यालय और प्रान्तीय कार्यालयोंमें प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा मिलनेका सुभीता रक्खा गया है और जो धर्मशिक्षा देनेमें योग्यता रखते हैं, उन्हें अपनी सम्बन्धयुक्त संस्थाओंमें, भारतके स्कूल-कालेजोंमें, जहाँ धार्मिक शिक्षा देनेकी व्यवस्था है और देशी रजवाड़ोंमें अध्यापक रूपसे नियुक्त करा दिया जाता है। ऐसे कितने ही अध्यापक नियुक्त करा दिये गये हैं, जिनमेंसे कुछ तो सफलताके साथ अध्यापन कार्य कर रहे हैं और कुछ सम्मानके साथ सेवा-निवृत्त हो गये हैं। लाहोर, अजमेर और इन्दोरके राजकुमारकालेजोंमें तो धर्मशिक्षाकेलिये अच्छे और यशस्वी धर्मवक्ताओंको स्थायीरूपसे नियुक्त करा दिया गया है। वहाँ धर्माध्यापकका पद स्थायी हो गया है। उनकी कार्यप्रणालीपर श्रीमहामण्डलकी दृष्टि रहती है, क्योंकि उनकी योग्यताका उत्तरदायित्व श्रीमहामण्डलपर ही है।

उपदेशक-महाविद्यालय

अपने इस महादेशमें सनातन-धर्मके वक्ताओंका बड़ा अभाव देखकर श्रीजीने निश्चय किया कि, श्रीमहामण्डलके तत्वावधानमें धर्मवक्ताओंके प्रधान केन्द्र स्वरूप एक स्थायी उपदेशक-महाविद्यालयकी स्थापना की जाय; परन्तु स्थानाभाव, अर्थाभाव आदिके कारण बहुत दिनोंतक यह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। फिर श्रीजीने श्रीमहामण्डलका कार्यालय मथुरासे हटाकर काशीपुरीमें

लानेका परामर्श दिया और इस परामर्शको सब कार्यकर्त्ताओंने स्वीकार कर लिया तदनुसार काशीमें कार्यालय लाया गया और उसके लिये श्रीजीके परमभक्त स्वर्गीय काश्मीर-श्रीनरेशने अपना टेढ़ीनीमके महल्लेमें स्थिति अपने राजभवनमें स्थान दिया। दिन दिन महामण्डलके कार्योंका विस्तार होता गया, इससे श्रीनरेशका उक्त स्थान संकुचित जान पड़ा। अतः तत्कालीन मन्त्रिसभाके सदस्योंमेंसे एक ताहिरपुरके राजासाहब श्रीशशिशेखरेश्वरराय महोदयने अपना केदारघाटका भवन श्रीमहामण्डलके कार्यालयको दे दिया। एक-दो वर्ष वहीं कार्यालय रहा; परन्तु वह स्थान भी अपर्याप्त बोध होने लगा साथ ही श्रीजी यह विचारने लगे कि जब तक किसी सार्वजनिक संस्थाका अपना स्थान न हो जाय, तब तक वह स्थायी रूप धारण नहीं कर सकती। श्रीमहामण्डलके पास उस समय इतनी पूँजी नहीं थी, जिससे लाख-पचास हजारकी इमारत खरीदी जा सके। अतः यह निश्चय हुआ कि, इस समय कोई अच्छा स्थान लम्बी अवधिके लिये लीज (भाड़े) पर लेकर काम चलाया जाय और आर्थिक अनुकूलता होनेपर अपना भवन बनवा लिया जाय या खरीद लिया जाय। तदनुसार अनेक स्थान देखे गये, जिनमें बङ्गालके भूकैलाश-राजवंशका दुर्गा-कुण्डपर स्थित गुरुधाम नामक विशाल स्थान पसन्द किया गया। इस स्थानमें बनी बनवायी एक बड़ी कोठी है और लगभग ४० बीघा बगीचेकी भूमि है। यह स्थान ऐसा उपयुक्त और विस्तृत था कि श्रीमहामण्डलका कितना ही कार्य विस्तार क्यों न हो, उनका इसमें समावेश हो सकता था। उक्त राजवंशके उत्तराधिकारियोंसे बात-चीत की गयी और उनमेंसे अधिकांश लोगोंने गुरुधाम लीजपर देना स्वीकार कर लिया। पट्टा लिखा गया और श्रीमहामण्डलका प्रधान-कार्यालय गुरुधाममें आ गया।

वहीं इसका कार्य विस्तार अधिक हुआ। शास्त्रीयग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाश समिति लिमिटेड' नामक एक प्रेस-कम्पनी स्थापित की गयी और उस प्रेससे सात भाषाओंके सात मासिक पत्र और नाना शास्त्रीयग्रन्थ प्रकाशित होने लगे। इसके प्रधान डाइरेक्टर श्रीराजा साहब ताहिरपुर और प्रबन्धक स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्यायके पौत्र श्रीबटुकदेव मुखोपाध्याय एम० ए० महाशय थे। सत्कार्यमें बाधा डालनेवाले आसुरी प्रकृतिके दुर्जन कहाँ नहीं होते? उनका स्वभाव ही होता है कि, 'देखि न सकहिं पराइ विभूती, श्रीजीका उत्कर्ष वे सह नहीं सके और श्रीजीकी निन्दा करनेमें ही वे अपनी शक्ति लगाने लगे। श्रीजी अविचल भावसे अपने निष्कामकर्म योगसाधनमें संलग्न थे। उन्होंने विरोधी निन्दकोंको उत्तर या अपनी सफाईतक नहीं दी। केवल सर्कुलरोंद्वारा वस्तु-स्थिति प्रकाशित करा दिया करते थे, जिनके पाठसे निन्दकोंके आरोप आप ही मिथ्या सिद्ध हो जाया करते थे। जाग्रत जनता अधिकाधिक संख्यामें श्रीमहामण्डलके साथ सहानुभूति रखने लगी। श्रीजीकी शान्ति और सचाईके प्रभावसे इस प्रकार विरोधियोंके विरोधसे श्रीमहामण्डलका अपकार न होकर उपकार ही हुआ।

विरोधियोंके प्रधान नेता श्री राजा साहब ताहिरपुर थे। उन्होंने श्रीमहामण्डलसे प्रत्यक्ष रूपसे विरोध करना आरम्भ किया और इस धर्मविरोधी कार्योंमें अपना लाखों रुपया बिगाड़ दिया। भूकैलाश-राजवंशके उत्तराधिकारियोंमेंसे जिन्होंने पट्टे पर (लीजके) हस्ताक्षर नहीं किये थे; उन्हें उभाड़ा। मुकदमे चलाये गये। परिणामत: श्रीमहामण्डलको गुरुधाम छोड़ देना पड़ा। साथ ही राजा साहबने उक्त लिमिटेड कम्पनीके सब शेअर स्वयं खरीदकर प्रेसपर अधिकार कर लिया। वे भी प्रेसको चला नहीं सके।

थोड़े ही दिनोंमें वह बन्द हो गया। प्रेसको बुभुक्षित राक्षसकी उपमा देना असङ्गत नहीं जान पड़ता। उसे पर्याप्त काम प्रतिदिन चाहिये, नहीं तो वह चल नहीं सकता। उक्त प्रेसको प्रतिमास हजारों रुपयोंका काम श्रीमहामण्डलसे मिलता था, जिससे वह चलता था। इस विरोधाचरणसे श्रीमहामण्डलने काम देना बन्द कर दिया, जिससे प्रेस भूखों मर गया, चलता कैसे? 'विनाश-काले विपरीतबुद्धिः'।

स्थानीय कितने ही प्रेसवाले कामकेलिये श्रीमहामण्डल-कार्यालयमें चक्कर काटने लगे। श्रीजीने थोड़ा-थोड़ा काम सबको बाँट दिया। मासिक पत्रों और ग्रन्थोंके प्रकाशनका काम पूर्ववत् चलता रहा। इस प्रकार प्रेसकी कठिनाई तो दूर हुई; किन्तु स्थान-का प्रश्न फिर आगे आ गया। गुरुधाम छोड़ देनेपर तत्कालीन प्रधानाध्यक्ष श्रीमान् पं० महाराजनारायण शिवपुरीजीके चेतगंजके एक छोटेसे जीर्ण-शीर्ण मकानमें कुछ मासतक श्रीमहामण्डलका कार्यालय रहा। इस अवधिमें बड़े परिश्रम, पुरुषार्थ और कौशलसे कलकत्तेके जज श्री रमेशचन्द्र मित्रका जगतगंज महल्लेमें स्थित वर्त्तमान विशाल भवन स्व० जस्टिस शारदाचरण मित्र (हाईकोर्ट जज) महोदयकी मध्यस्थतासे लगभग ५० हजार रुपयोंमें खरीद लिया, जिसकी उस समयकी लागत डेढ़-दो लाख की थी और इस समय जिसका मूल्य पाँच लाखसे कम नहीं है। अपना भवन हो जानेसे कार्यालय बड़े ठाठसे उसमें लाया गया और सब कार्य-विभाग सुश्रृंखल रूपसे चलने लगे। इन विरोधके दिनोंमें श्रीजीकी स्थित प्रज्ञताका लोगोंको अनुभव हुआ और उनके प्रति जनताकी श्रद्धा अधिकाधिक बढ़ने लगी। फिर भी राजा साहब ताहिरपुरने श्रीजीसे विरोधाचरण करना बन्द नहीं किया। वे सतुवा बाँधकर पीछे पड़े ही रहे। कई मुकदमे चलाये। अन्तमें उनके सब

उद्योग विफल हुए और धर्मकी विजय हुई। श्रीजीकी निष्काम और निःस्वार्थ बुद्धिकी कीर्त्ति अधिक निखर पड़ी।

हाँ, तो उपदेशक महाविद्यालयकी स्थापनाकी जो योजना श्रीजीकी स्थगित थी, वह स्थान और अर्थकी अनुकूलता होते ही गुरुधाममें ही कार्यान्वित हो सकी। महाविद्यालयकी पूरी योजना प्रकाशित की गयी और चारों ओरसे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की जाने लगी। अनेक राजा-महाराजाओंने आर्थिक सहायता और अनेक भारत-प्रसिद्ध विद्वानोंने बौद्धिक सहायता देना स्वीकार किया। उपदेशक महाविद्यालयके श्रीजीने नियम बना दिये और तदनुसार धड़ल्लेसे कार्य होने लगा। विद्यालयके पाठ्य-ग्रन्थ श्रीजीने ही लिख डाले और अध्यापनकी सब भाँति सुविधा कर दी। विरोधियोंने श्रीजी जैसे निःस्वार्थ महापुरुषको किस प्रकार सताया और श्रीजगदम्बाने उनको हर समयमें कैसा सम्हाला तथा धर्मकी कैसी सदा विजय होती गयी, यह विषय और श्रीजीके लिखे ग्रन्थसमूहका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। कितनी ही किसीके द्वारा धर्मकार्यमें बाधा क्यों न दी गयी हो, श्री जगदम्बाके चरणोंमें श्रीजीकी अनन्यनिष्ठा होनेसे छिन्नाभ्रकी तरह वे आप ही नष्ट होती गयीं। श्रीजी केवल यही कहा करते—'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्'।

उक्त उपदेशक-महाविद्यालय, जो गुरुधामके विशालभवनमें स्थापित किया गया था, उसमें शिक्षा ग्रहण करनेवाले विद्वानोंकी दो श्रेणियाँ रक्खी गयी थीं। पहली श्रेणीके विद्वानोंको गुरुधाममें ही रहना पड़ता था। दूसरी श्रेणीके विद्वान् अन्यत्र भी रह सकते थे। इनमें जो साधु-संन्यासी थे, उनके भोजनाच्छादनका भार श्रीमहामण्डल वहन करता और गृहस्थोंको ५) से १५) तक मासिक छात्रवृत्ति दी जाती थी। उनके परीक्षोत्तीर्ण होनेपर निय-

मित उचित वृत्तिपर उनको धर्मवक्तारूपसे नियुक्त किया जाता था। इस महाविद्यालयमें भारतके सब प्रान्तोंके विद्वानोंको भरती किया जाता था। उनकी आध्यात्मिक उन्नतिके उद्देश्यसे उन्हें प्रतिदिन सदाचारपालन, विशेष संकल्प, उपासना, अनुष्ठान, स्वाध्याय, मनन, निदिध्यासन, योगाभ्यास, श्रीमहामण्डलके स्थानीय तथा शास्त्रीय ज्ञानयज्ञमें योगदान आदि करना अनिवार्य था। शास्त्राध्ययनके विषयमें पहले कहा जा चुका है। धर्मप्रचार-की शिक्षाके सम्बन्धमें उनके कर्त्तव्य निम्नलिखित निश्चित किये थे—

१—उपदेश-ग्रन्थावली, उपदेशपारिजात तथा अन्यान्य संग्रह-ग्रन्थोंका अवलोकन करना, २—प्रतिसप्ताह नियमित समयमें आपसमें व्याख्यान देना, ३—प्रतिपक्षमें सर्वसाधारणके सामने व्याख्यान देना, ४—प्रतिदिन आपसमें बैठकर शङ्का समाधान करना, जिससे शास्त्रार्थ करनेकी योग्यता प्राप्त हो, ५—प्रतिपक्षमें एक दिन सर्व-साधारणको विद्यालयके विद्वानोंसे शङ्का-समाधान करनेका अवसर देना, ६—विद्यालयमें दो-तीन सौ व्याख्यानोंके नोट तैयार करनेका जो खाता खोला गया है, उसके लिये नोट संग्रह करना और स्वयं नोट लिखना, ७—व्याख्यानाध्यापकोंसे व्याख्यान देनेकी शैली सीखना, ८—संस्कृत और हिन्दीमें लेख लिखनेका अभ्यास करना, ९—संगीतादि विद्या-कलाओंके सम्बन्धमें चर्चा करना, १०—लोगोंसे मिलने तथा सार्वजनिक कार्य करनेकी शैली सीखना इत्यादि। नं० ६ के अनुसार व्याख्यानोंके नोटोंका जो खाता खोला गया था, उसके प्रायः सभी नोट श्रीजीके ही लिखवाये हुए थे। अव-सर मिलनेपर भी इस विषयमें अन्य किसी विद्वान्ने प्रयत्न या परि-श्रम नहीं किया। इन्हीं नोटोंके आधारपर आगे चलकर श्रीजीने 'धर्मकल्पद्रुम' जैसा सर्वाङ्गपूर्ण महाग्रन्थ लिखवा डाला, जिसमें

सनातनधर्मके सब विषयोंका सप्रमाण सविस्तर विवरण प्रकाशित हुआ है। इस महाग्रन्थसे सनातन-धर्मावलम्बी जिज्ञासुओंका बड़ा उपकार हुआ है। श्रीजीने बड़ी दूरदर्शितासे महाविद्यालयके ये सब नियम ऐसे बनाये थे कि, जिससे हमारे धर्मवक्ता रटे-रटाये तोते या बुद्धू न बने रहें; किन्तु देशकालसे परिचित हों, व्यवहारचतुर हों और श्रीमहामण्डलके प्रधान शक्तिरूप बनकर स्वधर्मके उद्धार और स्वजातिके कल्याणमें कृतकार्य हो सकें। यह भी एक नियम बनाया गया था कि, अब जो धर्मवक्ता नियुक्त किये जायँ, उन्हें इस महाविद्यालयमें कुछ दिन रहकर योग्यता सम्पादन करना होगा, जिससे श्रीमहामण्डलके पुरुषार्थ और कार्यनीतिको अच्छी तरह जानकर तदनुसार धर्म-प्रचारके कार्यमें प्रवृत्त हो सकें।

हिन्दुजातिमें 'मिशनरी स्प्रिट्' उत्पन्न करनेका श्रीजीका यह प्रयत्न था और वह आंशिक रूपसे सफल भी हुआ। 'आंशिक' कहनेका तात्पर्य यह है कि, श्रीजी जैसे चाहते थे, वैसे उपयुक्त पात्र उन्हें नहीं मिले। अब तो श्रीमहामण्डलके प्रयत्नसे 'संस्कृताध्यात्मिक विश्वविद्यालय' ही खुल गया जो अब वर्तमान शासन व्यवस्थाके अनुसार विद्यापीठके नामसे प्रसिद्ध है। उसीमें यह महाविद्यालय अङ्ग रूपसे समाविष्ट कर दिया गया है, जिससे इसके व्यापक कार्योंका बहुत अधिक विस्तार हो गया है। भारतमें यही एकमात्र धार्मिक विद्यापीठ है, जिससे देश भरके धर्म-ज्ञान-पिपासु सहस्रों सज्जन प्रतिवर्ष पर्याप्त लाभ उठा रहे हैं। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ इतना ही बताना है कि, श्रीजीका यह सनातनधर्मावलम्बी हिन्दू प्रजाके संघटनका महत् कार्य उन्हींकी लगन, अध्यवसाय और पुरुषार्थसे किस प्रकार क्रमशः अग्रसर होता गया। धर्म-प्रचार और धार्मिकग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओंके प्रकाशन-द्वारा श्रीजीने प्रसुप्त समस्त हिन्दू जातिकी नींद तोड़ अन्तिम लक्ष्य

दी, उन्हें सावधान और कार्योन्मुख कर दिया तथा आर्यों तक पहुँचनेके लिये सुगम और उचित मार्ग बता दिया।

गीतामें श्रीभगवान् प्रतिज्ञा करते हैं:—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"॥

जो साधक अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, निरन्तर मुझमें ही रममाण रहते हैं, उन भक्तोंके योगक्षेमका भार मैं वहन किया करता हूँ। योग + क्षेम = योगक्षेम। योगका अर्थ है,—जुटाना, एकत्र करना और क्षेमका अर्थ है,—सम्हाल करना, रक्षा करना। अर्थात् भगवान् अपने भक्तोंकी आवश्यकताओंकी सामग्री जुटा देते और उनकी सुरक्षा भी करते हैं; परन्तु भक्त अनन्य होना चाहिये। इस भगवदाज्ञाके अनुसार श्रीजी सोचने लगे कि, भारतमें जिस महायज्ञके आयोजनकी अत्यन्त आवश्यकता थी, श्रीभारतधर्म-महामण्डलके रूपमें श्रीभगवान्ने उसकी पूर्ति तो कर दी और श्री-महामण्डलके द्वारा उस महायज्ञका आरम्भ भी हो गया। इसके अनेक कार्य विभाग खुल गये, कार्यकर्ता मिल गये, प्रान्तीय-मण्डल, शाखा सभाएँ और पोषक सभाएँ बन गयीं, सहस्रों सदस्य हो गये और स्थायी धर्मप्रचारके लिये उपदेशक-महाविद्यालय भी स्थापित हो गया। ज्यों-ज्यों सुविधा होती जायगी, त्यों-त्यों इस धार्मिक संस्थाका आयोजित धर्मकार्य उन्हीं श्रीभगवान्की कृपासे अग्रसर होता गया। यह योगका कार्य हुआ। अब क्षेम अर्थात् इस संस्थाकी सुदृढ़ता और सुरक्षाके लिये यत्न करना बहुत आवश्यक है। इसके लिये भी उन्हीं श्रीभगवान्के चरण कमलोंमें समष्टिरूपसे शरणापन्न होना चाहिये।

स्वभावतः धर्मप्राण सनातनधर्मी आर्यजाति कितनी आस्तिक है, इसका प्रमाण कहीं ढूँढ़नेके लिये कहीं भटकना नहीं होगा। जब

कोई पर्वदिन उपस्थित होता है, तो हर एक तीर्थस्थानमें लक्षावधि हिन्दू स्त्री-पुरुष अनेक कष्ट सहकर बिना किसीके उपदेश या दबावके स्वेच्छासे उपस्थित हो जाते हैं और तीर्थस्नान तथा देव-दर्शनादिसे अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। यही आर्यवंशधरोंकी आस्तिकताका यथेष्ट प्रमाण है, जो सबके सामने है। क्योंकि सनातनधर्मियोंका परलोक और दैवीजगत्‌पर पूर्ण विश्वास है। वे जानते हैं कि, इस स्थूल भौतिकजगत्‌से सूक्ष्म अन्तर्जगत् बहुत शक्तिशाली है और उसीके द्वारा यह स्थूल जगत् परिचालित होता है। वस्तुत: दैवबलसे श्रेष्ठ कोई बल न होनेसे उसीका आश्रय लेना देश, राष्ट्र, धर्म और समस्त मानवजातिके कल्याणके विचारसे बहुत उपयोगी होगा। अत: आर्यजातिके पुनरभ्युदय, आध्यात्मिक शक्तिकी पुन: प्राप्ति, आर्यजातिमें धर्मशक्ति, विद्याशक्ति, संघशक्ति समाजशक्ति, ऐश्वर्यशक्ति आदिकी वृद्धिके लिये भारत-व्यापी कुछ नियमित दैवानुष्ठान होना उचित है। यह अनुष्ठान ऐसा हो कि, जिसमें सब सम्प्रदायोंके सब वर्णोंके, सब आश्रमोंके और सब प्रकारके विचारोंके लोग भाग ले सकें और वह ऐसा सुगम हो कि, उसे सब श्रेणीके लोग बिना झंझटके निबाह सकें।

इस मङ्गलमय उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये श्रीजीकी प्रेरणासे श्रीमहामण्डलके धर्मप्रचार-विभागके अन्तर्गत एक अनुष्ठान-विभाग खोल दिया गया। यह विशेष अधिकार-सम्पन्न सार्वजनिक अनुष्ठान-विभाग निर्विरोध रहे। इसलिये ऐसा नियम रक्खा गया है कि, इसका नेता कोई संन्यासी महात्मा ही रहे। क्योंकि जिस प्रकार वर्णगुरु ब्राह्मण हैं, उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी हैं। संन्यासका अधिकार प्रधानत: ब्राह्मणोंको ही होनेके कारण इस दैवकार्यका नेता संन्यासी ही होना उचित है। इससे ब्राह्मणत्वकी मर्यादा भी बनी रहेगी, जो सनातन कालसे सुरक्षित रही आयी है।

श्रीभगवान् शङ्कराचार्य महाराज आज्ञा करते हैं :—"ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्यात्सनातनोवैदिको धर्मः ।" ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेसे ही सनातन वैदिक धर्मकी सुरक्षा हो सकती है ।

इस प्रकार वर्णगुरु और आश्रमगुरु ब्राह्मण-संन्यासीके नेतृत्वमें प्रारम्भ हुए दैवानुष्ठानरूप इस यज्ञमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी सम्मिलित होकर योगदान कर सकते हैं। इसमें जाति-पाँतिका कोई विचार नहीं। अन्य धर्मावलंबी लोग अपने अपने धर्मविचारोंका पालन करते हुए इसमें सहयोगी बन सकते हैं। स्त्रियोंकेलिये भी इसमें एक अन्तर्विभाग है। श्रीजीका सिद्धान्त था कि, स्वधर्म, स्वदेश और स्वजातिकी उन्नतिके विषयमें श्रीभगवान्से प्रार्थना करनेका सबको समान रूपसे अधिकार है। श्रीजीने बड़े विचारसे अनुष्ठान-साधनकी एक संक्षिप्त और सुगम पद्धति बना ली और इस विभागका प्रत्येक सदस्य प्रतिवर्ष किस प्रकार कितना अनुष्ठान कार्य सुसम्पन्न करता है, उसका हिसाब रखनेकी व्यवस्था भी कर दी। श्रीजीका दृढ़ विश्वास था कि, भारतके सब प्रान्तोंमें एक साथ एक मन और एक वाक्यसे लाखों दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, भगवद्भक्त स्त्रीपुरुष प्रतिदिन धर्म, जाति और देशके कल्याणके लिये निष्ठापूर्वक इस दैवानुष्ठानके अनुसार श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें प्रार्थना करें, तो अवश्य ही ऋषि, देवता और पितरोंकी कृपादृष्टि इस देश और जातिपर होगी और श्रीभगवान्की कृपा प्राप्त करके पुनः आर्यजाति तथा भारतका अभ्युदय होगा और सर्वजीव-हितकारी सनातनधर्मका पुनर्विकाश होकर जगतका मङ्गल होगा। इस विभागके सदस्योंकी संख्या बढ़ानेके लिये भारतके सब प्रान्तोंमें श्रीमहामण्डलके धर्मप्रचारक प्रयत्न करेंगे।

धर्मालय-संस्कारविभाग

हिन्दूधर्मके आधारभूत और आस्तिकताके प्रतीक भारतके धर्मालय और देवस्थान हैं। आर्यजातिके राजन्यगण दिग्विजय करते हुए पृथ्वीके जिस किसी देशमें गये और यहाँ के वणिकोंने जहाँ कहीं व्यापारिक सम्बन्ध स्थापन किया, वहीं अपनी उपासनाके लिये देवस्थान निर्माण कराये और वहाँ हिन्दुइ देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। इस प्रकारकी देवमूर्तियाँ अमेरिका, अफ्रिका जैसे महादेशोंके भूगर्भसे प्राप्त हुई हैं। जावा, सुमात्रा जैसे देशोंमें अब तक अनेक देवमन्दिर अच्छी अवस्थामें विद्यमान हैं। रूस जैसे कम्युनिस्टोंके देशमें स्व० बा० शिवप्रसाद गुप्तजीने ऐसा एक शिवमंदिर देखा, जहाँ प्रतिदिन पूजा-उपासना भी नियमित रूपसे होती है। इसका विवरण उन्होंने अपने 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' नामक ग्रन्थमें प्रकाशित किया है। परन्तु खेदका विषय है कि, उसी जगद्विजयिनी आर्यजातिके स्वदेश स्थित देवस्थानोंकी बड़ी ही दुर्दशा देखनेमें आती है।

इस सम्बन्धमें स्व० श्री गाँधीजीके 'आत्म-चरित्र'से एक घटनाका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। जब वे काशी आये, तो श्रीविश्वनाथजीके दर्शन करने भी गये थे। वहाँकी गन्दगी देखकर उनके हृदयपर बड़ी ठेस लगी। मूर्तिका दर्शन कर उन्होंने एक पाई चढ़ाई, जिससे पण्डाजी चिढ़ गये और उन्होंने वह पाई यह कहकर फेक दी कि, 'तू पापी है, तेरी पाई विश्वनाथजीको स्वीकार नहीं।' गांधीजीने वह पाई उठा ली और वे जाने लगे, तब पण्डाजीने गरजकर कहा,—'अच्छा ला, तेरी वह पाई भी चढ़ा दी जायगी। भागते भूतकी लंगोटी ही सही!' गांधीजीने पाई लौटा दी; परन्तु तीर्थस्थानों और तीर्थ पुरोहितोंकी इस दयनीय दशासे उनको बहुत दुःख हुआ। यह लेख ठीक महाशिवरात्रिके

ही दिन लिखा जा रहा है। अतः एक वर्षके इसी दिनका एक खेदजनक स्मरण हो आया। हमारे एक आत्मीय और स्थानीय प्रसिद्ध जौहरी बा० बालकृष्णदास माहेश्वरी उस शिवरात्रिको प्रातःकाल ही श्रीविश्वनाथजीके दर्शनार्थ गये हुए थे। इस दिन जो धार्मिक सज्जन श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरमें गये होंगे, उन्होंने देखा होगा कि, मन्दिरमें प्रवेश करते ही एक-एक फुट गन्दे पानीमें से हलकर आगे बढ़ना पड़ता है। उस पानीमें बेलपत्र भरे रहते हैं, जो दर्शनार्थियोंके पैरोंसे ऐसे कुचले जाते हैं, जिससे वहाँका जल कीचड़ बन जाता है। हमारे जौहरी बाबू जब उस कीचड़को पार कर रहे थे, तब उनके पैरके पंजोंमें किसी जीवने काट लिया। उन्होंने सोचा कि, बेलका काँटा चुभ गया होगा; परन्तु घर पहुँचते-पहुँचते उनको चक्कर आने लगे और थोड़ी देरमें मूर्छित होगये। डाक्टरको बुलाया गया और परीक्षा की गयी, तो जाना गया कि, साँपने काटा है। परिणामतः श्रीविश्वनाथजीकी कृपासे बाबूसाहबके प्राण तो बच गये; परन्तु उनके पैरके तलवेसे लेकर घुटनेतकके भागमें कई चीरे पड़े, साल-डेढ़साल खटियापर पड़े-पड़े दुःख भोगना पड़ा; परन्तु पैर अच्छा नहीं होसका और बाबूसाहब डेढ़ टँगड़ीके—लँगड़े—होगये। ग्रामोंसे बेलपत्र लाये जाते हैं। उनके साथ साँप, बिच्छू भी आजाते हैं और दर्शनार्थियोंको काटते हैं; परन्तु प्रबन्धकों या पण्डाजीके कानोंपर जूँ तक नहीं रेंगती। वास्तवमें देवालय जैसे उपासनाके स्थान ऐसे स्वच्छ, मनोहर, शान्त और पवित्र होने चाहिये, जहाँ जाते ही मन प्रसन्न हो उठे और उसमें श्रद्धा उपजे तथा नास्तिक भी वहाँ क्षणभर बैठकर भगवान्के चिन्तनमें रम जाय। हिन्दू देवालयोंमें जैसा घपला होता है, वैसा किसी अन्य-धर्मावलम्बियोंके उपासनास्थानोंमें नहीं देख पड़ता। गन्दगीके लिये मुसलमान प्रसिद्ध हैं; परन्तु उनकी मसजिदें या मकबरे बहुत साफ-

सुथरे होते हैं। स्वच्छता और सौन्दर्यमें अमृतसरके स्वर्णमन्दिरकी तो कोई तुलना नहीं। वहाँ प्रत्यक्ष देखा गया है कि, तत्सम्प्रदायके दर्शनार्थी जब मन्दिरमें जाते हैं और कहीं किसीके पैरकी छापसे हुई गन्दगी देखते हैं, तो चाहे वे दुशाला क्यों न ओढ़े हों, उसीसे अपने हाथसे पोंछकर स्थान स्वच्छ कर देते हैं। इस कार्यको वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं। हिन्दूधर्ममें उपासना करनेसे पहले भूशुद्धि-भूतशुद्धि करनेकी विधि है। योगसाधना या उपासना-में पवित्रताका प्रथम स्थान माना गया है। हिन्दूजातियोंमें शुद्धा-शुद्ध और स्पर्शका विचार पवित्रता-रक्षाके विचारसे ही शास्त्रकारोंने प्रवर्तित किया है। अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धिके अनेक आचार उन्होंने चालू किये हैं। परन्तु कालप्रभावसे हिन्दूजाति दोनों शुद्धियोंको खो बैठी है। अन्तःशुद्धिका तो नाम ही न लिया जाय; किन्तु बहिःशुद्धिकी उपयोगिताको भी वह भूल गयी है।

दीर्घकालीन विदेशी शासनसे धर्मालयों और देवालयोंकी यह दुर्व्यवस्था देखकर श्रीजीका धर्ममय कोमल हृदय उद्वेगसे व्याकुल हो उठा और उनके संस्कार तथा पुनरुद्धारका प्रयत्न वे करने लगे। इसके लिये उन्होंने 'धर्मालयसंस्कार-विभाग' नामक श्रीमहा-मण्डलका एक स्वतन्त्र विभाग खोल दिया। इस विभागके उद्देश्य इस प्रकार हैं:—१—हिन्दूजातिके जितने तीर्थस्थान हैं, उनका संस्कार और उन्नति करना और उनकी असुविधाओंको दूर करने-का यत्न करना। वे तीर्थस्थान यदि भारतसरकार या प्रान्तीय सरकारकी सीमामें हों, तो उन सरकारोंसे और देशीराज्योंमें हों, तो वहाँके प्रबन्धकोंसे प्रार्थना करके उन तीर्थस्थानोंके अभावोंकी पूर्ति और उन्नति करनेका प्रयत्न करना। २—तीर्थस्थानोंकी ही तरह देशमें जितने मठ, मन्दिर, अन्नसत्र, धर्मशाला आदि धर्मालय हैं, उनकी भी सुरक्षा, सुप्रबन्ध, उन्नति और अभावोंकी पूर्तिका

प्रयत्न करना। ३—ऐसे धर्मालयोंके संस्थापकों और संचालकोंको उत्साहित कर उनको यथार्थ पथपर चलानेका प्रयत्न करना। ४—तीर्थोंके ब्राह्मणों, पण्डों, पुरोहितों और कार्यकर्ताओंकी उन्नतिका प्रयत्न करना। ५—इन कार्योंकी सुगमताके लिये भारतके प्रधान-प्रधान तीर्थों और धर्मालयोंकी विवरण-सहित एक बड़ी सूची (डाइरेक्टरी) बनाना। जिससे यह पता लग सके कि किस तीर्थ-स्थान या धर्मालयमें किस बातका अभाव है और वहाँ किस प्रकार-की उन्नतिकी अपेक्षा है।

सूची बनानेका कार्य मुजफ्फरनगरके स्व० रईस आनरेबल राय निहालचन्द्र बहादुरने अपने व्ययसे आरम्भ कर दिया था और उन्हें स्व० आवागढ़ नरेश राजा बलवन्तसिंहजी सी० आई० ई० महोदयसे भी इस कार्यमें आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी। तदनुसार उन्होंने काशीपुरी, मथुरा, हरद्वार और सौरोंजी इन चार तीर्थस्थानोंके धर्मालयोंकी सूची बना डाली थी; परन्तु दोनों धर्म-प्रेमियोंका देहावसान हो जानेसे न पूरी सूची बन सकी, न प्रका-शित ही हो सकी। अन्य किसीने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया; परन्तु श्रीभारतधर्ममहामण्डल इस विभागके उद्देश्यानुसार यथा-शक्ति कार्य करता ही रहा। उक्त चार तीर्थोंके धर्मालयोंकी सूची बनानेका कुछ कार्य तो श्रीमहामण्डलमें ही हुआ और अधिकांश भाग उक्त रायबहादुरजीके साक्षात् प्रयत्नसे ही तैयार हुआ था। यदि वह डाइरेक्टरी प्रकाशित हो जाती, तो उसी रीतिके अनुसार भारतके अन्य तीर्थस्थानोंकी भी डाइरेक्टरी बनानेमें सुविधा हो जाती। अब भी श्रीमहामण्डल अनुकूलता होनेपर इस कार्यसे पराङ्मुख नहीं होगा। इस प्रकारकी एक बृहत्सूची बन जाने-पर धर्मालयोंकी उन्नति करने, उनकी आयका ठीक ढंगपर व्यय कराने, उनके सुप्रबन्ध कराने तथा उनके संस्थापकों, संचालकों

और कार्यकर्ताओंका उत्साह बढ़ानेके विषयमें श्रीमहामण्डल बहुत कुछ हाथ बँटा सकेगा।

कई तीर्थस्थानोंके अभावोंको दूर करनेके सम्बन्धमें श्रीमहामण्डलने भारतसरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा देशीराज्योंसे लिखापढ़ी की थी, जिसमें कुछ सफलता भी हुई और यह शैली हितकारी प्रतीत हुई। बद्रिकाश्रमकी यात्रामें अन्नादिके सुप्रबन्धके लिये तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेशकी सरकारसे और तीर्थयात्रियोंके क्लेशनिवारणार्थ निजाम सरकारसे आवेदन किया था और दोनों स्थानोंमें श्रीमहामण्डलको सफलता हुई थी। धर्मालयसंस्कारके सम्बन्धमें भारत सरकार एक नया कानून बनाने जा रही थी, उसका विरोध श्रीमहामण्डल, प्रान्तीय-मण्डल, शाखासभाओं और पोषक सभाओंने एकमत होकर किया था। इसका कारण है। श्रीजीका आरम्भसे ही यह सिद्धान्त रहा आया है कि, जहाँ तक सम्भव हो, हिन्दूजातिको अपने धर्मालयोंके संस्कारकेलिये स्वयं यत्न करना चाहिये, जिससे किसी सरकारको हमारे धर्ममें हस्तक्षेप करनेका अवसर ही न मिले। कुछ समाचारपत्रोंने यह मत भी प्रकट किया था कि, भारत सरकार हिन्दूधर्मालयोंकी उन्नति, प्रबन्ध और सुरक्षाका भार नियमानुसार श्रीमहामण्डल जैसी हिन्दूजातिकी प्रतिनिधिभूत विराट् धर्ममहासभाको सौंप दे। परन्तु यह प्रस्ताव भला सरकार क्यों स्वीकार करने लगी? फिर भी श्रीमहामण्डल अपना उद्दिष्ट कार्य करता ही जाता है।

कितने ही स्थानोंके प्रधान-प्रधान देवमन्दिरों और धर्मालयोंके संस्कारकेलिये श्रीमहामण्डल और इसके प्रान्तीय मण्डलोंने प्रयत्न किया था। दक्षिणके सुप्रसिद्ध श्रीरामेश्वरमन्दिरके जीर्णोद्धारके सम्बन्धमें श्रीमहामण्डलने वहाँके दोनों दलोंके

नेताओंमें समझौता करानेके लिये अपने प्रतिनिधि देवकोट (मद्रास) के प्रसिद्ध जमींदार श्री अरुणाचलम् • चेटियरको नियुक्त किया था। उसमें वे सफल हुए और जीर्णोद्धारका कार्य सुचारु रूपसे अग्रसर हो सका। इसी प्रकार बम्बई, बंगाल और उत्तरभारत-के कई मन्दिरोंके जीर्णोद्धारके कार्यमें श्रीमहामण्डलने यथा-सम्भव सहायता दी है। बङ्गालके श्रीघण्टेश्वरके मन्दिरके संस्कारके लिये तो बङ्गधर्ममण्डलने अन्य सहायताओंके साथ कुछ आर्थिक सहायता भी दी थी। ओरछा नरेश हिजहाईनेस सवाई महाराजा सर प्रतापसिंह बहादुर जी० सी० एस० आई० महोदय बुन्देलखण्डकी श्रीमती महारानी साहबाने श्रीजनकपुरी-तीर्थोद्धारमें बहुत कुछ सहायता की थी और जनक-पुरी तथा अयोध्यापुरीमें विशाल मन्दिर बनवाये हैं। इस उपलक्ष्य-में उन्हें उत्साहित कर 'धर्मलक्ष्मी' की पदवी श्रीमहामण्डलने प्रदान की थी।

भारतके स्थान-स्थानमें अनाथालय और दीनजनाश्रय-स्थल-स्थापित करनेकी ओर भी श्रीमहामण्डलकी दृष्टि रहती आयी है और ऐसे कार्योंमें श्रीमहामण्डल आर्थिक सहायता भी प्रदान करता है। ऐसी सहायता श्रीमहामण्डलकी ओरसे काशीके श्रीरामकृष्णमिशनके अनाथालय तथा श्रीवृन्दावनके अनाथालयको दी भी जाती थी। अन्नसत्रोंके सुप्रबन्धके द्वारा विद्यादानमें सहायता हो, इस विचारसे काशी, हरद्वार और हृषीकेशमें प्रयत्न किया गया था और वह कुछ सफल भी हुआ था। काशीके बंगाली विद्यार्थियोंके लिये बंगाली अन्नसत्रोंसे अन्नदानका प्रबन्ध कराया गया था। हृषी-केश और हरद्वारमें 'सिन्ध-पञ्जाब-अन्नसत्र' नामक एक प्रसिद्ध संस्था थी। रावलपिण्डीके रईस स्व० सरदार ,रायबहादुर बूटा सिंह सी० आई० ई० महाशयकी सहायतासे एक साधुपाठशाला

स्थापित की गयी थी। वहाँके सब सम्प्रदायोंके साधुगण उक्त संस्थासे अन्नवस्त्र प्राप्त करते थे और उत्तम विद्वानोंके निकट संस्कृत-विद्याका अध्ययन करते थे। बद्रिकाश्रमके जोशीमठके उद्धारका श्रीमहामण्डलने जो महान् कार्य किया है, उसका विवरण 'श्रीमहा-मण्डलकी सेवाओंमें, प्रकाशित किया गया है। यह सर्वविदित ही है कि धर्मप्रचारकेलिये आदि शंकराचार्यद्वारा स्थापित चारो दिशाओंके मठोंमेंसे उत्तर दिशाका जोशी मठ शताब्दियोंसे उच्छिन्न हो गया था। श्रीजीमहाराजने अपनी उत्तराखण्डकी यात्रामें महीनों जंगलोंमें भटककर बड़े परिश्रमसे उस स्थानका पता लगाया था; तथा उस प्रदेशके उच्चाधिकारियोंके सहयोग एवं सहायतासे उक्त भूमिको प्राप्त किया। भूमि प्राप्त हो जानेपर श्रीजीने अपने भक्त राजाओं जिनमें स्वर्गीय महाराजाधिराज रमेश्वर सिंह दरभङ्गा तथा महाराजा कीर्तिशाह टिहरी गढ़वाल आदि प्रमुख थे, उनकी आर्थिक सहायतासे वहाँ मन्दिर-मठ आदिका निर्माण कराया। इतना कार्य पूरा हो जानेपर एक सुयोग्य त्यागी विरक्त सन्तकी आवश्यकता हुई, जो शंकराचार्य पदके उपयुक्त हो। वर्षों अन्वेषणके पश्चात् अनन्त-श्रीविभूषित स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती इस महान् पदके अधिकारी मनोनीत किये गये एवं सन् १६४१ में श्रीभारतधर्ममहामण्डलने उक्त पदपर इनको अभिषिक्त किया। जोशीमठकी सब सम्पत्ति उनको रजिस्ट्री कराकर अर्पित की गयी और बड़े समारोहके साथ श्रीमहा-मण्डलके महाधिवेशनमें इसकी घोषणा की गयी। इस प्रकार श्रीमहा-मण्डलकेद्वारा इस पीठका पुनरुद्धार-कार्य सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार राजपूतानेके गौरवपूर्ण इतिहासका प्रमुख केन्द्र चित्तौरगढ़का भी पुनरुद्धार श्रीजीने कराया। चित्तौरगढ़ मेवाड़राज्यके अन्तर्गत था। उसकी दशा बड़ी दयनीय थी, परन्तु उदयपुरके राणाओंमें किसीका इसकी सुरक्षाकी ओर ध्यान नहीं था। श्रीजीने महाराणा

फतेहसिंह महोदयको प्रेरित करके चितौरगढ़का जीर्णोद्धार कराया। इस कार्यपर उदयपुर राज्यके प्रायः एक करोड़ व्यय हुए। महाराणा फतेहसिंह महोदयने पूज्यपाद श्रीजीके आदेश एवं प्रेरणासे बड़े उत्साहसे इस महान् कार्यको सम्पन्न कराया था। धर्मालयसंस्कार-बिभाग द्वारा ऐसे अनेक महान् कार्य सम्पन्न हुए। इसी तरह काशीके कई मठोंकी सुरक्षा और उन्नतिमें सहायता की गयी है। हरद्वारके ऋृषिकुल आश्रमकी सहायता कर उसकी श्रीवृद्धि करनेमें श्रीमहामण्डलने बहुत कुछ हाथ बँटाया है। इसी विभागके तत्त्वावधानमें श्रीमहामण्डलद्वारा-श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डार' नामक एक संस्था स्थापित की गयी, उसकी रजिस्ट्री करा ली गयी और उसके द्वारा अनाथविधवाओं, अनाथ बालक-बालिकाओं, अनाथ रोगियों, विद्यार्थियों और दीन-दरिद्रोंको सहायता दी जाने लगी। भारतमें यह एक आदर्श संस्था है।

तीर्थ-स्थानोंके ब्राह्मणों और पुरोहितोंकी शिक्षा-दीक्षा, उन्नति और उत्साह दानके कार्यमें भी श्रीमहामण्डल सदा सचेष्ट रहा है। यह चेष्टा इस प्रकारकी गयी है कि, जिससे श्रीमहामण्डलके सदस्य जब तीर्थयात्रा करने पधारें, तब अपने तीर्थपुरोहितोंकी पूजाके साथ ही वहाँ के विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मणोंकी पूजाका भी ध्यान रक्खा करें। तीर्थस्थानोंमें ब्राह्मणोंकी विद्या और तपकी जितनी पूजा होगी, उतनी ही उनकी उन्नति होगी। कहा भी है—

'विनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः'। बिना आश्रयके पण्डित, स्त्रियाँ और लताएँ शोभा नहीं देतीं। हिन्दूराजशासन-कालमें पण्डितोंको राजाश्रय मिला करता था। त्यागी-तपस्वी ब्राह्मणोंका परिपालन करना राजाका कर्तव्य माना जाता था। इसीसे छत्रपति शिवाजी महाराज 'गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक' कहाते थे। यदि ब्राह्मण त्यागी, तपस्वी और सन्तोषी हों, तो उनके

योगक्षेमकी भी व्यवस्था होनी चाहिये। कालप्रभावसे यदि इस समय पण्डितोंको राजाश्रय मिलना सम्भव नहीं है, तो उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध करना श्रीजीके मतसे समाजका परम पवित्र कर्तव्य है। धर्मालयसंस्कारके इस विभागके सम्बन्धसे मन्दिरों, मठों, अन्नसत्रों, धर्मशाला और विश्वविद्यालयोंको श्रीमहामण्डलके साथ सम्बन्ध-युक्त करा लिया जाता है। उनको श्रीमहामण्डलका मुख-पत्र बिना मूल्य दिया जाता है और अन्यरीतिसे भी सहायता दी जाती है। भारतके सब प्रान्तोंके ऐसे १६४ धर्मालय श्रीमहा-मण्डलसे सम्बन्धयुक्त हो चुके हैं।

धर्मालयों, मन्दिरों, मठों, अन्नसत्रों आदिके पुनः संस्कार और उन्नतिके सम्बन्धमें श्रीजीने श्रीमहामण्डलकेद्वारा जैसा पुरुषार्थ किया, वैसा ही प्राचीन विद्यापीठों और विद्याप्रचारकी संस्थाओंके संस्कार और उन्नतिके सम्बन्धमें भी किया है। सन् १६१० तक नदिया विद्यापीठके संस्कारके विषयमें बहुत कुछ परामर्श और विचार-विनिमय किया गया था, उसका फल अच्छा ही हुआ। मिथिला विद्यापीठके संस्कारके विषयमें एक दानपत्र मिथिलाधिपति महाराजाधिराजने लिख दिया था, उसके अनुसार एक धर्मवृत्तिकी आज्ञा प्राप्त हुई थी और दरभंगामें एक महाविद्या-लयकी नींव डाली गयी थी। उज्जैनविद्यापीठके सम्बन्धमें श्रीदरबार ग्वालियरसे पत्रव्यवहार कर प्रार्थना की गयी थी, तदनुसार बहुत कुछ उन्नति की गयी है। श्रीनगरविद्यापीठके सम्बन्धमें श्रीदरबार काश्मीरसे मौखिक आज्ञा प्राप्त हो चुकी थी। श्रीवृन्दावनमें सब सम्प्रदायोंका एक महाविद्यालय खोलनेके सम्बन्धमें मथुराके सेठोंकी देवसम्पत्तिके अध्यक्ष श्रीरायबहादुर चौबे रामदास साहब और मद्रासके सुप्रसिद्ध रईस श्रीरायबहादुर भक्तिभूषण वनमालीराय महाशयसे बहुत कुछ परामर्श किया गया।

तदनुसार विशिष्टाद्वैत और द्वैतसम्प्रदायके ग्रन्थोंके अध्यापनका प्रबन्ध हो गया है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदायके मुख्य आचार्य गोस्वामीजी महाराज नाथद्वारासे आज्ञापत्र द्वारा यह आज्ञा प्राप्त हुई है कि, इस सम्प्रदायके अध्ययनके लिये अध्यापक आदिका व्यय नाथद्वारा संस्थानसे दिया जायगा। दो सम्प्रदायोंकी सहायता अभी अपेक्षित है।

भारतमें जो संस्कृतपाठशालाएँ अथवा विद्यालय इस समय जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं, उनमेंसे ७८ संस्थाएँ श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त हो चुकी थी। काशीविद्यापीठकी उन्नतिके विचारसे यहाँकी पाठशालाओं और विद्यालयोंकी एक डाइरेक्टरी बना ली गयी थी। पुरानी पाठशालाओंके पुन:संस्कारके अतिरिक्त श्रीमहामण्डलके कार्यकर्त्ताओं और धर्मवक्ताओंके उद्योगसे उत्तरभारतके विभिन्न स्थानोंमें ३८ नयी पाठशालाएँ भी खोली गयी थी। सनातन धर्मावलम्बिनी कन्याओं और महिलाओंकी धर्मानुकूल शिक्षाका कहीं प्रबन्ध नहीं था। इसके लिये कलकत्तेमें 'श्रीभारतदुहितृ-शिक्षापरिषद्' नामक एक संस्था स्थापित की गयी थी और उसके प्रधान मन्त्री कलकत्ता हाईकोर्टके जस्टिस श्रीशारदाचरणमित्र महाशय नियुक्त हुए थे। उसकी ३३ शाखापाठशालाएँ भी खुल गयी थीं। काशी-शाखा-पाठशालाको श्रीमहामण्डलसे नियमित आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। विचार यह था कि, इसी परिषद्को आगे चलकर महिलाविश्वविद्यालयके रूपमें परिणत कर दिया जाय; परन्तु योग्य कार्यकर्ताओंके अभावसे वह विचार कार्यरूपमें परिणत न हो सका और वह परिषद् भी अस्तंगत हो गयी। आर्यमहिलाओंके सौभाग्यसे श्रीजीने अब काशीपुरीमें-ही 'श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्' नामक एक सुदृढ़ संस्था स्थापित कर दी है, जिसके द्वारा उक्त परिषद्के सब

उद्देश्य सम्पन्न हो रहे हैं। इसी तरह श्रीजीके प्रयत्नसे 'धार्मिकाध्यात्मिक-संस्कृतविद्यापीठ' स्थापित हुआ है, जिसके द्वारा देशके समस्तविद्यापीठ और विद्यालय एकसूत्रमें आबद्ध होकर अपनी-अपनी उन्नति करनेमें समर्थ हो सकेंगे। इन दोनों संस्थाओंका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त सभी विद्या-संस्थाओंको श्रीमहामण्डलकी मुख पत्रिका और पुस्तकें विना मूल्य दी जाती हैं।

हिन्दू बालकोंको आर्यपरम्पराके अनुसार शिक्षा देनेकेलिये जहाँ-तहाँ ब्रह्मचारी-आश्रम खोलनेकी परम आवश्यकता है। वर्तमान पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे आर्यसदाचार लुप्त होकर आर्य-परम्परा ही नष्ट हो रही है। नवयुवकोंके उच्च संस्कार नष्ट होकर उनके मस्तिष्क विकृत हो गये हैं। ईश्वरपर उनका विश्वास नहीं रहा है और आर्यशास्त्रोंके अध्ययनमें उनकी श्रद्धा नहीं रही है। यही स्थिति और कुछ दिनोंतक बनी रही, तो आगेकी पीढ़ी नास्तिक, जड़वादी, सत्पथविमुख और उच्छृंखल हो जायगी, जिससे हिन्दूजातिका पतन होना अनिवार्य है। हमारे प्राचीन धर्म, विज्ञान, दर्शन, सदाचार, विद्या, शिष्टाचार, संस्कार आदिकी रक्षाके लिये ब्रह्मचर्याश्रमोंका प्रवर्तन उपयुक्त होगा। इस सम्बन्धमें श्रीजीने जनताको बहुत उत्साहित किया और कार्यकर्ताओंको सहायता भी दी। सन् १९१० तक श्रीमहामण्डलके प्रयत्नसे सात ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित हो गये थे, जिनमें हरद्वारका ऋषिकुलब्रह्मचर्याश्रम सर्वश्रेष्ठ और आदर्श स्वरूप है। ऐसे जो ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित हुए हैं या होंगे, उनके पाठ्यक्रमकेलिये श्रीजीने कई पुस्तकें लिखी हैं, जो प्रकाशित हो चुकी हैं और ब्रह्मचर्याश्रमोंको बिना मूल्य दी जाती हैं।

एक ही प्रकारकी पठन-पाठन-शैली सदाके लिये उपयोगी नहीं

होती। देश-काल पात्रानुसार समय-समयपर उसमें परिवर्तन करना पड़ता था। एक समय था, जब कि, संस्कृतके विद्वानोंके हाथमें समाजका सूत्र था, धर्मशास्त्रके अध्ययनका विशेष महत्त्व था। हिन्दू-जातिके व्यवहार और दायभाग आदिका समावेश हमारे धर्मशास्त्रमें-ही किया गया है। उस समय नीतिका अर्थ राजनीति ही समझा जाता था और वह राजनीति धर्मशास्त्रके अन्तर्गत ही मानी जाती थी। अन्य दर्शनोंका साधारण ज्ञान प्राप्त कर किसी एक ही दर्शनमें प्रत्येक विद्वान् विशेष योग्यता प्राप्त करता था या पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत आदि शास्त्रोंमेंसे किसी एक शास्त्रमें पारंगत हो जाता था। वैदिक विद्वान् केवल वेदपाठ करता और कर्मकाण्डी कर्मकाण्डके करने-करानेमें ही संलग्न रहता था। राजा और प्रजा एक ही धर्मके अनुयायी होनेसे उतनी विद्यासे काम चल जाता था और सभी स्वधर्मानुसार आचरण करते थे, कोई विशेष उलझन भी नहीं रहती थी। अब समय बदल गया है। अब नयी-नयी भौतिक विद्याओंका आविष्कार हुआ है और केवल अपने ही देशतक कार्य सीमित नहीं रहे हैं। हमारा पृथ्वीके सब देशोंसे सम्बन्ध स्थापित होकर कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। देशकालकी ओर दृष्टि न डालनेसे संस्कृत-पण्डितों-का महत्त्व घट गया है, समाजके सूत्र उनके हाथमें नहीं रहे हैं और उनकी शिक्षाप्रणालीमें भी बहुत दोष आ गये हैं। श्रीजीने निश्चय किया कि, उन सब दोषोंको दूर कर ऐसी शिक्षा-शैली बनायी जाय, जो देश-काल-पात्रके अनुकूल हो और जिसकी सहायतासे पण्डित-वर्ग पुनः अपनी पूर्वप्रतिष्ठाको प्राप्त कर सके।

संस्कृत-शिक्षा प्रणालीकी त्रुटियोंका सूक्ष्म अवलोकन कर जो बातें श्रीजीको ज्ञात हुईं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं :—१—वैदिक शिक्षाका अभाव, २—यथावत् दार्शनिक शिक्षाका न होना, ३—

आर्षकाव्योंका न पढ़ना, ४—व्याकरण जैसे विषयोंमें अधिक समय वृथा नष्ट करना, ५—धर्मशिक्षाकी रीति प्रचलित न रहना, संस्कृत विद्वानोंको देश-कालका ज्ञान न रहना, इत्यादि। पहले जो दर्शनादि शास्त्र पढ़ते, वे वेदाध्ययन नहीं करते और जो वैदिक होते, वे शास्त्रकी ओर ताकते भी नहीं थे। देश-कालकी ओर तो किसीका ध्यान ही नहीं रहता और धर्मशास्त्रके विधि-निषेधोंमें ही माथा पचाया करते थे। तुलनात्मक दर्शनोंका अध्ययन करनेकी रीति प्रचलित न होनेसे दार्शनिक शिक्षाका ह्रास होता गया और धर्म एक आडम्बर बन गया। इतनेसे ही अब काम नहीं चल सकता। अतः यदि पण्डितोंको इस समय अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना हो, तो उन्हें समयानुसार पठन-पाठन-शैलीको अपनाना चाहिये। इसके लिये श्रीजीने बहुत विचारपूर्वक एक ऐसी शिक्षा-योजना बनायी है, जिससे वर्तमान त्रुटियाँ दूर होकर संस्कृतके विद्वान् व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकें, आज जैसे सुशिक्षित लोगोंके द्वारा उपेक्षित हो रहे हैं, वैसे न हों और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर समाज, धर्म और देशको वैसी ही सेवा कर सकें, जैसी पश्चिमीय और पूर्वीय शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्वान् किया करते हैं। उन्हें राजशासनप्रणालीको जानकर उसमें भाग लेने योग्य बन जाना इस समय बहुत आवश्यक है। श्रीजीकी योजनाको काममें लानेसे ये सब बातें अनायास सिद्ध हो जायँगी।

ब्रह्मीभूत श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी महाराजद्वारा प्रतिष्ठित 'भारतवर्षीय आर्यधर्मप्रचारिणी सभा' नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी। सभाकी भवन, छापाखाना और नगद रुपया आदि सब मिलाकर ४०-५० हजार रुपयोंकी सम्पत्ति थी, जो व्यक्तिगत होनेवाली थी। महामण्डलने उस सम्पत्तिका उद्धार कर अपनी शाखासभाके रूपमें उस सभाकी स्वतन्त्र रजिस्टरी करा दी, जिससे ब्रह्मीभूत श्रीस्वा-

मीजीका संकल्पित धर्मकार्य अविच्छिन्न रूपसे होता रहे। सभाके 'धर्म-निकेतन' नामक भवनमें श्रीस्वामीजीके ही नामसे 'कृष्णानन्द-वेद-विद्यालय' स्थापित किया गया था; परन्तु वह भवन श्रीस्वामी-जीके परिवारवालोंके हाथमें चले जानेसे विद्यालय श्रीमहामण्डल-भवनमेंही ले आया गया। उसमें वैतनिक वैदिक अध्यापक नियुक्त हैं, जो विद्यार्थियोंको वेदकी शिक्षा दिया करते हैं। तत्का-लीन भारत सम्राट्के स्मारकमें 'एडवर्ड मेमोरियल आयुर्वेदमहा-विद्यालय और मेडिकल स्कूल स्थापन करनेका प्रारम्भिक प्रबन्ध हो गया था; परन्तु वह पूर्व-योजनाके अनुसार स्थापित न हो सका। उसके स्थानमें 'आयुर्वेदसम्मिलनी' नामक संस्था स्थापित हुई, जिसका कार्य अच्छी तरह चल रहा है और वह श्रीमहा-मण्डलका ही एक अङ्ग है, अब यह संस्था 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठ' से सम्बन्धयुक्त हो जानेसे इसके कार्यमें बहुत सुगमता हो गयी है।

श्रीजी बहुत मिताहारी थे। उनके आहारमें गोदुग्ध ही मुख्य वस्तु होती थी। प्रायः गोदुग्धके ऊपर ही उनका जीवन निर्भर था। परन्तु दुग्धसेवन करते समय जब उन्हें भारतीय गोजातिके-ह्रास और दुरावस्थाका स्मरण हो जाता, तब वे व्याकुल हो उठते थे। अतः उन्होंने गोरक्षाके सम्बन्धमें भी बहुत पुरुषार्थ किया और वह आंशिक रूपसे फलित भी हुआ। गोजातिके सम्बन्धमें उनके अन्तः-करणका भाव क्या था और गोरक्षाके लिये उनकी योजना क्या थी, यह उन्हींके लेखके निम्नलिखित अंशसे स्पष्ट हो जाता है :—

"भविष्यपुराण—गो-माहात्म्य (अ० २) में लिखा है कि, गोमाता सर्वदेवमयी है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवता विराजमान हैं। यथा :—उसके पृष्ठमें ब्रह्मा हैं, गलेमें विष्णु हैं, मुखमें रुद्र-विराजते हैं। बीचके भागमें देवगण और लोमकूपमें महर्षिगण

हैं। भालमें तीर्थराज हैं, कानमें नन्दिनी और मनु हैं, सींगोंमें रुद्र और यम धर्मराज हैं, नासिकाके रंध्रोंमें गणेशजी और कार्तिकेय हैं तथा नेत्रोंमें चन्द्र-सूर्य हैं। गलेके ऊपर सरस्वती और आगेके धड़में नवग्रह हैं। ब्रह्माके निकट ही उदरमें अग्निदेव हैं, नवग्रहोंके नीचे भैरव और उन्हींके पास पेटके नीचे पृथ्वी देवी है। उनके ऊपर सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारदजी हैं। पुट्ठोंमें दशावतार और सप्तर्षि हैं। स्तनोंमें सुरभि माता और सप्तसागर हैं। मूत्र-स्थानमें सब सरिताओं-समेत गङ्गादेवी और मलस्थानमें लक्ष्मी देवी हैं। पुच्छमें शेषनाग और पैरोंमें हनूमानजी तथा मन्दराचल, द्रोणाचल आदि पर्वत हैं। इस प्रकार गोमाताका सब शरीर देवताओंका आश्रय स्थान है। गोमाताके जिस जिस अङ्गमें देवताओंका निवास कहा गया है, वे सब उन देवताओंके पीठ ही हैं।

गोमाताका शरीर एक दैवी पीठ कैसे है, इसपर कुछ विचार करना उचित होगा। हिन्दू लोग पत्थर, मिट्टी आदिकी पूजा नहीं करते, किन्तु दैवी पीठमें श्रीभगवान्‌की पूजा करते हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान् सर्वव्यापकरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि-लीलामें सर्वत्र विराजमान हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उनके प्रतिनिधिरूपसे सृष्टि-कर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थिति-कर्त्ता भगवान् विष्णु और प्रलयकर्त्ता भगवान् शिवजी अलग-अलग विराजमान रहते है। इसी प्रकार उनके अंश-रूपसे अपने-अपने ब्रह्माण्डमें अपने-अपने कार्य करनेके लिये अनेक देवदेवियाँ विद्यमान रहती हैं और वे यथायोग्य स्थानमें, यदि योग्य पीठ बने तो, वहीं आविर्भूत हो जाती हैं। इन सब दैवी कार्योंकी निष्पत्तिकेलिये ऋषिसंघ, देवसंघ, पितृसंघ, कर्मके नियन्ता और शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाले भगवान् यमधर्मराज, जगत्‌में ज्योति फैलाने-

वाले भगवान् सूर्यदेव आदि देवपदधारी नियुक्त हैं और जहाँ उनका पीठ बन जाता है, वहाँ वे आविर्भूत हो जाते हैं। इस सृष्टि-लीलामें दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं—एक आकर्षण शक्ति और दूसरी विकर्षण शक्ति। जहाँ दोनोंका समन्वय होता है, वहीं पीठ बन जाता है और उस पीठमें दैवीशक्तिका आविर्भाव होता है। ग्रह-नक्षत्रादि इन्हीं शक्तियोंके कारण अपनी-अपनी कक्षामें रहकर घूमा करते हैं। भौतिक परलोक-विज्ञानवेत्ता 'टेबल रेपिंग' 'सर्किल' जैसी क्रियाओंमें पीठका अनुभव करते हैं, तब देखते हैं कि, पीठमें जड़ पदार्थ भी चेतन पदार्थकी तरह कार्य करने लगता है। यह पीठ कहीं-कहीं स्वाभाविक भी बना रहता है। जैसे, शिवलिंग, शालग्राम, अपराजिता पुष्प, गोशरीर आदि। इनमें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं होती।

इस विज्ञानके अनुसार गोरक्षा करना हिन्दू मात्रका परम पवित्र धार्मिक कर्तव्य होना चाहिये। धार्मिक दृष्टिसे इस विषयको न भी देखा जाय, तो आर्थिक दृष्टिसे भी देशके लिये इसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। भारत कृषिप्रधान देश है और कृषिकी उन्नति गोजातिकी उन्नतिपर निर्भर है। युरोपका हालैण्ड देश केवल गोजातिकी उन्नतिसे ही वैभव सम्पन्न हुआ है। वहाँका दूध पृथ्वी-भरमें जाता है और उसके बदले विपुल धन उस देशमें पहुँचता है। भारतमें विशुद्ध दूधके दर्शन दुर्लभ हो जानेसे भारतीय जनता दुर्बल और बुद्धिहीन हो रही है। इस विपत्तिके निवारणका एकमात्र उपाय गोरक्षा है। इस मर्मको ध्यानमें रखकर श्रीजी समय-समयपर श्रीमहामण्डलके द्वारा आन्दोलन खड़ा किया करते और उसमें सफल भी हुआ करते थे। अयोध्या, मथुरा, काशी आदि तीर्थस्थानोंमें गोवध रोकनेके लिये सरकारसे प्रबल अनुरोध किया गया था। रतौने (मध्यप्रान्त) का कसाईखाना उठा देनेमें

श्रीजीका पुरुषार्थ ही कारण हुआ था। इसी तरह अन्यत्र भी कुछ सफलता हुई; परन्तु उस समय विदेशी सरकार होनेसे वह इस विषयमें उपेक्षा ही करती गयी। "अब राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हो जानेसे इस समय परमपावनी, सर्वदेवमयी, सर्वजीवहितकारिणी गोमाताकी रक्षाके सम्बन्धमें सर्वसाधारण जनता, समाजनेता और सरकारका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट होना चाहिये।" यही हिन्दुजातिसे श्रीजीने एक लेखके द्वारा विशेष अनुरोध किया है। श्रीजी अपने लेखमें आगे लिखते हैं :—यद्यपि भारतके सब प्रान्तोंमें गोरक्षाका न्यूनाधिक परिमाणमें प्रयत्न हो रहा है, तथापि गोरक्षाकी सब संस्थाएँ एकसूत्रमें संघटित-रूपसे आबद्ध नहीं हैं। यदि गोरक्षाक्षेत्रकी सब शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जायँ, तो एक महाशक्ति उत्पन्न होगी और उसके द्वारा गोरक्षाका कार्य सुगम हो जायगा। बम्बई, कलकत्ता, मथुरा, नागपुर, वाई (सातारा) आदि नगरोंकी गोरक्षिणीसभाएँ बहुत बड़ी हैं और उनके द्वारा यथाशक्ति कार्य भी हो रहा है, परन्तु वे केन्द्री-कृत न होनेसे एकके कार्यमें दूसरी संस्थाका सहयोग प्राप्त नहीं होता"।

अत: श्रीजी प्रस्ताव करते हैं कि,—"ऐसा एक गोरक्षा-केन्द्र काशीपुरीमें ही स्थापित किया जाय। क्योंकि यह पुरी चिरकालसे विद्याकेन्द्र और धर्मकेन्द्र रही आयी है तथा यहाँ इसके साधन भी उपलब्ध हैं। यहाँ "काशीजीवदयाविस्तारिणी गोशाला और पशुशाला" नामक एक संस्था है, जिसकी सन् १९३५ में रजिस्ट्री करायी गयी है। इसका प्रधान कार्यालय काशीकी मध्य बस्तीमें टाऊनहालके पास स्थित है। इसके दो शाखा कार्यालय भी हैं, १—'रामेश्वर गोशाला' पञ्चक्रोशीके मार्गमें और २—'बावन बीघा गोशाला' आजमगढ़ रोडपर। दोनों संस्थाएँ प्रधान संस्था-

की पोषक हैं। इनमें गायोंके लिये चारा उपजाया जाता और गायें पाली जाती हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमहामण्डल-मन्त्रिसभाने ता० २७-१०-४६ गुरुवारको जो मन्तव्य स्वीकृत किया है, वह इस प्रकार है :—"भारतकी स्वाधीनताकी शुभसन्धिमें गोजातिकी सेवा और रक्षाकी व्यवस्था होना परम आवश्यक है। अतः इस शुभ कार्यमें काशी जैसे धर्म और विद्या प्रधानकेन्द्रको ही अग्रसर होना चाहिये। अतः स्थानीय गोशालाकी उन्नति, श्री और शक्ति-की अभिवृद्धिके लिये उसके सभापति महोदयको उत्साहित किया जाय और इस संस्थाके द्वारा यथासम्भव सहायता की जाय। गोशालाके कार्योंकी रूप-रेखा इस प्रकार हो, तो अच्छा है:—

(क) काशीकी गोशाला गोरक्षाका प्रधान केन्द्र रहे और बाहरके केन्द्र इससे सम्बन्ध युक्त हों। इन केन्द्रों और प्रधानकेन्द्र-की ऐसी व्यवस्था रहे कि, दर्शकोंका चित्त आकृष्ट हो और इन केन्द्रोंसे सदस्योंको विशुद्ध दूध और मक्खन प्राप्त हो सके।

(ख) एक-दो अच्छे साँड पाले जायँ, जिनसे शुल्क लेकर गायें भराई जा सकें।

(ग) जो लोग गोसेवा करें या गायें पालें अथवा इस पुण्य-कार्यमें सहायता देना चाहें, उनसे मासिक सहायता ली जाय।

(घ) प्रधान कार्यालयमें एक रजिस्टर रहे, जिसमें हिन्दुस्थान भरकी गोशालाओं, पिंजरापोलों', जीवदयाविस्तारिणी सभाओं आदिके नाम, उनके कार्यकर्ताओंके नाम, गोओंकी संख्या, प्रबन्ध आदिका विवरण रहे। एक प्रकारसे यह गोरक्षाकी 'डाइरेक्टरी' होगी।

(ङ) चन्दादाताओंसे बछिया, बछवा और गायोंके लेने और देनेकी व्यवस्था रहे।

(च) नगरके बाहरकी गोशालाकी भूमिमें उत्तम जातिका चारा उपजाया जाय और गोशालाके सदस्योंको गोसेवाकेलिये सुगमतासे चारा मिलनेका प्रबन्ध रहे।

(छ) गोशालाकेन्द्रोंका कार्य ठीक तरहसे चल जानेपर श्रीमहामण्डल अपने व्ययसे गोरक्षा सम्बन्धी एक 'मासिकपत्र' प्रकाशित करेगा, जो प्रधान केन्द्रद्वारा सब केन्द्रोंमें पहुँचा करे, जिससे सब केन्द्रोंसे सम्बन्ध बना रहनेमें सहायता हो।

इस मन्तव्यकी नकल सभापति महाशयके पास भेजी गयी थी और उन्होंने श्रीमहामण्डलके सुझावोंको सहर्ष स्वीकार कर लिया था। गोरक्षाके प्रचारकार्यमें श्रीमहामण्डलके प्रचारक व्याख्याता बराबर सहायता करते रहे हैं। इसप्रकार गोरक्षाके लिये गोशालाओंके संघटनका कार्य श्रीजीने बड़े विचारके साथ आरम्भ किया था। अब उसको निबाहना और उन्नत करना गोप्रेमी सनातनधर्मी ही नहीं, अपितु हिन्दुमात्रका कर्तव्य है। श्रीजी यह बहुत ठीक ही कहा करते थे कि—"हम लोग गोरक्षाकी डींग तो बहुत हाँकते हैं, किन्तु हमसे वास्तविक गोसेवा बन नहीं पड़ती। विदेशोंमें—जहाँके लोग गोभक्षक हैं—गोरक्षाका एक शास्त्र बन गया है, जो सम्पत्तिशास्त्रका एक भाग है और उसमें जो पारङ्गत हो जाते हैं, वे गोपालनद्वारा अपने देशको समृद्ध करते हैं। वहाँकी गायें हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और ३०–४० सेर प्रतिदिन दूध देनेवाली होती हैं। उनकी तुलनामें भारतकी गोसम्पत्ति नहीं ठहर सकती। आस्ट्रेलिया और हालैण्डकी गायें देखने योग्य होती हैं। गोसुश्रूषाका वैज्ञानिक ढङ्ग भारतवासियोंको सीखना चाहिये और अपनी गोसम्पत्ति बढ़ानी चाहिये। गायोंकी बीमारीमें चिकित्साका भी प्रबन्ध होना चाहिये। हमारे ग्वाले जैसी चिकित्सा करते हैं, वह निर्दयतापूर्ण राक्षसी प्रणाली है। शिक्षित लोगोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये।

विदेशोंमें भैंसें सर्वत्र नहीं होतीं, गायोंके दूधपर ही वहाँके लोग पलते हैं। इस देशकी गोजातिकी दुर्बलता, दुर्दशा और अव्यवस्थाको देखकर दुःख होता है। यहाँकी पशुसम्पत्ति बहुत घट गयी है। इसकी वृद्धिका जनताकी तरह सरकारको भी प्रयत्न करना चाहिये और गोपालनमें जनताको सुविधा कर देनी चाहिये। यदि हम गोरक्षाका दम भरते हैं, तो इसका उदाहरण हमें स्वयं उपस्थित कर देना चाहिये, जिसका अनुकरण पृथ्वीके सब देश करने लगें। आज तो हमें ही उनसे बहुत कुछ सीखनेका प्रयोजन हो रहा है। गोजातिकी यदि ऐसी ही यहाँ अवनति होती गयी, तो स्वाधीनता प्राप्त करके भी भारतकी कभी उन्नति नहीं हो सकती। अतः हिन्दुओं! सावधान।"

श्रीमहामण्डलके प्रधानकार्यालयकी सुव्यवस्था हो जानेके उपरान्त श्रीजीने प्रान्तीय-मण्डलोंको प्रोत्साहित कर उनके द्वारा इस महासभाके उद्देश्योंकी पूर्त्ति करानेका प्रयत्न किया और तदनुसार प्रान्तीय मण्डलोंने बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। बंगालके राजा-महाराजा और जमींदारोंकी सबसे बड़ी और पुरानी सभा 'इण्डियन असोशियन'के भवनमें वङ्गधर्ममण्डलकी श्रीमान् महाराजा सर यतीन्द्रमोहन ठाकुर बहादुर के० सी० एस्० आई०, श्रीमान् राजा प्यारीमोहन मुखोपाध्याय बहादुर एम० ए०, बी० एल०, सी० एस्० आई०, श्री पं० माधवप्रसाद मिश्रजी, बा० नरेन्द्रनाथ सेन सम्पादक 'इण्डियन मिरर, बा० योगेन्द्रनाथ बसु मालिक 'बंगवासी,' बा० मोतीलाल घोष सम्पादक 'अमृतबाजार पत्रिका, पं० पंचाननतर्करत्न, डा० रसिकलाल चक्रवर्ती, श्री० सेठ दुल्लीचन्द आदि प्रतिष्ठित महानुभावोंकी सहायतासे स्थापना हुई थी और इसका कार्यक्षेत्र बङ्गाल, उड़ीसा और आसाम इन तीन प्रान्तोंमें सीमित किया गया था। इसके सभापति थे, पुरी-गोवर्द्धनमठके श्रीशङ्कराचार्य-

महाराज और प्रधानाध्यक्ष थे, राजा प्यारीमोहन मुखोपाध्याय बहादुर। इस मण्डलके प्रयत्नसे पुरी और त्रिवेणी तीर्थमें एक संस्कृतपाठशाला खोली गयी। बंगालके हुगली जिलेकी यह त्रिवेणी तीर्थ संस्कृतविद्योन्नतिका प्राचीन स्थान है। नदियामें नवद्वीप धर्ममण्डली और जगन्नाथपुरीमें श्रीउत्कलधर्ममण्डली स्थापित हुई। बङ्गालके अनेक नगरों और ग्रामोंमें जो अनेक हरिसभाएँ थीं, उनमेंसे ४८ हरिसभाएँ इस मण्डलके साथ सम्बन्ध-युक्त की गयीं। आसामके लिये एक स्वतन्त्र धर्ममण्डली स्थापित की गयी। यद्यपि इस मण्डलको श्रीमहामण्डलसे आर्थिक सहायता दी जाती थी, तथापि अब उसे स्वतन्त्र सहायता भी मिलने लगी। प्रारम्भिक सहायता दाता थे, श्रीमान् महाराजा बहादुर मोरभंज, श्रीमान् राजासाहब ताहिरपुर, श्रीमान् राजा प्यारीमोहन मुखोपाध्याय बहादुर, इत्यादि। इन्होंने वार्षिक और मासिक आर्थिक सहायता देना आरम्भकर दिया था, जिससे मण्डलका कार्य सुचारुरूपसे चलने लगा। इस प्रान्तीय मण्डलके लिये बङ्गभाषाका 'धर्मप्रचारक' नामक मासिक पत्र भी निकलने लगा।

बंगालके सुप्रसिद्ध दानवीर श्रीमान् पण्डित भूदेव मुखोपाध्याय महाशय इस लोकको त्यागते समय केवल रहनेकेलिये एक मकान अपने पुत्रोंको देकर शेष दो ढाई लाख रुपयोंकी सम्पत्तिका 'श्रीविश्वनाथ ट्रस्ट' नामक एक ट्रस्ट, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, कन्नौज और काशीमें संस्कृतविद्याकी उन्नतिके उद्देश्यसे स्थापित कर गये हैं। इस ट्रस्टकी आयसे ट्रस्टियों द्वारा यह कार्य हो रहा है। उक्त दानवीरके सुयोग्य पुत्र बिहारके डिप्टीमजिस्ट्रेट श्रीमुकुन्ददेव मुखोपाध्याय एम० ए० महाशय भी अपने पूज्य पितृदेवकी तरह धर्मात्मा होनेसे उन्होंने श्रीमहामण्डलसे सम्बन्ध

स्थापन कर कुछ एक कालिक आर्थिक सहायता प्रदान की श्रीजनक-धर्ममण्डलके प्रतिनिधि होना स्वीकार किया और ट्रस्टको श्रीमहामण्डलकी पोषकसभाके रूपमें परिणत कर दिया। उनकी कन्नौज पाठशालाका प्रबन्ध श्रीमहामण्डलद्वारा ही हुआ करता था। बंगालमें जो अनेक धर्मालय और अन्नक्षेत्र हैं, उनसे सम्बन्ध स्थापन किया गया और उनका संस्कार कर ऐसी व्यवस्था की गयी, जिससे उनके द्वारा संस्कृतविद्याकी उन्नतिमें सहायता हो सके। जैसोरके रायबहादुर बा० यदुनाथ मजूमदारका ब्रह्मचर्याश्रम और धर्मसभा, बा० रामदयालमजूमदार द्वारा एम० ए० ब्रह्मचर्याश्रम और धर्मसभा तथा बा० विश्वेश्वरचक्रवर्तीजीकी धर्मसभाको भी सम्बन्ध युक्त कर लिया गया है।

श्रीजनकधर्ममण्डल, जो श्रीमान् मिथिलाधिपति महोदयकी सहायतासे उन्हींके राजभवनमें स्थापित हुआ था, उसके लिये श्रीमहाराजाधिराजने बीसहजार रुपये एक कालिकदानके रूपमें प्रदानकर १००) मासिकका दानपत्र लिख दिया था और उस प्रान्तके अन्य राजाओंसे भी दानपत्र लिखवा देनेका अभिवचन दिया था। तदनुसार रायबहादुर गंगाप्रसादसिंहजी, श्रीमहन्तस्वामी कृष्ण-दयालजी महाराज बुद्धगया, जो मण्डलके सभापति भी हैं, श्रीमहाराजा सर रावणेश्वरसिंह बहादुर के० सी० आई० ई०, श्रीमुकुन्ददेव मुखोपाध्याय डिप्टीमजिस्ट्रेट, राजा पद्मानन्दसिंहजी बनैली, महाराजा सर हरवल्लभनारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० सोनबरसा, महाराजा रामनारायणसिंहजी रामगढ़, राजा शारदानारायणसिंहजी श्रीरामपुर, महाराजप्रताप उदयनाथसिंहदेवजी रांची, राजा-युगराजसिंहजी रांची, राजा भूपेन्द्र बहादुरसिंहजी विजयपुर आदिने दानपत्र लिख भी दिये थे। इस मण्डलके कार्यक्षेत्रका विस्तार भागलपुर डिविजनके ५ जिलों, पटना डिविजनके ७ जिलों, छोटा

नागपुरके तीन जिलों और गढ़ जातमहल, मिरजापुर, गाजीपुर तथा बलिया जिले तक था। मिथिला भारतके प्राचीन विद्यापीठोंमें से एक है। मिथिलाधिपति मैथिल ब्राह्मणसमाजके सर्वमान्य नेता होनेसे उनके थोड़े ही प्रयत्नसे इस मण्डलके द्वारा ब्राह्मणधर्मकी उन्नति और संस्कृतविद्याका पुनः प्रचार हो सकता है। श्रीनरेशने दरभंगामें एक संस्कृत महाविद्यालय और एक संगीतपाठशाला भी स्थापित थी और धार्मिकवर बा० लंगटसिंह तथा बा० रघुनन्दनप्रसादसिंहजीके उद्योगसे एक ब्रह्मचर्याश्रम भी स्थापित किया गया था। श्रीमहा-मण्डलके धर्मोपदेशकोंके बार बार धर्मप्रचारसे पुरानी धर्मसभाओंके संस्कारके साथ ही साथ इस प्रान्तमें कितनी ही नयी शाखा सभाएँ स्थापित हुई। इन धर्मकार्योंके सम्पादन तथा लोकसंग्रह और भी महा मण्डलके उद्देश्योंके प्रचारकेलिये प्रधानाध्यक्ष बा० तुलापतिसिंहजी जैसे कर्मण्य महापुरुष लगनके साथ उद्योग करनेमें श्रीजीकी प्रेरणासे ही समर्थ हो सके थे।

राजपूताना, मालवा, मध्यभारत और निकटवर्तीप्रान्तोंमें धर्म-कार्य करनेके लिये एक स्वतन्त्रमण्डलकी स्थापना की गयी थी। इसीके अन्तर्गत उज्जैन, मेवाड़, शेखावाटी आदि स्थानोंमें धर्ममण्डलियाँ स्थापित हुई थीं, जो इसीकी शाखासभायें हैं। इसके सभापति श्रीनाथ-द्वाराके श्रीगोस्वामी गोवर्द्धन लालजी महाराज और प्रधानाध्यक्ष खरवाके ठाकुरसाहब रावगोपालसिंह बहादुर थे। प्रतिनिधियोंमें श्रीगोस्वामी बालकृष्णलालजी महाराज, काँकरोली, राजाअक्षय्य-सिंह बहादुर, बनेड़ा, रावत शिवनाथसिंहजी, आमेट, रावबहादुर बा० श्यामसुन्दर लालजी सी० आई० ई, दीवान किशनगढ़, राय-बहादुरचौबे रघुनाथदासजी, दीवान कोटा, ठाकुरउमरावसिंहजी, प्रधानमेम्बर कौंसिलजयपुर, महाराज बलभद्रसिंहजी, झालरापाटन, रावबहादुर दुर्जनसिंहजी, अलवर, ठाकुर साहब जीवराजसिंहजी,

बीकानेर, कुँवरध्यानपालसिंहजी, करौली, सरदाररामराव कृष्ण-जटार, गवालियर, सिंधीबच्छराजजी, उदयपुर, आदि महानुभाव थे और व्यवस्थापकोंमें श्रीपं०मतिलाल भट्टाचार्यजी एम० ए०, उदयपुर, पं० नारायणशास्त्री, उदयपुर, पं० रामप्रतापशास्त्री, उदय-पुर, पं० पुरुषोत्तमशास्त्री राजपौराणिक, गवालियर, लक्ष्मीनाथ शास्त्री, जयपुर, पं० बुलाकीरामशास्त्री, अजमेर आदि विद्वान् चुने गये थे। इस प्रान्तीय मण्डलका अपना भवन न होनेसे इसका कार्यालय अजमेरकी शाखासभाके स्थानमें ही रक्खा गया था। इस कार्यालयके अधीन वृत्ति लेकर तथा अवैतनिकरूपसे अनेक धर्मो-पदेशक कार्य करते रहे, जिससे इस प्रान्तकी शाखासभाओंकी उन्नति हो सकी और यहाँके कई स्वाधीन नरपति श्रीमहामण्डलके संरक्षक बन गये। श्रीदरबार ओरछाकी सहानुभूति प्राप्त करनेमें इसी प्रान्तीयमण्डलसे सहायता मिली थी। श्रीनरेश सैलाना और किशनगढ़के दीवान साहबके प्रयत्नसे इम्पीरियल कैडेटकोर और राजकुमारकालेजोंमें धर्मशिक्षाका प्रबन्ध हो सका तथा श्रीमहा-मण्डलके एक धर्मोपदेशक महाशय 'मेयोकालेज, अजमेर' में धर्म-शिक्षाके लिये नियुक्त किये गये। श्रीमहामण्डल द्वारा प्रकाशित धर्मशिक्षा सम्बन्धी पुस्तकोंका भी इस प्रान्तमें अच्छा प्रचार हुआ। जयपुरकी वेधशालाका संस्कार करानेका श्रीदरबारसे अनुरोध किया गया और तदनुसार वह कार्य भी कुछ अग्रसर हुआ था। अलवरके मुंशी जगमोहनलालजी तो बङ्गधर्ममण्डलकी स्थापनाके समयसे ही श्रीमहामण्डलके धर्मकार्यमें संलग्न थे। इस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा धार्मिकशिक्षा विस्तार और संस्कृतविद्याप्रचारके कार्यमें विशेष सहायता मिली।

मनुसंहितामें लिखा है कि, सरस्वतीनदी (कुरुक्षेत्र) से लेकर पूर्वमें गण्डकीनदी (सोनपुर) तक जो प्रदेश है, उसको ब्रह्मावर्त

कहते हैं। धर्मकार्यका विस्तार करनेकेलिये पूर्वमें वङ्गधर्ममण्डल-और जनकधर्ममण्डल तथा पश्चिममें पञ्जाबधर्ममण्डलकी स्थापना होनेपर यह सोचा गया कि, विहारसे लेकर पञ्जाबतकके बीचका जो एक बहुत बड़ा प्रान्त (ब्रह्मावर्त) है, उसके लिये एक स्वतन्त्र धर्ममण्डल स्थापित होना चाहिये। मथुरापुरीमें जबतक श्रीमहा-मण्डलका प्रधानकार्यालय था, तबतक उसीके द्वारा इस प्रान्तका धर्मकार्य होता रहा; परन्तु जब प्रधानकार्यालय काशी चला आया, तब इस प्रान्तके स्वतन्त्र मण्डलकी विशेष आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः मथुरामें ही प्रान्तीयमण्डल खोला गया और उसका नाम 'ब्रह्मावर्तधर्ममण्डल' रक्खा गया। आगे चलकर सुभीता देखकर इस मण्डलका कार्यालय कानपुर लाया गया; क्योंकि ब्रह्मावर्त (बिठूर) नामक स्थान गङ्गातटपर कानपुर जिलेमें ही है। वहाँ कार्यालयके आजानेपर सुप्रसिद्ध धार्मिक, विद्याप्रेमी और सम्पन्न रईस तथा वकील धर्मालंकार रायबहादुर एम० बी० ई० बा० विक्रमाजितसिंह महोदय जैसे सत्पुरुषोंके सहयोगसे उसकी बहुत उन्नति हुई। इस मण्डलके सभापति श्रीमहाराजाबहादुर अयोध्या, उपसभापति श्रीगोस्वामी देवकीनन्दनाचार्य महाराज और सहकारी सभापति श्रीगोस्वामीमधुसूदनलालजी महाराज निर्वाचित हुए। प्रतिनिधियोंमें श्रीजोशीबाबा माधवलालजी रईस मथुरा, बा० राधा-कृष्णदासजी काशी, कुँवर लक्ष्मीनारायणजी दुबे अलीगढ़, रायबहा-दुर बा० दुर्गाप्रसादजी जसवन्तनगर, सेठललिताप्रसादजी पीलीभीत, पं० हरिशरणरतूडीजी टेहरी, आनरेबल पं० मदनमोहन मालवीय जी प्रयाग, बा० सोमनाथ भादुडीजी काशी, रायबहादुर पं० महा-राजनारायण शिवपुरीजी काशी, बा० मोक्षदादासमित्र काशी, राजा-बलवन्तसिंह बहादुरजी, सी० आई० ई० आवागढ़, आनरेबल मुंशीराजा माधवलालजी काशी, बा० उपेन्द्रनाथ बसु आदि महानु-

भाव तथा व्यवस्थापकोंमें काशीके महामहोपाध्याय पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि, महामहोपाध्याय पं० गंगाधरशास्त्री तैलंग सी० आई० ई०, महामहोपाध्याय पं० सुब्रह्मण्यशास्त्री अग्निहोत्री, महामहोपाध्याय राखालदास न्यायरत्न, महामहोपाध्याय शिवकुमारशास्त्री, महामहोपाध्याय दामोदरशास्त्री, महामहोपाध्याय सुधाकरद्विवेदीजी, महामहोपाध्याय तात्याशास्त्री पटवर्द्धन, महामहोपाध्याय आदित्यरामभट्टाचार्य एम० ए०, पं० गोविन्दरामशास्त्री बरेली, पं० गणेशदत्त शास्त्री कन्नौज, पं० ज्वालाप्रसादमिश्र मुरादाबाद, पं० दुर्गादत्तपन्त काशीपुर, पं० रामावतार पाण्डेय एम० ए० आदि देशविख्यात विद्वान् पण्डित सम्मिलित हुए थे।

इस प्रान्तीय मण्डलके प्रयत्नसे श्रीदरबार फरीदकोटने कुरुक्षेत्रमें एक संस्कृतविद्यालय स्थापित किया और उसके व्ययके लिये १००) मासिक देना स्वीकार किया। विद्यालय लक्षाधिक मूल्यके एक समाधिमन्दिरमें स्थापित हुआ, जो सरस्वती नदीके अतिरम्य स्थानमें स्थित है। इसी तरह वृन्दावनमें भी एक संस्कृत महाविद्यालयकी नींव डाली गयी, जिसके व्ययके लिये तडासके जमींदार रायबहादुर बनमालीराय महाशयने पच्चीस सौ रुपयोंकी वार्षिक सहायता देना स्वीकारकर विद्यालयके लिये एक भवन बनवा देनेका अभिवचन दिया था। इस विद्याप्रचारके कार्यमें स्थानीय श्रीरङ्गदेव संस्थानके ट्रस्टियोंने चौबीस सौ रुपया वार्षिक और बरांवके रईस रायबहादुर महावीरप्रसादनारायणसिंह महाशयने छः सौ रुपया वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया था। इस महाविद्यालयके व्ययके लिये एक सहस्ररुपया मासिक आयकी आवश्यकता थी, वह धर्मप्रचारकोंकी परिश्रमसे पूर्ण हो गयी और विद्यालय अच्छी तरह चल रहा है। इस प्रान्तीय कार्यालयसे एक अध्यापकी वृत्ति नियमितरूपसे दी जाती थी।

इस प्रान्तीयमण्डलके प्राणस्वरूप स्वर्गीय रायबहादुर धर्मालङ्कार विक्रमाजित सिंहजी और श्रीमहामण्डलके भारत प्रसिद्ध वक्ता, और लेखक श्रीजीके सुयोग्य शिष्य ब्रह्मीभूत श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजके दीर्घ उद्योगसे कानपुरमें गंगातटपर 'सनातनधर्मकालेज' खोला गया। यह कमर्शियल कालेज है। इसमें आर्ट और सायन्सके अतिरिक्त कामर्सकी विशेषरूपसे शिक्षा दी जाती है। भारतमें यह अपने ढंगका एक ही कालेज है और इसकी स्थापना तथा सञ्चालनमें १०-१५ लाख रुपयोंसे अधिक ही व्यय हुआ है। उक्त संस्थाओंके अतिरिक्त प्रत्येक जिले और नगरमें शाखासभाएँ खोली गयीं। धर्मालयों और देवालयोंका संस्कार कर उनकी सुव्यवस्था की गयी और धर्मोपदेशोंके द्वारा बराबर प्रचारकार्य होता रहा। इसमें सन्देह नहीं कि, इस प्रान्तीयमण्डलके द्वारा धार्मिक शिक्षाविस्तार और संस्कृतविद्याप्रचारका जितना कार्य हुआ है, उतना अब तक किसी मण्डलके द्वारा नहीं हो सका है। यह सब कर्मयोगियोंमें श्रेष्ठ आदर्शस्वरूप श्रीजी महाराजके ही सत्पुरुषार्थकी महिमा है।

काशीमें प्रधानकार्यालय तथा बंगाल, बिहार, मिथिला, ब्रह्मावर्त और राजस्थानमें प्रान्तीयमण्डल स्थापित होकर उनका कार्य ठीक तरहसे चल जानेपर श्रीजीने श्रीमहामण्डलका एक डेपुटेशन सन् १९०५में पञ्जाबधर्ममण्डल स्थापन करनेके उद्देश्यसे लाहौर भेजा, जिसमें रायबरदाकान्त लाहिड़ी बहादुर, पं० माधवप्रसादमिश्र, महामहोपदेशक पं० नन्दकिशोरदेवशर्मा, महोपदेशक पं० गणेशदत्त वाजपेयी आदि सम्मिलित हुए थे। लाहोरके सनातनधर्मके नेताओंने डेपुटेशनका अच्छा स्वागत किया। श्रीमान् महाराजा बहादुर पुंछ, आनरेबल रायबहादुर अतुलचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०, बी० एल, सी० आई० ई० और

रायबहादुर हरिश्चन्द्रजीके नेतृत्वमें कई सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जिनमें पञ्जाबधर्ममण्डलकी स्थापनाका प्रस्ताव स्वीकृत होकर निम्नलिखित प्रतिनिधि निर्वाचित हुए :—श्रीमहामण्डलके संरक्षक हिज हाईनेस महाराजा सर प्रतापसिंह बहादुर जी० सी० एस० आई० जम्बू-काश्मीराधिपति (सभापति), श्रीमान् राजा सर जनरल अमरसिंह बहादुरके० सी० एस० आई० काश्मीर (उप-सभापति), आनरेबल सर बाबाखेमसिंहजी बेदी के० सी० एस० आई० रावलपिण्डी (सहकारी सभापति), पं० दीनदयालुशर्मा व्याख्यानवाचस्पति झंझर, आनरेल रायबहादुर प्रतुलचन्द्र चट्टोपाध्याय लाहोर, रायबरदाकान्त लाहिड़ी बहादुर लाहोर, पं० माधवप्रसादमिश्र भिवानी, रायबहादुर हरिश्चन्द्रजी कपूरथला, कुंवरबालकृष्णकौल एल० एम० एस० लाहोर, लालामनोहरलालजी फीरोजपुर, रायरामशरणदासजी रईस लाहोर, राजा पं० दयाकृष्ण कौल दीवान काश्मीर, मेजर राजा जयचन्द्र बहादुर लम्बागाँव, लालाजीवनमलकक्कड़ पेशावर, रायबहादुर गागरमलजी अमृतसर, रायबहादुर सरदार बूटासिंहजी रईस रावलपिण्डी, इत्यादि। धर्मव्यवस्थापक मण्डलीमें महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शास्त्रीजी लाहोर, महामहोपदेशक पं० श्रीकृष्णशास्त्रीजी राजपण्डित पटियाला, महोपदेशक पं० मोहनलाल शास्त्रीजी जगाधरी, पंजाब-रत्न महोपदेशक पं० श्यामलाल शास्त्रीजी अमृतसर, महोपदेशक पं० गणेशदत्त शास्त्रीजी लाहोर, पं० व्रजभूषणशास्त्रीजी जालन्धर आदि विद्वान् चुने गये।

पञ्जाबधर्ममण्डल कार्यालयकेलिये लाहोरके धर्मोत्साही रईस भाई मनोहरलालजी महाशयने एक अति उत्तम स्थानमें स्थित अपने विशाल देवमन्दिरमें स्थायीरूपसे स्थान दे दिया। डेपुटेशनको श्रीनगर (काश्मीर)के रायबहादुर भवानीदासजी, मुलतानके

रायबहादुर हरिश्चन्द्रजी, लाहोरके राय रामशरणदासजी, रईस, बा० सूर्यभानुजी, पं० गोपीनाथशर्मा, लालानृसिंहदासजी, होशियारपुरके लाला ठाकुरदासजी आदि महाशयोंने विशेषरूपसे सहायता दी, जिससे पञ्जाबकी तत्कालीन राजधानी लाहोरमें प्रान्तीयमण्डल स्थापित हो सका। श्रीमान् रायरामशरणदासजीने अपनी स्वाभाविक उदार बुद्धिसे श्रीमहामण्डलके डेपुटेशनके आतिथ्यका भार स्वयं ग्रहण किया था। बङ्गमण्डलके लिये बंगलाभाषामें 'धर्मप्रचारक' और हिन्दीभाषाभाषी प्रान्तोंके लिये हिन्दीमें 'निगमागमचन्द्रिका' नामक मुखपत्र पहलेसे ही निकल रहा था; परन्तु उस समय पंजाबमें हिन्दी प्रचलित नहीं हुई थी। आर्यसमाजके उद्योगसे स्त्रियोंमें कुछ हिन्दीका प्रचार हो गया था; परन्तु पुरुष उर्दूकाही प्रयोग करते थे और हिन्दीसे अनभिज्ञ थे। अतः पंजाबकेलिये एक उर्दू मासिकपत्र निकालनेकी सोची गयी और तदनुसार श्रीमहामण्डल कार्यालयसे 'महामण्डल समाचार' नामक उर्दू मासिकपत्र नियमितरूपसे प्रकाशित होने लगा। मण्डलके प्रबन्धकेलिये एक स्वतन्त्र प्रबन्ध-कमेटी गठित की गयी और धर्मप्रचार तथा सदस्योंकी संख्यावृद्धि करनेकेलिये तीन वैतनिक धर्मोपदेशक नियुक्त किये गये। मण्डलके प्रधानाध्यक्ष और अध्यक्षके पदोंको श्रीदीवान हरिश्चन्द्रजी और श्रीरायरामशरण-दासजी साहबने अलंकृत किया और उक्त महानुभावोंकी देखरेखमें यह मण्डल दिन प्रतिदिन उन्नति ही करता गया।

इस मण्डलके सभी कार्यकर्ता धार्मिकशिक्षाके पक्षपाती होनेके कारण बालक-बालिकाओंकी शिक्षाके लिये काशीके सेंट्रल हिन्दू-कालेजमें धर्मशिक्षाके उद्देश्यसे डाक्टर एनीबेसेण्टने जो पुस्तकें तैयार करायी थीं, उन्हींका उपयोग किया करते थे; क्योंकि तबतक महामण्डलने अपनी धर्मशिक्षाकी पुस्तकें प्रकाशित नहीं की थीं।

डा० एनीबेसेण्टके द्वारा निर्मित हुई पुस्तकोंमें कुछ बातें ऐसी पायी गयीं, जो सनातनधर्म, वर्णाश्रम और सदाचारके विरुद्ध थीं। वे श्रीमहामण्डलके डेपुटेशनके सदस्योंको दिखाई गयीं, उनपर बहुत कुछ चर्चा हुई और निश्चित हुआ कि, ऐसा उद्योग श्रीमहामण्डल प्रधानकार्यालयकी ओरसे किया जाय, जिससे उक्त पुस्तकोंमेंसे वह आक्षेपजनक अंश निकाल दिया जा सके। यह विषय श्रीजीके सम्मुख उपस्थित किया गया, तब श्रीजीने तुरन्त श्री० रायरायान् वरदाकान्त लाहिडीजीको डा० एनीबेसेण्टके पास भेजा और उन्होंने श्रीमतीजीको सब विषय समझा दिया। श्रीमतीजीने रायबहादुर साहबसे शिष्टताका व्यवहार किया और उनसे सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा :—'जिस समय टेक्स्टबुक (पाठ्य पुस्तकें) बनायी जा रही थीं, तब मैंने कमेटीके पण्डितोंपर उनके निरीक्षणका काम सौंपा था। उन्होंने इनपर कोई आपत्ति नहीं की। अब यदि सनातनधर्मावलम्बियोंको उनमेंसे कोई अंश आपत्तिजनक प्रतीत हो रहा है, तो श्रीमहामण्डलको उचित है कि, वह विस्तृत ब्योरेके साथ सब विषय लिखकर सेंट्रल हिन्दुकालेजकी कमेटीके पास भेज दे। कमेटी उसका प्रबन्ध करेगी और निकाल देने योग्य अंश उनमेंसे निकाल दिया जायगा। ये पुस्तकें वेद या श्रुति नहीं हैं, जो बदली न जा सकें। इनके निर्माणके समय भी हमारी यही नीति रही कि, यदि इनमें कोई आपत्ति जनक विषय हो, तो वह निकाल दिया जाय। राय रायान्जीसे ये सब बातें विदित होनेपर श्रीजीने डा० एनीबेसेण्टके पास, उनकी निरपेक्ष उदार दृष्टिके लिये, धन्यवादका पत्र भिजवाया और कार्यालयके द्वारा उक्त पुस्तकोंमेंसे आपत्तिजनक अंशका विस्तृत विवरण कालेज कमेटीके पास भेज दिया। परिणामतः कमेटीने वह अंश पुस्तकोंमेंसे निकाल दिया। इसी अंशके कारण भारतमें हिन्दुकालेजकी

निन्दा हो रही थी और दुर्नाम फैल रहा था। पंजाब मण्डलने इस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्नकर सफलता प्राप्त की और हिन्दु-कालेजपर लगा हुआ धब्बा अच्छी तरह धो डाला।

इस मण्डलके द्वारा महत्त्वके अनेक कार्य बन आये, जिनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं:—१—धर्मोपदेशकोंका यथासम्भव ऐसा प्रबन्ध किया गया कि, आवश्यकता होनेपर शाखा सभाओं और संबन्ध-युक्त सभाओंको या संस्थाओंको उनसे सहायता प्राप्त हो सके। २—लाहोरके ओरिएण्टल कालेजमें प्रयत्नपूर्वक मीमांसा तथा कर्म-काण्डकी एक कक्षा खुलवायी गयी। इस शास्त्रका अब लोप हो रहा था। संस्कृत-विद्याभिलाषी लोगोंका इस ओर ध्यान नहीं था इस कक्षाद्वारा लोगोंकी मीमांसाके अध्ययन तथा कर्मकाण्डके अनुसरणकी ओर प्रवृत्ति हो सकी। ३—राजन्यवर्गको उस समय अंग्रेज अभिभावक अपने पाश्चात्य ढाँचेमें ढाल लिया करते थे, जिससे उनमें अपने धर्म, समाज, कुलाचार आदि आदिमें आस्था उत्पन्न ही नहीं होती थी। राजाके धर्मविमुख होनेसे प्रजा भी नास्तिक और उलटी सूझवाली हो रही थी। राजन्य वर्गको भावी पीढ़ीमें यह दोष न रहे, इसके लिये लाहोरके चीफस कालेजमें धर्मशिक्षाका एक वर्ग (क्लास) खुलवा दिया गया। ४—पंजाबमें एक संस्कृत महाविद्यालयकी बहुत आवश्यकता थी। भारतीय-संस्कृति, सभ्यता, सदाचार, रीति-नीति, विद्या-कला आदिकी सामग्री संस्कृतभाषामें ही पायी जाती है। अतः इस देशकी उन्नतिके लिये संस्कृतका प्रचार होना अत्यन्त आवश्यक होनेसे संस्कृत-महाविद्यालयकी स्थापनाका उद्योग किया गया। उसीके साथ एक हिन्दूछात्रालय खोलनेकी योजना भी प्रस्तुत की गयी। दोनों कार्य कार्यरूपमें परिणत होकर उन्नति की। ५—देशी और प्रान्तीय भाषामें छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तकें निर्माणकर उनके प्रकाशन

और प्रचारकी व्यवस्था की गयी। ६—लाहोरके सुप्रसिद्ध सनातन-धर्म कालेजकी स्थापनामें भी मण्डलके सञ्चालकोंका बहुत कुछ हाथ रहा है। उन्हींके विशेष प्रयत्न और सहायतासे यह कालेज स्थापित हुआ और समयपर पुष्पित तथा फलित हुआ। इसकी स्थापना और उत्कर्षका श्रेय पञ्जाबधर्ममण्डलको ही है। ७—हरद्वारतीर्थसे पञ्जाबका बड़ा सम्बन्ध है। उस प्रान्तमें इसके अतिरिक्त दूसरा तीर्थ है भी नहीं। उसकी उन्नति और सुव्यवस्थाके लिये श्रीरायबहादुर हरिश्चन्द्रजी, श्रीरायबहादुर भवानीदासजी, श्रीदीवान हरिश्चन्द्रजी आदि धार्मिक सज्जनोंने वहाँ 'हरद्वार उन्नति-कारिणी सभा' नामक संस्था इस प्रान्तीयमण्डलके तत्त्वावधानमें ही स्थापित की, जिसके द्वारा एक औषधालय, एक पुस्तकालय और एक ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित किया गया। तीनों संस्थाओं द्वारा अच्छा कार्य हुआ। और इनसे यात्रियों तथा विद्यार्थियोंको बहुत सुविधा हो गयी उस समय हरद्वारके धर्मकार्योंके सम्पादनार्थ अढ़ाई सौ रुपया माहवार और एक सहस्र रुपया एक कालिक सहायतामें प्राप्त हो चुका था। श्रीलाला गोपालदासजीने ही उदारतापूर्वक सौ रुपया मासिक सहायताकी प्रतिज्ञा कर ली थी और उसका पालन भी वे अविच्छिन्नरूपसे करते जाते थे। ८—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आनन्द तथा उत्साहजनक और अनुकरण करने योग्य इस मण्डलके द्वारा यह कार्य हुआ है कि, श्रीमान् रायबहादुर लालारामशरणदासजीने जब इस प्रान्तीयमण्डलके कार्यालयकी प्रतिष्ठा की, तब उसी यज्ञमण्डपमें अपनी मित्रमण्डली-के साथ सङ्कल्पपूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि, हम श्रीमहामण्डलकी उन्नतिके लिये नियमपूर्वक आजीवन प्रयत्न करते रहेंगे। श्रीराय-बहादुरके इसी उदाहरणका अनुसरण करते हुए श्रीरायबहादुर हरिश्चन्द्रजी, श्रीलालानानकचन्दजी, श्रीभाई मनोहरलालजी,

श्रीरायरायान वरदाकान्त लाहिड़ीजी, श्रीलालानरसिंहदासजी, श्रीरायबहादुर गोपालदासजी, श्रीबाबानारायणसिंहजी, होशियारपुरके श्रीठाकुरदासजी, श्री पं० भानुदत्त शास्त्रीजी आदि महानुभावोंने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की। श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधिरूपसे श्री पं० माधव प्रसाद मिश्रजी और महोपदेशक श्री पं० गणेशदत्तशास्त्रीजी ने संकल्प और प्रतिज्ञा उक्त सज्जनोंसे कराई थी। श्रीमहामण्डलके धर्मकार्योंमें स्थायी रीतिसे सफलता प्राप्त होनेका यह उत्तम मार्ग सिद्ध हुआ। क्योंकि सार्वजनिक संस्थाओंके चलानेकेलिये किसी प्रकार रुपया तो जुट जाता है, किन्तु सच्चे हृदय और लगनसे कार्यकर्ता नहीं मिलते। इस पवित्र प्रणालीसे कार्यकर्ताओंका अभाव नहीं रहता है। अन्यान्य प्रान्तीय मण्डलोंके उत्साही सदस्य और कार्यकर्ता यदि इसी प्रणालीका अनुकरण करें, तो इस विराट् संस्थाके कार्योंकी उन्नतिमें कोई अड़चन रह नहीं सकेगी।

इसके अतिरिक्त ९—इस मण्डलकेद्वारा उस प्रान्तके अनेक देवालयों, धर्मालयों और विद्यालयोंका संस्कार कराया गया है, शाखासभाओं और सदस्योंकी वृद्धि की गयी और कई स्थानोंमें नयी धर्मसंस्थाएँ खोली गयीं।

इसीप्रकार सिन्ध, बलूचिस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसोर, ट्रावनकोर, मद्रास और मध्यप्रान्तमें भी प्रान्तीयमण्डल प्रस्थापित करनेका आयोजन किया गया। श्रीमहामण्डल और प्रान्तीय मण्डलोंका सुकौशलपूर्ण ढंगपर ऐसा सम्बन्ध रक्खा गया कि, वे भी महामण्डलके साथ एक सूत्रमें आबद्ध रहें और अपने अपने क्षेत्रमें धर्मकार्य करनेकेलिये स्वतन्त्र भी रहें। प्रान्तीय कार्यालयोंको पूर्ण स्वाधीनता दी गयी कि, देश-काल-पात्रानुसार अपने प्रान्तमें पुरुषार्थ करते रहें। श्रीमहामण्डलके सामने विद्याप्रचार, धर्मालय संस्कार, ग्रन्थनिर्माण, शास्त्रप्रकाशन आदिके इतने अधिक

काम आ पड़े कि, प्रान्तीय मण्डलोंकी सुव्यवस्थाका भार उन्हीं प्रान्तोंके धार्मिक कर्मवीरोंके हाथमें सौंपना उसने उचित समझा। प्रत्येक प्रान्तके प्रतिनिधियों, सहायकों और साधारण सदस्योंसे जो मासिक या वार्षिक आय होती थी, वह श्रीमहामण्डलके प्रधान-कार्यालयमें जमा होती थी और श्रीमहामण्डल उसे यथाविभाग प्रान्तीय मण्डलोंको खर्चके लिये बाँट देता था। श्रीमहामण्डलके प्रधानकार्यालयका खर्च राजाओंके स्थायी दानपत्रों और स्थायी कोषकी आयसे चलाया जाता था। प्रान्तीय मण्डलोंकी आयमें-से कुछ नहीं लिया जाता था; परन्तु श्रीजीने दूरदर्शितासे ऐसा नियम बनाया कि, प्रान्तीय मण्डल अपनी आय सीधी वसूलकर अपने नियोजित धर्मकार्यमें लगाया करें। इससे श्रीमहामण्डल और प्रान्तीय मण्डलोंको अपनी शृंखलाको सुव्यवस्थित रखनेमें सुगमता हो गयी और महामण्डलसे सम्बन्धयुक्त रहनेपर भी प्रान्तीय मण्डल पूर्ण स्वतन्त्र हो गये।

श्रीमहामण्डल अपनी शाखासभाओंसे, चाहे वे किसी प्रान्तकी हों, एक या दो रुपया वार्षिक चन्दा लिया करता था और उनको धर्मोपदेशक आदिके द्वारा सहायता भी किया करता था। अब अपने अपने प्रान्तकी शाखासभाओंसे वह चन्दा प्रान्तीय मण्डल लिया करें और उस रकमसे वैतनिक धर्मोपदेशकोंको नियुक्तकर ऐसी व्यवस्था करें, जिससे शाखासभाओंको बिना बिदाई दिये धर्मोपदेशक, भजनोपदेशक आदि प्रयोजनानुसार नियमित रूपसे प्राप्त हुआ करें, ऐसी सुविधा कर दी गयी थी। श्रीमहामण्डलने प्रान्तीय मण्डलों, शाखासभाओं और सब प्रकारके सदस्योंके लाभके-लिये यह प्रबन्ध किया कि, श्रीमहामण्डलसे प्रकाशित होनेवाले मासिक पत्रोंमेंसे जो जिस भाषाका मासिकपत्र चाहे, वह उसे बिना मूल्य मिला करे। अब प्रान्तीयमण्डल जनताको इस विराट्

महासभाके उद्देश्यों और नियमोंको समझाकर जितनी ही समष्टि-शक्ति अथवा सङ्घशक्ति बढ़ावेंगे, अपने प्रान्तके प्रत्येक नगर और ग्राममें शाखासभाएँ स्थापित कर सहायता देनेवाले सदस्योंकी संख्या वृद्धि करेंगे, उतनी ही उनकी श्रीवृद्धि होगी और धर्मपुरुषार्थ करनेका उन्हें अधिकाधिक सुअवसर प्राप्त होता रहेगा। यह सब शृंखला श्रीजीने ही विचारपूर्वक बाँधी है और उसको अबाधित रखना हमारा कर्तव्य है।

सब प्रकारके यथार्थ सुखोंका मूल विद्या है। जिससे अविद्या दूर हो, उसको विद्या कहते हैं। विद्या ज्ञानकी जननी है। साधकमें ज्ञानकी जितनी अधिकता होती है, उतनी ही उसकी ज्ञानदृष्टि बढ़ती है। जबतक विद्याशक्तिकी वृद्धि नहीं होती, तबतक साधकका भ्रम दूर नहीं होता और उसमें निश्चयात्मिका बुद्धिका भी उदय नहीं होता। विद्याका यह स्वरूप पूज्यपाद ऋषियोंको विदित था; परन्तु आजकल पदार्थविद्या और साधारण लौकिक ज्ञानकी वृद्धिको ही लोग विद्या मानने लगे हैं। वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें लक्ष्य ठीक न रहनेसे बहुत दोष आ गये हैं। उनको दूरकर यथार्थ शिक्षाके प्रचारमें श्रीमहामण्डल विशेषरूपसे संलग्न रहा है। जिसके न रहनेसे वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, वह उसका धर्म कहाता है। जैसे,—मनुष्यमें मनुष्यत्व धर्म यदि नहीं रहेगा, तो वह मनुष्यशब्दवाच्य नहीं हो सकता। अतः धार्मिक शिक्षा-ही मनुष्यकी शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिये क्योंकि मनुष्यमें मनुष्यत्वका निर्माण केवल धर्मशिक्षासे ही सम्भव हो सकता है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये श्रीमहामण्डलने पाँच उपाय सोचे हैं—१—धर्मोपदेशकोंको प्रस्तुत करना, २—प्रान्तीय मण्डलों और शाखासभाओंको स्थापित करना, ३—पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओंको प्रकाशित करना, ४—श्रीमहामण्डलके सदस्योंकी

वृद्धि करना और ५—हिन्दुसमाचारपत्रोंसे सहायता लेना। इनमेंसे 'उपदेशक महाविद्यालय'के स्थापित हो जानेसे धर्मोपदेशकोंको प्रस्तुत करनेका कार्य सुलभ हो गया है। पाँच प्रान्तीय मण्डल स्थापित हो गये हैं। शेष प्रान्तोंमें अभी प्रान्तीय मण्डल स्थापित नहीं हो सके हैं। किन्तु सात सौसे अधिक शाखासभाएँ बन गयीं, पुस्तकोंके निर्माण और प्रकाशनका कार्य भी नियमितरूपसे चल रहा है। पहले यह सोचा गया था कि, इस समय हिन्दुजातिके जो समाचार-पत्र निकल रहे हैं, उन्हींको सहायता देकर अपने मुखपत्र बना लिये जायँ और इस महायज्ञका कार्यविस्तार किया जाय। परन्तु अनुभवसे ज्ञात हुआ कि, भारतवर्षमें अभी वह समय उपस्थित नहीं हुआ है कि, स्वधर्म और स्वजातिके कार्यके लिये सबपर समान रूपसे भरोसा किया जाय। व्यक्तिगत वैर-विरोध सब ओर अपने पैर फैला रहा है, जिससे धर्मकार्यमें बहुत असुविधा होती है। अतः यह निश्चय किया गया कि, भारतमें जितनी प्रधान भाषाएँ प्रचलित हैं, उन भाषाओंमें श्रीमहामण्डलके मुखपत्र स्वतन्त्र रूपसे प्रकाशित किये जायँ और श्रीमहामण्डलके सदस्यों, सम्बन्धयुक्त मण्डलों, शाखासभाओं, धर्मालयों, विद्यालयों आदिको वे बिना मूल्य दिये जाया करें। जो जिस भाषाका मासिक पत्र चाहेगा, उसे उसी भाषा-का मुखपत्र दिया जाया करेगा। तदनुसार मथुराकी निगमागम-मण्डलीकी 'निगमागमचन्द्रिका' नामक जो मुखपत्रिका निकलती थी, वही श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी हिन्दीभाषाकी मुखपत्रिका बना दी गयी। काशीकी आर्यधर्मप्रचारिणीसभा श्रीमहामण्डलकी शाखासभारूपमें महामण्डलसे सम्बन्धयुक्त हो जानेपर उसका 'धर्मप्रचारक' नामक जो मासिक पत्र निकलता था, वह श्रीमहा-मण्डलका वङ्गभाषाका मुखपत्र बना दिया गया। श्रीमहामण्डल-की नासिककी शाखासभा धर्ममहापरिषद्का 'भारतधर्म' नामक जो

मासिक पत्र निकलता था, उसीको उस परिषद्के सञ्चालक स्वर्गीय श्रीवैद्यचूड़ामणि पं० शंकरदाजी शास्त्रीपदे महाशयकी इच्छाके अनुसार श्रीमहामण्डलका मराठी भाषाका मुखपत्र बना दिया गया और गुजरातके सनातनधर्मावलम्बी विद्वान् नेताओंके आश्रयसे जो 'सनातनधर्म' नामक मासिक पत्र निकलता था, उसको श्रीमहामण्डलका गुजराती भाषाका मुखपत्र बना दिया गया। पञ्जाब-धर्ममण्डल और उसकी प्रधान-प्रधान शाखासभाओंके अनुरोधसे उर्दू भाषाके मुखपत्ररूपसे 'महामण्डल-समाचार' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया गया। इनके अतिरिक्त 'विद्यारत्नाकर' नामक संस्कृत भाषाके और 'महामण्डलमेगजिन' नामक अँग्रेजी भाषामें श्रीमहामण्डलके मुखपत्ररूपसे मासिकपत्र प्रकाशित किये गये। ये सातों मासिकपत्र श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्यालयसे प्रकाशित होते थे। विचार यह था कि, अवशिष्ट प्रान्तीयमण्डलोंकी स्थापना हो जानेपर अनुकूलताके अनुसार तामिल, तेलगू, कानडी आदि भाषाओंमें भी मासिकपत्र निकाले जायँ, जिनके द्वारा धर्मज्ञानका विस्तार हो सके। इन सब मासिकपत्रोंकी मिलाकर ग्राहकसंख्या १२ हजारसे अधिक थी। ये सब मासिक पत्र वर्तमान राजनीति, साम्प्रदायिक पक्षपात, व्यक्तिगत आक्षेप-प्रक्षेप आदिसे अछूते थे और इनमें केवल धर्मसम्बन्धी, सब सम्प्रदायोंके अविरुद्ध साधारण साधनमार्ग और आचारसम्बन्धी, शिल्प-वाणिज्य सम्बन्धी, समाजोन्नति सम्बन्धी तथा विद्योन्नति सम्बन्धी लोकहितकर उत्तम लेख, चित्र और समाचार आदि छपा करते थे। श्रीमहामण्डलके ये सब मासिकपत्र होनेके कारण श्रीमहामण्डलके महत्त्वके समाचार भी इनमें छपते थे। श्रीजी हिन्दीभाषा और देवनागरीलिपिके प्रारम्भसे ही बड़े पक्षपाती थे। इस कारण यद्यपि उन्होंने बंगला और अंग्रेजी भाषामें भी कई ग्रन्थ

लिखे, तथापि उनके अधिकांश मौलिक ग्रन्थ हिन्दीभाषामें ही लिखे गये। जब कि, राष्ट्रभाषारूपसे हिन्दीभाषा सर्वमान्य हो गयी, तब हिन्दीको ही ग्रन्थ-रचनामें प्राधान्य देना श्रीजीने उचित समझा और उन्होंने अनेक प्रकारसे हिन्दीभाषाकी पुष्टि की। हिन्दीमहाकोष, इतिहास, ज्योतिष, वैद्यक, तन्त्रशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि विषयोंकी श्रीवृद्धिमें श्रीजीने विशेष पुरुषार्थ किया, जो हिन्दीके इतिहासमें अमर होकर रहेगा। देवनागरी लिपिके सर्वत्र प्रचारके उद्देश्यसे श्रीजीने सब पत्रोंके सम्पादकोंसे अनुरोध किया कि, जिस भाषाका जो मासिकपत्र निकलता हो, उसमें उसी भाषाका एक छोटा-सा लेख देवनागरी अक्षरोंमें छपा करे, जिससे सब प्रान्तोंके लोग देवनागरी लिपिसे परिचित हो जायँ। तदनुसार उन पत्रोंमें देवनागरीलिपिमें लेख छपने भी लगे।

उस समय देशभरमें अपवित्र घृत, निकृष्ट घृत, मिलावट तैल, अमेध्य चीनी तथा अन्यान्य कृत्रिम खाद्य द्रव्योंकी भरमार हो जानेसे भारतीय जनताकी बड़ी हानि हो रही थी। श्रीजीका कथन था कि इसीसे भारतीय प्रजा निस्तेज, दुर्बल और अपवित्र होती जाती है और उनकी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक अवनतिके साथ ही साथ आधिदैविक और आध्यात्मिक अवनति भी हो रही है। अतः श्रीजीने श्रीमहामण्डलसे अनुरोध किया कि, धर्मोपदेशकोंके उपदेशोंद्वारा इन हानिकर बातोंको रोककर भारतीय कृषि और शिल्प-वाणिज्यादिकी वृद्धि की जाय। श्रीजी कहते थे कि देशकी कृषि तथा वाणिज्यकी उन्नति कर शिल्प तथा वाणिज्य-की सुरक्षा करना और देशके वैभवको बढ़ाना वर्णाश्रमधर्माव-लम्बियोंका प्रधान कर्तव्य है और इसी विचारसे वे देशी शिल्पियों और व्यवसायियोंको सम्मानदान आदि नाना प्रकारसे सहायता और उत्साह प्रदान किया करते थे।

सनातनधर्मकी सेवाएँ अनन्त हैं। अपनी-अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार जिससे जितनी जो सेवा बन पड़े, उससे किसीको मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। सनातनधर्मकी सेवाके विचारसे श्रीजीने उन सेवाओंका २१ विभागोंमें समावेश किया और श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्यालयमें उतने (इक्कीस) कार्य-विभाग भी खुलवा दिये, जो इस प्रकार हैं :—(१) देवसेवा-विभाग, (२) यज्ञानुष्ठान-विभाग, (३) धर्मप्रचार-विभाग, (४) रक्षाविभाग, (५) शास्त्रप्रकाशन-विभाग, (६) मुखपत्र-विभाग, (७) अधिवेशन-विभाग, (८) धर्मालयसंस्कार-विभाग, (९) मानदान-विभाग, (१०) उपदेशकमहाविद्यालय-विभाग, (११) धार्मिका-ध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठ-विभाग, (१२) धर्मजिज्ञासा-विभाग, (१३) व्रात्यसंस्कार-विभाग, (१४) राष्ट्रभाषोन्नति-विभाग, (१५) समाजसंघटन-विभाग, (१६) प्रान्तीयमण्डल और शाखासभा-विभाग, (१७) शास्त्रानुसन्धान-विभाग, (१८) तुलनात्मक गवेषणा विभाग, (१९) गोसेवा-विभाग, (२०) धर्मव्यवस्था-विभाग और (२१) अतिथि-सत्कार-विभाग। इन सब विभागोंका कार्यपरि-चालन श्रीजी स्वयं अत्यन्त परिश्रमपूर्वक किया करते और प्रधान कार्यालय तथा उसके उक्त सब विभागोंकी शृंखला सुव्यवस्थित रखकर उनको सम्हाला करते थे। इन विभागोंके अतिरिक्त श्रीमहा-मण्डलसे सम्बन्धयुक्त श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार, भारतवर्षीय आर्यधर्मप्रचारिणी सभा, आयुर्वेदसम्मिलनी आदि संस्थाओं और श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त महामाया ट्रस्ट, विश्वेश्वरट्रस्ट आदि ट्रस्टोंकी देख-भाल और व्यवस्था श्रीजीको ही करनी पड़ती थी। श्रीजीके इसी कार्यकौशलके कारण केवल भारतके ही सब प्रान्तोंमें नही, किन्तु दक्षिण अमेरिका, अफ्रिका, बरमा, सीलोन, जावा आदि

विदेशोंमें भी धर्मप्रचारका कार्य बराबर होता रहा। श्रीमहा-मण्डलने विदेशोंमें सनातनधर्मके तत्त्वोंका प्रचार करनेके लिये अपना एक विदेशमंत्री नियुक्त किया था, जो प्रायः इंगलैंडमें ही रहा करता और यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें प्रचारकार्य किया करता था। इस पदपर सर्वप्रथम श्रीमान् डाक्टर श्यामशंकरजी एम० ए० (विश्वविख्यात नृत्यकलापटु पं० उदयशंकरजीके पितृदेव) नियुक्त हुए थे और उन्होंने उन देशोंमें कार्य भी बहुत किया।

श्रीजीका राजा-महाराजाओं और धनी सेठ-साहूकारोंपर जैसा प्रभाव था, वैसा विविध विषयके विद्वानोंपर भी था। बड़े-बड़े विद्वान् जब किसी विषयकी उलझनमें पड़ जाते, तब उसे सुलझानेके लिये श्रीजीके पास आते और श्रीजी बड़ी सरलतासे उन्हें उस विषयको समझा दिया करते, जिससे उन्हें सन्तोष हो जाता था। इसी तरहके महान् विद्वानोंमें राष्ट्रप्रणेता लोकमान्य देशभक्त पं० बालगङ्गाधर तिलक महोदय भी श्रीजीके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते, उनकी आज्ञा मानते, और श्रीजीका भी उनके प्रति सद्भाव था। प्रसङ्गसे श्रीजीके धैर्य और निर्भयताके सम्बन्धमें एक घटनाका स्मरण हो आता है। एक समय था, जब लोकमान्य राजद्रोही, क्रान्तिकारी, अराजक समझे जाते थे और उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना ब्रिटिश शासकोंका रोषपात्र होना माना जाता था। मि० चिरोल साहब, जिनपर लोकमान्यने मुकद्दमा चलाया था, तो उनको 'अशान्तिके जनक' कहा करते थे। लोकमान्य दूसरी बार जब श्रीकृष्णकी जन्मभूमि (कारागृह) में पहुँच चुके थे, उन्हीं दिनोंमें श्रीजी पूना पधारे और अपने प्रिय भक्त लोकमान्यजीके घर ही ठहर गये। लोगोंने बहुत वारण किया कि, तिलक बहुत बदनाम हैं, इनके सम्बन्धसे आपकी संस्था 'श्रीभारत-धर्ममहा-

मण्डल' बदनाम हो जायगा और सरकारकी आँखोंमें खटकने लगेगा; परन्तु श्रीजीने किसीकी नहीं सुनी और लोकमान्यके ही अतिथि बने। उनकी पत्नीने श्रीजीका उत्तम आतिथ्य किया, जिससे श्रीजी बहुत सन्तुष्ट हुए।

बात यह है कि, धर्मके कार्यमें जिस किसीसे सहायता मिलनेकी सम्भावना हो या मिलती हो, उसको श्रीजी अपना लिया करते थे, चाहे वह किसी सम्प्रदाय, मत या कार्यक्षेत्रका व्यक्ति क्यों न हो। अन्यधर्मावलम्बियोंसे भी वे धर्मकार्यमें सहायता लेते और स्वधर्म व्यसनी, दुराचारियोंसे भी धर्मकार्य करा लिया करते थे। यही उनका कार्य-कौशल था और लोकसंग्रह बुद्धिका यही वास्तविक लक्षण है। किसीसे वैर-विरोध करना तो श्रीजी जानते ही नहीं थे। इसी नीतिके कारण श्रीभारतधर्ममहामण्डलके प्रयाग-महाधिवेशनके समय जब स्वर्गीय माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजीने विरोधका झगडा खड़ा किया, तब लोकमान्यने श्रीजीका पक्ष ग्रहण कर सामना किया, जिससे श्रीमहामण्डलके महावृक्षको उखाड़ फेंकनेका विरोधियोंका प्रयत्न विफल हुआ और श्रीमहामण्डलने विजयी होकर धर्मक्षेत्रमें अच्छी तरह अपनी जड़ जमा ली। इसी तरह जिन विद्वानोंसे काम लेते बना, श्रीजीने लिया। श्रीजीके उत्साहदान और प्रेरणासे ही तत्कालीन अनेक विद्वान् वक्ताओंने देशभरमें धर्मप्रचार कर ख्याति प्राप्त की थी। उनमेंसे कुछ विद्वानोंके पुरुषार्थका यहाँ उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है। बम्बई, मद्रास, मध्यभारत और सिन्धमें श्रीमहामण्डलके उद्देश्योंका प्रचार करनेमें व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्माजीने बहुत परिश्रम कर सफलता प्राप्त की थी, जिससे भविष्यमें महामण्डलके कार्यविस्तारमें बहुत सुविधा हो गयी। महामहोपदेशक पं० गोविन्दराम शास्त्री विद्यावागीशजीने सिन्ध,

बलूचिस्थान, पञ्जाब, उत्तर भारत और बंगालमें धर्मप्रचार किया था। स्वामी बालकरामजी उदासीनने अपूर्व विद्वत्ताके साथ पञ्जाब, सिन्ध और संयुक्त प्रान्तमें धर्मप्रचार और पुस्तक दानकर कीर्ति-लाभ किया था। श्रीस्वामी आत्मस्वरूपजी भी आपके साथ रहकर इस धर्मकार्यमें योगदान किया करते थे। महामहोपदेशक पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र विद्यावारिधिजीने पञ्जाब, उत्तर भारत और मध्यप्रदेशमें धर्मप्रचारार्थ भ्रमण किया और अनेक धर्मग्रन्थ प्रस्तुत कर धर्मप्रचारके कार्यमें सहायता करते हुए सुयश प्राप्त किया। वाग्मिवर श्रीस्वामी हंसस्वरूपजीने अपनी प्रभावशाली, मधुर और रसीली वक्तृताओंके द्वारा अनेक प्रान्तोंकी सनातन-धर्म सभाओंको पुनरुज्जीवित किया था। श्रीस्वामी आलाराम सागरजीने पञ्जाब, सिन्ध और बलूचिस्थानमें सिंह-गर्जनाकर जनताको सनातनधर्मकी ओर प्रवृत्त किया और अनेक गोशालाएँ स्थापित कीं। आर्य-समाजके प्रमुख विद्वान् पं० भीमसेनजी शर्मा आर्यसमाजको त्याग कर जब सनातनधर्मके कार्यक्षेत्रमें उतरे, तब उन्होंने बम्बई, पञ्जाब, उत्तरप्रान्त आदिकी बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपनी विद्वत्ताका परिचय देकर उपदेशोंके द्वारा सनातनधर्मकी पुष्टिमें अच्छा पुरुषार्थ किया और 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक मासिक पत्रको प्रकाशित करना आरम्भ किया। महोपदेशक पं० गणेशदत्त वाजपेयीजी, पञ्जाब, राजस्थान, उत्तरभारत, मध्यभारत, बिहार और बंगालमें नियमित रूपसे धर्मप्रचारका कार्य करते रहे। उन्होंने अनेक शाखा-सभाओंकी स्थापना की और बहुतसे सदस्य संग्रह किये। महो-पदेशक पं० दुर्गादत्तपन्तजी कूर्माचलभूषण कूमाऊँ, उत्तरभारत, राजपूताना और पञ्जाबमें बराबर सञ्चार करते रहे। इनके अति-रिक्त महामहोपदेशक पं० नन्दकिशोरदेवशर्मा, पं० बाबूरामजी, पं० रलियारामजी, विद्यासागर पं० बुलाकीराम शास्त्रीजी,

पं० ज्योतिस्वरूपजी, महामहोपदेशक पं० गंगाविष्णुजी, पं० गोपाल शास्त्री, पं० बालचन्द्र शास्त्री, पं० अन्नपालालजी आदि साठ-सत्तर धर्मोपदेशक प्रचार कार्यमें लगे हुए थे। श्रीमहा-मण्डलके इस धर्मप्रचार कार्यमें राय रायान् पं० वरदाकान्त लाहिडीजी, महामहोपदेशक गोस्वामी श्रीमधुसूदनाचार्यजी, पं० वामनाचार्य शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० राममिश्र शास्त्रीजी, बा० रघुनन्दनप्रसाद सिंहजी, पं० कृष्णदास वेदान्तवागीशजी, पं० रामदयाल मजूमदारजी एम्० ए०, पं० केदारनाथ शास्त्री आदि महानुभावोंने पर्याप्त हाथ बँटाया था। होशियारपुर, जालन्धर, लाहोर आदिकी धर्मसभाओंने धर्मशिक्षाके विस्तार कार्यमें अच्छी सहायता पहुँचायी। उन्होंने कितनी बाल-सुधार-सभाएँ स्थापित कीं जिनके द्वारा धर्मशिक्षा-विस्तारमें बहुत सुभीता हो गया। मुजफ्फरनगरकी धर्मसभा और संस्कृत-पाठशाला आदिके संस्थापक आनरेबल रायबहादुर निहालचन्द्रजी तथा उनके सुयोग्य पुत्र बा० सुखबीरसिंहजीने उस प्रान्तके सरकारी अंग्रेजी स्कूलोंमें श्रीमहामण्डलकी धर्मशिक्षाके उपयोगी पुस्तकोंके प्रचारद्वारा बड़ा काम किया। वे चाहते थे कि, इसके लिये ऐसा स्वतन्त्र प्रबन्ध हो, जिससे बालकोंको अंग्रेजीशिक्षाके साथ ही साथ मातृभाषामें धर्मशिक्षा भी दी जाया करे। उदयपुरके श्रीलालाकपूरचन्दजी बहुत परिश्रमके साथ बालक-बालिकाओंकी धर्मशिक्षाका प्रयत्न करते जाते थे। किशनगढ़ राज्यके प्रधानमन्त्री रायबहादुर श्रीश्यामसुन्दरलालजी सी० आई० ई० ने उस राज्यकी स्कूलोंमें धर्मशिक्षा देनेका प्रबन्ध करा दिया। छोटी कक्षाओंसे लेकर उच्चकक्षाओंतकमें धर्मशिक्षाके उपयोगी पुस्तकोंका निर्माण श्रीजीने स्वयं किया, जिससे सब प्रान्तोंके स्कूलकालेजोंमें धर्म-शिक्षाका पाठ्यक्रम निश्चित करनेमें सुगमता हो। स्थानीय हिन्दू-

कालेजने जो धर्मशिक्षाकी पुस्तकें प्रकाशित की हैं, उनका श्रीमहामण्डलने समर्थन किया है। श्रीमहामण्डलके धर्मप्रचारकार्यमें कई अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती और उर्दूके सामयिकपत्रोंने जो सहायता की है, वह भी उल्लेखनीय है। धर्मप्रचारके इस संक्षिप्त विवरणसे श्रीजीके असाधारण लोकसंग्रहका परिचय मिलता है। श्रीजीका लोकसंग्रह और सुव्यवस्थित कार्यशृङ्खला बेजोड़ है। उनके इस अलौकिक कर्मयोगके कौशलको देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है।

श्रीमहामण्डलने अपने प्रान्तीयमण्डलों, शाखासभाओं, सम्बन्धयुक्त संस्थाओं और माननीय सदस्योंके द्वारा धर्मालयोंके संस्कारका जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसका कुछ उल्लेख पहले हो चुका है। तदतिरिक्त श्रीमहामण्डलने श्रीकुरुक्षेत्र, मथुरापुरी, जगन्नाथपुरी, हरद्वार, पुष्करराज, वृन्दावन, बंगालकी मुक्तत्रिवेणी, ज्वालीमुखी, बदरिकाश्रम, कामाख्या, रामेश्वर, नैमिषारण्य, काशीपुरी आदि तीर्थ-स्थानोंके धर्मालयोंकी उन्नति करनेमें विशेष प्रयत्न किया। वहाँ के अन्नसत्र, देवालय, धर्मशाला, मठ आदिकी सुरक्षा और सम्हालकी व्यवस्था की। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारोंसे लिखापढ़ी की गयी, जिसमें श्रीमहामण्डलको धर्मालयसंस्कारके सम्बन्धमें सफलता ही मिलती गयी। श्रीकामाख्यामन्दिरका जीर्णोद्धार हमारे प्रधान सभापति महाराजाधिराज श्रीरमेश्वरसिंह दरभङ्गानरेशने एक लाखसे अधिक रुपया व्यय करके करा दिया और उसके आसपासके तीन देवस्थानोंका उद्धार करानेकी सुयोग्य धर्मप्राण सज्जनोंको प्रवृत्ति दी गयी। इसके अतिरिक्त हमारे प्रधान सभापति श्रीमिथिलेशने उत्तराखण्डके बदरीनाथ तीर्थकी पुण्यगिरिदेवीकी भग्नमूर्तिकी पुनः प्रतिष्ठा की और एकलाख रुपयोंसे अधिक व्ययकर मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया। श्रीजीके एक भक्त लालादयालीरामजीके विशेष-

प्रयत्नसे कुरुक्षेत्र जीर्णोद्धारसमिति स्थापित हुई थी, उसके द्वारा उस तीर्थका उत्तम संस्कार होकर धार्मिक यात्रियोंको बहुत सुभीता-कर दिया गया। श्रीजगन्नाथपुरीके संस्थानके सुप्रबन्धके सम्बन्धमें बंगाल-सरकारसे लिखा पढ़ी की गयी थी। उसका अनुकूल उत्तर आनेपर वहाँ डेपुटेशन भेजकर अनुसन्धान कराया गया और परम्पराके अनुसार वहाँ भगवत्सेवाकी व्यवस्था की गयी। साथही एक डेपुटेशन बालेश्वर भेजकर वहाँके श्रीराजाबहादुरसे उड़ीसाके देवस्थानों और धर्मालयोंके संस्कारके सम्बन्धमें अनुरोध किया गया, जिसका फल अनुकूल ही हुआ। श्रीशंकराचार्यप्रभुके विद्यमान तीन पीठाधीशों तथा हिन्दूनरपतियोंकी सहानुभूति प्राप्त-कर उनके उत्तराखण्डके पीठका पुनरुद्धार किया गया और बड़े प्रयत्नसे श्रीगङ्गाजीकी धारा अविच्छिन्न रक्खी गयी, जिसका विवरण श्रीमहामण्डलकी कार्यविवरणियोंमें प्रकाशित किया गया है। समस्त भारतके धर्मालयों, देवालयों, मठों, पाठशालाओं अन्नसत्रों, धर्मशालाओं आदिकी एकबृहत्सूची बनायी गयी, जिससे विदित हो सके कि कहाँ किस प्रकारके संस्कारका प्रयोजन है और उस कार्यमें श्रीमहामण्डल योग्य सहायता दे सके। धर्मालयोंकी सम्हाल और देखभालकेलिये सुयोग्य देशकालज्ञ निरीक्षकोंको नियुक्त करनेका भी विचार था। काल दुरत्यय है। कालप्रवाहके अनुसार जबतक धर्मोन्नतिमें सहायता नहीं की जायगी, तबतक पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। अतः कालके स्रोतमें बहते हुए सब अधिकारियोंको यथायोग्य रूपसे इस कार्यमें सहायता देना उचित है।

भारतके साथ ब्रिटिशजातिका राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो जानेपर भारतीयोंका विदेशोंमें आना-जाना फिर आरम्भ हो गया है, परन्तु उनकेलिये वहाँ ऐसे स्थान दुर्लभ हैं, जहाँ वे स्वधर्मानुसार सदाचार पालन करते हुए ठहर सकें। अतः

माननीय भारतसम्राट्के राज्याभिषेकके समय (सन् १६११ में) हिन्दूधर्मके आचारोंकी रक्षा करते हुए श्रीमान् महाराजाबहादुर जयपुर जब इंगलैण्ड गये थे, तब उन्होंने श्रीमहामण्डलकी ओरसे सम्राट्के सामने यह प्रस्ताव रक्खा था कि, लन्दनमें एक ऐसा हिन्दूविश्रामालय (धर्मशाला) स्थापित किया जाय, जिसमें सनातनधर्मावलम्बी विद्यार्थी और व्यापारी स्वधर्मपालनपूर्वक निवास कर सकें। सम्राट्ने इस प्रस्तावके प्रति सहानुभूति प्रकट की थी और कुछ कार्य भी अग्रसर हुआ था; परन्तु दो-एक वर्षमें ही यूरोपमें महायुद्ध छिड़ जानेसे यह विषय अबतक विचाराधीन ही रह गया। जयपुरनरेशको इस कार्यमें जयपुरके राजमान्य विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदनझा शास्त्रीजी और किशनगढ़के दीवान रावबहादुर बा० श्यामसुन्दरलालजी सी० आई० ई० ने विशेषरूपसे प्रवृत्त किया था।

सद्विद्याका विस्तार करना श्रीमहामण्डलका प्रधान उद्देश्य है। इसकी कार्यप्रणाली स्थिर करनेके लिये केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों, स्वाधीननरेशों और आदरणीय मनीषियोंसे बहुत विचार-विनिमय होनेके उपरान्त जो अनुष्ठानपत्र प्रकाशित किया गया था, उसका सारांश नीचे प्रकाशित किया जाता है। उस समय श्रीजीके चित्तमें 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविश्वविद्यालय' स्थापित करनेकी कल्पना उदित नहीं हुई थी, परन्तु 'श्रीशारदामण्डल' स्थापित कर उसके द्वारा श्रीजीने जो विद्याप्रचारकार्यका सूत्रपात किया था, उसीने श्रीशारदादेवीकी कृपासे अब विद्यापीठका रूप धारण कर लिया है। अनुष्ठानपत्रमें बताया गया है :—
"इस देशमें अबतक संस्कृत तथा देशभाषाओं द्वारा विद्याविस्तारके जो उपाय काममें लाये जाते हैं, दूरदर्शियोंके विचारसे वे सब असम्पूर्ण प्रतीत होते हैं। अतः इसकी कार्यप्रणालीमें यथासम्भव

प्राचीन ढङ्ग और सद्विचारयुक्त नवीन ढङ्ग दोनोंका समावेश होना चाहिये। इस मण्डलद्वारा प्राचीन आचार्यकुलके आदर्शपर ब्रह्मचर्याश्रमोंकी प्रतिष्ठाके लिये विद्यालय स्थापित किये जायँगे और एक महाविद्यालय स्थापित कर वर्तमान विद्यालयों और पाठ-शालाओंका संस्कार कराके नवीन शैलीसे प्रबन्ध बाँधा जायगा। यह मण्डल श्रीमहामण्डलका ही एक कार्यविभाग होगा। मथुरामें श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी रजिस्ट्री होते ही आर्यसंस्कृतिकी रक्षा प्राचीन महर्षियोंकी शिक्षाप्रणालीका यथासम्भव प्रचार, सनातनधर्म तथा वर्णाश्रमधर्मका देश-काल-पात्रानुसार विस्तार और आध्या-त्मिक ज्ञानकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे मथुरामें ही 'विद्यापरिषद' नामक एक संस्था स्थापित की गयी थी। उसीका नामान्तर यह 'श्रीशारदामण्डल' था। नियम यह रक्खा गया था कि, इसके अधीन जो ब्रह्मचर्याश्रम होंगे, उनका नामकरण ऋषिगोत्रानुसार किया जायगा, जैसे भरद्वाजाश्रम, भृगुआश्रम इत्यादि। प्रधान विद्यालय काशीपुरीमें होनेके कारण इसका नाम विद्याकी अधिष्ठात्री देवी श्रीसरस्वतीके नामानुसार रक्खा गया। श्रीमहामण्डलका कार्यालय काशीमें आ जानेपर इसी मण्डलका नाम 'वाराणसी विद्यापरिषद्' रक्खा गया, क्योंकि शारदा और विद्या एक ही हैं। काशीमें जो पाठशालाएँ हैं, उन्हींको श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त करके इस शिक्षाविभागका प्रारम्भिक कार्य चलाया जायगा और सुभीतेके अनुसार इसका कार्यविस्तार किया जायगा। इसके अतिरिक्त श्रीनगर (काश्मीर), अवन्तिका (उज्जैन), मथुरा (व्रज), नदिया (बंगाल), पुण्यपत्तन (पूना), काञ्ची आदि प्राचीन विद्या-पीठोंका उद्धारकर वहाँ एक-एक संस्कृत महाविद्यालय स्थापित कर विद्याविस्तारका प्रयत्न किया जायगा।" तदनुसार अनेक स्थानोमें सफलता भी प्राप्त हुई।

उस समय तीन विश्वविद्यालयोंकी योजनाएँ भारत-सरकारके सामने उपस्थापित थीं—१—डा० एनी बेसेण्टकी, २—माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजीकी और ३—वाराणसीविद्यापरिषद्-की। परिषद्की योजना स्वर्गीय महाराजाधिराज सर रमेश्वरसिंह बहादुर दरभङ्गानरेशने श्रीमहामण्डलके प्रधान सभापतिके पदसे स्वयं हस्ताक्षर करके उपस्थापित की थी। सरकारसे उत्तर मिला कि, तीनों एकमत होकर जबतक कोई एक ही योजना उपस्थापित नहीं करेंगे, तबतक विश्वविद्यालय खोलनेकी आज्ञा नहीं दी जायगी। अत: तीनोंमें ऐक्य स्थापन करनेके अभिप्रायसे प्रयागके दरभंगाराजभवनमें एक सभा हुई, जिसमें महाराजाधिराज मिथिलाधिपति, श्रीमालवीयजी और डा० एनीबेसेण्टके प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। उस समय श्रीजीने प्रस्ताव किया कि, अन्य दोनों योजनाएँ पश्चिमी विश्वविद्यालयोंकी अनुकरणपर प्रस्तुत की गयी हैं; परन्तु विद्यापरिषद्के स्वजातीय विश्वविद्यालयकी योजना दोनोंसे विलक्षण है। अत: हमारे प्रधान सभापति महोदयको दोनों योजनाओंके सभ्यवृन्द अपना सभापति बना लें और दोनों एकमत होकर हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापना करें। इस प्रस्तावको सबने सहर्ष स्वीकार किया और हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापनाके लिये सरकारसे अनुज्ञा मिल गई। श्रीमहामण्डलने हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापनामें पूर्ण सहयोग और सहायता देते हुए अपने धार्मिक विश्वविद्यालयके मङ्गलमय कार्यको यथा देश-काल-पात्र स्वतन्त्ररूपसे जारी रक्खा। तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिण्टोने श्रीमहामण्डलके सञ्चालकोंको परामर्श दिया कि, सरकारकी चलायी हुयी विद्याप्रचारकी नाना योजनाओंसे पूर्णरूपसे पृथक् रहकर श्रीमहामण्डल अपने ढङ्गपर सद्विद्या-विस्तारकी एक स्वतन्त्र योजना बनावे तो उत्तम होगा। महामण्डलके सञ्चालकोंका

पहलेसे ही यह विचार था; परन्तु लार्डमिन्टो महोदयके इस सत्परामर्शसे उन्हें विशेष उत्साह मिला।

आजकल भारतके अनेक प्रान्तोंमें जो विश्वविद्यालय स्थापित हैं, उनमें ईश्वरज्ञानविहीन, धार्मिक शिक्षाविरहित तथा सबको बलपूर्वक एक ही रास्तेसे चलानेकी जो प्रणाली प्रचलित है, वह बड़ी भयानक है। इस प्रणालीको बदलकर सनातनधर्मकी मर्यादाके अनुकूल शिक्षाप्रणालीको चलानेके अभिप्रायसे काशीके 'अखिल-भारतीय ब्राह्मणमहासम्मेलन'के प्रस्तावानुसार 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविश्वविद्यालय' स्थापित किया गया। यह 'वाराणसी विद्यापरिषद्'का ही परिवर्द्धित और स्थायी स्वरूप था। 'अल्पारम्भः क्षेमकरः' इस न्यायसे सद्विद्या विस्तारका श्रीजीने जो लघुरूपमें उपक्रम किया था, उसको सूक्ष्म बटबीजको विशाल वटवृक्षकी तरह होता हुआ विश्वविद्यालयके रूपमें श्रीजीने स्वयं अपनी आँखोंसे देख लिया और उसके चिरस्थायित्वका भी वे उत्तम प्रबन्धकर गये। यद्यपि बड़े-बड़े धनिक राजा-महाराजा—जैसे हिजहाईनेस महाराणा साहब उदयपुर, राजासाहब कन्तित विजयपुर आदि धार्मिक महापुरुषोंने इस विश्वविद्यालयके सञ्चालनार्थ जो सम्पत्ति संकल्पपूर्वक प्रदान की थी, वह उनके उत्तराधिकारियोंद्वारा हस्तगत नहीं हो सकी, तथापि श्रीजीने ऐसी सुव्यवस्था बाँधी, जिससे यह विद्याविस्तारका कार्य अखण्ड चलता रहे।

वर्तमान समयमें कालप्रभावसे हिन्दुप्रजाकी दृष्टि धर्म और मोक्षकी ओरसे हटकर अर्थ और कामकी ओर आकृष्ट हो रही है। इस सम्बन्धमें भगवान् व्यासने भी हतोत्साह होकर कहा है :—

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्यैतन्नहि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"॥

अर्थात् मैं हाथ उठाकर गला फाडकर कह रहा हूँ कि जब धर्म-

पालनसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, तब धर्मका अवलम्बन क्यों नहीं किया जाता है, परन्तु खेद है कि मेरी बात कोई नहीं सुनता। जो वर्णाश्रमी हिन्दूजाति किसी समय जगद्गुरुपदपर प्रतिष्ठित थी, वही आज अपने पूर्वजोंके महत्त्वको भूलकर आधुनिक बुद्धिनाशकारी विदेशी रंग-ढंगमें रङ्गकर अपनी त्रिलोक पवित्रकारी प्राचीन संस्कृतिसे हाथ धो बैठी है। जिस आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिके शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक सब कार्य स्वधर्म रक्षा और आध्यात्मिक लक्ष्यकी सिद्धिके लिये हुआ करते थे, उसी जातिके नवशिक्षित नेतृवृन्द धर्मके नामसे काँपने लगते और नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। इस जातिकी पवित्र संस्कृति और धर्मपर बाहर सब ओरसे तो आक्रमण हो ही रहा है, किन्तु विशेषतः घरके ही लोग पश्चिमी शिक्षाके प्रभावसे उन्मत्तप्राय होकर अपने पैरपर आप ही कुल्हाड़ी मार रहे हैं तथा काममोहित होकर हिन्दूजातिके जगत्-पवित्रकारी सतीधर्मका अनादर और स्त्री-पुरुषोंके प्राकृतिक अधिकारोंकी उपेक्षा कर दोनोंको एक ही ढङ्गकी शिक्षा-प्रणालीके साँचेमें ढालकर आर्यजातिकी मौलिकताका मूलोच्छेद करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं। केवल अर्थ और कामकी दृष्टिसे भारतमें जो कुछ राजनीतिक जागृति देखनेमें आती है, उसके पुरुषार्थोंमें धर्मका कहीं स्थान दिखायी नहीं देता। मानो धर्म उन्हें काटने दौड़ता है और इसीसे वे धर्मकी जड़को ही काटनेके लिये उद्यत हो रहे हैं। धर्मप्राण आर्यजातिकेलिये यह समय बड़ा ही भयानक है। इस समय सत्-शिक्षाके अवलम्बनसे इस अधोगामी स्रोतको रोकनेके शुभ अभिप्रायसे श्रीजीने श्रीमहामण्डलके द्वारा इस 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविश्वविद्यालय' की स्थापना की जो इस समय 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ'-के नामसे महामंडलद्वारा उत्तमरूपेण संचालित हो रहा है।

इसका कार्यक्षेत्र हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक और सिन्ध-पञ्जाबके सीमाप्रदेशसे लेकर आसामतक ही नहीं, किन्तु पूर्वीय और पश्चिमी पाकिस्तान तथा बाहरके उपनिवेशोंतक विस्तृत है। भारत तथा उपनिवेशोंके सब नगरों और बड़े-बड़े ग्रामों-तकमें इसके केन्द्र खुलते जा रहे हैं और बिना विशेष अर्थ-व्यय किये थोड़े ही दिनोंमें इस विद्यापीठका काम देशभरमें फैल रहा है। एक विश्वविद्यालय जैसी विद्यापीठके चलानेमें कितने धनकी आवश्यकता होती है, यह बुद्धिमान् लोग स्वयं समझ सकते हैं। अब तक श्रीमहामण्डलके कार्योंका निर्वाह देशी रजवाड़ोंकी सहायतासे किसी प्रकार होता रहा; परन्तु वर्तमान राजनीतिक उथल-पुथलके परिणामस्वरूप रजवाड़ोंका अकस्मात् आश्चर्यजनक पतन हो जानेसे श्रीमहामण्डलकी नियमित आय बहुत ही कम हो गयी। इस परिस्थितिमें दूसरी कोई साधारण संस्था होती, तो धैर्यच्युत होकर हाथ-पैर बटोरकर बैठ जाती; परन्तु धर्मयुद्धमें सुमेरु जैसे अटल रहकर विपत्तियोंसे धैर्यपूर्वक सामना करनेमें अभ्यस्त श्रीजी कब हतोत्साह होनेवाले थे ? उनकी श्रीजगदम्बाके चरणोंमें अनन्य श्रद्धा-भक्ति होनेसे उनके कार्योंको अपनी प्रतिज्ञा (योगक्षेमं वहाम्यहम्) के अनुसार श्रीजगदम्बा स्वयं सम्हाला करती थीं। इस परिवर्तनके सन्धिकालमें भी वही हुआ। श्रीजीको एक समय एक शिष्यासे गुरुदक्षिणामें जो परिपुष्ट रकम मिली थी, उसका उन्होंने एक ट्रस्ट बना दिया था, जिससे कई धर्मकार्योंमें सहायता मिलने लगी। उससे एक पड़ती भूमि मोल ले ली गयी, उस भूमिके बसाये जानेसे ऐसी दैवी सहायता मिली, जिससे सबको चकित हो जाना पड़ा और श्रीमहामण्डलकी कार्यशृंखला अधिक व्यवस्थित और सुदृढ़ हो गयी। राजनीतिक स्वार्थके चक्रमें पड़कर राजनीतिक नेताओंके प्रपञ्चसे अखण्ड भारत खण्ड-खण्ड हो गया,

जिससे इस विद्यापीठके कार्यविस्तारमें बहुत कुछ बाधा उपस्थित हुई और हो रही है, जिससे इसके परीक्षाकेन्द्रोंकी कार्य-शक्तिमें कुछ शिथिलता-सी आ गयी है; परन्तु वह धीरे धीरे दूर हो रही है। इस गुरुतर कठिन सन्धिकालमें उक्त दैवी सहायताके मिलनेपर श्रीभगवान् वेदव्यासकी यह उक्ति सार्थक होती हुई प्रत्यक्ष अनुभूत हुई कि,—

"यत्र धर्मस्ततः कृष्णः यत्र कृष्णस्ततो जयः"

अर्थात् जहाँ धर्म है, वहाँ भगवान् कृष्ण हैं और जहाँ भगवान् कृष्ण हैं, वहीं जय है। श्रीमहामण्डलकी विजयके कृष्ण ही कारण हैं। इस प्रकार जहाँ साक्षात् परमात्मा श्रीकृष्ण सुदर्शन-चक्र लेकर धर्मकी रक्षाके लिये उद्यत हों और श्रीजी जैसे धर्मवीर सुकौशलपूर्ण कर्मयोगमें प्रवृत्त हों, वहाँ विजय, लक्ष्मी, वैभव और अटल धर्मनीतिका होना स्वाभाविक है और ऐसा हुआ भी।

वेदोंने ब्राह्मणोंको श्रीपरमात्माका मुख या सिर कहा है। जब मनुष्यका सिर (मस्तिष्क) विकृत हो जाता है, तब शरीरका ह्रास होना स्वाभाविक है। विकृत मस्तिष्क व्यक्तिके कोई अवयव संयमित होकर अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। कालधर्मके कारण कहिये, या समष्टि कर्म-विपाकके कारण कहिये, इस समय ब्राह्मणजातिका घोर पतन हो गया है। जिनके हाथमें समाज-सञ्चालनके सब सूत्र थे और समाजके अङ्गस्वरूप सब वर्ण जिनको श्रीभगवान्के स्थानापन्न मानते थे, उन्हींका पतन हो जानेसे क्षत्रियोंका पौरुष नष्ट हो गया, वैश्योंका व्यापार-व्यवसाय चौपट हो गया और शूद्रोंके कला-कौशलका लोप हो गया और लक्ष्मीदेवीके आगमनके सब द्वार अवरुद्ध हो जानेसे वर्णाश्रमधर्मको माननेवाली आर्यजातिके इस समय प्राण कण्ठगत हो रहे हैं। यदि

जातिको चिरजीवी बनाये रखना है, तो सबसे पहले ब्राह्मणोंके उत्थानका प्रयत्न होना चाहिये और वह प्रयत्न इस विद्यापीठके द्वारा सफल हो सकता है। हमारे पुरोहित, आचार्य और तीर्थगुरु आदि निरक्षर तथा अशिक्षित हो गये हैं और अपने धर्म-कर्मसे हाथ धो बैठे हैं। उन्हें शिक्षित और कार्यक्षम बनाना होगा, तभी आर्यजाति सम्हल सकती है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने ठीक ही कहा है कि—

"ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिकः सनातनो धर्मः"।

ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेसे ही सनातन वैदिकधर्मकी सुरक्षा हो सकती है। यह पहले कहा गया है कि, जिसके न होनेसे किसी वस्तुका अस्तित्व रह नहीं सकता, वही धर्म है। जैसे—अग्निमें यदि दाहकत्व और प्रकाशकत्व न हो, तो अग्निका अस्तित्व नहीं रह सकता। इसी तरह ब्राह्मणमें यदि ब्राह्मणत्व न हो, तो वह ब्राह्मण नहीं रह जाता। ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व इन कर्मोंके द्वारा सुरक्षित रहता है:—

"शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्"।

शारीरिक और मानसिक संयम, तपस्या, अन्तर्बहिः पवित्रता, क्षमा, बुद्धि, सरलता, ज्ञान (स्वाध्याय), विज्ञान (तत्त्वनिश्चय) और श्रीभगवान्, वेद तथा परलोकमें दृढ़ विश्वास ये ब्राह्मणके स्वभावजात कर्म हैं और इन्हींमें उनका ब्राह्मणत्व निहित है। उसी ब्राह्मणत्वकी रक्षाका प्रयत्न इस विद्यापीठके द्वारा किया जा रहा है।

रजोवीर्यकी शुद्धिके कारण ही अनादिकालसे आर्यजाति टिकी हुई है और आघात-प्रतिघातोंको सहकर भी जीवित रहनेकी उसमें क्षमता है। अतः इस मौलिक सिद्धान्त (रजोवीर्यकी

शुद्धि) को अक्षुण्ण रखनेका प्रयत्न सभीको करना चाहिये। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है, जब हम आर्यनारियोंके पवित्रता (सतीत्व) की रक्षामें सदा सचेष्ट रहें। आजकल आर्यमहिलाओं और बालिकाओंके सम्बन्धमें विवाहसम्बन्ध-विच्छेद, कन्यादाय, बालिकाओंके विवाहकालकी वृद्धि आदिके जो अनेक बिल बिलबिलाया करते हैं, उनके अनुसार कानून बन जानेपर आर्यमहिलाओंके पावित्र्य और सदाचारपर आघात पहुँचता है। उनका विरोध तो होना ही चाहिये, किन्तु उनके तर्कोंका खण्डन भी बुद्धिमानीके साथ कर देना चाहिये। हमारी सामाजिक व्यवस्थापर सुधारकोंका सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि, अबोध बालिकाओंको छोटी अवस्थामें ब्याह देनेसे उनके विधवा होनेकी सम्भावना रहती है, क्योंकि आजकलकी प्रजा दीर्घायु नहीं होती। अतः उनके विवाहकी वयोमर्यादा बढ़ा देनी चाहिये और उन्हें पुनर्विवाह तथा नापसन्द पतिके त्यागनेकी सुविधा कर देनी चाहिये। साथ ही पितृधनमेंसे उनको जीविका निर्वाहकेलिये हिस्सा मिलना चाहिये। इसके लिये कुछ शास्त्रवचनोंकी भी दुहाई दिया करते हैं। इसके प्रति-कारके लिए श्रीजीने बड़ी अच्छी युक्ति सुझायी है। श्रीजी आज्ञा करते हैं कि, प्राचीन प्रणालीके अनुसार कन्याके रजोदर्शनसे पहले वाग्दान करनेकी प्रथा पुनः चलायी जाय। पीछे सुभीतेके अनु-सार विवाहसंस्कार हुआ करेगा। इसका उदाहरण श्रीजीने काशि-राजकी कन्याओं (अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका) का दिया है। यह ऐतिहासिक उदाहरण है। उन तीनों कन्याओंमेंसे अम्बालिकाका वाग्दान साल्वराजसे हुआ भी। तीनोंको एक साथ ही जब भीष्मदेव हरण कर लाये, तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि, अम्बालिकाका विवाह किसके साथ हो। उचित तो

यही था कि, उसका साल्वराजके साथ विवाह होता; परन्तु दूसरेकी हरण की हुई कन्याका पाणिग्रहण करना, क्षत्रियोंके लिये अपमानजनक होनेके कारण, उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वाग्दान होनेपर शास्त्रोक्त कारणोंसे पत्यन्तर ग्रहण किया जा सकता है। इस सुभीतेसे लाभ उठाकर वह भीष्मदेवसे विवाही जानेके लिये सहमत थी, परन्तु भीष्मदेवने आजीवन ब्रह्मचर्यपालनकी प्रतिज्ञा कर ली थी, इस कारण वे विवाहके लिये राजी नहीं हुए। तत्कालीन रीति तो यही थी कि, जो कन्याको हरण कर लावे, वही उससे विवाह करे; परन्तु भीष्मदेव अपने लिये नहीं, किन्तु अपने भाई चित्रांगद और विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी कन्याओंका हरण कर लाये थे। तदनुसार अम्बिका और अम्बा उनसे ब्याही गयीं; परन्तु अम्बालिका उनसे विवाह करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हुई। भीष्मदेवसे विवाह करनेमें उसको आपत्ति नहीं थी; परन्तु जब उन्होंने उसका पाणिग्रहण करना, अपने गुरुदेव भगवान् परशुरामके बिचवयई करनेपर भी, अस्वीकार कर दिया, तब वह कहींकी न रही। भीष्मदेव अपने गुरुदेवसे भिड़ गये, जिसमें परशुराम पराजित हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि, अब किसी क्षत्रियको मैं शस्त्रविद्या नहीं सिखाऊँगा और अम्बालिकाने इस अभिलाषाको मनमें दृढ़ रखकर चितारोहण कर देहत्याग किया कि, अगले जन्ममें मैं ही भीष्मकी मृत्युका कारण बनूँगी। इसी दृढ़ अभिलाषाके अनुसार वह शिखण्डीके रूपमें जन्मी और उसकी आड़में भीष्मदेव आहत हुए। पुरुषत्वहीन होनेके कारण उसके ऊपर वे शस्त्र नहीं चला सके। इस उदाहरणसे वाग्दानका सुभीता सहज ही समझमें आ सकता है। यदि भीष्मदेव प्रतिज्ञाबद्ध न होते, तो वाग्दान साल्वराजके साथ होनेपर भी वह भीष्मदेवसे ही ब्याही जाती।

श्रीजीके विचारमें महर्षि पराशरके 'नष्टे मृते' आदिकी व्यवस्थाका आजकलके नवशिक्षित जैसा दुरुपयोग करते हैं, उसको देखकर क्षोभ होता है। वास्तवमें महर्षि पराशरने जिस प्रसङ्गमें यह व्यवस्था दी है, वह प्रसङ्ग वाग्दानका है, विवाहका नहीं। इसमें यह गुंजाइश है कि; वाग्दानके उपरान्त यदि वर खो जाय, मर जाय, संन्यासी हो जाय, पुरुषत्वहीन सिद्ध हो जाय या पतित हो जाय तो वह वाग्दत्ता कन्या अन्यपुरुषसे ब्याही जा सकती है। यदि वाग्दानकी प्रथा पुनः चलायी जाय, तो शास्त्रवचनोंकी मर्यादा सुरक्षित रहेगी, सतीत्वधर्म अक्षुण्ण रहेगा और आजकल कानून बनाकर आर्यनारियोंके सतीत्वधर्मको नष्ट-भ्रष्ट करनेकी जो जातिनाशकारी प्रवृत्ति हो रही है, वह अनायास आप ही आप विफल हो जायगी। फिर न तो कन्याओंकी वयोवृद्धिकी आवश्यकता होगी, न पुनर्विवाहकी, न पत्यन्तरग्रहण करनेकी और न उनकी जीविकाकी व्यवस्था या चिन्ता करनेकी। हमारी माताएँ जबतक पवित्र हैं, तभीतक हमारा अस्तित्व है, यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये।

इन बातोंकी सिद्धिके लिये पुरोहित सम्प्रदायको प्रोत्साहित कर आगे बढ़ाना होगा। क्योंकि वे ही विवाह कराते हैं और हिन्दु-धर्मके मुल्ला, पादड़ी या रजिस्ट्रार माने गये हैं। यह स्वजातीय विद्यापीठ उनकेलिए छोटे-छोटे सुलभ पाठ्यग्रन्थ निर्माणकर सहायता करेगा और अपने केन्द्रों तथा प्रचारविभागद्वारा इस सामाजिक कार्यमें पर्याप्त सहायता पहुँचाता रहेगा। साथ ही साथ घरेलू धार्मिक शिक्षाके द्वारा घर-घर इन उद्देश्योंका प्रचार होता रहेगा। इससे आन्तरिक और बाहरी बाधाओंका भय ही नहीं रहेगा। घरेलू धार्मिक शिक्षा और सर्वसाधारणके ज्ञानकी सुगमतासे वृद्धिके लिये श्रीमहामण्डलके द्वारा सनातन-

धर्मके विविध मौलिक सिद्धान्तोंको लेकर सरल भाषामें संक्षिप्त रूपसे छोटी छोटी पुस्तिकाएँ प्रतिमास नियमितरूपसे अथवा आवश्यकतानुसार प्रकाशित हुआ करेंगी, जिनके प्रचारसे विद्यापीठका यह सामाजिक कार्य सफल हो सकता है। इन पुस्तिकाओंके अध्ययनसे बड़े-बड़े धार्मिक और आध्यात्मिक विषय थोड़ा ध्यान देनेसे ही हृदयङ्गम कर लिये जा सकते हैं और इनके द्वारा प्रचारकार्यमें भी बड़ी सहायता मिल सकती है। इस अपने ही महादेशमें 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठ' एकमात्र ऐसी संस्था है, जो प्राचीन मौलिक भारतीय लक्ष्यपर डटी हुई है। हमारी संस्कृति, सभ्यता, विद्या, कला और आध्यात्मिक लक्ष्यकी जबतक सुरक्षा होती रहेगी, तबतक आर्यजातिके नष्ट होनेकी किसी प्रकार आशंका नहीं हो सकती।

इस 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठ' के केन्द्रों और परीक्षाओंके ऐसे सुगम नियम निर्धारित किये हैं, जो सब प्रकारके कार्यकर्ताओं और विद्यार्थियोंके लिये सुविधाजनक हों। उन नियमोंका यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है :—

सब प्रकारकी परीक्षाएँ इसके केन्द्रोंमें ही होंगी। केन्द्रोंके स्थापित करनेमें निम्नप्रकारके संस्थानोंको प्रधानता दी जायगी :— १—कालेज, २—स्कूल, ३—संस्कृतपाठशालाएँ, ४—सार्वजनिक पुस्तकालय, ५—श्रीभारतधर्ममहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त संस्थाएँ, ६—अन्यान्य धर्मसभाएँ, ७—श्रीमहामण्डलके संरक्षकोंके स्थान, ८—श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधियोंके स्थान, ९—अन्य ऐसे महानुभावोंके स्थान, जो अपनी योग्यताके कारण प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हों और १०—जिस संघटनमें श्रीमहामण्डलके कमसे कम ७ सदस्य हों, वह यदि अपने यहाँ केन्द्र खोलना चाहें, तो उनको अनुमति दी जायगी। केन्द्रस्थापनके लिये किसी प्रकारका शुल्क नहीं

लिया जाता। धर्मसेविका विद्यापीठसे सम्बन्धयुक्त स्त्रियोंके परीक्षा-केन्द्रोंके नियम पृथक् प्रकाशित हुए हैं। सब परीक्षाकेन्द्रोंको 'सूर्योदय' मासिकपत्रका वह अङ्क बिना मूल्य भेजा जायगा, जिसमें परीक्षाफल प्रकाशित हुआ हो; परन्तु जिस केन्द्रसे कमसे कम १० विद्यार्थी प्रतिवर्ष परीक्षाओंमें सम्मिलित होंगे, उनको सदाके लिये 'सूर्योदय' के सब अङ्क बिना मूल्य मिला करेंगे।

परीक्षाएँ चार विभागोंमें विभक्त होंगी :—(अ) निर्दिष्ट विषयोंपर निबन्धरचना द्वारा, (आ) निबन्धरचना और मौखिक परीक्षाद्वारा, (इ) केन्द्रोंमें प्रश्नपत्रोंके लिखित उत्तरद्वारा तथा प्रधानकार्यालयमें मौखिक परीक्षाद्वारा तथा (ई) केन्द्रोंमें केवल प्रश्नपत्रोंके लिखित उत्तरद्वारा। इनमेंसे (अ) विभागमें वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, आगम, साहित्य, व्याकरण, ज्यौतिष और 'विद्यावाचस्पति' उपाधिकी परीक्षाएँ होंगी। इन विषयोंकेलिये संस्कृतमें निबन्ध लिखना होगा। डी० ओ० सी०, पी० एच० डी० और बी० डी० सी० की परीक्षाएँ अंग्रेजीमें निबन्धरचना द्वारा होंगी। 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधिपरीक्षा हिन्दी भाषामें निबन्धद्वारा होगी। (आ) विभागमें 'पुरोहितरत्न' और 'व्याख्यानवाचस्पति' की उपाधिपरीक्षाओंमें हिन्दीभाषामें निबन्ध लिखना पड़ता है और अपनी मातृभाषामें व्याख्यानादिकी मौखिक परीक्षा भी देनी पड़ती है। (इ) विभागकी 'श्रौतकर्म-निष्णात' की पदवीपरीक्षा संस्कृत या हिन्दीमें होती है और (ई) विभागमें वेद, दर्शन, पुराण, आगम, धर्मशास्त्र, व्याकरण, साहित्य, कर्मकाण्ड, ज्यौतिष और आयुर्वेदकी प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और आचार्यकी परीक्षाएँ होती हैं। प्रथमा और मध्यमामें कोई उपाधि नहीं दी जाती, केवल प्रमाणपत्र दिया जाता है, परन्तु शास्त्री और आचार्य परीक्षाओंमें उपाधिसहित प्रमाणपत्र दिया

जाता है। जो जिस विषयकी शास्त्री या आचार्य परीक्षामें उत्तीर्ण होगा, उसे उसी विषयकी शास्त्री या आचार्यकी उपाधि दी जायगी। जैसे:—साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, आदि। केवल 'आचार्य' शब्दका उपयोग कोई उत्तीर्ण छात्र नहीं कर सकेगा।

किसी दर्शनकी मध्यमा अथवा व्याकरण या साहित्यकी शास्त्री परीक्षामें उत्तीर्ण विद्यार्थी दर्शनशास्त्री परीक्षामें प्रविष्ट हो सकेगा। सर्वदर्शनशास्त्री और 'सर्वदर्शनाचार्य' परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वानोंको उपाधिके अतिरिक्त कुछ पुरस्कार भी इस प्रकार दिया जाता है:— 'सर्वदर्शनशास्त्री' परीक्षाकी प्रथमश्रेणीमें उत्तीर्ण सर्वप्रथमको १००), द्वितीयको ५०), तृतीयको २५) और 'सर्वदर्शनाचार्य' परीक्षाकी प्रथमश्रेणीमें उत्तीर्ण सर्वप्रथमको २००), द्वितीयको १००) और तृतीयको ५०) हिन्दीकी शास्त्री और आचार्य परीक्षाओंमें यथाक्रम 'हिन्दीसाहित्य शास्त्री' और 'हिन्दीसाहित्यरत्न'-की उपाधि दी जाती है। 'आयुर्वेद-शास्त्री' परीक्षामें जो हिन्दी भाषामें उत्तर लिखेंगे, उन्हें 'आयुर्वेद-शास्त्री'की समकक्ष 'वैद्यभूषण' की उपाधि दी जायगी। प्रथमा और मध्यमाके प्रथम और द्वितीय प्रश्नपत्रके उत्तर संस्कृत अथवा हिन्दी भाषामें लिखे जा सकते हैं। महिलाएँ भी इन परीक्षाओंमें सम्मिलित हो सकती हैं। उनके लिये पृथक् तीन उपाधिपरीक्षाएँ भी रक्खी गयी हैं—१—धर्म-दीपिका, २—धर्मकोविदा और ३—धर्मशारदा। इसके विस्तृत नियमों और पारितोषिक आदिकी व्यवस्थाका विवरण पृथक् प्रकाशित किया गया है, जो 'धर्मसेविका विद्यापीठ, श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्, जगत्गंज, वाराणसी' को पत्र लिखनेसे प्राप्त हो सकता है। परीक्षाओंमें सम्मिलित होनेवाली महि-लाओंसे आधा परीक्षा-शुल्क लिया जाता है और परीक्षाके

समयमें परीक्षा-भवनमें उनके बैठनेकेलिये विशेष प्रबन्ध किया जाता है। हिन्दू बालकों और नवयुवकोंकी प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाएँ हिन्दी भाषा अथवा अंग्रेजीमें भी ली जा सकेंगी। इस विद्यापीठमें देववाणी संस्कृतकी ही यद्यपि प्रधानता रक्खी गयी है, तथापि राष्ट्रभाषा हिन्दीका भी महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है और हिन्दीके माध्यमसे परीक्षा लेनेकी व्यवस्था की गयी है। क्योंकि श्रीमहामण्डल आरम्भसे ही हिन्दी राष्ट्रभाषाका पक्षपाती रह आया है। इसी तरह वह देवनागरी लिपिका भी समर्थक होनेसे विद्यापीठके विभिन्न कार्य-विभागों और परीक्षाओंमें भी देवनागरी लिपि ही बरती जाती है।

यह विद्यापीठ वर्णाश्रमधर्मका पोषक होनेसे उसकी मर्यादा बनाये रखनेके विचारसे यह नियम किया गया है कि, वेद, पौरोहित्य, देवार्चन, कर्मकाण्ड तथा धर्मोपदेशक परीक्षाओंमें केवल ब्राह्मण पुरुष ही सम्मिलित हो सकेंगे। सामान्यतया किसी विषयकी आचार्य, हिन्दी साहित्यरत्न, साहित्यवाचस्पति और विद्यावाचस्पति परीक्षाओंमें वे ही सम्मिलित हो सकेंगे, जो उस विषयमें इस विद्यापीठ अन्य विश्वविद्यालय अथवा तत्समपरीक्षा-समितिकी प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, या तत्सम किसी उपाधिपरीक्षामें उत्तीर्ण हुए हों। प्रथमामें उत्तीर्ण मध्यमामें और मध्यमामें उत्तीर्ण 'शास्त्री' परीक्षामें बैठ सकता है। व्याकरण मध्यमामें उत्तीर्ण विद्यार्थी 'साहित्यशास्त्री'की परीक्षा दे सकता है। व्याकरणशास्त्री और साहित्यशास्त्रीकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण विद्यार्थी पुराण और धर्मशास्त्रकी आचार्य परीक्षा दे सकता है। विशेष योग्यता प्रमाणित होनेपर कोई भी विद्यार्थी बिना प्रथमामें उत्तीर्ण हुए किसी विषयकी मध्यमा परीक्षा दे सकता है।

इस विद्यापीठके विस्तृत उद्देश्य श्रीजीने इस प्रकार प्रकाशित किये हैं :—१—यद्यपि पूज्यपाद, त्रिकालदर्शी, ज्ञानपथप्रदर्शक महर्षियोंकी चलायी हुई शिक्षाप्रणालीका स्थायी प्रचार करना, यही इस विद्यापीठका एकमात्र उद्देश्य है, तथापि इसमें निम्नलिखित विषयोंका आप ही समावेश हो जाता है :—(क) भारतमें स्थान स्थानपर विद्वान् ब्राह्मणों और संस्कृतके प्रेमी दाताओंके प्रयत्नसे संस्कृत विद्याप्रचारके लिये जो शिक्षाकेन्द्र स्थापित हुए हैं, उनको एक सूत्रमें बाँधकर विद्यापीठके उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायता करना, (ख)—भारतके जो प्राचीन विद्यापीठ हैं, उनको पुनर्जीवित और शक्तिशाली बनानेका प्रयत्न करना और उनको काशीके प्रधान केन्द्रके द्वारा उत्साह और सहायता देना, (ग)—एक विशेष शिक्षा-प्रणालीका अवलम्बन करना, जो अपनी प्राचीन मर्यादाओंकी रक्षक, आर्यसंस्कृतिकी पोषक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिकी साधक तथा वर्तमान देश-कालपात्रके उपयोगी हो। इसके लिये भारत भरमें परीक्षाकेन्द्र खोलना, (घ) सनातनधर्मी नर-नारियों और बालक-बालिकाओंमें धार्मिक शिक्षाका विस्तार करना तथा प्रत्येक हिन्दुकुटुम्बमें पुस्तकादि द्वारा धार्मिक शिक्षाका नियमित प्रचार करना, (ङ)—वर्णाश्रम-सदाचारका लोप न हो और आध्यात्मिक उन्नतिशील सम्प्रदायका नाश न हो, इसके लिये भारतखण्डमें जो सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके विद्यादानके कार्यमें सहायता देना, (च) इस विद्यापीठके प्रयत्नसे पृथ्वीकी सब जातियोंको लाभ पहुँचे, ऐसा उद्योग करना, (छ) आर्य-महिलाओंमें धार्मिक शिक्षाका विस्तार करनेके लिये 'श्रीआर्य-महिलाहितकारिणी महापरिषद्' नामक जो एक स्वतन्त्र संस्था श्रीजीके द्वारा स्थापित हुई है, तदन्तर्गत 'धर्मसेविका विद्यापीठ' के कार्यक्षेत्रका भारतखण्डमें विस्तार करना और आर्यमहिलाओंमें

धार्मिक और संस्कृतशिक्षाका अधिकसे अधिक प्रचार करनेमें सहायता देना, (ज) आयुर्वेदकी सर्वाङ्गीन शिक्षाके लिये काशीमें 'आयुर्वेद सम्मिलनी' नामक जो संस्था स्थापित हुई है, उसके कार्य-क्षेत्रको बढ़ाकर आयुर्वेदकी शिक्षाको प्रोत्साहन देना, (झ) शास्त्र-प्रकाशन और प्रचारकेलिये श्रीमहामण्डलका जो एक स्वतन्त्र विभाग खोला गया है, उसके द्वारा इस विद्यापीठके मुखपत्ररूपसे सामयिक पत्र प्रकाशित करना और प्राचीन दुर्लभ अत्युपयोगी ग्रन्थोंकी टीका, भाष्य और हिन्दी भाषान्तर सहित, प्रकाशन करना इसी तरह सामयिक पत्र और छोटी बड़ी पुस्तकें राष्ट्रभाषामें प्रकाशित करना और अन्य प्रान्तीय भाषाओंमें प्रकाशित करनेमें उत्साह देना, (ञ) सुकौशलपूर्ण उपायोंद्वारा हिन्दूबालक-बालिकाओंको बाल्यावस्थामें ही घरमें धार्मिक शिक्षा प्राप्त हो सके, ऐसा प्रयत्न करना (ट) सांगोपाङ्गवेद, वैदिक दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराणशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, धर्मवक्तृताकी प्रणाली, संस्कृत-साहित्यका ज्ञान, राष्ट्रभाषा हिन्दीसाहित्यका ज्ञान, कर्मकाण्डका विधिज्ञान आदिकी परीक्षाएँ चलाकर सनातनधर्मके अविरुद्ध सद्विद्याका विस्तार करना और परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियोंको पुरस्कार आदि द्वारा उत्साहित करना और (ठ) अंग्रेजी भाषा-भाषी विद्वानोंसे धार्मिक शिक्षा और तुलनात्मक दार्शनिक गवेषणाके प्रचारके लिये प्रबन्ध लिखवाकर उपाधि, पुरस्कार आदि द्वारा उनको सम्मानित करना, इत्यादि ।

इस संस्थाके सर्वप्रधान उद्देश्यके अन्तर्गत जो उक्त बातें आ जाती हैं, उनमेंसे अधिकांश कार्य आरम्भ हो गये हैं और वे अच्छी तरहसे चल रहे हैं। यथाः—भारतके सब संस्कृत-शिक्षा-केन्द्रोंको एक सूत्रमें बाँधा जा रहा है। विभिन्न प्रान्तोंके प्राचीन विद्यापीठोंका संस्कार कराया जा रहा है। विशेष शिक्षा-

प्रणाली निश्चित हो चुकी है, अनेक परीक्षा-केन्द्र खुल चुके हैं और खुल रहे हैं और शिक्षाकेन्द्रोंमें उक्त निश्चित शिक्षा-प्रणाली चलायी जा रही है। हिन्दू कुटुम्बोंमें धार्मिक शिक्षा प्रचारके योग्य पुस्तिकाएँ प्रकाशित की गयी हैं और उनका प्रचार किया जा रहा है। सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणोंको विद्यादानके कार्यमें सहायता दी जा रही है। पृथ्वीकी सब जातियोंके लाभार्थ आध्यात्मिक विषयकी अंग्रेजी पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं, उनमेंसे कुछ पुस्तकोंके जर्मन जैसी यूरोपीय भाषाओंमें अनुवाद भी हो गये हैं। आर्यमहिलाओंमें धार्मिक शिक्षा विस्तारका 'श्री आर्यमहिला-हित-कारिणी महापरिषद्' लगनके साथ प्रयत्न कर रही है। धर्मसेविका विद्यापीठका कार्य भी अग्रसर हो रहा है। आयुर्वेद सम्मिलनीका कार्य उन्नत हो रहा है। मुखपत्र निकलने लगे हैं और शास्त्र-प्रकाशन विभागके द्वारा प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन हो रहा है। बालक-बालिकाओंकी शिक्षाके उपयोगी पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत हो गये हैं। विद्यापीठकी व्यवस्थितरूपसे परीक्षायें प्रारम्भ हो गयी हैं। अंग्रेजी भाषाके विद्वानों द्वारा धार्मिक और तुलनात्मक धार्मिक लेख लिखवाकर उन्हें उपाधियों और पुरस्कारसे सम्मानित भी किया गया है। श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी रजिस्ट्री होते ही श्रीजीने जिस 'उपदेशकमहाविद्यालयकी नींव डाली थी, वह विद्यालय सुचारुरूपसे स्थापित होकर अपना उद्दिष्ट साधन कर रहा है। उसके उद्देश्योंका उल्लेख पहले हो चुका है। उसके संक्षिप्त नियम इस प्रकार हैं:—

१—भारतभरमें और सुभीतेके अनुसार विदेशियोंमें भी धर्म-प्रचार और धर्मशिक्षा प्रदान करने तथा स्वधर्म, स्वदेशों और स्व-जातिकी सेवा करने योग्य साधु और सद्गृहस्थ प्रचारक, धर्मसेवक

तथा धर्मशिक्षक प्रस्तुत करनेके अभिप्रायसे काशीपुरीमें यह उपदेशक महाविद्यालय स्थापित रहेगा।

२—वर्णाश्रमधर्मके माननेवाले सब सम्प्रदायोंके अनुयायी इस महाविद्यालयमें प्रविष्ट हो सकेंगे। इसका एक ऐसा साधारण विभाग रहेगा, जिसमें सर्वसाधारण जिज्ञासु हिन्दूधर्म और हिन्दूदर्शनशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। इस विभागमें दो श्रेणियाँ रक्खी गयी हैं, १—महाध्यापक श्रेणी और २—धर्मसेवक श्रेणी। महाध्यापक श्रेणीमें केवल वे ही विद्वान् ब्राह्मण लिये जायेंगे, जो महाविद्यालयकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर धर्मोपदेशक अथवा धर्माध्यापकका कार्य कर सकें। धर्मसेवक श्रेणीमें द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी) सम्मिलित हो सकेंगे, जो अपनी योग्यताके अनुसार धर्मप्रचारक तथा अन्य प्रकारसे धर्मसेवा कर सकें।

३—महाध्यापक श्रेणीमें वे ही विद्वान् लिये जायेंगे, जो भारतीय किसी विश्वविद्यालयकी संस्कृतसाहित्य, व्याकरण आदिकी किसी उपाधिपरीक्षामें उत्तीर्ण हों और संस्कृतसाहित्यमें विशेष ज्ञान रखते हों।

४—धर्मसेवक श्रेणीके शिक्षार्थियोंके लिये संस्कृतके साधारण ज्ञानकी आवश्यकता होगी, किन्तु उनको अंग्रेजीमें बी० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाना चाहिये या बी० ए० की योग्यता रखनी चाहिये। दोनों श्रेणियोंके शिक्षार्थियोंके लिये अन्यान्य भाषाओंके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिन्दीका विशेष ज्ञान अपेक्षित होगा।

५—जो गृहस्थ शिक्षार्थी इस महाविद्यालयमें प्रविष्ट होंगे, उनको धर्म प्रतिज्ञापत्रके अतिरिक्त एक ऐसा कानूनी विशेष प्रतिज्ञापत्र (Agreement) लिख देना होगा, जिसके अनुसार परीक्षोत्तीर्ण होनेपर श्रीमहामण्डलकी आवश्यकताके अनुसार प्रधान कार्यालय,

प्रान्तीय कार्यालयों, शाखा-सभाओं या पोषकसभाओंमें वैतनिक रूपसे पाँच वर्षोंतक धर्मसेवाका कार्य उन्हें करना होगा और यह भी लिख देना होगा कि, वे चाहे किसी अवस्थामें रहें, आजीवन धर्मसेवा करते रहेंगे।

६—इस महाविद्यालयके शिक्षार्थियोंमें धर्मसेवाप्रवृत्ति, स्वधर्म और स्वदेशके प्रति अनुराग, संयम उपासना, वक्तृता देनेमें अभिरुचि, स्वाभाविक वक्तृत्वशक्ति, पुरुषार्थशीलता, सदाचार आदि गुण आवश्यक होंगे। जब तक वे महाविद्यालयके 'पण्डितनिवास'में रहेंगे, तबतक महाविद्यालयके नियमोंको और योग्यता सम्पादन करनेके उपरान्त धर्मसेवामें प्रवृत्त होने-पर श्रीमहामण्डलके नियमों और उपनियमोंको दृढ़तापूर्वक मानना पड़ेगा।

७—शिक्षार्थियोंकी शिक्षाका समय दो वर्ष निर्द्धारित हुआ है; परन्तु इससे पहले ही यदि वे योग्य समझे जायेंगे, तो उपाधियोंको प्राप्तकर धर्मसेवामें प्रवृत्त हो सकेंगे। परीक्षोत्तीर्ण होनेपर महाध्यापक श्रेणीके शिक्षार्थियोंको 'महाध्यापक' और धर्मसेवक श्रेणीके शिक्षार्थियोंको 'धर्मसेवक'की उपाधि दी जायगी। इसके अतिरिक्त उन्हें एक मानवस्त्र भी दिया जायगा, जो धर्मव्रतधारणका शुभ सूचक होगा।

८—शिक्षार्थियोंको अपने पिता, अभिभावक (Guardian) अथवा उत्तरदायी किसी व्यक्तिका अनुज्ञापत्र और सच्चरित्रताका प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना होगा। तभी वे इस महाविद्यालयमें प्रविष्ट हो सकेंगे।

९—साधु-शिक्षार्थी 'महाध्यापक' या 'धर्मसेवक' श्रेणीमें प्रविष्ट हो सकेंगे, परन्तु उनमें यदि संस्कृतकी योग्यता न हो, तो एक-दो वर्षोंमें योग्यता प्राप्त कर लेनेपर उनको प्रविष्ट होनेकी अनु-

मति दी जायगी। उनकी भिक्षा और वस्त्रका भार श्रीमहामण्डल वहन करेगा। उनके परीक्षोत्तीर्ण होनेपर भी यही नियम रहेगा। उन्हें धर्म-प्रचारका कार्य अखण्ड रूपसे करते रहना होगा। रेल किराया और अन्य खर्च उनको मिला करेगा। उनकी वृद्धावस्था और पीड़ितावस्थामें उनकी सेवा श्रीमहामण्डलकी ओरसे हुआ करेगी।

१०—जो विद्वान् गृहस्थ और साधु इस महाविद्यालयमें लिये जायेंगे, उन्हें विद्यालयके छात्रावासमें रहना होगा। साधारण श्रेणीमें प्रविष्ट होनेका जिन छात्रों या जिज्ञासुओंको अवसर दिया जायगा, उनके लिये इस नियमका पालन करना आवश्यक नहीं होगा।

११—योग्य और विशेष गुण-सम्पन्न धर्मवक्ता, धर्माध्यापक और धर्मसेवक प्रस्तुत करना ही इस महाविद्यालयका प्रधान उद्देश्य होनेके कारण धर्मजिज्ञासा, शिक्षा और व्याख्यान शिक्षा देते समय साधारण धर्मजिज्ञासु भी अध्यक्षसे आज्ञा लेकर उपस्थित हो सकेंगे। सभी शिक्षार्थियोंके धर्मसाधनके लिये यह महाविद्यालय कर्मक्षेत्र रूप माना जायगा।

१२—छात्रावासमें निवास करनेवाले विद्वान्, चाहे वे किसी श्रेणीके हों, उनको अपनी दिनचर्या महाविद्यालयके नियमानुसार रखनी होगी। वह इस प्रकार है :—(क) प्रत्येक शिक्षार्थीको सदाचार और शिष्टाचारके सब नियमोंका पालन करना होगा, (ख) उन्हें सन्ध्या, पञ्च-महायज्ञ आदि नित्यकर्म करने होंगे, (ग) उनको नियमपूर्वक प्रतिदिन अपने सम्प्रदायके अनुसार उपासना करनी होगी। साथ ही आध्यात्मिक उन्नतिकेलिये प्राणायामादि योग-क्रियाओंका भी साधन करना होगा। (घ) ऋषियज्ञसाधनके लिये प्रतिदिन कुछ वैदिक सूक्तोंका स्वरसहित पाठ करना होगा।

१३—इस समय साधु-सम्प्रदायकी जो अवनति हो रही है और साधुओंके सम्बन्धमें जो जटिल समस्या उपस्थित हो गयी है, उसके

सुलझानेके लिये यह महाविद्यालय विशेषरूपसे चेष्टा करेगा। श्रीभारतधर्म महामण्डल सब हिन्दूसम्प्रदायों, पन्थों और अधिकारों-के सनातनधर्मावलम्बियोंकी प्रतिनिधिभूत विराट् धर्मसभा होनेसे सब सम्प्रदायों और पन्थोंके साधु इस महाविद्यालयमें प्रविष्ट हो सकेंगे।

१४—संन्यासी हों या किसी सम्प्रदाय अथवा पन्थके साधु हों, इस महाविद्यालयके द्वारा श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त होनेपर उन्हें वर्णाश्रमधर्मकी सम्मानवृद्धि और मर्यादाकी सुरक्षाके लिये प्रतिज्ञा करनी होगी। वे स्वधर्म, स्वदेश और स्वजातिके उत्कर्ष साधनके कार्योंसे सहानुभूति रखकर जब आजीवन इस महायज्ञकी सेवामें तत्पर रहनेका दृढ़ संकल्प करेंगे, तभी इस विद्यालयमें प्रविष्ट हो सकेंगे। यही उनका निष्काम कर्मयोग है।

१५—संन्यासी और साधुगण अपने-अपने साम्प्रदायानुसार चाहे कहीं दीक्षा ग्रहण करें, अपने आम्नायकी रीतिके अनुसार कर्म, उपासना और ज्ञानकी साधनशैलीको मानते हुए श्रीमहा-मण्डलके साथ सम्बन्धयुक्त हो सकेंगे। परन्तु उन्हें श्रीमहामण्डलके नियमों, उपनियमों और साधन-शैलियोंको यथावत् मानना पड़ेगा।

१६—साधु-संन्यासियोंके निवृत्तिपथावलम्बी होनेपर भी धार्मिक और उपदेश-प्रणालीकी शिक्षाके विचारसे गृहस्थों और उनकी शिक्षा-प्रणालीमें कोई अन्तर न होगा। परन्तु उनके लिये आश्रमो-चित मर्यादापालन और योगसाधन आदिकी विशेष रीति रक्खी जायगी। उन्हें दृढ़व्रत होकर चतुर्थाश्रमके उपयोगी तप, संयम और आचारोंका पालन आजीवन करना होगा। इसमें व्यतिरेक होनेपर वे प्रायश्चितार्ह माने जायँगे।

१७—साधु-संन्यासी कामिनी-काञ्चनसे कोई सम्बन्ध नहीं रख सकेंगे। गुरुसेवा और शरीरयात्राकेलिये उन्हें धनका प्रयोजन हुआ, तो दिया जाया करेगा। यही नहीं, किन्तु यदि वे धर्मात्मा

अपनी तीव्र सद्वासनाका परिचय देंगे और आजीवन चतुर्थाश्रममें रहकर श्रीमहामण्डलकी धर्मसेवा करनेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध होंगे, तो उनका कोई आवश्यक कर्तव्य शेष रह जानेपर उसे पूर्ण करनेका भार श्रीमहामण्डल ग्रहण करेगा।

साधु सम्प्रदायका इस प्रकार सुधार होजानेपर उनके सम्बन्धकी जटिल समस्या आप ही हल हो जायगी और उनकी अवनति रुक जायगी। इस महाविद्यालयसे वे जितना लाभ उठावेंगे, उतना ही उनका उत्कर्ष होगा। विस्तृत नियमावली मँगाकर देखिये।

जिस प्रकार इस 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठका' उपदेशक-महाविद्यालय-विभाग, दृढ़तर शृंखलाबद्ध है, उसी प्रकार 'आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्' का आर्यमहिलाओंकी सेवा और उन्नतिका कार्य भी बड़े उत्साह और लगनके साथ अग्रसर हो रहा है। इसका विस्तृत विवरण 'महामण्डलकी सेवाएँ' शीर्षक परिशिष्टमें प्रकाशित किया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है:— इस महापरिषद्का कार्यालय तो श्रीमहामण्डल-भवनमें ही है, किन्तु शिक्षाविभाग महानगरपालिकाके समीप उसके अपने विशाल भवनमें रक्खे गये हैं। इस संस्थाके कई कार्य-विभाग हैं, यथा—डिग्रीकालेज-विभाग, इन्टरकालेज-विभाग, हाईस्कूल-विभाग, प्राइमरी सेक्शन-विभाग, छात्री-निवासविभाग, अन्नसत्र-विभाग, मासिकपत्र (आर्यमहिला) विभाग, प्रकाशन-विभाग आदि। इन्हीं विभागोंमें 'धर्मसेविका विद्यापीठ' का भी एक महत्त्वपूर्ण विभाग है, जिसकी दो शाखाएँ हैं, १—महाविद्यालय (डिविनिटी कालेज) और २—उपाधिपरीक्षा। महाविद्यालयकी स्थापनाका उद्देश्य यह है कि, इसके द्वारा द्विजातिकी उच्चकुलकी महिलाओंको उच्च श्रेणीकी शिक्षा देकर उनको धर्म, देश तथा समाज-सेवाके उपयोगी बनाया जाय। इसमें उच्चजातिकी आर्यमहिलायें, विशेषतः हिन्दू

विधवाएँ भरती की जाती हैं। उन्हें शिक्षा प्राप्त करते समय योग-क्षेमके लिये मासिक वृत्ति भी दी जाती है। परीक्षोत्तीर्ण होनेपर जो महिलाएँ धर्मसेवा, देशसेवा और जातिसेवामें अपना जीवन अर्पण करना चाहती हों, उनके आजीवन भरण-पोषणका भार महापरिषद् ग्रहण करती है। विद्यापीठकी दूसरी शाखा (उपाधि-परीक्षा) प्रकारान्तरसे अखिल-भारतीय आर्यमहिला-विश्वविद्यालयका कार्य करती है। इसकी उपाधि-परीक्षाएँ तीन हैं, जिनसे उत्तीर्ण हो जानेपर क्रमशः १—धर्मदीपिका, २—धर्मकोविदा और ३—धर्मशारदाकी उपाधियाँ दी जाती हैं। यद्यपि धर्मदीपिकामें उत्तीर्ण होनेपर धर्मकोविदा और धर्मकोविदामें उत्तीर्ण होनेपर धर्मशारदा परीक्षा देनेका नियमानुसार अधिकार प्राप्त होता है, तथापि जो महिलायें किसी विश्वविद्यालयकी उपाधिपरीक्षामें उत्तीर्ण होकर उपाधि प्राप्त कर चुकी हों अथवा किसी सम्मानित संस्थाकी अन्तिम उपाधि-परीक्षामें उत्तीर्ण हुई हों, उन्हें 'धर्मदीपिका' या 'धर्मकोविदा' परीक्षा बिना दिये ही 'धर्मशारदा' परीक्षामें बैठनेका अधिकार दिया जाता है। परीक्षाके नियम भी आर्यमहिलाओंकी सुविधाओंके अनुसार बड़े विचारसे बनाये गये हैं। तदनुसार इस विद्यापीठके परीक्षा-केन्द्र भारतके किसी भी प्रान्त, नगर या कसबेमें खोले जा सकते हैं। स्त्रियोंकी किसी प्रकारकी सभा, समिति, सम्मिलिनी, क्लब, पुस्तकालय, वाचनालय या कन्या-विद्यालयोंमें केन्द्रोंके खोलनेमें सुभीता होता है। इन केन्द्रोंकी देख-भाल उन संस्थाओंकी व्यवस्थापिकायें अथवा अध्यापिकायें बड़ी सुगमतासे कर सकेंगी।

जो आर्यमहिलाएँ परदा या अन्य किसी कारणसे केन्द्रोंमें जाकर परीक्षा देनेमें असमर्थ हों अथवा जहाँ कोई कन्यापाठशाला या अन्य कोई स्त्री-संस्था न हो, उनके सौकर्यकेलिये ऐसा प्रबन्ध करनेका नियम रक्खा गया है कि, वे अपने घरमें ही परीक्षा दे

सकें। उनकी परीक्षाओंका निरीक्षण विद्यापीठके द्वारा नियुक्त कोई निरीक्षिका करेगी अथवा यह कार्य-भार परीक्षार्थिनी महिलाओंके अभिभावकोंपर छोड़ दिया जायगा। उनकी कापियाँ विद्यापीठका परीक्षकमण्डल ही जाँचा करेगा और निर्णय देगा। इस विद्यापीठके केन्द्रोंकी सूची, परीक्षाओंके नियम और पाठ्यग्रंथ आदि जाननेके लिये 'महापरिषद्' से विस्तृत नियमावली मँगाकर देखनी चाहिये।

इस धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठकी इस समय निम्नलिखित परीक्षाएँ हुआ करती हैं:—१—धर्म (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और आचार्य), २—व्याकरण (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ३—साहित्य (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ४—पुराण (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ५—आगम (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ६—धर्मशास्त्र (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ७—ज्योतिष (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ८—कर्मकाण्ड, (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और आचार्य) ९—वेद, (प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), १०—दर्शन-(प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य और विद्यावाचस्पति), ११—राष्ट्रभाषा-(प्रथमा, शास्त्री या साहित्यशास्त्री, आचार्य या साहित्यरत्न और राष्ट्रभाषा भूषण) राष्ट्रभाषा भूषणकी परीक्षा वे ही दे सकेंगे, जो इस विद्यापीठकी अन्य किसी विश्वविद्यालयकी अथवा प्रयागके हिन्दी-साहित्य सम्मेलनकी किसी उपाधि-परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये हों। यह परीक्षा निबन्धद्वारा ली जाती है। १२—आयुर्वेदकी परीक्षाओंके सम्बन्धमें यह व्यवस्था की गयी है कि, काशीपुरीमें 'आयुर्वेद सम्मिलनी' नामक

जो एक सुप्रसिद्ध रजिस्टर्ड संस्था स्थापित है, उसमें भारतके अनेक विख्यात आयुर्वेदज्ञ सम्मिलित हैं। इसके द्वारा आयुर्वेद शास्त्रके प्रचार और उसकी मर्यादा वृद्धिके शुभ अभिप्रायसे भारतके सभी प्रान्तोंमें आयुर्वेदकी परीक्षाएँ ली जाती रही हैं। इससे इस शास्त्रके विस्तारमें बहुत सहायता मिली।

अतः इस संस्थाको इस विद्यापीठकी सहयोगिनी बना लिया गया है और विद्यापीठकी ओरसे ही आयुर्वेदकी परीक्षाएँ ली जानेकी व्यवस्था कर दी गयी है। तदनुसार इस विद्यापीठके परीक्षा केन्द्रोंमें नियमित रूपसे प्रतिवर्ष आयुर्वेदकी परीक्षाएँ होती हैं और परीक्षोत्तीर्ण छात्र-छात्रियोंको पुरस्कार आदिके द्वारा उत्साहित किया जाता है। इसकी परीक्षाओंमें प्रथमा और मध्यमाके अतिरिक्त शास्त्री, आचार्य और महोपाध्यायकी उपाधि परीक्षाएँ भी होती हैं। महोपाध्यायके पाठ्यक्रममें पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतिके साधारण ज्ञानका विषय भी रक्खा गया है।

१३—उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डकी सुरक्षा तथा उन्नतिके लिये 'पौरोहित्यरत्न', 'देवार्चनरत्न' और 'श्रौतकर्म-निष्णात' नामक तीन उपाधि-परीक्षाएँ रक्खी गयी हैं। इस समय उपासनाकाण्ड और श्रौतस्मार्त-कर्मकाण्डका प्रायः लोप सा हो गया है; परन्तु हिन्दुओंका हिन्दुत्व सर्वथा इन्हीं दोनों काण्डोंके अस्तित्वपर निर्भर होनेसे इनकी सुरक्षा होना बहुत आवश्यक है। हिन्दूधर्मकी पोषक किसी संस्थाने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया, उलटे उसकी उपेक्षा ही की, जिससे अधिकांश हिन्दू संस्कारहीन हो गये और जब उनमें संस्कारोंका प्रभाव ही नहीं रहा, तब उनका पतित या व्रात्य हो जाना स्वाभाविक है। इस अवस्थाको सुधारने और सम्हालनेके लिये ही ये परीक्षाएँ रक्खी गयी हैं। हिन्दुओंके 'निषेकादि श्मशानान्त' अर्थात् गर्भाधानसे लेकर

अन्त्येष्टितकके सब कर्म श्रौतस्मार्त विधिके अनुसार ही हुआ करते हैं और इसके लिये अच्छे पुरोहितों और कर्मकाण्डियोंकी आवश्यकता होती है; परन्तु इस समय अच्छे पुरोहित और कर्मकाण्डी दुर्लभ हो गये हैं। हिन्दुओंके घरघरमें देवार्चन तो होता ही है, इसके अतिरिक्त भारतमें ऐसे लाखों देवस्थान हैं, जहाँ वैतनिक पुजारी रक्खे जाते हैं। अच्छे पुजारियोंके अभावमें जो ब्राह्मण मिल जाते हैं, उन्हींसे काम चला लिया जाता है। हिन्दू धर्मके सब कर्म वेदमूलक होनेसे नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म करानेवाले श्रौतकर्मोंके जाननेवालोंका प्रयोजन होता है; परन्तु पुजारियोंकी तरह उनका भी अभाव हो रहा है। आजकल पूजा शब्दका अर्थ किया जाता है,—पूजाके शत्रु (पूजायाः अरिः) यही स्थिति पुरोहितोंकी है। 'पुरोहित' शब्दका अर्थ भी बदल गया है। इसका वास्तविक अर्थ है,—जो यजमानके हितका दूरदर्शिता पूर्वक पहलेसे ही विचार रक्खे। परन्तु अब इसका अर्थ हो गया है,—जो यजमानका अहित करे। पूजा उपासनाका प्रधान अङ्ग है। इसमें मन्त्रशुद्धि, वस्तुशुद्धि और क्रियाशुद्धिका बहुत अधिक महत्त्व होता है। आजकल ऐसे गायत्रीपतित पुजारी देख पड़ते हैं, जो कुछ भी नहीं जानते। इसीसे उनकी पूजाका कोई फल नहीं होता और लोगोंमें अश्रद्धा बढ़ती है। जो पुरोहित यजमानोंके संस्कार कराते हैं, वे पोथीसे कुछ पढ़ जाते और यजमान उनके कथनानुसार कवाइत कर देते हैं; परन्तु न वे संस्कारोंका रहस्य समझते, न प्रयोग-पद्धतिमें उल्लिखित मन्त्रोंका अर्थ समझते हैं। यहाँ तक कि, शुद्धतापूर्वक मन्त्रोंका उच्चारण भी नहीं कर सकते और न यजमानको ही यह जाननेकी अपेक्षा होती है कि, पुरोहितजी क्या बक रहे हैं और क्या कवाइत करा रहे हैं। ऐसे संस्कारोंसे कोई लाभ नहीं होता। वेदाङ्ग-शिक्षामें तो स्पष्ट रूपसे

लिखा है कि, ऐसे ब्राह्मण अशुद्ध मन्त्र पढ़कर यदि यजमानके सिर पर आशीर्वादकी अक्षताएँ छोड़ें, तो वे अक्षताएँ शस्त्रके रूपमें वज्र होकर यजमानके सिरपर पड़तीं और उनसे उसका नाश हो जाता है :—

''अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके ।
यजमानं हिनस्ति...................... ॥''

हिन्दुओंके वैदिक संस्कारोंसे बढ़कर क्या, उनके समान भी कोई संस्कारकी किसी जातिमें नहीं पाया जाता । विवाह-संस्कार-को ही लीजिये । हिन्दुओंकी ब्राह्म-विवाहविधि जगत्‌में अतुलनीय है । परन्तु वर-वधुओंसे जो मन्त्र कहवाये जाते हैं, उनका अर्थ न वे समझते हैं और न पुरोहितजी ही । इसीसे इस कवाइतकी उलझनसे बचकर विवाहकी रजिस्ट्री करा लेना आजकलके नवयुवक अच्छा समझने लगे हैं । श्रीजीने विचारपूर्वक यह अच्छी तरह समझ लिया कि, आजकल हिन्दू समाजमें जो नास्तिकता फैल रही है, इसके दोषी सर्वसाधारण लोग नहीं, किन्तु हमारा मूर्ख पुरोहित-वर्ग है । उसका सुधार किये बिना यह दुर्दशा दूर नहीं हो सकती । इसीसे इस धार्मिकाध्यात्मिक विद्यापीठमें उक्त तीन परीक्षाएँ रक्खी गयी हैं । इनसे पुरोहित-वर्गका बड़ा उपकार होगा और धार्मिक जनताको भी शिक्षित पुजारी, पुरोहित, कर्मकाण्डी आदि मिल सकेंगे । आचारात्मक हिन्दू-धर्मका इससे यथार्थ रक्षा होगी और मूर्ख पुरोहितोंका बोलबाला नहीं रहेगा । बिना योग्यताका प्रमाण-पत्र दिखाये उन्हें कहीं आश्रय ही नहीं मिलेगा और उन्हें अपनी वृत्ति (जीविका) सुरक्षित रखनेके लिये योग्यता प्राप्त करनी ही होगी । देवता मन्त्राधीन होते हैं और मन्त्र ब्राह्मणाधीन होते हैं । अन्ततः ब्राह्मणोंका ही प्रथम संस्कार होना चाहिये और उसीके लिये यह उपाय किया गया है ।

१४—व्याख्यान—इस विद्यापीठके अन्तर्गत जो उपदेशक-महाविद्यालय है, उसमें व्याख्यान और शास्त्रार्थकी शिक्षा नियमित रूपसे दी जाती है। इसके परीक्षोत्तीर्ण विद्वानोंको 'उपदेशक' और 'महोपदेशक'की उपाधि दी जाती है। विशेष योग्यता सम्पन्न वक्ता 'महामहोपदेशक' की सर्वोच्च पदवी प्राप्त करते हैं। विशेष सुभीता यह रक्खा गया है कि, भारतके सुदूर प्रान्तों या उपनिवेशों-के विद्वान् ब्राह्मण महाविद्यालयमें उपस्थित होकर अपनी योग्यता-का परिचय देकर उक्त उपाधियाँ प्राप्त कर सकते हैं और योग्यता सम्पन्न ब्राह्मणेतरोंको भी समुचितरूपसे सम्मानित किया जाता है। व्याख्यान सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ उपाधि 'व्याख्यान-वाचस्पति'-की है। इसकी परीक्षा निबन्धद्वारा होती है और यह परीक्षा वे ही दे सकते हैं, जो 'महोपदेशक' या 'महामहोपदेशक'की उपाधि पा चुके हों।

१५—सार्वजनिक धर्मपरीक्षा—वर्तमान नवयुवकोंमें धर्म-ज्ञानका प्रचार होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि वे ही देशके भावी नागरिक हैं और आर्यपरम्पराको बनाये रख सकते हैं। देश-की पतवार उन्हींके हाथमें आनेवाली है। यदि वे धर्मज्ञानसे विभू-षित रहेंगे, तो उनसे भ्रम-प्रमाद होनेकी बहुत कम आशंका रहेगी और देश क्रमशः उन्नत ही होता जायगा। अतः उनको उत्साहित करनेके विचारसे स्कूलों, कालेजों और पाठशालाओंके विद्यार्थियोंके उपयुक्त तीन सार्वजनिक धर्मपरीक्षाएँ रक्खी गयी हैं,—प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा। ये हिन्दी या अंग्रेजीके माध्यमसे दी जा सकती हैं। जो उत्तमामें उत्तीर्ण होंगे, उन्हें धर्मकोविदकी उपाधि दी जाती है।

१६—अँग्रेजीकी उपाधियाँ—अँग्रेजी भाषाभाषी विद्वानोंमें धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञानकी अभिवृद्धिके विचारसे

तीन उपाधियाँ रक्खी गयी हैं। ये उपाधियाँ भारतीयोंकी तरह विदेशी विद्वान् भी प्राप्त कर सकते हैं। तीनोंमें पहली है--बी० डी० सी० (बैचलर आफ़ धार्मिक कलचर) की उपाधि। इसके लिये अँग्रेजीमें लेख लिखना पड़ता है, जिसका विषय यथासमय इस विद्यापीठकी परीक्षासमिति निर्धारितकर घोषित कर देती है। यह लेख निश्चित अवधिके भीतर काशीके प्रधान कार्यालयमें भेज देना पड़ता है। साथ ही अपने कालेजके प्रिंसिपल अथवा स्कूलके हेडमास्टरका एक प्रमाणपत्र भेजना पड़ता है, जिससे विदित हो जाय कि लेख परीक्षार्थीका ही लिखा हुआ है। जो स्कूल या कालेजके छात्र नहीं हैं, उन्हें इस विद्यापीठके किसी केन्द्रके प्रधानाध्यक्षका प्रमाण-पत्र भेजना चाहिये। जहाँ केन्द्र न हो, वहाँके श्रीभारतधर्म-महामण्डलके किसी सम्माननीय सदस्यका प्रमाणपत्र भेज सकते हैं। श्रीमहामण्डलके सदस्य भारतके सब प्रान्तोंमें फैले हुए हैं। विशेष अवस्थामें परीक्षार्थीके लिखे हुए किसी मुद्रित ग्रन्थकी परीक्षा करके भी यह उपाधि दी जाती है। लिखित लेख विद्यापीठकी सम्पत्ति हो जाता है और परीक्षाफल विद्यापीठके मुखपत्रमें प्रकाशित कर दिया जाता है। इस उपाधिके अतिरिक्त जो दो उपाधियाँ हैं, वे 'डाक्टरेट' की हैं। यथा :—(१) पी एच० डी० (डाक्टर आफ फिलासफी) और (२) डी० ओ० सी० (डाक्टर आफ ओरिएण्टल कलचर) इन उपाधियोंकी प्रतियोगितामें विश्वके सब राष्ट्रों और देशोंके विद्वान् भाग ले सकते हैं। विशेष अवस्थामें विद्वानोंके ग्रन्थोंको देखकर भी ये उपाधियाँ दी जाती हैं। कोई संस्कृति तबतक परिपूर्ण नहीं समझी जा सकती, जबतक पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन, तत्त्वज्ञान और साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन पक्षपात-रहित होकर न कर लिया जाय। इस प्रकारकी संस्कृतिकी मेरुदण्ड-स्वरूप संस्कृत भाषा ही है; क्योंकि

संस्कृतभाषासे ही संसारकी सब भाषाएँ निकली हैं और संस्कृतसाहित्यसे ही संसारकी सब भाषाओंके साहित्यका विकाश हुआ है। यही सबका मूल उद्गम स्थान है। इस कारण ऐसी राष्ट्रीय संस्कृतिके उत्कर्षकेलिये इस विद्यापीठकी विद्वत्समितिने निश्चय किया है कि ऐसे विद्वानोंको 'डाक्टरेट' की पदवीसे सम्मानित किया जाय, जिन्होंने संस्कृत-साहित्य, वैदिक दर्शन और धार्मिक वाङ्मयमें कोई विशेष अनुसन्धान (advanced researches) किया हो। ऐसे विद्वानोंके अनुसन्धानात्मक जो लेख परीक्षाके लिये आवेंगे, वे लौटाये नहीं जायँगे। वह संस्थाकी सम्पत्ति मानी जायगी और विद्यापीठ उनको अनुकूलताके अनुसार प्रकाशित किया करेगा। 'डाक्टरेट'की परीक्षामें वे ही विद्वान् बैठ सकेंगे, जो किसी विषयके विशेष विद्वान् हों, किसी विश्वविद्यालयके एम्० ए० या विशिष्ट ग्रेज्युएट (graduate) हों, जिन्होंने कोई ठोस अनुसन्धान कार्य किया हो, किसी कालेजके प्रिन्सिपल, प्रोफेसर या किसी स्कूलके विद्वान् अध्यापक हों, ऐसे विद्वान्, जिन्होंने भारतीय और युरोपीय संस्कृतिका अनुसन्धान कर तत्सम्बन्धी लेख प्रकाशित किये हों या दोनों संस्कृतियोंका साहित्यका, दर्शनोंका और धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन किया हो, जो किसी विश्वविद्यालय अथवा संस्कृतोन्नतिकारिणी संस्थाके द्वारा संस्कृतमें विशेष योग्यता प्राप्त की हो और वे विद्वान, जो श्री-भारतधर्ममहामण्डलसे कोई उच्च उपाधि या प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुके हों।

'डाक्टरेट' की उपाधिके लिये लिखे जानेवाले लेखोंके विषय कैसे होंगे, यह जाननेके लिये उदाहरणार्थ कुछ विषयोंका उल्लेख किया जाता है :—१—पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतिकी तुलनात्मक गवेषणा, २—प्राचीन संस्कृति और धर्मकी ओरसे

विद्वानोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट होना चाहिये। इसलिये इन विषयोंका भी लेखके विषयमें समावेश किया गया है :—

१—वेद, २—उपनिषद्, ३—दर्शन, ४—पुराण, ५—तन्त्र, ६—भगवद्गीता और अन्य गीताएँ, ७—भारतीय योगपद्धति, ८—वैष्णव सम्प्रदाय, ९—शाक्तसम्प्रदाय, १०—भारतीय धर्मका मूल लक्ष्य, ११—वैदिक दर्शनोंके विभिन्न सिद्धान्त, भारतीय वैदिक और अवैदिक तत्त्वज्ञान, १३—प्राच्य और प्रतीच्य धर्म, १४—प्राच्य और प्रतीच्य दर्शन, १५—प्राच्य और प्रतीच्य परलोक-तत्त्व, १६—प्राच्य और प्रतीच्य समाजानुशासन, इत्यादि। इन विषयों या ऐसे ही विषयोंके लेखोंमें लेखककी ठोस विद्वत्ता, अनुसन्धान-कुशलता और गवेषणाकी क्षमताका भलीभाँति आभास मिल जाना चाहिये। लेख हिन्दी, संस्कृत या अंग्रेजीमें लिखे जा सकते हैं। इस 'अखिल भारतीय धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठके प्रधान कार्यालय (श्रीभारतधर्म महामण्डल, जगतगंज, काशी) से इसकी विस्तृत नियमावली प्रकाशित हुई है। उससे सब बातोंका विस्तृत विवरण ज्ञात हो सकता है।

इस देशके जिन गण्यमान्य विद्याप्रेमी नररत्नोंने अपने-अपने प्रान्तोंमें विद्या-प्रचारके लिये पुरुषार्थ किये हैं, उनमेंसे जिनका प्रथम नाम लिया जा सकता है, वे हैं—स्वर्गीय सरआशुतोष मुखोपाध्याय। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालयका आमूलाग्र संस्कार किया था। दूसरे हैं,—स्वर्गीय देशभक्त महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी। इन्होंने काशीके सुप्रसिद्ध हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापना की है। तीसरे हैं,—सागर-विश्वविद्यालयके प्रतिष्ठाता स्वर्गीय सर हरिसिंह गौड महाशय। इन्होंने अपनी कमायी हुई करोड़ों रुपयोंकी सम्पत्तिमेंसे अधिकांश व्ययकर इस विश्वविद्यालयकी स्थापना की और उसके नियमितरूपसे स्थायी संचालनकी

व्यवस्था कर दी है। विशेषता यह है कि, इस कार्यमें उन्होंने सरकारी या गैरसरकारी किसी प्रकारकी किसीसे एक पाईकी सहायता नहीं ली और संसारमें सिद्ध कर दिया कि, एक भारतीय विद्वान् अपनी कमाईके कुछ अंशसे ही एक विश्वविद्यालय खड़ा कर सकता है। इनके अतिरिक्त अलीगढ़का मुस्लिम विश्वविद्यालय, मैसोर विश्वविद्यालय, चेट्टी विश्वविद्यालय, उसमानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद) आदि संस्थाएँ भी व्यक्तिगत पुरुषार्थकी द्योतक हैं। इनसे देशका विद्या-प्रचार क्षेत्रमें बहुत उपकार हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु उक्त सब विश्वविद्यालय बृटिश लोगोंके संस्थापित अन्य विश्वविद्यालयोंके अनुकरण-(नकल) मात्र हैं। उनमें न कोई मौलिकता है, न अभिनवता। स्त्री-पुरुष दोनोंको एक ही छापकी शिक्षा मिलती है जिससे अस्वाभाविकता बढ़ती जा रही है। इस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये ही श्रीजीने इस विद्यापीठकी स्थापना की, जो विश्वमें बेजोड़ है बृटिश शासनकालमें विश्वविद्यालयोंका उद्देश्य भिन्न था। शासनयन्त्रकी सञ्चालनाके लिये उन्हें जिस प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता थी, वैसे मनुष्य उन विश्वविद्यालयों द्वारा तैयार कर लिये जाते थे। अब हमें ऐसे मनुष्योंकी आवश्यकता है जो आर्यसंस्कृति, आर्यसभ्यता, आर्यधर्म और आर्यजातिकी सुरक्षा तथा समृद्धि करनेकी क्षमता रखते हों। इस विचारसे वर्तमान सब विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाकी शैली बदली जानी चाहिये। नयी शैली कैसी हो, इसका नमूना श्रीजीने 'धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृतविद्यापीठके रूपमें जनताके सामने रख दिया है। बिना आडम्बरके अति अल्पव्ययसे ठोस शिक्षा-कार्य करनेवाला इस विद्यापीठकी तुलनामें ठहरनेवाला कोई विश्वविद्यालय नहीं है। यह सबका आदर्श हो सकता है। इसकी स्थापना करते समय 'शिक्षा-शैलीमें सुधारकी आवश्यकता' किस प्रकार है,

इसका विवेचन श्रीजीने एक लेखमें किया है। उसका सारांश इस प्रकार है :—

"मनुष्यका अन्त:करण जैसा विश्वका माध्यम है, जीवके पञ्चकोषोंका चालक है, मनुष्यकी सब इन्द्रियोंका प्रेरक है, मूढ़ योनियोंके सहजपिण्ड, देवताओंके देवपिण्ड और मनुष्योंके मानवपिण्ड सबमें यही (अन्त:करण) प्रधान वस्तु है, वैसा ही मनुष्यकी क्रमोन्नति करानेमें एकमात्र कारण शिक्षाप्रणाली है। शिक्षा-प्रणाली ही मनुष्यको उन्नत या अवनत बनाया करती है। प्राचीन आर्योंकी सामाजिक अनुशासन व्यवस्थामें ही शिक्षाका समावेश किया जाता था और उसकी प्रणाली समाजके नेता महर्षि-गण या विद्वान्, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण ही निर्धारित करते थे, उसमें राजाका हाथ नहीं होता था; परन्तु बृटिश शासनकालमें वह पद्धति उठ गयी और शिक्षाके सूत्र शासकोंने अपने हाथमें ले लिये। हिन्दू जातिका वास्तविक पतन तभीसे आरम्भ हुआ है। अँग्रेजोंको शासन कार्यके लिये नौकरोंकी आवश्यकता थी। इस कारण अच्छे नौकर निर्माण करना ही उनकी शिक्षा प्रणालीका लक्ष्य था और तदनुसार ही उन्होंने यहाँकी शिक्षाप्रणाली प्रचलित की थी। यदि वे ऐसे नौकर निर्माण न करते, तो यहाँ नौकरशाही स्थापित न कर सकते। परन्तु जब कि, अब स्वराज्य हो गया है, तब वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें आमूलाग्र परिवर्तनकर अपने लक्ष्यकी सिद्धिके अनुरूप अपनी शिक्षाप्रणाली निश्चित करना आवश्यक हो गया है। अत: सबसे पहले यह सोच लेना चाहिये कि, हमारी शिक्षाका लक्ष्य क्या हो ? बिना शिक्षाका लक्ष्य स्थिर किये किसी प्रणालीमें कोई परिवर्तन किया नहीं जा सकता।"

हमारे पूर्वज महर्षियोंने शिक्षाकी व्याख्या इस प्रकार की है :—

"जिस शिक्षाप्रणालीमें परमात्माकी ओर अग्रसर होनेका अवसर

प्राप्त हो और जिसके द्वारा धर्मज्ञानकी वृद्धि होकर शान्ति मिले, तथा ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय हो, वही सच्ची शिक्षा है।" हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणालीका यही लक्ष्य होना चाहिये। इस समय ईश्वर ज्ञानविहीन केवल पदार्थविज्ञानकी ही शिक्षाको जगत्‌में प्रधानता दी गयी है। आध्यात्मिकताको कहीं स्थान नहीं है। जड़पदार्थविज्ञानके अनुशीलनमें अनेक अद्भुत चमत्कार भी देखनेमें आते हैं; परन्तु उनसे चेतनराज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता, जबतक विद्यार्थीका चेतनराज्यमें प्रवेश नहीं होता तबतक उसे विद्यानन्दकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती। वह उपलब्धि दर्शन-शास्त्रके अध्ययनसे ही हो सकती है। अतः इस देशकी शिक्षा-प्रणालीमें दर्शन-शास्त्रको ही प्रधानता दी जानी चाहिये।

वर्तमान समयमें जीविकाके लिये विद्या पढ़ाई जाती है। अकर्मण्यता भी बराबर बढ़ रही है। वास्तवमें विद्यानन्दकी उपलब्धिके लिये विद्या पढ़ाई जानी चाहिये। वर्णाश्रमधर्मानुसार लोग अपने-अपने पैतृक धन्धोंको सम्हालने लगें, तो बेकारी टिक नहीं सकेगी और जीविकाका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। यदि अपने पैतृक व्यवसायमें असुबिधा हो, तो आपद्धर्मके नियमोंको अपनाया जा सकता है; परन्तु विद्यानन्दका लक्ष्य नहीं भुलाया जाना चाहिये। शिल्प (Art) के द्वारा प्रकृतिराज्यकी नकल की जाती है और पदार्थ-विज्ञान (Science) के द्वारा उस राज्यपर आधिपत्य स्थापित किया जाता है। दार्शनिक विज्ञान इन दोनोंसे नितान्त भिन्न है। अन्तर्जगतमें प्रवेश करानेवाला, जड़राज्यसे परे चेतनराज्यमें पहुँचानेवाला और अन्तमें आनन्दमय श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार करानेवाला दार्शनिक विज्ञान ही है। इसकी शिक्षा लौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंको देनेवाली है।

स्थूल और सूक्ष्म जगत्प्रपञ्चरूपी महासमुद्रके जड़ और चेतन

ये दो तट हैं। एकमें इन्द्रियोंकी और दूसरेमें परम मङ्गलमय-अद्वितीय चिद्रूपकी प्रधानता है। जड़ात्मक तटसे चेतनात्मक तटकी ओर जीवको उन्मुख करने और उसे त्रितापोंसे मुक्तकर निर्भय परमानन्द-रसके आस्वादनका अधिकारी बनानेमें एकमात्र दर्शनशास्त्र ही समर्थ है। जीवके अन्तःकरणमें व्याप्त चिन्मयीधारा-की सहायतासे परमानन्दका पथ दिखानेके लिये दर्शनशास्त्र ही दर्शक इन्द्रियोंके स्थानापन्न है। इसीसे इस शास्त्रका नाम 'दर्शन' है।

दर्शनसम्बन्धी राज्यके दो भेद हैं:—१—ज्ञानजननी विद्या-सेवित राज्य और २—अज्ञानजननी अविद्यासेवित राज्य। जीव स्वाभाविकरूपसे क्रमशः उन्नति करता हुआ उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशुयोनियोंको पारकर पूर्णावयव मनुष्य बनता है। मनुष्येतर चारपिण्ड असम्पूर्ण होनेके कारण उनमें अविद्यासेवित चार श्रेणियोंकी चार अज्ञानभूमियोंके अधिकार यथाक्रम आप ही पाये जाते हैं। मानवपिण्डमें पहुँचकर जीवको शेष तीन श्रेणियोंकी तीन अज्ञान-भूमियोंके अनुसार तीन दर्शनोंका अधिकार यथाक्रम प्राप्त होता है। उन तीन दर्शनोंकी तीन भूमियाँ इस प्रकार हैं:—१—देहात्मवाद, २—देहातिरिक्त आत्मवाद और ३—आत्मातिरिक्त शक्तिवाद। पहलीमें देहको ही आत्मा माना है, दूसरीमें देहसे भिन्न आत्मा माना है और तीसरीमें यह माना गया है कि, आत्मासे भिन्न ऐसी कोई शक्ति है, जो इस संसारको चलाती है। इन्हीं तीन अज्ञान-भूमियोंके अन्तर्गत प्रायः सभी पाश्चात्य दर्शनोंके अधि-कार देखनेमें आते हैं। इससे आगे उनकी बुद्धिकी पहुँच नहीं है। आर्यशास्त्रानुसार सात अज्ञानभूमियाँ और सात ज्ञानभूमियाँ मानी गयी हैं। जिन तीन अज्ञानभूमियोंमें पश्चिमी

जगतका सब तत्वज्ञान समाया हुआ है, उनको हमारे यहाँ नास्तिक भूमियोंमें गिना गया है। इनको पार कर लेनेपर उन्नत मानव सात ज्ञानभूमियोंके अधिकारोंको प्राप्त करता है। उन सात ज्ञानभूमियोंके सात दर्शन इस प्रकार हैं:—१-महर्षि गौतमका न्यायदर्शन, २-महर्षि कणादका वैशेषिक दर्शन, ३-महर्षि पतञ्जलिका योगदर्शन, ४-महर्षि कपिलका सांख्य दर्शन, ५-महर्षि भरद्वाजका कर्ममीमांसादर्शन (पूर्वार्द्ध) और महर्षि जैमिनीका कर्ममीमांसादर्शन (उत्तरार्द्ध), ६-महर्षि अङ्गिराका दैवीमीमांसादर्शन तथा ७-महर्षि व्यासका ब्रह्ममीमांसादर्शन। जब ज्ञानभूमियाँ सात हैं, तब उनके दर्शन भी सात ही होने चाहिये और वे थे भी; परन्तु कालप्रभावसे कर्ममीमांसादर्शन (पूर्वभाग) और दैवीमीमांसा दर्शन ये दो दर्शन लुप्त हो गये थे। श्रीजी समाधियोगके द्वारा उनको खोज निकाले और खण्डित दर्शनशास्त्र अखण्डित (पूर्ण) कर दिया; जिससे दर्शनशास्त्रके जिज्ञासुओंको बड़ा सुभीता हो गया है और दर्शनशास्त्रकी शृंखलाकी जो कड़ी टूट गयी थी, वह फिर जोड़ दी गई है।

इन दर्शनोंके सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—१-न्यायदर्शनका सिद्धान्त है कि, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंका ज्ञान हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। २-वैशेषिक दर्शन धर्मकी इस प्रकार व्याख्या करता है कि, जिसके द्वारा ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका अभ्युदय होकर अन्तमें निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, वही धर्म है। ३-योगदर्शनका मत है कि, चित्तवृत्तियोंके निरोधको मोक्ष कहते हैं। चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेसे द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। ४-सांख्यदर्शन यह प्रतिपादन

करता है कि, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु:खों-से आत्यन्तिक छुटकारा पा जाना ही परम पुरुषार्थ (कैवल्यकी प्राप्ति) है। ५–भरद्वाजका कर्ममीमांसादर्शन कहता है कि, संसारको सुव्यवस्थित चलानेवाला धर्म है और वही यथार्थ वस्तु है और जैमिनीका कर्ममीमांसादर्शन वेदकी प्रेरणा (आज्ञा) को धर्म मानता है। ६–दैवीमीमांसादर्शनने यह सिद्ध किया है कि, मनुष्योंको सरल पद्धतिसे भवसागरसे पार उतारनेवाली भक्ति ही है। ७–ब्रह्ममीमांसादर्शनकी यह गर्जना है कि, नित्यवस्तुकी प्राप्तिके लिये शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान इन षट्सम्पत्तियोंसे युक्त होकर और यम-नियमादि साधनसम्पन्नता, नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्र फलभोग विराग तथा मुमुक्षुत्व इस साधन-चतुष्टयसे जो सम्पन्न हो जाता है, उसी साधक-को ब्रह्मकी जिज्ञासा होती है। इस दर्शनने ब्रह्मकी इस प्रकार सिद्धि की है कि, जिससे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, वही ब्रह्म है और वही शास्त्रका भी कारण है। शास्त्रोंमें जो परस्पर विरोध देख पड़ता है, वह भ्रान्तिमूलक है। समन्वयके द्वारा उसका परिहार हो जाता है। इस प्रकारका समन्वय श्रीजीने अपने भाष्योंमें कर दिखाया है, जिसके अध्ययनसे सब भ्रम भाग जाता है और यथार्थ रहस्य बुद्धिमें उतर जाता है। इन दर्शनोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे साधकके अन्त:करणमें प्रत्येक ज्ञानभूमिके यथायोग्य ज्ञानका प्रकाश हो जाता है और वह आत्म-साक्षात्कार-लाभके द्वारा जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस लोकके धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी तीनों पुरुषार्थोंको साधकर अन्तमें श्रीभगवान्‌के चरणोंमें लीन (मुक्त) होकर कृतकृत्य हो जाना ही हमारी शिक्षाका लक्ष्य होना चाहिये।

श्रीजीके द्वारा स्थापित और परिचालित इस "धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठ" का यह सिद्धान्त नहीं है कि, हमारे विद्यार्थी निरे दार्शनिक पण्डित बने रहें और व्यवहारमें बुद्धू रहें। उन्हें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवजातिके उत्कर्ष ही नहीं, किन्तु जीवमात्रके कल्याणसाधनके उपयोगी विभिन्न विषयोंकी व्यावहारिक शिक्षा अवश्य दी जाय, किन्तु उनकी शिक्षाका लक्ष्य आध्यात्मिक ही रहना चाहिये। भारतभूमि धर्मप्रधान भूमि है। इसमें धर्मज्ञानविहीन, ईश्वरज्ञानविहीन शिक्षाका पौधा पनप नहीं सकता। जिस भूमिमें संसारके सब धर्मोंका उद्भव हुआ, जो सकल धर्मोंकी जननी—मातृभूमि—है, उसमें धार्मिक और आध्यात्मिक लक्ष्यपूर्ण शिक्षा ही फूल-फल सकती है और उसीसे जगतका—जीवमात्रका—मङ्गलसाधन हो सकता है। मनु भगवानने ठीक ही कहा है :—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" ॥

अर्थात्—इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके समस्त मानवोंको अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब हमारी शिक्षाका लक्ष्य लोकोत्तर हो।

श्रीजीका शास्त्रानुसन्धान

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा।'

—तुलसी कृत रामायण।

कर्म ही जगतका मूल है। कर्मसे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करता है। 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इस

श्रुतिकी चरितार्थतामें कर्म ही कारण है। कारणवारि कर्मका ही रूपान्तर है। ऋग्वेद घोषणा करता है :—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजोनो व्योमपरोयत्।
किमावरीव: कुहकस्य शर्मन्नभ: किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्यह्न आसीत्प्रकेतः।
आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्मादन्या न पर: किञ्चनास॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेत: प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्द न हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा॥"

सृष्टिके पहले सत् नहीं था और असत् भी नहीं था। रजोगुण नहीं था, आकाश नहीं था, शोक नहीं था, अमृत नहीं था, रात या दिन भी नहीं था; केवल एक गहन, गम्भीर पदार्थ था, जिसके अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं था। तदनन्तर वासना हुई और उससे जगत्की सृष्टि हुई है। कर्मके ही कारण इस श्रुतिकी चरितार्थता हुई है। ईश्वर ही रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्मा, सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु और तमोगुणके अधिष्ठाता रुद्र बनकर प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और लय किया करते हैं, इसका कारण भी कर्म ही है। कर्मके द्वारा ही यह क्रिया हुआ करती है। ब्रह्माण्डकी स्थिति दशामें कर्म ही धर्मके रूपमें ब्रह्माण्डकी रक्षा करता है। कर्म ही जीवको उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशुयोनियोंमें क्रमोन्नति कराकर देवदुर्लभ मनुष्ययोनिमें पहुँचा देता है और फिर कर्म ही मनुष्यका अभ्युदय कराता हुआ अन्तमें निःश्रेयस (मुक्ति) पदतक पहुँचा देता है। कर्म ही मुक्तिका कारण है। जब जीव दशाका सर्वप्रथम विकाश होता है, तब जीवका साथी कर्म ही होता है और मानव पूर्ण ज्ञानयुक्त होकर जब जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त कर शरीरान्त होनेपर विदेहलयको प्राप्त हो जाता

है, तब भी अन्ततक कर्म ही उसका साथी बना रहता है। अतः कर्मकी महिमा सर्वोपरि है।

जिस प्रकार परमात्मा एक-अद्वितीय होनेपर भी ब्रह्म, ईश, और विराट्भावमें अनुभूत होते हैं. उसीप्रकार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावोंसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण अपौरुषेय, नित्यस्थित वेद भी कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डमें विभक्त हुए हैं। उक्त भावत्रय और काण्ड-त्रयके द्वारा ही वेदोंकी महिमा जानी जा सकती है। वेदोंमें कर्म ही प्रथम प्रतिपाद्य विषय है। इस सम्बन्धमें महाभारतमें लिखा है :—

" कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र,
कर्मणैवेह पवते मातरिश्वा।
अहोरात्रं विदधत्कर्मणैव,
अतन्द्रितः शश्यदुदेति सूर्यः॥
मासार्द्धमासानथ नक्षत्रयोगा,
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति।
अतन्द्रितो दद्दते जातवेदाः,
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः॥
अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं,
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति,
सन्तर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि,
देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार,
समाहितः संशितात्मा यथावत्॥

हित्वा सुखं प्रतिरुद्ध्येन्द्रियाणि,
तेन देवानामगमद् गौरवं सः।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति,
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥

कर्मके द्वारा ही देवतागण स्वर्गमें प्रकाशमान हैं, कर्मके द्वारा संसारमें वायुदेव प्रवाहित होते हैं, कर्मके द्वारा निरलसभावसे दिन-रातको प्रकट करनेवाले सूर्यदेव नियमित रूपसे उदित होते हैं और चन्द्रमा मास, पक्ष, नक्षत्र तथा योग (ज्योतिषसम्बन्धी) आदिको प्राप्त करता है। अग्निदेव अतन्द्रित भावसे कर्म करते हुए प्रजाओंके द्वारा हवन किये जानेपर फल प्रदान करते हैं, पृथ्वी देवी बिना आलस्यके अपनी सामर्थ्यसे इस गुरु भारको धारण करती है और नदियाँ अतन्द्रित भावसे प्रवाहित होकर निखिल प्राणियोंको संतृप्त करती हैं। देवताओंके राजा इन्द्रने अपने मनकी प्रिय वस्तुओं और सुखोंको त्यागकर कर्मके बलसे ही श्रेष्ठताको प्राप्त किया है। बृहस्पतिने संयतचित्त होकर सुखत्यागपूर्वक इन्द्रियोंका संयमकर ब्रह्मचर्य पालन किया, जिससे उन्होंने देवताओंमें गौरव-को प्राप्त किया और नक्षत्र, विश्वेदेवा, रुद्र, आदित्य, वसु आदि सभी कर्मके द्वारा ही प्रकाशित हुए हैं। विराट् पुरुषका प्राणस्वरूप कर्म ही है।

वेद अपौरुषेय हैं, अभ्रान्त विज्ञानयुक्त हैं और नित्य हैं। प्रलयावस्थामें वेद ज्ञानरूपसे परमात्मामें स्थित रहते हैं और सृष्टि-दशामें अलग-अलग ब्रह्माण्डों, लोकों, कल्पों तथा देश-काल-पात्रों-में यथावश्यक आविर्भूत होते हैं। जो महर्षिगण तपस्याकी पूर्णता सम्पादन करके योगकी विशेषसिद्धिको प्राप्त करते हैं, उन्हींके समाधियुक्त अन्तःकरणमें श्रुतिरूपसे वेदोंका आविर्भाव होता है।

वेदके प्रत्येक मन्त्रका आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूपसे त्रिविध अर्थ होता है; परन्तु सर्वसाधारण मनुष्योंमें वैज्ञानिक बुद्धिकी न्यूनता तथा अन्तर्दृष्टिका अभाव होनेसे वे उसको समझ नहीं सकते। जिन महर्षियोंमें ज्ञानकी पूर्णता हो और जिन्हें समाधिगम्य बुद्धि प्राप्त हो गयी हो, उन्हींके सम्मुख श्रुतियाँ अपने तीनों रूप प्रकट करती हैं। वेदोंमें जो परस्पर विरोध कहीं-कहीं देख पड़ता है, सत्त्व-रज-तमकी क्रियाएँ पायी जाती हैं और त्रिभावात्मक अधिकार भी वर्णित हुए हैं, वे मनुष्योंके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधिकारोंके कारण हैं। वेदोंमें सब अधिकारोंकी पूर्णता विद्यमान है और वेदोक्त कर्मकाण्ड तथा धर्माधर्म निर्णयके विषयमें वेद स्वतः प्रमाण हैं। यह पहले कहा गया है कि, वेद कर्म, उपासना और ज्ञानरूपी तीन काण्डोंमें विभक्त हैं। धर्मके अन्यान्य सब अङ्ग इन्हीं तीनोंके अन्तर्भुक्त होनेसे ये तीन ही सर्वप्रधान अङ्ग हैं और वेदके तीन काण्ड होनेका यही कारण है। वे तीनों काण्ड अपने-अपने अधिकारानुसार मुक्तिप्रद हैं। विशेषतः कर्मकी प्रधानता होनेसे कर्मकाण्डका विस्तार और माहात्म्य वेदोंमें अधिक पाया जाता है।

वेदोंका सिद्धान्त है कि वायुकी सहायतासे जिस प्रकार जलाशयमें तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार प्रकृतिराज्यमें त्रिगुणके तरङ्गसे कर्मकी उत्पत्ति होती है। घात-प्रतिघातसे जिस प्रकार तरङ्गोंका स्वरूप अनन्त हो जाता है, उसी प्रकार त्रिगुणके वैषम्यसे कर्मका स्वरूप अनन्त हो जाता है। प्रकृतिकी वैषम्यावस्थाके साथ कर्मका स्वाभाविक सम्बन्ध है। कार्यब्रह्मरूपी इस ब्रह्माण्डका एक परमाणु भी कर्म सम्बन्धसे रहित नहीं है, न रहित होकर रह सकता है और न अवस्थान्तरको ही प्राप्त हो सकता है। कर्मकी शक्ति महान् है। समुद्रके बीचमें पड़ा हुआ एक तिनका यदि अनुकूल तरङ्गोंकी

सहायता पा जाय, तो तटतक पहुँच जाता है। इसी तरह मनुष्य यदि अनुकूल कर्मोंका संग्रह करे, तो उसकी क्रमोन्नति होकर वह मुक्तिपदको प्राप्त करता है। अनुकूल और प्रतिकूल कर्मोंके रहस्य-को जानकर जो पुरुषार्थमें प्रवृत्त होते हैं, वे अभ्युदयको प्राप्त करते हैं और जो तत्त्वज्ञानके द्वारा कर्म, अकर्म और विकर्मकी दशाका अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं, वे कर्मके बन्धनसे छुटकारा पाकर निःश्रेयसपदको प्राप्त करते हैं। कर्मकी गति बड़ी गहन है।

दर्शनशास्त्रके महत्त्वके सम्बन्धमें श्रीजीने जो विचार समय-समयपर प्रकट किये हैं, उनका सारांश इस प्रकार है :—अनन्त विषय-वासनाबद्ध जीवोंकी दुःखनिवृत्ति और चिरशान्ति प्राप्तिके लिये अध्यात्मज्ञानके विचारके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। वेद और शास्त्र यही आज्ञा करते हैं कि,—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं और बिना मुक्तिके चिरशान्ति नहीं। जब शान्ति ही नहीं, तब सुख-आनन्द कहाँ? 'अशान्तस्य-कुतः सुखम्'? परन्तु जन्म-जरा-मरणके चक्रसे छूटनेका विषय इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अतीन्द्रिय है कि, बिना दर्शनशास्त्रकी सहायता लिये वह समझमें नहीं आ सकता। स्थूलराज्यसे परे अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यका ज्ञान होनेकेलिये दर्शन-शास्त्र-ही ध्रुव तारेके समान है और इसीसे यह शास्त्र 'दर्शनशास्त्र' कहाता है। आजकल भारतवासियोंमें जो स्वधर्ममें अविश्वास, परधर्म-ग्रहणमें प्रवृत्ति, सदाचारका त्याग, वेद-शास्त्रोंमें अश्रद्धा, वर्णाश्रम-धर्मकी उपेक्षा, परलोक और देवी-देवता-ऋषि-पितरोंके अस्तित्वमें सन्देह आदि प्रबल दोष देख पड़ते हैं, वे वैदिकदर्शनोंके अभाव और दार्शनिक शिक्षाका लोप हो जानेसे ही आ गये हैं।

परन्तु जब श्रीजी दर्शन-शास्त्रका अनुशीलन करने लगे, तब उन्हें यह अपूर्ण और खण्डित-सा देख पड़ने लगा। पहली

बात श्रीजीके ध्यानमें यह आयी कि, जब तत्त्वज्ञानकी ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्पदा आनन्दपदा और परात्परा ये सात ज्ञानभूमियाँ हैं, तब तदनुसार उनके सात दर्शन भी होने चाहिये। दूसरी बात यह कि, वेदके जब कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बन्धी तीन काण्ड हैं, तो वैदिक दर्शन-शास्त्रमें तीन मीमांसाएँ भी होनी चाहिये। परन्तु आजकल विद्वानोंमें षट्दर्शन ही प्रचलित हैं। सातवें दर्शनकी उन्हें कल्पना भी नहीं है। वह सातवाँ दर्शन गया कहाँ? इस ओर अभीतक किसी विद्वान्का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ और न उसे खोज निकालनेका किसीने प्रयत्न ही किया। उपासनाकाण्डके अन्तर्गत भक्ति-सम्बन्धी देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्यके कुछ सूत्र मिलते हैं; परन्तु उनसे उपासनाकाण्डका विस्तृत विज्ञान और रहस्य समझमें नहीं आता और विषय अधूरा-सा ही रह जाता है। इसी तरह भगवान् व्यासदेवके शिष्य महर्षि जैमिनीकी उपलब्ध पूर्व-मीमांसामें कर्मका सार्वदेशिक विज्ञान नहीं बताया गया है; क्योंकि उन्होंने अपने गुरुदेवकी आज्ञासे केवल वेदोक्त कर्मकाण्डके क्रिया-पक्षकी पुष्टिके लिये ही अपनी मीमांसामें यज्ञयागादिके विधानोंपर विचार किया है। अनन्त शैशवपूर्ण कर्मके साम्राज्यके रहस्यकी उसमें गन्धतक नहीं है। यह देखकर श्रीजीने सिद्धान्त किया कि, जैमिनीका पूर्वमीमांसादर्शन कर्ममीमांसाका उत्तरार्द्धमात्र है, इसका पूर्वार्द्ध अवश्य होना चाहिये।

मध्यमीमांसा या दैवीमीमांसा और कर्ममीमांसाके पूर्वार्द्धकी खोजमें श्रीजी इस विचारसे प्रवृत्त हुए कि, इससे दर्शनशास्त्रकी अपूर्णता दूर हो जाय। देश-देशान्तरमें खोज करायी गयी; परन्तु दोनों दर्शनोंका कहीं पता नहीं चला। तब श्रीजीने उपासना और योगबलसे उनको खोज ही निकाला और महर्षियोंसे दोनोंके मूल

सूत्र उपलब्धकर प्रकाशित भी कर दिये। महर्षि अङ्गिरासे दैवी-मीमांसा दर्शन और महर्षि भरद्वाजसे उन्हें कर्ममीमांसाका पूर्वार्द्ध प्राप्त हुआ, इस कारण उन्हीं महर्षियोंके नामसे वे प्रकाशित किये गये। श्रीजीका कहना है कि, ये कार्य दैवी प्रेरणासे ही सिद्ध हुए हैं, अतः इसमें मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है। हाँ, उनके भाष्य प्रणयनमें मैंने अवश्य ही परिश्रम किया है। परन्तु मूलसूत्र जैसे प्राप्त हुए, वैसे ज्योंके त्यों ग्रन्थमें रख दिये गये हैं।

इस जड़ भौतिकवादके दिनोंमें उपासना और योगकी सहायतासे महर्षियोंसे श्रीजीको ग्रन्थोंकी उपलब्धि होना असम्भव-सा प्रतीत हुआ। इस सम्बन्धमें श्रीजी अपना यह अनुभव बताते थे कि, जिन मन्त्र-शक्ति, तपःशक्ति, योगशक्ति, दैवीशक्ति आदि शक्तियोंका शास्त्रोंमें वर्णन पाया जाता है, वे सब सत्य हैं। यथा :—"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजा सिद्धयः।" योगदर्शनके इस सूत्रके अनुसार जन्मसे ही कोई सिद्ध होता है, कोई औषधि-सेवनसे, कोई मन्त्रसिद्धिसे, कोई तपःशक्तिसे और कोई समाधिके द्वारा सिद्धियोंको प्राप्त करता है। यह शास्त्र-वचन कैसे मिथ्या हो सकता है? अब भी साधक सदाचार और उपासनाके द्वारा नित्यपितरोंकी कृपा सुगमतासे प्राप्त कर सकता है। शरीर और मनकी पवित्रता, चित्तका तीव्र संवेग स्थिर धारणा, ध्यानसिद्धि और द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि तथा मन्त्रशुद्धिके द्वारा साधक देवताओं-के दर्शन कर सकता है और अपने नाम-रूपके अभिनिवेशको त्यागकर एक तत्त्वका अभ्यास करनेसे नित्य ऋषियोंके दर्शन करके कृतकृत्य हो सकता है। उक्त ग्रन्थोंकी प्राप्तिसे श्रीजीको जो अनुभव हुआ है, इससे सनातन-धर्मावलम्बियोंको निराश नहीं होना चाहिये।

जब ये दोनों दर्शन प्रकाशित हो गये, तब विद्वानोंकी आँखें खुलीं और उनमें खलबली मच गयी। श्रीजीपर चारों ओरसे

आक्षेपोंकी भरमार और निन्दा-विरोधकी बौछार होने लगी; परन्तु सच्चे दार्शनिक तत्त्व-जिज्ञासुओंको बड़ा आनन्द हुआ। उनको मनचाही वस्तु मिल गयी और जो बात उनको भी खटकती रही, उसकी पूर्णता प्राप्त कर उन्हें असामान्य शान्ति मिली। आक्षेपकोंका कहना था कि, यदि श्रीजीने ये दर्शन निर्माण किये हैं, तो सुप्रसिद्ध स्वर्गीय विद्वान् पं० रामावतारपाण्डेय एम० ए० के 'परमार्थ दर्शन' की तरह ये दर्शन अपने ही नामसे वे प्रकाशित करते, जिससे उनके गुण-दोषोंके लिये वही उत्तरदायी होते, पूर्व महर्षियोंको बदनाम करनेका साहस क्यों करते हैं? ऋषियोंके द्वारा इन दर्शनोंका प्राप्त होना निरा ढकोसला है और अपनेको सिद्ध पुरुष घोषित करनेका दुष्प्रयत्न है। वास्तवमें ऐसे आक्षेपकोंने ठीक तरहसे न श्रीजीके स्वरूपको समझा और न यही समझा कि, देवता, ऋषि और पितरोंका मनुष्यके साथ किस प्रकार नित्य-सम्बन्ध है। 'नर करनी करे, तो नरका नारायण होय' इसपर उनका विश्वास ही नहीं है, तब आधिदैविक जगतके रहस्यकी बात उनकी समझमें कैसे आवे? धीरे-धीरे जब ये ग्रन्थ सर्वत्र विद्यमान्य होने लगे, तब विरोधी बरसाती मेढकोंकी 'टराँव, टराँव' आप ही बन्द हो गयी, परन्तु इससे पण्डितोंकी ईर्ष्यालुताका पता लग गया। यदि उक्त दर्शन श्रीजीके द्वारा निर्मित होते, तो श्रीजी महर्षि अंगिरा या महर्षि भरद्वाजका नाम क्यों लेते? उन्हें दर्शनकार बनकर ख्याति पाना तो था नहीं; क्योंकि लोकैषणासे वे परे थे। उन्हें तो टूटी हुई दर्शनशास्त्रकी कड़ी जोड़नी थी और उसकी अपूर्णताको पूर्ण करनी थी। इसीके प्रयत्नमें वे थे और नित्य ऋषियोंकी कृपासे अपने प्रयत्नमें सफल भी हुए। ये दोनों दर्शन पहले विद्यमान न होते, तो श्रीजीका नये दर्शन निर्माण करना उचित भी कहा जाता, किन्तु ये पहले थे और कालप्रभावसे

बीचमें लुप्त हो गये थे। उन्हींको खोज निकालना था और ऋषियोंकी कृपासे उन्होंने खोज भी निकाला। जिन महर्षियोंने इन्हें निर्माण किया था, उन्हींसे श्रीजीको फिर प्राप्त हो गये, तो उन्होंने उनको उन्हींके नामसे प्रकाशित कर दिया। इसमें ढकोसला क्या है और सिद्धाई बघारनेकी क्या बात है? विशाल दैवी-जगतके रहस्यको कलिकालके अल्पबुद्धिशाली प्राणी जानें तो भला कैसे जानें? वे तो 'देखि न सकहि पराइ विभूती' के शिकार आप ही हो रहे हैं।

सच्चे हृदयसे यदि शरणापन्न हुआ जाय, तो ऋषियों और देवताओं की कृपा किस प्रकार होती है, इसका अपना अनुभव यहाँ बता देना उचित जान पड़ता है। शक्तिसम्प्रदायके कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका रहस्य समझनेमें नहीं आता और परम साधक भास्करराय जैसे अधिकारियोंने उनके जो भाष्य लिखे हैं, उनसे भी सन्तोष नहीं होता, हृदयकी गुत्थी नहीं खुलती। ऐसे ही ग्रन्थोंमें एक "कौलोपनिषद" है। इसके अधिकांश सूत्र परस्पर विरोधी और असंगतसे जान पड़ते हैं। अत: मैंने श्रीजीसे प्रार्थना की कि, कौलमार्गावलम्बियोंके कल्याणके लिये इसका भाष्य लिखवा दिया जाय। श्रीजीमें असाधारण प्रतिभा होने तथा उनपर श्री-जगदम्बाकी पूर्ण कृपा होनेसे चाहे जिस विषयका अधिकारयुक्त वाणीसे प्रवचन करना उनके लिये कोई कठिन बात नहीं थी। मेरी प्रार्थना श्रीजीने स्वीकार कर ली और भाष्य लिखाना आरम्भ किया। मुझसे जो कुछ वे लिखवाते, उसकी रीति यह थी कि, किसी विषयका यथाक्रम नोट वे लिखा देते थे और पीछे लेखरूपमें उन्हें मैं तैयार कर सुना दिया करता तथा उसमें जो न्यूनाधिक करना वे उचित समझते, करा दिया करते थे। उपनिषदके प्रारम्भिक शान्तिपाठका भाष्य तो उन्होंने लिखवा दिया और 'अथातोधर्म

जिज्ञासा' इस पहले सूत्रका भाष्य लिखवाया जा रहा था। उससे उन्होंने अनुमान किया कि, भाष्यको पूरा करनेमें ४-५ मास लग जायँगे; परन्तु उतना उनके पास समय नहीं रह गया था। योगबल-से उन्होंने अपने लीलासंवरणका दिन जान लिया था। अतः आज्ञा हुई कि, सब सूत्रोंके भाष्यके नोट शीघ्र-शीघ्र लिख डालो। बात मेरी समझमें नहीं आयी कि, श्रीजी ऐसा क्यों कह रहे हैं। मैंने आज्ञाका तो पालन किया; परन्तु यह जानकर विशेष ध्यान नहीं दिया कि, जब भाष्यका लेख लिखने लगूँगा, तब यदि कोई सन्देह रहेगा, तो श्रीजीसे फिर पूछ लूँगा। इस बीचमें श्रीजी ब्रह्मीभूत हो गये। अधूरा छोड़ा हुआ भाष्य उनके पश्चात् लिखने बैठा, तो अपने ही लिखे नोटोंका भाव समझमें नहीं आने लगा। अब पूछूँ तो किससे? श्रीजी अब कहाँ मिलेंगे, जो उनसे पूछ लूँ? अन्तःकरण व्याकुल हो उठा और एक दिन तो रो पड़ा। फिर चित्तमें यह भाव उदित हुआ कि, श्रीभगवान् या भगवत्स्वरूप महर्षियोंकी तो कभी मृत्यु होती नहीं, वे सदा विद्यमान रहते हैं और जो भक्त सच्चे हृदयसे उनको पुकारता है, उसके सामने प्रकट होकर उसे कृतकृत्य कर देते हैं। इसी शास्त्रप्रदर्शित विश्वाससे उपासनाके समय मैंने श्रीजीसे दृढ़तासे प्रार्थना की कि, प्रभो! आपके लिखाये नोट समझमें नहीं आते हैं। कृपाकर अपना आरम्भ किया हुआ भाष्य पूरा करा दीजिये। चमत्कार यह हुआ कि, मेरी माला पूरी भी नहीं हुई थी कि, मुझे अनुभव हुआ कि, जिस बरण्डेमें बैठकर श्रीजी शास्त्र लिखवाते थे, उसी बरण्डेमें उनके चरणोंके निकट मैं बैठा हूँ और वे मुसकराते हुए कह रहे हैं कि, इसीलिये तो मैं शीघ्रता करता था; परन्तु तुमने ध्यान नहीं दिया। अस्तु, निराश होनेकी बात नहीं है। मैंने जो नोट लिखवाये हैं, वे सब "त्रिपुरा रहस्य-ज्ञानखण्ड" के आधारपर लिखवाये हैं।

तुम उस ग्रन्थको पढ़ो, तो सब विषय समझमें आ जायगा। उक्त ग्रन्थ मैंने कभी पढ़ा नहीं था; परन्तु मेरे प्राचीन संगृहीत ग्रन्थोंमें वह था। पूजासे उठकर तुरन्त उसे निकाला और उसको पढ़ने लगा, तो यथाक्रम सब विषय विस्तारपूर्वक उसमें मिलता गया। मेरा काम बन गया और श्रीजीके आज्ञानुसार मैंने पूरा भाष्य लिख डाला। यह मेरा अपना अनुभव है। मेरे जैसे तुच्छ मनुष्य-पर भी जब कृपालु महर्षियोंकी ऐसी कृपा हो जाया करती है, तब श्रीजी जैसे ब्रह्मस्वरूप परमहंसको लुप्त दर्शनोंके प्रणेता पूर्व महर्षियों-के दर्शन होना और उनसे इच्छित ग्रन्थोंका लाभ होना कैसे असम्भव हो सकता है? इसमें अविश्वास करने योग्य कोई बात ही नहीं है। दैवीराज्यमें अविश्वास ही इस अविश्वासका कारण है और दैवीकृपासे ही यह दूर हो सकता है। प्रभुकी मायाको कौन जान सकता है? गीता ठीक कहती है कि:—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"

प्राणियोंको ज्ञान (सदूसद्विवेक) अज्ञानसे आच्छादित हो जानेके कारण वे मूढ़ बन जाते हैं। अस्तु, श्रीजीको जो दर्शन उपलब्ध हुए, उनमेंसे "कर्ममीमांसा दर्शन" का सर्वाधिक महत्त्व है; क्योंकि कर्मका विस्तार अनन्त है। अतः इस दर्शनके विषयको संक्षिप्त रूपसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इससे दर्शनका स्वरूप जिज्ञासुओंकी समझमें आजायगा।

वेदोक्त सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार वैदिक सात दर्शनोंमेंसे महर्षिगौतमका न्याय और महर्षि कणादका वैशेषिक ये दो पदार्थ-वादके दर्शन हैं, महर्षि पतञ्जलिका योग और महर्षि कपिलका सांख्य ये दो सांख्य प्रवचनके दर्शन हैं और वैदिक काण्डत्रयके अनुसार महर्षि भरद्वाज और महर्षि जैमिनीका पूर्वमीमांसा (कर्ममीमांसा)

दर्शन है, महर्षि अंगिराका मध्यमीमांसा (दैवीमीमांसा) दर्शन है और महर्षि व्यासका उत्तरमीमांसा (ब्रह्ममीमांसा) दर्शन है। चाहे वैदिक सिद्धान्त हों, चाहे स्मार्त, पौराणिक या तान्त्रिक; बिना दार्शनिक मीमांसाके उनका यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। इस समय सनातनधर्मके आचारों और सिद्धान्तोंपर चारों ओरसे जो आक्रमण हो रहा है, दार्शनिक ज्ञानके अभावके कारण हम उसको रोकने और प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो रहे हैं। यही देखकर श्रीजीने सबसे पहले दर्शनशास्त्रको व्यवस्थित, पूर्णा-वयव और कार्यकारी बनानेका संकल्प किया और उसे पूर्ण करके दिखाया।

महर्षि जैमिनिप्रणीत उत्तरार्द्ध और महर्षि भरद्वाजप्रणीत पूर्वार्द्ध दोनों मिलाकर कर्ममीमांसादर्शनकी पूर्ति हुई है। कर्म-काण्डका प्रतिपादक यह मीमांसाशास्त्र चार पादोंमें विभक्त है। कर्मविज्ञानके प्रधानतः दो भेद हैं,—सत्कर्म और असत्कर्म। दोनों-का फल है,—सुख और दुःख। धर्ममूलक पुण्य है और अधर्म-मूलक पाप है। अधर्मका त्याग और धर्मका अवलम्बन ही मनुष्य-के अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण होनेसे इस भरद्वाज दर्शनके प्रथमपादमें प्रकृति स्वभावके अनुकूल और प्रतिकूल धर्माधर्म-का रहस्य, जीवके अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्मके अङ्ग, धर्मकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म गति आदिकी विवेचना की गयी है। दूसरे पादमें संस्कारका विज्ञान, संस्कारके भेद, संस्कार शुद्धिके उपाय आदि बताये गये हैं। तीसरे पादमें संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिके भेद तथा उपाय वर्णित हैं और चौथे पादमें क्रियाशुद्धिका फल तथा मोक्षका विवरण किया गया है। इसीसे इसके चारों पादोंके नाम क्रमशः धर्मपाद, संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपाद रक्खे गये हैं। जीवके लिये कर्मकी प्रधानता होनेके

कारण वेदोंमें कर्मकाण्डका विस्तार और माहात्म्य अधिक पाया जाता है। इसी कर्मविज्ञानको हृदयङ्गम करनेमें सहायता देनेमें कर्ममीमांसा-दर्शन प्रधान सहायक है।

कर्मके अस्तित्वको पृथ्वीके सब धर्मवाले किसी न किसी रूपमें मानते ही हैं, चाहे वे ईश्वरको मानते हों या न मानते हों; परन्तु उसके विस्तृत स्वरूपके विषयमें सब जीवोंके कल्याणके लिये सनातन धर्मावलम्बी वैदिक मार्गप्रवर्तक पूज्यपाद महर्षियोंने ही विचार किया है। इस दर्शनके द्वारा सब धर्मोंके जिज्ञासुओंको अच्छी सहायता मिल सकती है। इसके अध्ययनसे वर्णाश्रमधर्मावलम्बियोंके किसी शास्त्रीय सिद्धान्तमें सन्देह नहीं रह सकता। अधिकन्तु उन सिद्धान्तोंकी दृढ़ता होकर वेद-शास्त्र और वर्णाश्रमके आचारोंपर जो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं, उनका भी निराकरण हो जाता है। इस दर्शनमें ईश्वराज्ञा-स्वरूप धर्मका यथार्थ स्वरूप निर्णय, वर्णाश्रमकी सर्वाङ्गीन पुष्टि और सर्वसम्मत कर्मराज्यके गम्भीर रहस्योंकी मीमांसा की गयी है। अतः तत्त्वज्ञानके विकाशमें इससे विशेष सहायता मिलेगी। जिस दर्शन-शास्त्रमें कर्म और ईश्वर दोनोंका विज्ञान समान रूपसे वर्णित हो, वही अभ्रान्त और पूर्ण माना जा सकता है।

वेदोंमें क्रियाशुद्धि और संस्कारशुद्धिके लक्ष्यसे कर्ममीमांसाकी दो शैलियाँ निर्दिष्ट हुई हैं। एकके द्वारा साक्षात्रूपसे बहिःशुद्धि और बहिःशुद्धि होने पर अन्तःशुद्धि होती है और दूसरीके द्वारा बहिःशुद्धि और अन्तःशुद्धि साथ ही साथ होती है। पहली शैली बहिर्यागकी और दूसरी अन्तर्यागकी सहायक है। पहलीमें क्रिया-सम्बन्ध और दूसरीमें विज्ञानसम्बन्ध अधिक है। चतुर्विंशति मत, विज्ञान भाष्य आदिसे पता चलता है कि, पहली शैलीके आचार्य महर्षि जैमिनि, क्रतु, दक्ष, मैत्रेय आदि और दूसरी-

के महर्षि भरद्वाज, कश्यप, वसिष्ठ, बृहस्पति आदि हैं। दोनों सिद्धान्तोंका प्रकाशक यह सम्पूर्ण कर्ममीमांसादर्शन वर्णाश्रमकी भित्तिको दृढ़ करनेवाला है। ईश्वरभक्ति और आस्तिकताका पथ-प्रदर्शक हैं और नास्तिकमतोंका निराकरण कर जन्मान्तर-वादको सिद्ध करता है। बिना कर्ममीमांसादर्शनके हृदयङ्गम किये दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्म-मीमांसादर्शनके सिद्धान्त समझमें नहीं आ सकते। सदाचारसे लेकर ब्रह्म सद्भाव तकका जो प्रतिपादन करता हो, उसी दर्शनका अधिक महत्त्व मानना ही पड़ेगा।

आचार क्रियात्मक धर्म है। इसके साथ स्थूलसे भी स्थूल-शारीरिक क्रियाका सम्बन्ध है। आचारके द्वारा परम्परा रूपसे ब्रह्म-सद्भाव (मुक्तिपद) की प्राप्ति किस प्रकार होती है। इसके विषयमें पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है :—

"आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः॥
क्रियामूलः साधकश्च क्रियापि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं देव! सुखमानन्दमूलकम्॥
आनन्दो ज्ञानमूलश्च ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलं ऐक्यं स्यात्सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशान! भावातीतं सुनिश्चितम
भावातीतं इदं सर्वं प्रकाशभावमात्रकम्॥"

जातिका मूल आचार है, आचारका मूल शास्त्र हैं, शास्त्रोंका मूल वेद हैं, वेदोंका मूल साधक है, साधकोंका मूल क्रिया है, क्रियाओंका मूल फल है, फलका मूल सुख है, सुखका मूल आनन्द है, आनन्दका मूल ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, ज्ञेयका मूल

तत्त्वानुभव है, तत्त्वोंका मूल ब्रह्मज्ञान है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्य-भाव है और ऐक्यभाव ही सब प्रकारकी साधनाओंका मूल है वही ऐक्यभाव भावातीत होकर समस्त चराचर विश्वका भाव प्रकाशित करता है।

धर्मके आचारात्मक होने और प्रकृतिके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्ता और कर्म (आचार) भी त्रिविध होते हैं। गीतोपनिषद्में कहा है :—

"मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

जो पुरुष फलकी इच्छा और अहंकारको छोड़कर धीरता और उत्साहसे कर्म करता है तथा निर्विकार रहकर सिद्धि और असिद्धिका विचार नहीं करता, वह कर्ता सात्विक कहाता है। आसक्ति रखनेवाला, कर्मके फलको चाहनेवाला, लोभी, हिंसाकरनेवाला, अपवित्र और हर्ष-शोकसे युक्त कर्ता राजस कहा गया है और जिसका चित्त सावधान न हो, जो क्रियाहीन, नम्रतासे विमुख, मूर्ख, कपटी,

निकम्मा, आलसी, शोक करनेवाला और दीर्घसूत्री हो, उस कर्ताको तामसी समझना चाहिए। जिसका करना अनिवार्य है और जो फलकी इच्छा, राग-द्वेष तथा ममतासे रहित होकर किया जाय, वह कर्म सात्त्विक है। जो कामना और अहंकार पूर्वक अत्यन्त कष्टके साथ किया जाय, वह कर्म राजसिक माना गया है और जो कर्म अन्तमें (परिणाममें) बन्धनकारक हो, हानिकारक हो, जिसमें हिंसा होती है और अपने पुरुषार्थका विचार न कर मोहके वशीभूत होकर किया जाय, वह तामसिक कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार कर्माकर्मका निश्चय करनेमें ज्ञानी पुरुष भी उलझनमें आ जाते हैं। कर्ममीमांसाका सिद्धान्त है कि, अवस्था और अधिकारके भेदानुसार त्रिविध कर्मोंका विचार किया जाय, तो वह उलझन सुलझ सकती है, जैसा कि, ऊपर त्रिविध कर्ता और कर्मका विचार किया गया है। सात्त्विक अधिकारका कर्ता सर्वदा सात्त्विक कर्ममें, राजसिक कर्ता राजसिक कर्ममें और तामसिक कर्ता तामसिक कर्ममें ही प्रेम रक्खेगा। अतः साधकको यदि अपना उत्कर्ष करना हो, तो उसे तामसिक कर्मोंसे चित्त हटाकर सात्त्विक कर्मोंमें लगाना चाहिये। जिस कर्मसे सत्त्वगुणका उत्कर्ष हो, श्री सदाशिवने उसीको धर्म कहा है। मनुष्यकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। अतः जिस प्रकृतिका जो कर्ता होगा, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार ही यदि धर्माचरण करे, तो उसके लिये वह अभ्युदयकारी ही होगा और प्रकृति तथा गुणोंका विचार करनेसे सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य आदिका आपही निर्णय हो जाता है। उदाहरणार्थ यज्ञधर्मको ही लीजिये। त्रिगुणानुसार यज्ञ भी त्रिविध कहे गये हैं। यथा :—

"अफलाकांक्षिभिर्यज्ञ विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते"॥

फलकी इच्छा न रखकर, मनको शान्त रखकर, केवल अपना कर्तव्य जानकर यथाविधि जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है। हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो फलकी आशा रखकर दम्भ दिखाने—नाम करनेके हेतु बाह्याडम्बरके साथ यज्ञ किया जाता है, उसे राजसिक जानो और बिना विधि-विधानके, बिना मन्त्रोच्चारके, बिना अन्न सन्तर्पणके और बिना श्रद्धाके जो यज्ञ किया जाता है, वह तामसिक कहा गया है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि, यद्यपि सात्त्विक यज्ञ आदर्श स्वरूप और निःश्रेयस्कर है, तथापि राजसिक यज्ञ राजसिक कर्ताके लिये अभ्युदयकारी ही होता है। सात्त्विक कर्ताके लिये यद्यपि हिंसारहित सात्त्विक यज्ञ ही उपकारी है, तथापि प्रकृति और अधिकारके विरुद्ध होनेसे वह राजसिक कर्ताके लिये उपयोगी नहीं है। राजसिक कर्ताके लिये राजसिक यज्ञ ही साक्षात्रूपसे अभ्युदयकारी और परम्परा रूपसे मुक्तिप्रद होता है। जिससे वह स्वर्ग सुखोंके भोगनेमें समर्थ होता है। परन्तु स्वर्गादिके सुख स्थायी नहीं हैं। स्थायी सुख या परमानन्दका लाभ तो सात्त्विक कर्मसे ही होता है। निष्काम कर्मका अधिकार सर्वोपरि और विलक्षणतापूर्ण है। निष्कामव्रत परायण कर्मयोगी चाहे कोई कर्म करे, वह उसकी मुक्तिका ही कारण होता है। क्योंकि निष्काम कर्ममें संस्कार शुद्धि पहलेसे ही हो जाती है। वासनाओंका नाश हो जानेसे संस्कारशुद्धि हो जाना स्वतः सिद्ध है और इसीसे कर्मयोगी सर्वदा मुक्त ही रहते हैं। उनकी क्रियाशुद्धिमें कोई सन्देह ही नहीं

रह जाता। कर्मयोग और कर्मत्यागरूपी संन्यासका तारतम्य श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार बताया है :—

"यज्ञदानतपः कर्म न त्यज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते" ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि" ॥

अर्थात्—यज्ञ, दान और तपस्यारूपी कर्मोंको त्यागना नहीं; किन्तु करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तपोरूपी कर्म ज्ञानियोंके लिये भी पवित्र हैं। हे धनञ्जय! सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहकर और फलाकांक्षाको न रखकर योगयुक्त चित्तसे कर्म करो। इस प्रकारका समभाव ही योग कहाता है। कर्मका आरम्भ ही अथवा उसका त्याग करदेनेसे ही साधकको नैष्कार्म्यकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि कोई एकक्षण भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृतिके गुण ही विवशतासे सबसे कर्म कराया करते हैं। इस कारण जो तुम्हारे लिये निश्चित है, वह कर्म तुम करो। निकम्मे होकर बैठ रहनेसे कर्म करना कहीं अच्छा है। अपने कर्तव्यकर्मके न करनेसे तुम्हारे शरीरका निर्वाह भी न हो सकेगा। कर्मके द्वारा ही जनकादि राजर्षियोंने सिद्धिको प्राप्त किया था। लोकसंग्रहके विचारसे भी तुमको कर्म करना ही चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्यलोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। वे (श्रेष्ठ पुरुष) जिसको प्रमाण मानते हैं, लोग भी उसीको मान लेते हैं। हे भारत! अज्ञानी पुरुष फलकी इच्छासे जिस प्रकार चावसे

कर्म करते हैं, लोकसंग्रह चाहनेवाले ज्ञानी पुरुषोंको भी उसी प्रकार फलकी इच्छाको त्यागकर कर्म करना चाहिये। विद्वान् लोगोंने सकाम कर्मोंके त्यागको ही संन्यास माना है। बुद्धिमान् पुरुष सब कर्मोंके फलत्यागको ही वास्तविक त्याग कहते हैं। कुछ ज्ञानियोंके मतसे कर्मोंको दोषयुक्त जानकर कर्म नहीं करना चाहिये और कुछ ज्ञानी कहते हैं कि, यज्ञ, दान और तपोरूपी कर्मोंका कदापि त्याग नहीं करना चाहिये। इस सम्बन्धमें हे पार्थ! मेरा तो निश्चित और उत्तम मत यह हैं कि, अपना कर्तव्य जानकर यज्ञादि कर्मोंको अवश्य करना चाहिये; परन्तु उनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये और उनके फलकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। नियत (सन्ध्यावन्दनादि तथा चातुर्वर्ण्यके अनुसार जिसके लिये जो निश्चित हैं, उन) कर्मोंको त्याग देना उचित नहीं है, परन्तु अज्ञानसे उनका जो त्याग किया जाता है, वह त्याग तामसिक कहा गया है। दुःख जानकर या शरीरके क्लेशके भयसे कर्मोंका जो त्याग किया जाता है, वह राजसिक त्याग है। इस प्रकारके त्यागसे त्यागका वास्तविक फल नहीं मिलता। हे अर्जुन! जो अपने नियत कर्मोंको कर्तव्य समझकर किया करता है, किन्तु उनमें आसक्त नहीं होता और न उनके फलकी ही आकांक्षा रखता है, उसका वह त्याग ही सात्त्विक त्याग माना गया है। कर्मोंका त्याग (संन्यास) और कर्मोंका अनुष्ठान (कर्मयोग) ये दोनों मार्ग मुक्तिप्रद हैं; परन्तु कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोगका आचरण करना श्रेष्ठ है। अनासक्त चित्तसे ब्रह्मार्पणपूर्वक जो कर्म करता है, वह उसी प्रकार पापसे लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल-में रहकर भी कमलका पत्ता पानीसे अलिप्त रहता है। कर्म करनेका-ही तुमको अधिकार है, उसके फलकी इच्छा करनेका नहीं। अतः फलाकांक्षा न रक्खो और कर्मोंके न करनेका भी हठ न करो।

श्रीभगवान्‌के इस उपदेशसे कर्मकी महत्ता और व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। बात यह है कि, जिस प्रकार बीजसे वृक्ष होता है और वृक्षसे फिर बीजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार कर्मसे संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारोंके अनुसार फिर कर्मका समुद्भव होता है। यों बीजाङ्कुरन्यायसे संस्कार और कर्मका चक्र बराबर चलता रहता है। अतः जिस शास्त्रमें कर्मरहस्यका सारा विज्ञान भरा हुआ है, उसका उद्धार होना आवश्यक था और श्रीभगवान् तथा पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपासे जब 'श्रीजीके द्वारा उद्धार हो गया है, तब उसके अध्ययनमें हमें आत्मकल्याणके विचारसे प्रवृत्त हो जाना ही चाहिये। महर्षि भरद्वाजके इस अलौकिक 'कर्ममीमांसा दर्शन' के चारपादोंमें कौन-कौनसे महत्त्वके विषय विवृत हुए हैं, उनकी सूची नीचे दी जाती है, जिससे इसकी मौलिकता और उपयुक्तताका आभास मिल जायगा।

कर्ममीमांसा दर्शन–(भरद्वाजकृत) के प्रथम धर्मपादमें—धर्मका लक्षण, धर्मका फल, अधर्मका लक्षण, धर्माधर्म निर्णयका विज्ञान, भक्ष्याभक्ष्य-स्पृश्यास्पृश्य–शुद्धाशुद्धकी मीमांसा, धर्मका स्वरूप, कारण और कार्यब्रह्मका स्वरूप, मानवधर्मका रहस्य, साधारण-विशेष–असाधारण और आपद्धर्मका लक्षण और उपयोगिता, संकल्पकी आवश्यकता, कर्मके भेद, नित्यनैमित्तिक और काम्य-कर्मका लक्षण, त्रिविध भावानुसार कर्मका त्रिविध भाव और उसका लक्षण, उपासना और ज्ञानयज्ञका भेद, तपका लक्षण और उसके भेद, दानका लक्षण और उसके भेद, साधारण धर्मका विस्तृत स्वरूप, विशेषधर्मका महत्त्व, पुरुषधर्मका लक्षण, नारीधर्मका लक्षण और विज्ञान, शक्तिके भेद, नारीमहिमा, आचारविज्ञान, मानसिकधर्म, गुणोंका स्वरूप, भावोंका स्वरूप, धर्मका महत्त्व, जातिधर्मनिर्णय, वर्णधर्म निर्णय, वर्णशुद्धिका उपाय, ब्राह्मणोंके भेदोंका

विज्ञान, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रविज्ञान, चक्रके सम्बन्धसे पितृ-माहात्म्यवर्णन, दायभागका विज्ञान, आधिभौतिक शुद्धिका प्राधान्य और माहात्म्य, वर्णाश्रमधर्ममहिमा, कन्याओंके विवाहकालका निर्णय, नारीधर्मका प्राधान्य, नारीधर्मविज्ञान, सतियोंके भेद, सर्वोत्तम सतीका लक्षण, उत्तम-मध्यम और साधारण सतीका लक्षण, विवाहविज्ञान, विधवाविवाहखण्डन, स्वधर्मत्यागसे पतन, आश्रमधर्मविज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्म, ब्रह्मचर्याश्रमके प्रधान कर्तव्य, गृहस्थ-वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमका विज्ञान और उनकी उपयोगिता, चार आश्रमोंका मौलिक सिद्धान्त, वर्णाश्रमधर्मकी विशेषमहिमा, निवृत्तिकी उत्पत्तिके विषयमें मतभेद, वेदोंकी महिमा, श्रुति और स्मृतिके विरोधमें श्रेष्ठताका विचार, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रके विरोधमें श्रेष्ठताका विचार, आप्तप्रमाणका महत्त्व, आप्तपुरुषोंकी महिमा, वैदिक विज्ञानका सर्वश्रेष्ठ महत्त्व इत्यादि विषयोंकी दार्शनिक मीमांसा की गयी है।

इसके द्वितीय संस्कारपादमें—कर्मबीजका स्वरूप, सृष्टिका कारण, जीवके बन्धन और मोक्षका कारण, त्रिविध शुद्धि और उसकी विशेषता, स्वाभाविक और अस्वाभाविक संस्कारोंका स्वरूप, चक्रगतिरहस्य, वैदिकसंस्कारोंकी सिद्धि, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल (मुंडन), उपनयन, ब्रह्मव्रत, समावर्तन, विवाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत, संन्यास और अन्त्येष्टि इन सोलह संस्कारोंका विज्ञान और फल, संस्कारशुद्धिकी विलक्षणता, पञ्चकोषोंके विकासका रहस्य, उद्भिज्जादि योनियोंके जीवोंका आश्रयस्थल, चित्कलाविज्ञान, उद्भिज्जादि योनियोंमें कलाओंके विकासका तारतम्य, पूर्ण कलाओंके विकासका रहस्य, आनन्दमय कोषकी पूर्णताका रहस्य, कलाओंके विकासका भेद, विलोम-

विवाहका निषेध, किस प्रकारकी कन्याके साथ किस प्रकारके वरका विवाह होना चाहिये, वर्णसङ्करताके दोष तथा उनका वैज्ञानिक और शास्त्रीय रहस्य, त्रिविध शुद्धिकी प्रयोजनीयता, आर्य और अनार्यजातिका लक्षण, जातिभेदके प्रसङ्गसे मानवभेद प्रसङ्ग और उनकी प्रवृत्ति, आर्यजातिकी प्रतिष्ठाका हेतु, अनार्यजातियोंसे आर्यजातिकी विशेषता, जातितत्त्वका विज्ञान, नारीजातिमें स्वाभाविक संस्कारोंकी क्रमाभिव्यक्ति, जीव प्रवाहकी अनादिता और अनन्तताकी सिद्धि, संस्कारोंके क्षीण होनेका फल, संस्कारोत्पत्तिका मूलकारण, जीवोत्पत्तिके साथ संस्कारोंका सम्बन्ध, लिङ्गशरीरके साथ जीवका सम्बन्ध, जीवके साथ सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध, स्थूलशरीरोत्पत्तिका रहस्य, भोगके लिये स्थूलशरीरकी विशेषता, मनुष्येतरयोनियोंमें जीवका गमनागमन, आतिवाहिक देहका विज्ञान, आवागमनचक्रोत्पत्ति रहस्य, त्रिविध पिण्डोंका रहस्य और विज्ञान, सहज और मानवपिण्डोंके लक्षण, संस्कारोंका फल, लोकान्तर गति, प्रेतश्राद्धकी आवश्यकता, श्राद्धका विज्ञान, संस्कारवैचित्र्य, संस्कारोंके परिणामोंका रहस्य, संस्कारोंसे मुक्ति कैसे होती है, देशका रहस्य, महत्तत्त्वका स्वरूप, अहंकार तत्त्वका स्वरूप, ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विनाशका हेतु, गोलोकरहस्य, ब्रह्माविष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तियोंका विज्ञान, शब्दमयी सृष्टिका रहस्य, रूपसृष्टिकी विशेषता, जगतमें नाम और रूपकी प्रधानताका कारण, इत्यादि गम्भीर विषयोंकी मीमांसा की गयी है।

तृतीय क्रियापादमें—क्रियाका नैसर्गिक हेतु, उसके विकाश और विस्तारका रहस्य, कर्मका साक्षात् फल, क्रियाके भेद और विज्ञान, कर्मका स्वरूप और महत्त्व, क्रियाका अधिष्ठान, गुणोंका अन्योन्याश्रयित्व, गुणोंके सम्बन्धसे कर्मका स्वरूप, कर्मकी नैसर्गिक गतिका विज्ञान, कर्मका प्राकट्य और रहस्य, कर्मकी

नित्यता, कर्मका जगत्कारणत्व, कर्मके विविधस्वरूप, प्रकृति-विज्ञानके सम्बन्धसे वर्णाश्रमकी आवश्यकता, अधिकारभेदका प्रयोजन, जैव और ऐश कर्मका महत्त्व, चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशके सम्बन्धसे कर्मसंग्रहका विज्ञान, प्रारब्ध-संचित-क्रियमाण भेदसे संस्कारोंकी त्रिविधता और प्रत्येकका लक्षण, चित्ताकाश चिदाकाश और महाकाशका स्वरूप, जीवके तीनों शरीरोंके त्रिविध सम्बन्धका रहस्य, किन कर्मोंसे कौन देवता तृप्त होते हैं, कर्म-प्रवाहकी विशेष गति, चेतन और जड़से कर्मका सम्बन्ध, प्राकृतिक और स्वतन्त्ररूपसे जीवके द्विविध प्रवाह और दोनोंका कार्यक्रम, सहज कर्मोंका प्रकृतिके अधीन होना, स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें कर्मका सम्बन्ध, सृष्टि और लयकी नैसर्गिकता, सत्त्व गुणके उदयका विज्ञान, उसका फल और धर्मके साथ उसका सम्बन्ध, कर्मका ब्रह्मस्वरूप होना, महायज्ञका लक्षण और उसके अधिकारी, यज्ञकी विशेष महिमा, कर्मके शुभाशुभ भेद, सृष्टिकी द्विविध गति, शुभा-शुभगतिका फल, सुख-दुःखका स्वरूप और व्यापकत्व, मनुष्यकी लौकिक और अलौकिक दो प्रकारकी शक्तियोंका विकाश, द्वन्द्व-क्रियाविज्ञान, मनुष्यजातिकी सुरक्षाका विज्ञान, बुद्धिके तीन भेद, क्रियाओंका नियामक निर्णय, कर्मका सादित्व और सान्तत्व, देश तथा कालका स्वरूप और उनका अनादि-अनन्तत्व, देश कालानुसार क्रियाओंका तारतम्य, क्रियाओंका परिणाम और उनका त्रिविध तथा सप्तविध भेद, भोगोंका स्वरूप और उनके भेद, जन्मान्तरगति और उसकी विशेषता, स्थूल और सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध, भोगोंकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्तका रहस्य, व्यष्टि-सृष्टिनिर्णय, कर्मविपाकका रहस्य और क्रम, समष्टि सृष्टि और उसके त्रिविध तथा सप्तविधविभाग, चतुर्दशलोक समीक्षा, भूलोकका विस्तृत विवरण, उसके भेद और महत्त्व, मृत्युलोकमहिमा,

आर्यावर्त महिमा, तीर्थमहिमा, ऋषियोंकी महिमा, त्रिविध अधिकारी और त्रिविध भाव, प्रायश्चित्तकेद्वारा कर्मनाशका रहस्य, ज्ञाताज्ञातपाप और पुण्यका विचार, कर्मलोक और भूलोक, धर्मयुद्धकी आवश्यकता, देवासुरसंग्राम, वेदाधिकारनिर्णय, साधारण और विशेष नियम, युक्तायुक्त कर्मविपाकका स्वरूप निर्णय, तपोवनका महत्त्व, वर्णाश्रमका महत्त्व, अवतारविज्ञान, कर्मकी श्रेष्ठता आदि कर्म रहस्योंकी दार्शनिक मीमांसा की गयी है।

चतुर्थ मोक्षपादमें—सृष्टिका मौलिक रहस्य, ईश्वरका स्वरूप जीवका लक्षण, मोक्षका स्वरूप, बन्धन और मोक्षका हेतु, मुक्तिके प्रसङ्गसे सृष्टि-रहस्यवर्णन, सृष्टिका स्तर, कामका प्रभाव, कामजयका महत्त्व, स्वाभाविक वृत्तियोंका विश्लेषण, कामजनित दृश्यका गुरुत्व, कामको नष्ट करनेका उपाय, अपवर्गका विज्ञान और उसका मूलतत्त्व, व्युत्थान और क्लेशका हेतु, उनसे बचनेका उपाय तथा चरमफल, संस्कारोंके भेद और उनके हानका उपाय, जीवन्मुक्त पुरुषोंमें कर्मकी स्थिति, चित्ताकाशके साथ प्रारब्ध कर्मका और चिदाकाशके साथ क्रियमाण कर्मका सम्बन्ध, क्रियमाण कर्मकी विशेषगति और उसके भोगका स्वरूप, महाकाशके साथ सञ्चित कर्मका सम्बन्ध और उसकी गति, चतुर्विध भूतसङ्घके साथ आकाशका सम्बन्ध, कर्मके लयका विज्ञान, कर्मके भोगसे मुक्तिकी समीक्षा, प्रवृत्तिधर्मसे निवृत्तिधर्मकी प्रधानता, मुक्तिका उपाय, यज्ञों और महायज्ञोंका फल तथा यज्ञशेषका महत्त्व, मुक्तिका स्वरूप, प्रसङ्गोपात्तकर्मके विभाग, ईश्वरका ईश्वरत्व, ब्रह्माण्डके विचारसे देवता और ऋषियोंका अ-सर्वज्ञत्व तथा ईश्वरका ही सर्वज्ञत्व, कार्य और कारण ब्रह्मनिरूपण, अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति, इस दर्शनके आविर्भावका कारण और माहात्म्य, दृश्यप्रपञ्चका हेतु, प्रलयका रहस्य, कालकी अवस्थाएँ, देशका रहस्य, देश और कालसे प्रणव-

का सम्बन्ध, प्रणव माहात्म्य, ज्ञानी और अज्ञानियोंमें भेद, निर्विकल्प समाधि, काल तथा समष्टिकर्मकी प्रतिकूलतामें बाधाएँ, स्वास्थ्यसिद्धि और तत्त्वज्ञानलाभका उपाय, आतिवाहिक देहकी गतिके दो भेद, शुक्लागति और उसके तीन भेद, सप्तमलोकसे सूर्यमण्डल भेद करनेका उपाय, कृष्णागतिका स्वरूप और धारणाके अनुसार उसके तीन भेद, जीवन्मुक्तगति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और उससे मोक्षकी प्राप्ति, काल-क्रिया और द्रव्यके द्वारा क्रियाशुद्धि, दानकी त्रिविध शुद्धि, कर्मयोगका स्वरूप, सङ्गीतसे मोक्षका सम्बन्ध, चतुर्विध अवस्थाएँ, आत्माके साथ तुरीयावस्थाका सम्बन्ध, त्रिविधकर्मोंके द्वारा त्रिविधमुक्ति, जीवोंकी छः प्रकारकी वृत्तियाँ, जीवन्मुक्तकी वृत्तियाँ, सप्तभेदके अनुसार कर्मोंकी सप्त अवस्थाएँ, चतुर्दश प्रकारके जीवोंके अज्ञान और ज्ञानके अधिकार सप्तज्ञान और अज्ञानभूमियोंका विकासक्रम, अधिकारभेदकी आवश्यकता, जीवन्मुक्तके त्रिविध अनुभव, कर्मयोगका विज्ञान, ज्ञानकी असम्पूर्णतासे जन्मान्तरकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञानके उदयसे मोक्षकी उपलब्धि, मोक्षकी अवस्थाका वर्णन, कर्मका हेतुनिर्णय, विश्वका विज्ञान, कालका लय, कर्मयोगसे वासनाका क्षय, ज्ञानका रहस्य, मुक्ति प्राप्तिके अनन्तर कर्मके वेगका स्वरूप, कर्मयोगमें पतनकी असम्भावना, उससे स्वार्थका लय और भगवत्कार्यकी सिद्धि, इत्यादि तत्त्वज्ञानात्मक विषयोंकी मीमांसा की गयी है।

यह अत्यन्त प्राचीन 'कर्ममीमांसादर्शन' आधुनिक समयके लिये भी परम उपयोगी है। पूर्वोक्त विषय सूचीके देखनेसे पता चल सकता है कि, इसमें धर्मके यावत् रहस्य, संस्कारके यावत रहस्य-कर्मके यावत् रहस्य और संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मोक्ष मार्गके यावत् रहस्य विशद कर दिये गये हैं। इसके अध्ययनसे वर्णाश्रमधर्मावलम्बियोंके किसी शास्त्रीय सिद्धान्त

पर कोई सन्देह बच ही नहीं रह सकता। इसके विवेचनसे वर्णाश्रमधर्मावलम्बियोंके सब सिद्धान्तोंकी दृढ़ता हो जाती है, वेद-शास्त्र और वर्णाश्रमधर्मके आचारोंपर जो शंकाएँ होती हैं, उनका निराकरण हो जाता है, ईश्वराज्ञारूपी धर्मके यथार्थस्वरूपका निर्णय हो जाता है, वर्ण और आश्रमधर्मकी सर्वाङ्गीन पुष्टि हो जाती है और सर्वसम्मत कर्मराज्यके गम्भीर रहस्योंकी मीमांसा होकर तत्त्वज्ञानके विकाशमें विशेष सहायता मिल सकती है। यद्यपि कर्मका अस्तित्व किसी न किसी रूपमें सब धर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं, तथापि सनातनधर्मावलम्बी वैदिकमार्गप्रवर्तक पूज्यपाद महर्षियोंने ही सब जीवोंके कल्याणकेलिये कर्मका विस्तृतरूप इस दर्शनमें प्रकाशित किया है। अतः अन्यधर्मावलम्बियोंके जिज्ञासुओंको इससे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। इस दर्शनकी खोजकर श्रीजीने मनुष्य जातिपर अनन्त उपकार किये हैं।

——

दैवीमीमांसा-दर्शन

यह भक्तिशास्त्र सम्बन्धी दर्शन भी श्रीजीके शास्त्रानुसन्धानका फल है। अपौरुषेय वेदके उपासनाकाण्डकी पुष्टिके लिये महर्षि अङ्गिराने सर्वप्रथम इसे प्रकाशित किया था; परन्तु कालप्रभावसे यह लुप्त हो गया था, जिससे देशमें साम्प्रदायिक विरोधने प्रचण्डरूप धारण कर लिया और उपासकोंकी बड़ी हानि हुई। यद्यपि तदुपरान्त महर्षि शाण्डिल्य, देवर्षि नारद और भगवान् शेषजीने अपने भक्तिसूत्रोंके द्वारा इसपर प्रकाश डाला था, तथापि उनसे उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले दैवीजगत्‌की साङ्गोपाङ्ग मीमांसा नहीं हो सकी

और साम्प्रदायिक विरोध बढ़ता ही गया। इसको मिटानेके उपायोंके सम्बन्धमें जब श्रीजी गम्भीर विचार करने लगे, तब उनको अनुभव हुआ कि, दैवीजगत्का यथार्थज्ञान न होनेसे ही उपासना-सम्प्रदायोंमें मतभेदकी सृष्टि हुई है उपासना एवं भक्तिका दर्शन उपलब्ध नहीं होनेसे वेदान्तदर्शनपर भक्तिके आचार्योंने अपने अपने मतके अनुसार पाठ्य लिखे जिससे विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक मतोंके रूपसे वेदान्तकी खींचातानी की गयी। यदि भक्तिके दर्शनका अभाव नहीं होता तो अद्वैतवादके प्रतिपादक वेदान्तदर्शनकी खींचातानीकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस महान् अभावकी ओर श्रीजीका ध्यान आकृष्ट हुआ, उन्होंने योगबल और साधनाके द्वारा महर्षि अंगिरासे इसे प्राप्तकर साधकोंके कल्याणके लिये प्रकाशित कर दिया। शास्त्र कहता है :—

"ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः"।

ब्रह्मा आदिसे लेकर ऋषियों तक सभी शास्त्रोंका स्मरणकर उनको प्रकाशित करते हैं। वे उनके रचयिता नहीं हैं। पूज्य महर्षिगण नित्य स्थित ज्ञानराज्यसे शास्त्रोंका केवल आविष्कार करते हैं। वे मन्त्रद्रष्टा भर होते हैं। करालकालकी चक्कीमें पिसकर कभी कभी किसी शास्त्रका तिरोभाव हो जाता है और फिर महर्षियोंकी कृपासे उसका आविर्भाव भी होता है। कभी कभी कोई शास्त्र एकसे अधिक ऋषियोंद्वारा भी प्रकट होता है। यह दर्शनशास्त्र भी इस नियमका अपवाद नहीं हो सकता। श्रीजीके द्वारा देश-काल-पात्रके समष्टि शुभ प्रारब्धके कारण यह प्रकाशित अवश्य हुआ है; परन्तु इसके वे रचयिता नहीं हैं श्रीजीको यह किस प्रकार प्राप्त हुआ, इसका रहस्य 'कर्ममीमांसादर्शन' शीर्षक अध्यायमें बताया गया है।

वेदोंकी आज्ञा है कि, 'आत्मेत्येवोपासीत, तदात्मानमेवावेत्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'। आत्माको ही जानना चाहिये और उसीकी उपासना करनी चाहिये। आत्माको जानकर ही मृत्युका भय मिट जाता है। मुमुक्षुओंको इस प्रकार अध्यात्मराज्यमें प्रवेश करानेमें वैदिक सप्तदर्शन ही समर्थ हैं। चतुर्विधभूत संघोंमें भटकता हुआ जीव मनुष्ययोनिमें पहुँचकर भी जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा नहीं पाता। वासनाजालमें फँसकर आवागमनके प्रवाहमें प्रवाहित होता ही रहता है। जब वह उपासनाके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तभी परमानन्दरूपी मुक्तिपदको प्राप्त करता है।

श्रीभगवत्सान्निध्य प्राप्तिके उपाय-विशेषका नाम उपासना है। उपासनाका शरीर योग एवं भक्ति प्राण कही गयी है। इन दोनोंका अन्योन्य सम्बन्ध है। इनके साधनसे क्रमशः परमात्माका सान्निध्य प्राप्त होता है और तत्त्वज्ञानी भक्त निर्वाण मुक्तिको पा जाता है। श्रीगीतोपनिषद्में श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं :—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥"

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पुण्यवान् लोग मेरा भजन किया करते हैं, परन्तु पुण्यके तारतम्यानुसार वे चार प्रकारके होते हैं। यथा :—

१—आर्त—अर्थात् रोगादिसे पीड़ित लोग, २—जिज्ञासु—अर्थात् जो श्रीभगवान्के स्वरूपको जाननेकी इच्छा करते हैं, ३—अर्थार्थी—अर्थात् जो ऐहिक वैभव या पारलौकिक मङ्गलसाधनके, अभिलाषी हैं और ४—ज्ञानी—अर्थात् आत्मज्ञानसम्पन्न महापुरुष। इन चारों प्रकारके भक्तोंमें जो मुझमें सदा निष्ठा रखते हैं और मुझमें ही रमे रहते हैं, वे ज्ञानी भक्तही श्रेष्ठ हैं। ज्ञानी भक्तोंका मैं अतिप्रिय हूँ और वे भी मेरे अतिप्रिय हैं। ज्ञानी भक्तोंकी देह आदिमें अहंबुद्धि नहीं रहती, इस कारण उनके चित्तमें विक्षेप नहीं होता। चारों प्रकारके भक्त यद्यपि उदार (महान्) हैं, तथापि ज्ञानी भक्त मेरे ही स्वरूप हैं। केवल मुझमें ही चित्त रमाकर ज्ञानीभक्त सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप मेरा ही आश्रय किये रहते हैं। जो मेरे भक्त हैं, चाहे वे किसी श्रेणीके हों, अनेक जन्मोंमें ज्ञान प्राप्तकर 'यह सब जगत् वासुदेव ही हैं' इस प्रकारकी आत्म-दृष्टिके द्वारा मुझको जान लेते हैं। परन्तु ऐसे महात्मा दुर्लभ (विरले ही) होते हैं। गोस्वामीजी इसी आत्मदृष्टिका लाभकर ठीक ही लिख गये हैं कि—

"सिया राममय सब जगजानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी"॥

बात यह है कि, ज्ञानीभक्त कर्मकाण्डकी सहायतासे आधि-भौतिक और उपासनाकाण्डकी सहायतासे आधिदैविकशुद्धि प्राप्तकर लेनेके उपरान्त ज्ञानकाण्डकी सहायतासे समस्त जगत्को श्रीपरमात्माके ही रूपमें देखा करते हैं। यह विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्ताराज्यका है और उस राज्यमें दर्शनशास्त्रकी सहायतासे ही प्रवेश हो सकता है। स्थूलराज्यसे परे अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्यके अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्र ही ध्रुवताराके समान है।

किसी मनुष्य समाजकी बाहिजगत् सम्बन्धी उन्नति जिस प्रकार शिल्प (आर्ट) और पदार्थविज्ञान (साइन्स)के उत्कर्षसे जानी जाती है, उसी प्रकार उसकी अन्तर्जगत् संबंधी उन्नति दर्शनशास्त्रके उत्कर्षसे जानी जाती है। परन्तु शिल्प और पदार्थविज्ञान कभी सर्वोच्च स्थानका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य स्थूलजगत्‌के वैभवको नहीं देख सकता, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र-ज्ञानविहीन व्यक्ति सूक्ष्म जगत्‌के विषयोंको नहीं समझ सकता। इसीसे इस शास्त्रका नाम 'दर्शन' है। इतिहासके पाठकोंसे यह बात छिपी नहीं है कि, जब जो जाति आध्यात्मिक जगत्‌में अग्रसर हुई, तभी उसमें दर्शनशास्त्रकी आलोचना आरम्भ हुई है। वैदिक धर्मावलम्बी मनुष्य समाजमें दर्शनशास्त्रकी जैसी उन्नति हुई, वैसी अबतक पृथ्वीकी किसी जातिमें नहीं हुई है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने योगसाधनके द्वारा प्रथम अन्तःकरणकी शुद्धिकर फिर अन्तर्जगत्‌में प्रवेश करनेकी चेष्टा की है। तप और योगकी सहायतासे उन्होंने अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके ही पृथक् पृथक् दर्शनोंके सूत्र बनाकर यह शास्त्र प्रकाशित किया था। पृथ्वीकी अन्य शिक्षित जातियोंका क्रम इससे ठीक उलटा रहा है। उन्होंने दूरसे अन्तरराज्यका यत्किंचित् आभास पाकर उस विषयकी वास्तविकता जाननेकी चेष्टा की है। वे बहिर्जगत्‌के आश्रयसे अन्तर्जगत्‌में प्रविष्ट होनेका प्रयत्न करती रही हैं। इसीसे उनका दर्शनशास्त्र विश्रृंखल और असम्पूर्ण है।

सृष्टितत्त्वकी पर्यालोचना करनेसे सहज ही जाना जा सकता है कि, सत्त्वरजस्तमात्मिका प्रकृतिके राज्यमें सर्वत्र ही तीन तीन विभाग विद्यमान हैं। जैसे—वात-पित्त-कफरूपी शरीरधारणकी त्रिविध शक्ति, जीवोंकी त्रिविध प्रकृति, त्रिविधकर्म, त्रिविधभाव, त्रिविधयज्ञ-दान तप आदि। त्रिगुणोंकी तरह सृष्टिराज्यमें सात

भावोंके अनुसार सर्वत्र सात विभाग भी देख पड़ते हैं। जैसे :— सप्तधातु, सप्तवर्ण, सप्तदिवस (सप्ताह), सप्तऊर्द्धलोक, सप्त अधोलोक, सप्तज्ञानभूमियाँ, सप्तअज्ञानभूमियाँ, सप्तर्षि, सप्तरत्न इत्यादि। इसी तरह जीवके सप्तअज्ञानभूमियोंको स्वाभाविक-रूपसे पारकर लेनेपर उसको क्रमशः उन्नतकर अन्तमें परमपदतक पहुँचानेके लिये जिस वैदिकदर्शन-विज्ञानका आविर्भाव हुआ है, वह भी सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार सात विभागोंमें विभक्त है। तदनुसार न्याय और वैशेषिक ये दो पदार्थवादके दर्शन, सांख्य और योग ये दो सांख्यप्रवचन दर्शन और वेदोक्त कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीन काण्डोंके कर्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा), दैवीमीमांसा या भक्तिमीमांसा (मध्यमीमांसा) और ब्रह्ममीमांसा (उत्तरमीमांसा) ये तीन मीमांसादर्शन, इस प्रकार सात दर्शनोंका होना स्वतः सिद्ध है। आजकल जहाँ तहाँ 'षड्दर्शन'का नाम ही सुनायी देता है। यह केवल जैनों और बौद्धोंके दर्शनोंका अनुकरण है। उनके दर्शन छः होनेसे वैदिकदर्शन भी छः मान लिये गये और 'षड्दर्शना नाम चल पड़ा। किसी आर्षग्रन्थमें 'षड्दर्शन' शब्द देखनेमें नहीं आता। 'षड्दर्शन' शब्द प्रचलित होनेका मुख्य कारण यह है कि, सदियोंसे मीमांसादर्शनके अधिकांश सिद्धान्त ग्रन्थ लुप्त हो जानेसे मध्यमीमांसादर्शनका एक भी सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं मिलता था। उसकी खोज तो किसीने नहीं की, किन्तु हमारे साहित्यमें 'षड्दर्शन' शब्द प्रचलित हो गया। वैदिकदर्शन-शास्त्रकी शिक्षाप्रणालीके अभावसे ही ऐसा हुआ है और इसीसे आर्यजातिमें आर्यत्वके नाशकारी अनेक प्रबल दोष उत्पन्न होकर दिन-दिन उसकी अवनति होती जा रही है। जबतक दार्शनिक-शिक्षाका पुनः प्रचार नहीं होगा, तबतक उसकी यह अवनति किसीके रोके किसी प्रकार रुक नहीं सकती। जिस जातिकी अपनी शिक्षाका

लक्ष्य ही बदल जाता है, उसकी अवनति होना अनिवार्य है जिसके न रहनेसे जिस किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, वही उसका धर्म होता है। आध्यात्मिक लक्ष्य ही आर्यजातिका प्राण है। उसके न रहनेसे वह कैसे जीवित रह सकती है?

वेद अभ्रान्त हैं और ज्ञानके भण्डार हैं। अतः वैदिक-दार्शनिक विज्ञानका भी अभ्रान्त और सर्वांगपूर्ण होना स्वाभाविक है। वैदिक सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार सात वैदिकदर्शन भी होने चाहिये और हैं भी। सात ज्ञानभूमियोंमें पहली ज्ञानदा, दूसरी सन्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पाँचवीं सत्पदा, छठी आनन्दपरा और सातवीं परात्परा है। इनके अनुभव इस प्रकार हैं:—मैं समस्त ज्ञातव्य विषयोंको जान गया हूँ, यह पहली भूमिका अनुभव है। परित्याज्य विषयोंको मैं त्याग चुका हूँ, यह दूसरी भूमिका अनुभव है। प्राप्त करने योग्य शक्तियोंको मैं पा चुका हूँ, यह तीसरी भूमिका अनुभव है। यह दृश्यमान समस्त जगत् मायाका ही विलास है, इसमें मेरी कोई अभिलाषा नहीं है, यह चौथी भूमिका अनुभव है। यह जगत् ही ब्रह्म है, यह पाँचवीं भूमिका अनुभव है। ब्रह्म ही जगत् है, यह छठी भूमिका अनुभव है और मैं अद्वितीय निराकार निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, यह सातवीं भूमिका अनुभव है। इसी सप्तमभूमिमें पहुँचकर ज्ञानी महात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। जिस प्रकार पदार्थवादक न्याय और वैशेषिक दर्शनका सिद्धान्त है कि, पदार्थज्ञानके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। योगदर्शन एकतत्त्वकी उपलब्धिके साथ ही साथ समाधिके द्वारा निर्वाणपथका प्रदर्शन करता है। सांख्यदर्शन त्रिविध दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिको लक्ष्यकर मुक्तिकेलिये सांख्यविज्ञानका विधान करता है। कर्ममीमांसादर्शन संस्कारशुद्धि और क्रिया-

शुद्धिके द्वारा मुक्तिमार्गमें अग्रसर होनेका उपदेश देता है और वेदान्तदर्शन प्रतिपादन करता है कि, ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे मुक्ति हो ही नहीं सकती। उसी प्रकार यह दैवी-मीमांसादर्शन अर्थात् भक्तिशास्त्र निश्चित करता है कि, भगवद्भक्तिकी सहायतासे त्रिविधशुद्धिके सम्पादनसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। तीनों मीमांसादर्शनोंके भिन्न-भिन्न होने और उनके पुरुषार्थमें यथेष्ट भेद होनेपर भी वे परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे सम्बन्ध-युक्त हैं, एक दूसरेके पोषक हैं। जिस भूमिका जो अधिकारी होगा, उसके अनुकूल उसे उस दर्शनमें सामग्री मिल जायगी। ज्ञानी भक्त अवश्य ही कर्मयोगी और तत्त्वज्ञानी होगा, कर्मयोगी भी भक्ति और तत्त्वज्ञानका अवलम्बन करेगा। और तत्त्वज्ञानीका तो यह सिद्धान्त ही है कि, समस्त कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें ही हो जाती है। जैसा कि, गीतामें कहा है :—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।"

तब मतभेद रहा कहाँ? विभिन्न दर्शनोंके भिन्न-भिन्न सिद्धान्त मूलवस्तुसे किस प्रकार अभिन्न हैं, यह बात इस उदाहरणसे ध्यानमें आ सकती है कि, कोई कहे—शरीरके पोषणके लिये शारीरिक अवयवोंमें मुख ही प्रधान है, कोई कहे—पाकस्थली प्रधान है और कोई कहे—हृदययन्त्र ही प्रधान है, तो किसीकी बात असत्य नहीं कही जा सकती, तीनों सत्य हैं; क्योंकि अन्न प्रथमतः मुखके द्वारा ही पाकस्थलीमें जाता है और फिर वहाँसे रसके रूपमें परिणत होकर हृदययन्त्रमें प्रवेश करता है। तत्पश्चात् शरीरमें सर्वत्र सञ्चालित होकर रक्तके रूपमें शरीरकी रक्षा और पुष्टिका साधन करता है। एक यन्त्रमें अन्नका प्रवेश हो जानेपर वह अन्यान्य यन्त्रोंमें जाकर आप ही आप ठीक ठीक कार्य करने लगता है।

इसी तरह कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग, तीनोंकी अपने-अपने ढङ्गपर अधिकारिभेदानुसार प्रधानता मानी जा सकती है। वे एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं। यही कारण है कि, वैदिकदर्शनशास्त्र सर्वाङ्ग पूर्ण है और इसकी सार्वभौम दृष्टि अतुलनीय है।

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के बीचमें अवस्थित योगदर्शन जिस प्रकार परस्पर अविरुद्ध और सर्वजीवहितकारी है, उसी प्रकार यह भक्तिदर्शन अथवा दैवीमीमांसादर्शन कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके मध्यवर्ती होनेसे सबसे अविरुद्ध और सर्वहितकारी है। वास्तवमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग एक दूसरेके पोषक ही हैं।

जिस प्रकार सभी मुख्य मुख्य शास्त्र चार व्यूहोंसे सुरक्षित रहते हैं, उसी प्रकार उपासनाकाण्डका यह दैवीमीमांसादर्शन भी चतुर्व्यूहोंसे सुरक्षित है। वे चतुर्व्यूह इस प्रकार हैं:—१—सृष्टि-स्थिति-प्रलयका स्वरूप, २—इन तीनोंका हेतु, ३—मुक्ति और ४—मुक्तिका उपाय। इनके आश्रयसे मुमुक्षु अनायास ही भव-सागरसे पार उतर जाते हैं। इस दर्शनमें जिन महत्त्वपूर्ण विषयोंकी मीमांसा की गयी है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं:—भक्ति किसको कहते हैं? भक्तिके कितने भेद हैं? उपासनाके द्वारा मुक्ति कैसे सम्भव है? श्रीभगवान्का आनन्दमय स्वरूप क्या है? श्रीभगवान्के ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीन रूपोंमें भेद क्या है? भक्तिके आचार्य प्रधान-प्रधान ऋषियोंके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र मत क्या हैं? सृष्टिका विस्तृत रहस्य क्या है? अध्यात्मसृष्टि क्या है? अधिदैव-सृष्टि क्या है? अधिभूत सृष्टि क्या है? ऋषि किसको कहते हैं? देवीदेवता क्या हैं? पितृगण किनको कहते हैं? उनके साथ जगतका क्या सम्बन्ध है? अवतार कैसे होते हैं? अवतार कितने प्रकारके हैं भक्तिके द्वारा मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? चार प्रकारके योगोंके लक्षण क्या हैं? उपासनाके कितने भेद हैं? उपासना और

भक्तिके आश्रयसे साधक किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? कर्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है ? दैवीमीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है ? ब्रह्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है ? इत्यादि ।

इसी दर्शनशास्त्रके लुप्त हो जानेसे योग और उपासनाकी एकता सिद्ध करनेमें उन्नत ज्ञानियोंको भी विमोहित होते देखा गया है । श्रीभगवान् व्यासदेवके ब्रह्ममीमांसादर्शन (वेदान्त)का श्रीभगवान्‌शंकराचार्यकृत उत्तमभाष्य उपलब्ध है । किन्तु दीर्घकालतक दैवीमीमांके लुप्त हो जानेसे उपासक सम्प्रदायोंके आचार्योंने अद्वैतवादको द्वैतवादमें परिणत करनेकी चेष्टा की, जिससे वेदान्त विचारमें बड़ी असुविधा हो गयी थी । यदि यह मध्यमीमांसा बीचमें लुप्त न हो गयी होती, तो द्वैत-अद्वैतका झगड़ा ही खड़ा न होता । अब इसके उपलब्ध हो जानेसे वह असुविधा दूर हो गयी है और इसके अध्ययनसे वह पुराना विवाद शान्त हो सकता है ।

कर्मकाण्डका मूल धर्मविज्ञान है, उपासनाकाण्डका मूल भक्ति है और ज्ञानकाण्डका मूल ब्रह्मज्ञान है । कर्मकाण्डके द्वारा चित्तशुद्धि हो जानेके उपरान्त भक्तिके विषयमें जिज्ञासा होती है । कर्ममीमांसाका आश्रय लिये बिना जिस प्रकार अनन्त वैचित्र्यपूर्ण दुरूह विशाल कर्मका रहस्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता, उसी प्रकार दैवीमीमांसाका आश्रय लिये बिना चाहे किसी सम्प्रदायका उपासक क्यों न हो, अपने अधिकारानुसार सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । उलटे अपने अधिकारकी प्राप्तिके विषयमें भग्नमनोरथ होकर विषाद ग्रस्त हो जाता है । दैवीमीमांसाके रहस्यका ज्ञान होनेसे साम्प्रदायिक उपासकगण पथभ्रष्ट हो गये हैं । वे कभी तो कर्ममार्गमें जाकर अपने अधिकारके विरुद्ध आचरण करते हैं और कभी ज्ञानमार्गमें जाकर अनधिकार चर्चामें प्रवृत्त होते हैं । एकप्रकारसे वे अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें अपने ही हाथों रोड़े बिछाया

करते हैं। उन्हींपर 'इतोनष्टास्ततो भ्रष्टा:' अथवा 'दोऊपन ऐसे गये, माया मिली न राम' ये कहावतें चरितार्थ होती हैं। अत: कर्ममीमांसा जैसी सब शाखाओं, सम्प्रदायों, कल्पसूत्रों और स्मार्तानुशासकोंकी परम सहायक है, वैसी दैवीमीमांसा भी सब प्रकारके उपासकोंके लिये कल्याणकारी है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस दर्शनशास्त्रमें परमात्माको आनन्दस्वरूप सिद्ध किया है और सद्भाव तथा चिद्भावमें आनन्दभावकी व्यापकता स्वीकार की गयी है। इस प्रकार श्रीजीने पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराकृत दैवी-मीमांसादर्शनको मुक्तिका द्वार खोलकर निर्वाणरूपी परमानन्द पदकी प्राप्तिके लिये प्रकाशित किया है।

योगसंहिताएँ

पूर्वोक्त 'कर्ममीमांसा' और 'दैवी मीमांसा'—जो लुप्त हो गयी थीं, उनको खोज निकालकर—उनका उद्धारकरके ही श्रीजीको सन्तोष नहीं हुआ। योग, सांख्य आदि शास्त्रोंके जो दर्शन उपलब्ध थे और आर्ष भाष्योंके प्राप्त न होनेसे जिनका रहस्य समझना दुरूह हो रहा था तथा भ्रम फैल रहा था, उसके निराकरणके लिये श्रीजी शेष सब दर्शनोंके भाष्य बना डाले। इस पुरुषार्थसे जो लोग जैनाचार्योंके भाष्योंके प्रभावसे विपरीत विचारोंके प्रवाहमें बहे जा रहे थे, उनको श्रीजीने उबार लिया और उनकी आँखें खोल दीं। विद्वान् लोग सांख्यदर्शनको भी निरीश्वरवादी मान बैठे थे। श्रीजी-ने अपने भाष्यके द्वारा उस दर्शनको ईश्वरवादी सिद्धकर दार्शनिकों-को उसके सच्चे स्वरूपका दर्शन करा दिया।

इसी तरह योगदर्शनकी ओर विज्ञ लोगोंकी उसकी दुरूहताके कारण उपेक्षा हो रही थी। योगदर्शन कठिन अवश्य है। उसके साथ अन्तर्जगत्का घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे उसका अध्ययन-अध्यापन करना सहज नहीं है। लोगोंकी इस धारणासे कि, योगदर्शनके अध्यापक या आचार्यको योगी ही होना चाहिये और ऐसे योगीका इस समय अभाव है; इस दर्शनकी शिक्षाका अभाव ही हो गया है; परन्तु योगदर्शनकी यथाविधि शिक्षा प्रचलित रहे, तो इस तपोभूमि-मोक्ष भूमिमें पुनः योगियोंका होना असम्भव नहीं है। अतः इस दर्शनकी ओर जनताको प्रवृत्त करानेकेलिये श्रीजीने योगशास्त्रोक्त चार योग संहिताओंको प्रकाशितकर योग मार्गको सुगम बना दिया है। सभी दर्शनशास्त्र प्रायः विचारात्मक हैं; परन्तु योगशास्त्र क्रियात्मक है। इसीसे उसकी क्रियाओंका विवरण करनेवाले ग्रन्थोंका प्रयोजन था, जिसकी पूर्ति श्रीजीने अपनी समाधि बुद्धिसे कर दी। योगमार्गके पथप्रदर्शक रूपसे श्रीजीने चार ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, जिनके नाम हैं :—१—मन्त्रयोगसंहिता, २—हठयोगसंहिता, ३—लययोगसंहिता और ४—राजयोगसंहिता। अब योग क्या है और उसकी साधनासे साधक सफल मनोरथ कैसे हो सकता है? इस सम्बन्धमें श्रीजीने योग-विज्ञान बताया है, उसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है।

लीलामय श्रीभगवान्की जिस लीलामयी शक्तिके द्वारा यह संसार उत्पन्न हुआ है, वही सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की सर्वशक्तिमयी इच्छारूपिणी महाशक्ति महामाया अथवा महाविद्या है। अपनी साम्यावस्थामें वह परमपुरुष परमात्मामें छिपी रहती है, जब वह परमात्मासे अलग होती है, तब उसमें त्रिगुणका हिल्लोल रूप कम्पन होने लगता इस कम्पनका नाम क्रिया है। इसी अवस्थासे सृष्टिका सम्बन्ध है जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठनेसे प्रत्येक

तरङ्गकी एक स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है। इसी तरह प्रशान्त गम्भीर समुद्ररूपी ईश्वरकी सत्तामें तो कोई भेद नहीं होता, किन्तु अविद्या-के कारण जीवरूपी चैतन्य, प्रत्येक तरङ्गकी तरह, अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानकर अहङ्कारके वशीभूत हो, अपना स्वतन्त्र केन्द्र स्थापन कर लेता है, तब वह 'जीव' कहाने लगता है। वह अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है। अविद्याके द्वारा दबा हुआ जीव है और विद्याको सम्पूर्ण रूपसे अपने अधीन बनाये रखनेवाला ईश्वर है। अर्थात् जो प्रकृतिके अधीन हो, वह जीव है और जिसके अधीन सदा प्रकृति रहे, वह ईश्वर है। वास्तवमें जीव और ईश्वरमें कोई भेद नहीं है।

'योग' शब्दका अर्थ है,—'जोड़ना'। जीवरूपी चैतन्य, जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूरकर उसको उसके वास्तविक पहले रूपमें पहुँचा देने-का नाम 'योग' है। जीवात्माको परमात्मामें जोड़नेका नाम 'योग' है। योगदर्शनका सिद्धान्त है कि, चित्तवृत्तिका निरोध होते ही द्रष्टा अपने स्वरूपमें अधिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेवाले जितने प्रकारके साधन वेदों और शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, वे ही उक्त चार योगसंहिताओंके रूपमें चार भागोंमें श्रीजीने विभक्त कर प्रकाशित कर दिये हैं। योग-शास्त्रने सिद्ध किया है कि, अन्तःकरण ही विश्वका माध्यम होनेसे वही सृष्टि और लयका कारणस्थल है। सृष्टिक्रियासे लयकी क्रिया विपरीत है। अनुलोभ क्रमसे सृष्टि होती है और प्रतिलोभ क्रमसे लय होता है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंका बहिर्जगतके साथ सम्बन्ध होनेसे सृष्टिका विस्तार होता है और उनका निरोध करनेसे लयरूपी मुक्तिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि वृत्तियाँ जबतक अन्तःकरणको तरङ्गित किये रहती हैं, तबतक जीवका जीवत्व सुदृढ़ बना रहता है। योगाचार्योंने कैवल्यप्राप्तिके लिये उनका

निरोध करनेके जो पूर्वोक्त चार साधन प्रकार योगशास्त्रमें बतलाये हैं, उनमेंसे पहले साधन प्रकारका नाम 'मन्त्रयोग' है। इसकी जो संहिता श्रीजीने प्रकाशित की है उसका आशय इस प्रकार है :—

मन्त्रयोगसंहिता

यह संसार नाम रूपात्मक है। सृष्टिका कोई पदार्थ नाम-रूपसे रहित नहीं है। सूक्ष्मजगत् हो या स्थूलजगत्, दोनोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गका नाम है और रूप भी है। इन्हीं नाम और रूपोंके अवलम्बनसे जो साधन किया जाय, वह मन्त्रयोगके अन्तगत आ जाता है। मनुष्य जब कभी किसी भूमि पर गिरता है, तब उसी भूमिका सहारा लेकर उठता भी है। इसी तरह मनुष्यका अन्तःकरण जब नाम-रूपोंके आश्रयसे वृत्तियों द्वारा चञ्चल हो उठता है और विषयोंके संयोगसे बन्धनको प्राप्त होता है, तब नाम-रूपोंके आश्रयसे ही सुकौशल पूर्ण क्रियाओंके द्वारा चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके बन्धमुक्त भी हो सकता है। मनुष्य अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार नाममय शब्द और भावमय रूपके अवलम्बनसे जिसका साधन करता है, उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये समान रूपसे कल्याण-कारी है। पञ्चतत्त्वोंके प्राधान्यके अनुसार मनुष्य प्रकृति पाँच प्रकारकी होनेसे मन्त्रयोगोक्त उपासनाओंके भी पाँच भेद हैं। वही पञ्चोपासना कहाती है। अवतारादिकी उपासना इन्हीं पाँचोंके अन्तगत है। पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है। मन्त्रयोग वैदिक विज्ञान सम्मत और अभ्रान्त है।

पञ्च तत्त्वोंके साथ पञ्चदेवोंका सम्बन्ध इस प्रकार है :—

"आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥"

आकाश तत्त्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नि तत्त्वकी श्रीजगदम्बा हैं, वायु तत्त्वके सूर्यदेव हैं, पृथिवी तत्त्वके शिवजी और जल तत्त्वके अधिपति गणेशजी हैं। योगपारदर्शी गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति देखकर तदनुसार इष्ट साधनका उपदेश दिया करते हैं। परमात्मा एक अद्वितीय होनेपर भी पञ्च सगुण रूपोंमें किस प्रकार प्रकट होते हैं, इसका रहस्य शास्त्रोंमें इस प्रकार बताया गया है कि परमात्मा चित् भावसे विष्णु रूपमें, सत्भावसे शिवरूपमें, तेजो रूपसे सूर्यरूपमें, बुद्धि रूपसे गणेशरूपमें और शक्तिरूपसे देवीरूपमें प्रकट होकर जगत्का कल्याण किया करते हैं। इसी रहस्यके अनुसार महर्षियोंने 'मन्त्रयोगसंहिता' का मङ्गलाचरण इस प्रकार किया है :—

"एकं रूपविवर्जितं निखिलगं ध्यायन्ति पञ्चात्मना।
विष्णुं वैष्णवपुङ्गवा गणपतिं यं गाणपत्या जनाः॥
शक्तिं तच्चरणारविन्दरसिकाः सौर्याश्च सूर्यं शिवं।
शैवा यं समुपासते नम इदं लीलात्मने स्तान्मम॥"

श्रीभगवान् रूपरहित और सर्वव्यापक होनेपर भी गाणपत्य लोग जिनकी गणेशजीके रूपमें, वैष्णव श्रेष्ठ विष्णुके रूपमें, शाक्त-गण देवीके रूपमें, सौरजन सूर्यके रूपमें और शैवभक्त शिवके रूपमें उपासना करते हैं, उन लीलामयको मेरा नमस्कार है।

जहाँ क्रिया है, वहाँ कम्पन है और जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्दका होना विज्ञानसिद्ध है। साम्यावस्थाकी प्रकृतिमें जो प्रथम हिल्लोल उत्पन्न हुआ, उसीसे सृष्टि कार्यका आरम्भ हुआ। उस हिल्लोलकी ध्वनि ही प्रणव (ॐ कार) कहाती है। योग-साधनके द्वारा चित्तवृत्तियोंका निरोध करके साधक जब साम्या-वस्थाकी प्रकृतिके निकट हो जाता है, तब उसे यह प्रणवध्वनि सदा-सर्वदा सुनायी देती है।

साम्यावस्थाकी प्रकृतिके साथ जैसा प्रणवका सम्बन्ध है, वैषम्यावस्थाकी प्रकृतिके साथ वैसा ही नाना प्रकारके बीजमन्त्रों-का सम्बन्ध है। साम्यावस्थाकी प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी समता रहती है। इस साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ॐ कार है और वह ब्रह्मा-विष्णु-शिवा-त्मक है। वैषम्यावस्थाकी प्रकृतिके नाना शब्द हैं, जो नाना उपासनाओंके नाना बीजमन्त्र हैं। उदाहरणार्थ, किसी थालीमें जल भरकर उसे हिलानेसे थालीका सब जल एक साथ हिल जायगा और पीछे नाना तरङ्ग उठकर परस्परके घात प्रतिघातसे नाना तरङ्गमालाएँ उत्पन्न हो जायँगीं। इसी तरह साम्यावस्थाकी प्रकृतिके प्रथम हिल्लोलसे उत्पन्न हुई ध्वनि ॐकार है और वैषम्या-वस्थाकी प्रकृतिके नाना तरङ्गोंके सदृश उत्पन्न हुए शब्द नाना बीज-मन्त्र हैं। ॐकार और उससे उत्पन्न नाना ध्वन्यात्मक प्रथम शब्दोंके समस्त बीजमन्त्र वर्णात्मक प्रतिशब्द मात्र हैं। प्रणव ब्रह्मका वाचक है और बीजमन्त्र नाना सगुण देवी-देवताओंके वाचक हैं।

मन्त्र पाँच प्रकारके होते हैं और उनकी संख्या अपार है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंमें मन्त्रोंकी सहायता लेनी पड़ती है। यही मन्त्रकी विशेष महिमा है। मनन करनेसे जो त्राण करता है, वह मन्त्र कहाता है अर्थात् जिसके जपके द्वारा साधक रक्षित हो, वही मन्त्र है। मन्त्र सम्बन्धी योगका जिसमें विस्तृत विवेचन किया गया है, वही मन्त्रयोग-संहिता है, जिसे श्रीजीने बड़े परिश्रम और अन्तर्जगत्की सहायता-से प्रकाशित कर सब प्रकारके उपासकोंका अपार कल्याण-साधन किया है।

मन्त्रयोगसंहिताके चौबीस प्रकरण हैं, जिनमें निम्नलिखित विषयोंका समावेश हुआ है :—

भूमिका और मङ्गलाचरणके उपरान्त १–मन्त्रयोगका लक्षण बताया गया है। २–मन्त्रयोग विज्ञान, ३–साधन प्रशंसा,—इसमें दीक्षा प्रयोजन, श्रीगुरु महिमा, सद्गुरु लक्षण, शिष्यलक्षण और निन्द्यगुरु लक्षण बताये गये हैं। ४–दीक्षा विवरण है। ५–दीक्षोपयोगी काल और देश प्रकरणमें,—मासनिर्णय, वारनिर्णय, तिथिनिर्णय, नक्षत्रनिर्णय, योगनिर्णय, करणनिर्णय, लग्न-निर्णय, पक्ष निर्णय और दीक्षा स्थाननिर्णय किया गया है। ६–मन्त्रनिर्णय विधिमें,—कुलाकुलचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अकथह चक्र, अकडम चक्र और ऋणिधनि चक्रका निरूपण है। ७–उपास्य निर्णयविधिमें,—पञ्चदेवविज्ञान बताकर अधिकार निर्णय किया गया है। ८—मन्त्रयोगाङ्गवर्णन, ९—भक्तिवर्णन, १०–शुद्धि वर्णन,—इसमें दिक्शुद्धि, स्थानशुद्धि, कायशुद्धि और अन्तःशुद्धिका विवरण है। ११–आसनवर्णनमें आसनोंके भेद बताये हैं। १२—पञ्चाङ्ग सेवनवर्णन, १३—आचारवर्णन,—इसमें लतासाधन और सात अधिकारोंका वर्णन है। १४–धारणा वर्णन, इसमें,—धारणाधिकारों, दशविधमन्त्र-संस्कारों और मातृका यन्त्रका दिग्दर्शन किया गया है। १५–दिव्यदेशवर्णन, १६–प्राण-क्रिया वर्णन,—इसमें प्राणायाम, अन्तर्मातृका–बहिर्मातृका न्यास और ऋष्यादिन्यासका वर्णन है। १७–मुद्रावर्णन, १८–तर्पण-वर्णन, १९–हवन वर्णन, २०–बलि वर्णन, २१–यागवर्णन, इसमें—पूजोपचार, एकत्रिंशत्युपचार, षोडशोपचार, दशोपचार, पंचो-पचार और उपयोगोंका वर्णन है। २२–जपवर्णन, इसमें,—साधन-स्थान, साधनाधिकार, मन्त्र सिद्धिके उपाय, पञ्चाङ्ग शुद्धि, सिद्धि-लक्षण, मन्त्र भेद, मन्त्रोंके बीज, मन्त्रोंकी उत्पत्ति, प्रणव प्रशंसा, ब्रह्ममन्त्र प्रशंसा, करमाला निरूपण और मालाविचारका निरूपण किया गया है। २३–ध्यानवर्णन, इसमें—रूपभेद, विशेष रूप-

भेद और ध्यान भेदोंका वर्णन है। अन्तिम २४-समाधिवर्णनमें,—मनोविज्ञानका विवेचन किया गया है।

मन्त्रयोग सोलह अङ्गोंमें विभक्त है। यथा :—१-भक्ति, २-शुद्धि, ३-आसन, ४-पंचांग सेवन, ५-आचार, ६-धारणा, ७-दिव्यदेश सेवन, ८-प्राणक्रिया, ९-मुद्रा, १०-तर्पण, ११-हवन, १२-बलि, १३-याग, १४-जप, १५-ध्यान और १६-समाधि। इन अङ्गोंका इस ग्रन्थके पूर्वोक्त चौबीस प्रकरणोंमें विस्तृत विवेचन किया गया है। इन अङ्गोंका यथावत् साधन करनेसे साधक समाधिमें सिद्धिलाभ करता हुआ आत्मसाक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। मन्त्रयोगमें उपासकके सात अधिकार माने गये हैं। यथा :—दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव। जब गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार उसे किसी देवताकी उपासना बताते और उसके मन्त्रका उपदेश देते हैं, वह संस्कार दीक्षा कहाता है। बिना गुरुदीक्षा लिये, बिना गुरुमुख हुए मनुष्यकी सद्गति नहीं होती। जब गुरुदेव शिष्यको उपयुक्त समझकर साधनके साथ योगक्रियाओंका उपदेश देते हैं, वह द्वितीय उन्नत अधिकार महादीक्षा कहाता है। जिस साधनके द्वारा साधक मन्त्रसिद्धिको प्राप्त करता है, वह पुरश्चरण है। ग्रहणादि कालमें किया हुआ जप आदि पुरश्चरण कहता है और विशेषक्रिया, काल-तथा उपदेश साध्य जो साधन है, उसको महापुरश्चरण कहते हैं। पुरश्चरण या महापुरश्चरणके द्वारा मन्त्रसिद्धि होती है और साधकको उन्नत अधिकारोंकी प्राप्ति हो जाती है। जब गुरुदेव शिष्यको साधन सम्बन्धी गुप्त रहस्योंके भेद बताकर आनन्द राज्यका अधिकारी बनाते हैं, उस विधिको अभिषेक कहते हैं। जब गुरुदेव उन्नततम संस्कार द्वारा साधकको अपने ही समान बनाकर

अपनेमें मिला लेते हैं, वह महाभिषेक अथवा पूर्णाभिषेक कहाता है। जब उपासक आध्यात्मिक उन्नतिके द्वारा सर्वोच्च अवस्थामें पहुँचकर नामरूपकी एकता प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, उस सर्वोत्तम अधिकारको तद्भाव कहते हैं। इस भावके द्वारा साधककी इष्टदेवके साथ एकता होने लगती है और क्रमशः उसे महाभावकी प्राप्ति होती है। महाभाव ही ब्रह्मभाव है, जो सर्वोच्च है।

मन्त्रयोगमें भावकी प्रधानता इस कारण है कि, मनुष्य भावोंका दास है। उसका अन्तःकरण भावशून्य होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसीसे मन्त्रयोगकी साधनामें संकल्प, न्यास, ध्यान, मन्त्र जप, चिन्तन (मनन) और अर्पणका विशेष महत्त्व है। ये सब प्रकार भावमूलक हैं। संकल्पके अनुसार साधकको सिद्धि प्राप्त होती है। जिस मन्त्रका द्रष्टा जो ऋषि हो, उसका मस्तकमें न्यास किया जाता है। प्रत्येक मन्त्रका कोई छन्द अवश्य होता है। क्योंकि मन्त्र अक्षरमय और पदमय होते हैं। अतः छन्दका न्यास मुखमें होता है। मन्त्रकी देवता, जो वाणीको प्रेरित करती है, उसका न्यास हृदयमें किया जाता है। क्योंकि भक्तका हृदय ही भगवान्‌का मन्दिर है। मन्त्रके मुख्य बीजका गुह्य देशमें, क्योंकि सृष्टिका मूल बीज वहीं है; पादयुगलमें शक्तिका, क्योंकि समस्त शरीरको धारणकरनेकी शक्ति पैरोंमें ही होती है और सर्वाङ्गमें कीलकका न्यास किया जाता है। प्रत्येक मन्त्रके कूट (खण्ड) होते हैं। उन्हींका उपयोग बीज, शक्ति और कीलकके रूपमें किया जाता है। इस प्रकार न्यासके द्वारा शरीरको सुरक्षित कर लेनेपर मन्त्रसिद्धिमें बाधा नहीं पड़ती। ऋषि, छन्द आदिके न जाननेसे मन्त्र फलीभूत नहीं होता।

चार योगोंके अनुसार ध्यान चार प्रकारके होते हैं। राजयोगमें निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक ब्रह्मका ध्यान किया जाता है। यह

सर्वोच्च ध्यान है और यह ध्यान पूर्ण पहुँचे हुए राजयोगी ही कर सकते हैं। लययोगमें बिन्दुका और हठयोगमें ज्योतिका ध्यान किया जाता है; परन्तु मन्त्रयोगमें नानाविध स्थूल मूर्तियोंके ध्यान-की विधि है। अपने इष्टदेव रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यान ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण है। मनुष्य जब आत्मध्यान करनेमें समर्थ होता है, तब उसे समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यानके द्वारा ही वशीभूत होता है। उसके वशीभूत करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार नदीका जल समुद्रमें मिल जानेपर तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार साधकका आत्मा तद्भाव प्राप्त करके तन्मय हो जाता है।

मन्त्रयोगके सभी ध्यान भावप्रधान हैं। इसका कारण यह है कि, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों भावमय हैं, कार्यब्रह्म भावमय है, यह तो स्पष्ट ही है; किन्तु मन और वाणीसे अगोचर कारण-ब्रह्म भी भावगम्य ही है। जिस प्रकार शब्दके साथ मन्त्रका सम्बन्ध है, उसी प्रकार भावके साथ रूपका सम्बन्ध है। भाव अनन्त होने से मन्त्र योगोक्त ध्यान भी अनेक हैं। फिर भी वे सब ध्यान पञ्चदेवोपासनाके अनुसार पाँच श्रेणियोंमें तन्त्रोंमें विभक्त किये गये हैं। मन्त्रयोगके सब ध्यानोंका अध्यात्मभावसे ही आविर्भाव हुआ है। गभीर, अतीन्द्रिय, नानावैचित्र्यपूर्ण, परमानन्दमय भावराज्यमें अग्रसर करनेके लिये विभिन्न प्रकारके साधकोंके लिये अध्यात्म भावपुंजके आदर्शपर विभिन्न ध्यान मन्त्रयोगमें बताये गये हैं। विश्वरूपके अनेक रूपोंकी कल्पना की गयी है।

श्रीभगवान्‌के नित्य, सत्य अनन्त भावोंमेंसे कई भावोंके आश्रय से उनकी मूर्तिकी जो कल्पना की जाती है, उसीको मन्त्र योगोक्त स्थूल ध्यान कहते हैं। सनातनधर्मके अनुसार नश्वर मूर्तियोंका ध्यान नहीं किया जाता, किन्तु मूर्तियोंमें एक, अद्वितीय श्रीभगवान

का ध्यान किया जाता है। मन्त्रयोगके स्थूल ध्यान अति गंभीर विज्ञानसे युक्त हैं। भगवद्राज्यके पवित्र आध्यात्मिक भावोंके अवलम्बनसे प्रकारान्तरसे उन्हीं भावोंके रूपकी कल्पना की जाती है और उसीका ध्यान किया जाता है। स्थूल ध्यान जड़मूर्ति ध्यान नहीं है। मन्त्रयोगके सभी ध्यान अभ्रान्त भावमय होनेके कारण समाधि देनेवाले हैं।

प्रत्येक योगकी समाधिकी संज्ञाएँ पृथक्-पृथक् हैं। जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं, उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधि महाभाव कहाती है। जबतक ध्याता, ध्यान और ध्येय यह त्रिपुटी बनी रहती है, तभी तक ध्यानाधिकार है। त्रिपुटीके लय हो जानेपर साधक-में महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटीका जब नाश हो जाता है, तब योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है। आरम्भमें मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध होता है; परन्तु जब तीनों बोध एक दूसरेमें विलीन हो जाते हैं, तब त्रिपुटीका भी लय हो जाता है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु, रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकास होता है। मनके लय होनेपर ही समाधिका उदय होकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभावकी प्राप्ति ही मन्त्रयोगका चरम लक्ष्य है।

तीन भाव और तीन गुण इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें सर्वत्र विद्यमान हैं। त्रिभावानुसार पञ्चभूतोंको धारण करनेवाला मन अध्यात्म है, वह जो सङ्कल्प-विकल्प करता है वह अधिभूत है और चन्द्रमा उसका अधिदैव है। मन जिस प्रकार त्रिभावात्मक है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी है। ज्ञानी पुरुषोंने मनके सात्त्विक, राजस और तामसिक गुण इस प्रकार बताये हैं :—

"आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो।
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानञ्च निर्दम्भता॥
कर्माऽनिन्दितमस्पृहा च विनयो धर्मे सदैवादरः।
एते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः॥
क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाऽधिका।
दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाधीरताऽहंकृतिः॥
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशयिताऽनन्दोऽधिकश्चाटनम्।
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥
नास्तिक्यं सुविषण्णताऽतिशयिताऽलस्यं च दुष्टा मतिः।
भीतिर्निन्दितकर्म शर्मणि सदा निद्रालुताहर्निशम्॥
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता।
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥

अर्थात् "आस्तिकता (ईश्वर और परलोकपर विश्वास), बाँटकर खाना, क्षुब्ध न होना, सत्य भाषण करना, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, दया, ज्ञान, दम्भ न करना, निन्दित कर्मसे बराव करना, निःस्पृहता, विनयशीलता और धर्ममें सदा आदरभाव रखना, ज्ञानियोंने ये सब सात्त्विक मनके गुण कहे हैं। क्रोध, मार-पीट करनेमें अभिरुचि, अधिक दुःखानुभव, अधिक सुखकी अभिलाषा, दम्भ, कामपिपासा, असत्य वचन, अधीरता, अहङ्कार (घमण्ड), धनका गर्व, अधिक आनन्दित होना और अधिक भ्रमण करना, ये सब गुण राजसिक मनके हैं। नास्तिकता, विषाद, अतिआलस्य, दुष्टमति, भय, निन्दित कर्ममें प्रवृत्ति, अच्छे कामोंसे जी चुराना, अज्ञान, अधिक क्रोध और मूर्खता, ये सब गुण तामसिक मनके कहे गये हैं।"

साधक अपने मनको ज्यों-ज्यों सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर करता है, त्यों-त्यों उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। मनकी

पाँच वृत्तियाँ महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें बतायी हैं। यथा:— क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध। मनमें जब एकाग्र वृत्तिका उदय हो जाता है, तब उसीकी सहायतासे वह अन्तिम सर्वोत्तम निरुद्ध वृत्तिको प्राप्त करता है। यह पहले ही कहा गया है कि, मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण है। जब वह विषयोंसे सम्बद्ध होता है, तब बन्धका कारण बनता है और जब विषयोंसे मुक्त हो जाता है, तब साधक भी मुक्त हो जाता है। मनमें स्थित मनको और मनवर्जित मनको मनके ही द्वारा देखकर योगिगण सिद्धि लाभ करते हैं। इस प्रकार मनको संयत कर यतचित् योगी संसाररूपी समुद्रको पार करके परमपद मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। यही मन्त्रयोगका चरम सिद्धान्त है। मन्त्रयोगके अतिरिक्त अन्य जो तीन योग हैं, वे कष्ट-साध्य होनेसे उनके अधिकारी बहुत कम पाये जाते हैं, परन्तु मन्त्रयोग सर्वसुलभ होनेसे इसके आश्रयसे मनुष्यमात्र अनायास कृतकृत्य हो जाता है। इसीसे 'निषेकादि स्मशानान्त' हिन्दुओंके सब संस्कार मन्त्रोंकी ही सहायतासे किये जाते हैं। श्रीजीने 'मन्त्र योगसंहिता, प्रकाशित कर यह सिद्ध कर दिया है कि, सब प्रकारके अधिकारियोंका समावेश मन्त्रयोगके क्षेत्रमें हो जाता है।

हठयोग-संहिता

योगमार्गका द्वितीय सोपान हठयोग है। यद्यपि हठयोग सम्बन्धी शिवसंहिता, रुद्रयामल, ब्रह्मयामल, घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं, तथापि शृंखला-बद्ध इस योगका रहस्य और क्रिया-सिद्धांश जिसमें बताया गया हो, ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं मिलता। इस

अभावकी पूर्तिकेलिये श्रीजीने स्वानुभवपूर्ण हठयोग-संहिता प्रकाशित की है।

महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु, विश्वामित्र आदि इस योगके प्रवर्तक हैं। चित्तवृत्ति-निरोध करके जिसके साधनसे आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है, उसको हठयोग कहते हैं। हठयोगका लक्षण इस संहितामें इस प्रकार बताया गया है कि, प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा, परमात्मा, इन सबके समवायसे जो स्थूल शरीर बना है, उसको 'घट' कहते हैं। कच्चे घड़ेको जलमें रखनेसे जिस प्रकार वह खिरने लगता है, उसी प्रकार भवसिन्धुमें मानव-शरीरभी शीर्ण होता जाता है। 'शीर्यते तत् शरीरम्' जो शीर्ण होता है, उसको शरीर कहते हैं। यही शरीरकी निरुक्ति है। कच्चा घड़ा जब पका लिया जाता है, तब वह जल संग्रहके उपयोगी हो जाता है। इसी तरह साधक जब जीर्णमाण स्थूल शरीरको हठयोगरूपी अग्निमें पकाकर सुदृढ़ बना लेता है, तभी वह अपने सूक्ष्म शरीरको योगयुक्त करनेमें समर्थ होता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है। जिस प्रकार ककारादि वर्णोंका अभ्यास कर क्रमशः शास्त्रज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार स्थूल शरीरकी जिन क्रियाओंके द्वारा अन्तःकरणको योगयुक्त किया जा सकता है, उसको हठयोग कहते हैं। सूक्ष्म शरीरके पूर्व संस्कारानुसार जीवको स्थूल शरीर प्राप्त होता है। उसके संस्कार जन्य कर्मोंका जब भोग हो जाता है, तब आरब्ध (इस जन्ममें किये हुए) कर्मोंके भोगके लिये एक शरीरको त्याग कर उसे दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है, चोला बदलना पड़ता है। जब यह सिद्ध है कि, सूक्ष्म शरीरके तीव्र संस्कारोंसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगके लिये स्थूल शरीर गठित होता है और सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर परस्पर सम्बन्धसे युक्त हैं,

तब स्थूल शरीरकी क्रियाओंके द्वारा सूक्ष्म शरीरपर आधिपत्य स्थापित कर लेना असम्भव नहीं है। हठयोगमें स्थूल शरीर प्रधान क्रियाओंका ही प्राधान्य है। प्रथम अवस्थामें साधक स्थूल शारीरिक क्रियाओंका साधन कर स्थूल शरीरपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लेता है और फिर उसी शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्ति-निरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योग-प्रणाली को हठयोग कहते हैं। सांख्यशास्त्रके अनुसार योगशास्त्रने भी सृष्टिके चौबीस तत्त्व माने हैं और यह भी मान लिया है कि, उन तत्वोंमेंसे उन्नीस तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीर गठित होता है। योगसाधनके द्वारा जब परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब साधकको पुनः चोला बदलना नहीं पड़ता, वह परमात्मस्वरूप ही हो जाता है।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावोंके अनुसार मन, वायु और वीर्य एक ही हैं। इस कारण मनको वशीभूत करने-से वीर्य और वायु, वायुको वशीभूत करनेसे मन और वीर्य तथा वीर्यको वशीभूत करने—ऊर्ध्वरेता होनेसे मन और प्राण-वायु आप ही वशीभूत हो जाते हैं। राजयोगमें बुद्धिकी, लययोगमें मनकी तथा मन्त्रयोग और हठयोगमें वायुधारण-रेतोधारणकी प्रधानता है। मन्त्र और हठयोगमें मन, वायु तथा वीर्य तीनोंसे विशेष सम्बन्ध है। हठयोगमें ब्रह्मका ज्योतिके रूपमें ध्यान किया जाता है, अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंके आश्रयसे मन्त्रयोगकी तरह नाना देव-देवियोंका ध्यान किया जाता है। इसीसे इस संहिताके मङ्गलाचरणमें इस प्रकार ज्योतिर्मय परमात्माकी वन्दना की गयी है:—"जो चित्‌स्वरूप ब्रह्म मन, बुद्धि और वचनसे परे हैं, जिनकी आधिभौतिक ज्योतिको प्राप्त कर नेत्र अपने रूप-विषयको जाननेमें समर्थ होते हैं, जिनकी आधिदैविक ज्योतिसे सूर्यदेव

जगतको प्रकाशित करते हैं और जिनकी जगन्मङ्गलकर आध्यात्मिक ज्योतिसे विश्व देदीप्यमान होता है, उस ज्योतिर्मय परमपुरुष (ब्रह्म) को नमस्कार है।

यह पहले कहा गया है कि, चारों योगोंमेंसे प्रत्येकका ध्यान भिन्न-भिन्न है। मन्त्रयोगके अनुसार इष्टदेवकी मूर्तिका जो ध्यान किया जाता है, वह स्थूल ध्यान है। हठयोगानुसार तेजोमय ब्रह्मका दर्शन किया जाता है, वह ज्योतिर्ध्यान है और लययोगानुसार बिन्दुमय ब्रह्म तथा कुलकुण्डलिनी शक्तिका जो ध्यान किया जाता है, वह बिन्दु ध्यान कहाता है। मन्त्रयोगोक्त देवदेवियोंके ध्यान अनेक हैं; परन्तु हठयोगका ध्यान एक ही है। ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें भेद नहीं है, जैसे कि, मैं और मेरी' बोलनेकी शक्तिमें भेद नहीं है। दीपकलिकाके समान तेजोमय रूपकी कल्पनाके द्वारा जो ब्रह्मध्यान किया जाता है, वही ज्योतिर्ध्यान है। अधिकारिभेदानुसार ज्योतिर्ध्यानके नाभि, हृदय और भ्रूमध्य ये तीन स्थान निश्चित किये गये हैं। कोई योगी आधारपद्मको चौथा स्थान मानते हैं; परन्तु ध्यानकी शैली श्रीगुरुदेवसे ही समझने योग्य है। ज्योतिर्ध्यानकी सिद्धावस्थामें योगीको आत्मसाक्षात्कार हो जाता है; इसीसे उपनिषदों और तन्त्रोंमें ज्योतिर्ध्यानकी महिमा विशेष रूपसे वर्णित है।

हठयोगके षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि ये सात अङ्ग हैं और शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्षत्व और निर्लिप्तता ये स्थूलशरीरके साधन हैं। षट्कर्मके द्वारा शोधन, आसनोंके द्वारा दृढ़ता, मुद्राओंके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारके द्वारा धीरता, प्राणायामके द्वारा लाघव, ध्यानके द्वारा आत्मसाक्षात्कार और समाधिके द्वारा निर्लिप्तता प्राप्त कर साधक मुक्त हो जाता है। धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी,

त्राटक और कपालभाति, ये षट् कर्म कहाते हैं। इनसे शरीरका शोधन किया जाता है। धौतिके चार भेद हैं—अन्तर्धौति, दन्त-धौति, हृद्धौति और मूलशोधन। अन्तर्धौतिके भी चार भेद हैं—वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत। दन्तधौतिके पाँच भेद हैं, दन्तमूल धौति, जिह्वामूल धौति, कर्णरन्ध्रद्वय धौति और कपालरन्ध्र धौति। हृद्धौतिके तीन भेद हैं—दण्डधौति वमनधौति और वासोधौति। मूलशोधन धौति एक ही प्रकार की होती है। इसमें हरिद्रामूलके दण्ड अथवा मध्यमाङ्गुलिसे बार-बार गुह्यको प्रक्षालन किया जाता है। बस्तिके दो भेद हैं—जल-बस्ति और शुष्क-बस्ति। जल-बस्तिका जलमें और शुष्कबस्तिका स्थलमें साधन किया जाता है। नेति, लौलिकी और त्राटकके भेद देखनेमें नहीं आते। कपालभाति तीन प्रकारकी होती है—वातक्रम कपाल-भाँति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीत्क्रमकपालभाति। इन सबकी विधि और फल इस संहितामें बताया गया है।

जब कि, स्थूल शरीरपर आधिपत्य स्थापन कर सूक्ष्म शरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तिका निरोध करना ही हठयोगका लक्ष्य है, तब स्थूल शरीरको शुद्ध करनेवाले षट् कर्मोंको इस योगमें प्राधान्य प्राप्त होना स्वाभाविक है। इसीसे हठयोगमें षट्कर्मको पहला स्थान दिया गया है। इसके द्वितीय अङ्गका नाम आसन है। जिसके साधन-से शरीर योग-साधनके उपयोगी और मन स्थिर हो जाता है, उसको आसन कहते हैं। जगत्में जितनी जीव-योनियाँ हैं, उतने आसन हैं। शिवजीने पुराकालमें चौरासी लाख आसनोंका वर्णन किया था। उनमेंसे चौरासी प्रधान हैं और उनमेंसे भी तेंतीस मर्त्यलोकके लिये मङ्गलकारक माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१—सिद्धासन, २—स्वस्तिकासन, ३—पद्मासन, ४—बद्धपद्मासन, ५—भद्रासन, ६—मुक्तासन, ७—वज्रासन, ८—सिंहासन, ९—गो-

मुखासन, १०—वीरासन, ११—धनुरासन, १२—मृतासन, १३—गुप्तासन, १४—मत्स्यासन, १५—मत्स्येंद्रासन, १६—गोरक्षासन, १७—पश्चिमचोत्तानासन, १८—उत्कटासन, १९—सङ्कटासन, २० मयूरासन, २१—कुक्कुटासन, २२—कूर्मासन, २३, उत्तान कूर्मासन, २४—मण्डूकासन, २५—उत्तानमण्डूकासन, २६—वृक्षासन, २७—गरुडासन, २८—वृषासन, २९—शलभासन, ३०—मकरासन, ३१—उष्ट्रासन, ३२—भुजङ्गासन और ३३—योगासन। यद्यपि इन आसनोंके प्रकार-रीति इस संहितामें बता दिये गये हैं, तथापि प्रत्यक्ष रूपसे साधनाके समय ये सब श्रीगुरुदेवसे अच्छी तरह समझ लेने चाहिये। क्योंकि आसन ही स्थिर सुखको उत्पन्न करते हैं।

हठयोगके तीसरे अङ्गका नाम है—मुद्रा। जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, उन क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। योगशास्त्रोक्त प्रधान मुद्राएँ छब्बीस हैं, जिनकी साधनासे योगियोंको सिद्धि प्राप्त होती है। उनके नाम इस प्रकार हैं:—१—महामुद्रा, २—नभोमुद्रा, ३—उड्डीयानबन्धमुद्रा, ४—जालंधरबन्ध मुद्रा, ५—मूलबन्ध मुद्रा, ६—महाबन्ध मुद्रा, ७—महावेध मुद्रा, ८—खेचरी मुद्रा, ९—विपरीतकरणी मुद्रा, १०—योनिमुद्रा, ११—वज्रोलीमुद्रा, १२—शक्तिचालिनी मुद्रा, १३—ताड़ागी मुद्रा, १४—माण्डुकी मुद्रा, १५—शाम्भवी मुद्रा, १६—पञ्चधारणा मुद्रा, १७—पार्थिवीधारणा मुद्रा, १८—आम्भसीधारणा मुद्रा, १९—आग्नेयीधारणा मुद्रा, २०—वायवीधारणा मुद्रा, २१—आकाशीधारणा मुद्रा, २२—अश्विनी मुद्रा, २३—पाशिनी मुद्रा, २४—काकी मुद्रा, २५—मातङ्गिनी मुद्राऔर २६—भुजङ्गिनी मुद्रा। इनमेंसे पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवी और आकाशी

मुद्रा पञ्चधारणा मुद्राके ही अन्तर्गत है। इन सब मुद्राओंके साधनकी रीति इस संहितामें बतायी गयी है। इनकी साधनासे नाना अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं; परन्तु वे सब गुरुगम्य हैं। अच्छे साधकसे समझ लेनी चाहिये।

हठयोगके चौथे अङ्गका नाम है--प्रत्याहार। प्रत्याहारके साधनसे काम, क्रोध आदि षड्रिपु वशीभूत हो जाते हैं। मन चञ्चल होकर जहाँ जहाँ भटकता है, वहाँ वहाँसे प्रत्याहारकी क्रियाके द्वारा प्रत्यावर्तित होकर आत्माके वशमें आ जाता है। मन जागतिक दृश्य वस्तुओंमें, पुरस्कार-तिरस्कारमें, शीत-उष्णमें, सुगन्धि-दुर्गन्धिमें, मधुर-आम्ल आदि रसोंमें तथा ऐसे ही अनेक विषयोंमें आसक्त हुआ करता है। प्रत्याहार-साधनसे वह वहाँसे हटकर आत्माके वशीभूत हो जाता है। साधकका मन जब मुद्रा और प्राणायामके साधनसे प्रत्याहार-भूमिमें ठहरने योग्य हो जाता है, तभी उसे गुरुदेव प्रत्याहार साधनकी क्रियाओंका उपदेश देते हैं। उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध इन तीनों मुद्राओंको एक साथ करनेसे साधक प्रत्याहार भूमिमें पहुँच जाता है। शाम्भवी मुद्रा प्रत्याहार प्राप्तिका साक्षात् कारण है। केवली प्राणायामसे भी प्रत्याहारकी साधनामें अच्छी सहायता मिलती है। प्रत्याहारकी सिद्धिमें मुद्राएँ परम सहायक होती हैं और प्राणायामके द्वारा प्रत्याहारकी दृढ़ता होती है। 'मनके जीते जीत है, मनके हारे हार'।

प्राणायाम हठयोगका पाँचवाँ अङ्ग है। प्राण ही महाशक्ति है, प्राण ही जगत्का रक्षक है। प्राणके जीत लेनेसे सब कुछ जीत लिया जा सकता है। प्राणके दो भेद हैं,--स्थूल और सूक्ष्म। प्राण-जय करनेवाली क्रियाको प्राणायाम कहते हैं। प्राणजयकी क्रियाके तीन प्रकार हैं। मन्त्रयोगकी क्रिया धारणा-प्रधान, हठयोग-

की वायु-प्रधान और लययोगकी मनःप्रधान है। वायुप्रधान प्राणायाम सर्वसुलभ और सर्वहितकर है। प्राणायामके साधनसे साधक देवताके समान हो जाता है। प्राणायाम साधनके लिये चार बातोंकी आवश्यकता होती है--१—उपयुक्त स्थान, २—नियमित समय, ३—मिताहारका अभ्यास और ४—नाड़ी-शुद्धि। प्राणायामके आठ भेद इस प्रकार हैं:—१—सहित, २—सूर्यभेदी, ३—उज्जायी, ४—शीतली, ५—भस्त्रिका, ६—भ्रामरी, ७—मूर्छा और ८—केवली। प्राणायामके द्वारा प्रत्याहार-साधनमें योग्यता प्राप्त होती है, नाना व्याधियोंका शमन होता है और मनोनाश भी हो जाता है, जो वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है। प्राणायाम-साधनसे ही अनहद नाद सुनाई देता है। नादके अन्तर्गत परम ज्योतिका साक्षात्कार होता है और ज्योतिके अन्तर्गत परब्रह्ममें साधकका मन विलीन हो जाता है। यही विष्णुका परमपद है। प्राणायामसे ही समाधिकी सिद्धि होती है।

हठयोगका छठा अङ्ग ध्यान है, जिसका विवरण आरम्भमें-ही दिया गया है। सातवें अङ्ग समाधिका निरूपण करनेसे पहले यहाँ यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि, हठयोगकी साधनासे किस प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। सिद्धियाँ चार प्रकारकी हुआ करती हैं। यथा:—१--अध्यात्मसिद्धि, २--अधिदैवसिद्धि ३--अधिभूतसिद्धि, और ४—सहजसिद्धि। ये सिद्धियाँ मणि, मन्त्र, ओषधि, तप, स्वरोदय और संयमशक्तिके द्वारा प्राप्त होती हैं। भौतिक स्थूल पदार्थोंकी प्राप्ति होना अधिभूतसिद्धि कहाती है। दैवी शक्तियोंकी प्राप्ति होनेका नाम अधिदैवसिद्धि है। बुद्धि-सम्बन्धी सिद्धिको अध्यात्म-सिद्धि कहते हैं और जीवन्मुक्तकी सिद्धि सहजसिद्धि

कही जाती है। अध्यात्म-सिद्धिका अधिकार बहुत उन्नत है। इसी अवस्थामें महर्षियोंको वेदमन्त्रोंका साक्षात्कार हुआ था, इसीसे वे मन्त्रद्रष्टा कहाते हैं। योगशास्त्रमें योगसिद्धियोंके प्रतिभा, वेदना, श्रवण, दर्शना, आस्वादा और वार्ता, ये छः भेद और भी पाये जाते हैं। विचारके द्वारा जिसकी सहायतासे वेद्य वस्तुका ज्ञान हो जाय, उसको बुद्धि कहते हैं। परन्तु प्रतिभा वह बुद्धि है, जिसके द्वारा बिना विवेचना किये ही वेद्य वस्तुका ज्ञान हो जाता है। सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट और भविष्यद् वस्तुका ज्ञान प्रतिभा-सिद्धिसे होता है। जिस अवस्थामें ह्रस्व, दीर्घ, लुप्त, गुप्त आदि शब्दोंका श्रवण योगीको अनायास होने लगे, उसे श्रवण-सिद्धि कहते हैं। सकल अप्रत्यक्ष वस्तुओंका प्रत्यक्ष हो जाना वेदनासिद्धि कहाती है। बिना यत्न किये दिव्य रूपोंका दर्शन होना दर्शनासिद्धि है। अनायास दिव्य रसोंका आस्वाद प्राप्त होना आस्वादासिद्धि कही जाती है और अलौकिक गन्धोंका अनुभव करानेवाली वार्ता-सिद्धि मानी गयी है। यह सिद्धि प्राप्त हो जानेपर साधकको समूचे ब्रह्माण्डका ज्ञान हो जाता है।

हठयोगमें संयमकी प्रधानता है। अपनी संयम-शक्तिको बढ़ाकर योगी जो चाहे, सो कर सकता है। संयमके द्वारा समाधि-विषयक बुद्धिका विकाश होता है। कहाँ-कहाँ संयम करनेसे कौन-कौनसी सिद्धि प्राप्त होती है, यह तो योगिराज गुरुदेव ही बता सकते हैं। हठयोगियोंमें तपःशक्तिका अधिक महत्त्व है और वह शक्ति उन्हें प्रत्याहारकी भूमिमें प्राप्त होती है; परन्तु संयमशक्ति समाधि-भूमिमें ही प्राप्त होती है। सिद्धियाँ परम सुखकर होनेपर भी वे सर्वथा निन्दनीय और हेय मानी गयी हैं और वैराग्यका अवलम्बन कर आत्मोन्नति चाहनेवाला योगी सिद्धियोंके मोहमें न फँसे, ऐसा योगानुशासन है। इस अनुशासनका रहस्य यह है कि, स्थूल-

जगतकी कनककान्तादि स्थूल सम्पत्तियोंकी तरह नानाप्रकारकी सिद्धियाँ भी सूक्ष्म जगतकी सम्पत्तियाँ ही हैं। इनमें फँस जानेपर स्थूल विषयोंमें आबद्ध जीवोंकी तरह सिद्धिरूपी सूक्ष्म विषयोंमें आबद्ध योगी परमात्माकी ओर अग्रसर होनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यही नहीं, उसके पतनकी भी सम्भावना रहती है। इसीसे श्रीभगवान पतञ्जलिने लिखा है :—"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" योगदर्शन)। अर्थात् सिद्धियाँ समाधि दशाके लिये विघ्नस्वरूप हैं, किन्तु व्युत्थान दशामें हितकर हैं। व्युत्थानदशामें सिद्धियोंका चमत्कार देखकर साधकके हृदयमें दैव जगत् के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है और साधन मार्गमें रुचि बढ़ती है। मिठाईका लोभ दिखाकर जिस प्रकार बालकोंको पढ़ने-लिखनेमें प्रवृत्त किया जाता है, उसी प्रकार साधनकी प्रारम्भिक अवस्थामें सिद्धियोंके प्रलोभनसे साधकको साधन-मार्गमें प्रवृत्त किया जाता है। सिद्धियोंका इतना ही प्रयोजन है, यह जानकर मुमुक्षु साधकको विचलित तथा मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये और अनायास प्राप्त हुई सिद्धियोंकी उपेक्षाकर धीरतासे आध्यात्मिक क्षेत्रमें पुरुषार्थ-परायण होना चाहिये।

हठयोगकी साधनामें विशेषता यह है कि, इससे सब प्रकारके रोगोंका उपशमन हो जाता है। रोगविमोचनमें तैंतीस आसनों, छब्बीस मुद्राओं और अष्टविध प्राणायामोंसे बड़ी सहायता मिलती है। योगकी क्रियाओंमें संयम-क्रिया सर्वश्रेष्ठ है। आसनमें मुद्राओं और प्राणायामोंकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंमें भिन्न-भिन्न रोगोंका विनाश करनेकी यौगिक शक्तियाँ विद्यमान हैं।

हठयोगका अन्तिम सातवाँ अङ्ग समाधि है। जिस प्रकार मन्त्रयोगकी समाधि महाभाव कहाती है, उसी प्रकार हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं। हठयोगके द्वारा समाधि सुसाध्य है।

प्राणायाम-सिद्धिके द्वारा वायुको जीत लेनेपर कुम्भककी पूर्णशक्ति प्राप्त होकर साधक समाधि-भूमिमें पहुँच जाता है। मनको शरीरसे पृथक् कर उसका लय करते हुए स्वस्वरूपमें रममाण ध्याता, ध्यान ध्येय इन त्रिपुटिका नाश होकर इष्टमें तदाकार होना समाधि है। वीर्य, वायु और मन, ये तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्बन्धसे एक ही हैं; परन्तु तीनोंमें वायु इस कारण प्रधान है कि, वह शक्ति-रूप है। वायुके निरोधसे मन वशीभूत हो जाता है। वायुके लयसे मनका लय और मनके लयसे समाधिकी सिद्धि होती है। ध्यानकी सिद्धिके साथ ही प्राणायामकी सिद्धिसे समाधिकी उपलब्धि होती है। समाधि ही योग-साधनका चरम फल है। समाधि दशामें मनका लय हो जाता है। यही 'हठयोग-संहिता' का निचोड़ है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म अन्तःकरणको समुन्नत कर साधकको परमपद प्राप्त करानेवाले हठयोगका विषय स-रहस्य और क्रियासिद्धांश-सहित इस संहिताके द्वारा प्रकाशितकर श्रीजीने मुमुक्षु योगियोंका बेजोड़ उपकार साधन किया है।

लययोगसंहिता

योगमार्गका लययोग तृतीय क्रम है। शास्त्रोंमें चारों योगोंका नाम निर्देश तो देख पड़ता है; परन्तु उसका विवरण और साधन-क्रम कहीं संकलितरूपसे दृष्टिगोचर नहीं होता। चारों योगोंकी संहिताओंको प्रकाशित कर योगतत्त्व जिज्ञासुओंकेलिये हथेलीपर धरे हुए आँवलेकी तरह योगमार्ग श्रीजीने सुलभ कर दिया है। श्रीजीने अनुभव किया कि, लययोगके प्रवर्तक महर्षि अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वासिष्ठ, कश्यप, वेदव्यास आदि हैं। इन्हींकी कृपासे यह परम मङ्गलकर योग प्रकट हुआ है। इस

योगके साधनसे योगिगण कृतकृत्य हो जाते हैं। इस संहिताके मङ्गलाचरणमें ही महर्षि कहते हैं कि, कार्यब्रह्म-स्वरूप यह सारा जगत् कारण ब्रह्म और उनकी शक्तिका ही विलास है। 'अहं ममेतिवत्' माया और ब्रह्म अभिन्न हैं। बिन्दु ध्यानमें रमे हुए लययोगी अपनी अध्यात्म दृष्टिसे यह जान जाते हैं। जगत्के सब अवस्थानोंका नाश करनेमें समर्थ लययोगके द्वारा जिसका योगी अनुभव करते हैं, उस एक अद्वितीय परमात्माको प्रणाम है। मैं उनके शरणापन्न हूँ।

लययोगका लक्षण इस प्रकार कहा गया है:—ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्माण्ड और पिण्ड समान ही हैं। यद्यपि ब्रह्माण्ड और पिण्ड पृथक् प्रतीत होते हैं, तथापि समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धसे दोनों एक ही सूत्रमें गुँथे हुए हैं। समस्त ऋषि, देवता, पितृगण, ग्रह, नक्षत्र, राशि आदि प्रकृति पुरुषात्मक इस पिण्ड ब्रह्माण्डमें ही निरन्तर विद्यमान रहते हैं। सद्गुरुके उपदेशसे जब ही ठीक-ठीक पिण्डज्ञान हो जाता है, तब उसी पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्डका भी ज्ञान होता है, यह निश्चित है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। महर्षियोंने कहा है कि, सुकौशलपूर्ण जिस युक्तिसे प्रकृतिका पुरुषमें लयकर दिया जाता है, उसीको लययोग कहते हैं। मूलाधार चक्रमें प्रकृति-रूपिणी कुण्डलिनी निरन्तर सोयी रहती है और ब्रह्मरन्ध्रके सहस्रदल चक्रमें पुरुषरूपसे सदाशिव सर्वदा विराजमान हैं। जब कुण्डलिनी प्रसुप्त अवस्थामें रहती है, तभी बाह्य सृष्टि हुआ करती है, अर्थात् साधक बाहिरी जगत्का अनुभव करता है; परन्तु जब योगपरायण पुरुष योगके अङ्गोंकी सहायतासे उसे जगाकर परमपुरुषमें विलीन कर देता है, तब कृतकृत्य हो जाता है। इसी सुखावह साधनको प्राचीन महर्षिगण लययोग कहते हैं।

योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नव अङ्ग बताये हैं। यम, नियम, स्थूलक्रिया (आसनादि), सूक्ष्मक्रिया (प्राणायाम), प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि ये ही वे नव अङ्ग हैं। स्थूल शरीरकी आसन, मुद्रादि क्रियाओंको स्थूलक्रिया और प्राणायामादि वायु प्रधान क्रियाको सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। प्रकृति-पुरुषात्मक बिन्दुमय ध्यानको बिन्दु ध्यान कहते हैं। यह लययोगका परम सहायक है। जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त हो सकता है, लययोगानुकूल अतिसूक्ष्म सर्वोन्नत क्रिया लयक्रिया है। लयक्रियाके साधनसे प्रसुप्ता महाशक्ति (कुल-कुण्डलिनी) प्रबुद्ध होकर ब्रह्म (पुरुष) में लयको प्राप्त करती है। इसीकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लय-क्रियाकी सिद्धिसे महालय नामक समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें योगके यम-नियम आदि जो आठ अङ्ग बताये हैं, वे चारों योगोंकी क्रियाओंमें मूलभूत हैं। अन्य योगोंके अङ्गोंमें न्यूनाधिकता देख पड़ती है सही; किन्तु जहाँ अङ्गोंकी अधिकता देख पड़ती है, वहाँ समझना चाहिये कि, उक्त आठ अङ्गोंके आधारपर ही वह हुई है और जहाँ न्यूनता देख पड़ती है, वहाँ एक अङ्गमें दूसरेका अन्तर्भाव किया गया है। सभी योगियोंको समाधि-सिद्धि अपेक्षित है। परन्तु प्रत्येक योगकी समाधिकी अनुभूति भिन्न-भिन्न होनेसे उन समाधियोंके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। लययोगमें प्रकृतिका पुरुषमें लय कर देना पड़ता है। अतः इस योग-प्रणालीमें 'लयक्रिया' का अङ्ग बढ़ा दिया गया है, इसीसे इस योगके नव अङ्ग हो गये हैं। इसमें लयक्रिया करनेके उपरान्त ही समाधिकी प्राप्ति होती है।

लययोग-संहितामें योगाङ्गोंकी नव संख्या बताकर फिर प्रत्येक

अंगके लक्षणोंका विवरण किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (नम्रता), क्षमा, धृति (धैर्य), मिताहार और शौच ये दश यम कहाते हैं। इनके विस्तृत लक्षण उक्त संहितामें दिये गये हैं। अन्य योगोंमें दिये गये योगाङ्गोंके लक्षणों और इस संहिताके अंगोंके लक्षणोंमें जो अन्तर है, वह यहाँ संक्षेपके बता दिया जाता है। मन, वाणी और कर्मसे किसी प्राणीको कभी दुःख न देना अहिंसा है। जिस वचनसे प्राणियोंका हित हो, वही सत्य है; केवल यथार्थ बोलना सत्य नहीं है। मन, कर्म और वचनसे दूसरेकी वस्तुकी अभिलाषा न करना अस्तेय है। मन, वाणी और कर्मसे मैथुनका त्याग करना ब्रह्मचर्य है। गृहस्थ यदि केवल ऋतुकालमें ही स्त्रीसम्भोग करे, तो वह भी ब्रह्मचर्यके फलका अधिकारी है। मन, वाणी और कर्मसे सदा, सब प्रकारसे सब भूतोंपर अनुग्रह करनेकी अभिलाषा रखना दया है। प्रवृत्ति और निवृत्तिमें एक रूप रहना आर्जव है और प्रिय तथा अप्रिय विषयोंमें एक भाव रहना क्षमा है। अर्थनाश, बन्धु-वियोग, सम्पत्ति और विपत्तिके समयमें भी दृढ़ रहना धृति है। शास्त्रोक्त आहार ही मिताहार है। अन्तर्बाह्य शुद्धि ही शौच है। मिट्टी, जल आदिसे बाह्य और मनकी पवित्रतासे अन्तःशुद्धि होती है। अध्यात्मविद्या और धर्म साधनके द्वारा मन पवित्र होता है।

लययोगके नियम भी दस हैं। यथाः—तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, तत्त्वज्ञानका श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप और व्रत। इनका अर्थ स्पष्ट ही है। इस योगका तीसरा अङ्ग आसन है। आसनके द्वारा साधकका शरीर योग-साधनके अनुकूल बन जाता है। हठयोगमें प्रधान तैंतीस आसन बताये गये हैं; किन्तु लययोगमें स्वस्तिकासन, पद्मासन और

सिद्धासन ये तीन ही उपयुक्त समझे गये हैं। इसी तरह हठयोगमें पचीस मुद्राओंका वर्णन है; परन्तु लययोगने आठ ही मुद्राएँ मानी हैं, जो आगेके योगाङ्गोंकी सहायक हैं। प्रत्याहारकी सिद्धिके लिये शाम्भवी मुद्रा, धारणासिद्धिके लिये पाँच प्रकारकी धारणाओंके अनुसार पाँच मुद्राएँ और ध्यान-सिद्धिके लिये शक्तिचालिनी और योनिमुद्रा। इन आठों मुद्राओंके लक्षण हठयोगके अनुसार ही हैं। कार्यकारण सम्बन्धसे प्राणवायु और स्थूलवायु एक ही हैं। सूक्ष्मक्रिया वायुप्रधान है। सूक्ष्मक्रियाओंके ही अन्तर्गत प्राणायाम और स्वरोदय है। लययोगमें प्राणायामके भेदोंमेंसे एकमात्र केवली प्राणायाम ही हितकर माना गया है। जो साधक केवली प्राणायाम करते हैं, वे ही यथार्थ योगी हैं। इसके साधनसे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अनुभव होने लगता है। स्वरोदय एक गूढ़ शास्त्र है। प्राण, वायु और मन कार्यकारण सम्बन्धसे एक ही होनेसे प्राणवायुके जयसे महाप्राणजय और मनोजय होता है। महाप्राणजय, मनोजय और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिको स्वरोदय कहते हैं। इसका जितना अच्छा और क्रियात्मक विवेचन इस संहितामें किया गया है, उतना अन्यत्र देख नहीं पड़ता। स्वरोदय-साधनकी विधि भी इसमें बतायी गयी है। स्वरोदयकी सिद्धिसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकारकी सूक्ष्मक्रिया लययोगका चौथा अङ्ग है।

पाँचवाँ अङ्ग प्रत्याहार है। कछुआ जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार मनको इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुख (आत्माभिमुख) करना ही प्रत्याहार है। लययोगमें इसका बड़ा महत्त्व है; क्योंकि यही अन्तर्जगतका द्वारस्वरूप है। प्रत्याहार साधनकी विस्तृत विधि इस संहितामें वर्णित

है। अन्तर्जगतमें पहुँचकर सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंमेंसे किसी सूक्ष्म प्रकृतिके भावमें अन्तःकरणको ठहरा देनेकी क्रियाको धारणा कहते हैं। धारणाकी साधना करते हुए पञ्चतत्त्वोंपर अधिकार करनेमें मुद्राओंसे अच्छी सहायता मिलती है। षट्चक्रभेदनका प्रकार भी धारणा-क्रियाके ही अन्तर्गत है। यह लययोगका छठा अङ्ग है। शरीरमें कौन सा स्थान किस तत्त्वका है, शरीरकी बहत्तर नाड़ियोंमें प्रधान इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंकी गति कहाँसे कहाँ तक है, षट्चक्रोंके स्थान, रूप, बीज (वर्ण). रंग, सिद्धलिंग, देवी, दल, वायु, अधिष्ठानरूपी पीठ आदि कैसे-कैसे हैं और प्रत्येक चक्रके ध्यानका फल क्या है, यह सब विषय इस संहितामें विशद रीतिसे वर्णित हुआ है। वहीं कुल-कुण्डलिनीका भी स्वरूप और कार्य बताया गया है कि, वह कमलनालके तन्तुओंके समान सूक्ष्म है, बिजलीके समान देदीप्यमान हैं, साँप सा शङ्खकी रेखाओं (वेष्टनों) के सदृश साढ़े तीन गिडुरी बनाकर मूलाधारचक्रमें सुषुप्त अवस्थामें विद्यमान रहती है, वहाँके स्वयम्भु सिद्धलिंगको मुखसे आवृत किये रहती है और उसीकी शक्तिसे मधुर-मधुर शब्द निकलते हैं। वर्णमाला, सब शब्द, कोमल काव्य, बन्ध-काव्य, गद्यपद्यात्मक निबन्ध, उनके भेद, अतिभेद आदिका वही उत्पत्ति स्थान है। उसीके श्वासोच्छ्वाससे संसारमें जीवोंकी प्राणरक्षा होती है।

जिस प्रकार गुदा और लिङ्गके मध्यमें चतुर्दलयुक्त मूलाधार-चक्र है, उसीप्रकार तालुमूलमें सहस्रदल कमल है। उसके मूलमें एक अधोमुख त्रिकोण है, जिसके बीचमें बिन्दुके समान एक छिद्र है। यही सुषुम्ना नाड़ीका स्थान है और इसीको ब्रह्म-रन्ध्र या मुक्तिका द्वार कहते हैं। यहीं इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाड़ियोंका संगम होता है, इस कारण इसको तीर्थराज प्रयाग भी

कहते हैं और सर्वोपरि होनेसे यह कैलाश भी कहाता है, जहाँ निरन्तर महेश्वर विलसित रहते हैं। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी-को जगाकर योगी जब उसे ऊपर उठाता है, तब वह षट्चक्र-भेदन करती हुई सहस्रदल पद्ममें जाकर महेश्वरमें लयको प्राप्त हो जाती है। यही शिवशक्ति-संयोगरूपी मुक्ति क्रिया है। सहस्रदल कमलमें कुलकुण्डलिनी महाशक्तिका जब लय हो जाता है, तब परमात्मामें चतुर्विध सृष्टिका भी लय हो जाता है।

विशेषता यह है कि, मन्त्र, हठ, लय-योगके साधकों और पञ्चदेवोंपासकोंके लिये समान रूपसे इस प्रकारका धारणासाधन सुगम और कल्याणप्रद है। प्रथम चक्रमें केवल प्रकृतिका, बीचके चक्रोंमें युगल मूर्तिका और अन्तिम चक्रमें अद्वैतभावापन्न पुरुषका प्राधान्य रहता है। षट्चक्रभेदन मन्त्र, ज्योतिः और नाद इन तीनोंकी सहायतासे हो सकता है। ये तीनों अधिकार उत्तरोत्तर उन्नत हैं।

लययोगका सातवाँ अङ्ग ध्यान है। ध्याता (ध्यान करने-वाला) अवलोकन (अन्तश्चक्षुओंसे अथवा बहिश्चक्षुओंसे) द्वारा ध्येय (जिसका ध्यान करना है) का साक्षात्कार करनेमें जिस क्रियासे समर्थ हो जाता है, उसको ध्यान कहते हैं। प्रत्येक योगका ध्यान पृथक्-पृथक् है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्ति ध्यान और हठयोगमें ज्योतिर्ध्यानसे जैसी सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वैसी ही लययोगमें बिन्दुध्यानसे होती है। इस ध्यानसे प्रकृतिका चाञ्चल्य नष्ट होकर साधकको आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। स्थूल ध्यानसे ज्योतिर्ध्यान और ज्योतिर्ध्यानसे बिन्दुध्यान श्रेष्ठ है और अतिसूक्ष्म होनेसे कठिन भी है। प्रत्याहारकी सिद्धि होनेपर नाद सुनायी देने लगता है और उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि होकर उसीकी सहायतासे धारणा और ध्यानकी भी सिद्धि हो जाती

है। धारणाकी सिद्धि हो जानेपर प्रकृति-पुरुषात्मक आत्म-दर्शन बिन्दुध्यानमें ही होता है। बिन्दुध्यानमें ही भगवान्के सगुण रूपका रहस्य निहित है।

लययोगके आठवें अङ्गका नाम लयक्रिया है। लयक्रिया ही लययोगकी प्राण स्वरूपा है। जो सूक्ष्म योगक्रिया ध्यानकी सिद्धि कराके साधकको समाधि भूमिमें पहुँचा देती है, उसको लय-क्रिया कहते हैं। यह बड़ी अलौकिक और भावपूर्ण है। षट्चक्र, व्योम पञ्चक और उनचालीस पीठोंके जान लेनेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लयक्रियाकेद्वारा ध्यान और समाधिकी सिद्धि होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। लय क्रियाके अन्तर्गत विविध क्रियाएँ आ जाती हैं। यथा :—व्योमजयी क्रिया, २—आशुगजयी क्रिया, ३—प्रभाजयी क्रिया, ४—रसजयी क्रिया, ५—सुरभिजयी क्रिया, ६—अजपा क्रिया, ७—शक्तिधारिणी क्रिया, ८—ॐकार क्रिया, ९—प्रातिभदर्शनक्रिया, १०—ज्योतिष्मती दर्शनक्रिया, ११—चक्रक्रिया, १२—ब्रह्मदण्डधारण क्रिया १३—लयबोध क्रिया, १४—प्राणसिद्धिक्रिया, १५—कूटस्थ दर्शन-क्रिया, १६—तत्पददर्शनक्रिया इत्यादि। इनसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

मन, वायु (प्राण) और वीर्य ये तीनों कारण, सूक्ष्म और स्थूलरूपसे एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं। वीर्यका स्थूल शरीरसे विशेष सम्बन्ध है। शरीरके सात उपादानों (धातुओं) में वीर्य प्रधान और सारभूत है। इसीसे मन्त्रयोगमें स्थूलक्रियाका प्राधान्य है। इसके द्वारा साधक प्रवृत्तिपूर्ण स्थूलराज्यको जय करके उपासनाके प्राणस्वरूप भक्ति और भावराज्यका अधिकार प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। हठयोगमें स्थूलशरीरपर आधि-पत्य स्थापन कर वायुको जीत लिया जाता है। इसीसे हठयोगमें

वायु अर्थात् प्राण सम्बन्धी क्रियाओंकी अधिकता है। परन्तु लय-योगमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनके द्वारा साधन करने योग्य क्रियाओंका ही विवेचन अधिक है। इसीकी साधनासे साधकको महालय समाधिकी प्राप्ति होती है। नादके अन्तर्गत ज्योति और ज्योतिके अन्तर्गत मन है। वह मन जहाँ लय हो जाता है, वही विष्णुका परमपद है।

लययोगके नवम अङ्गका नाम समाधि है। जिस प्रकार वर्षाका जलबिन्दु समुद्रमें गिरकर समुद्रसे अभिन्न हो जाता है, उसीप्रकार ध्येयरूपी परमात्मामें संलग्न हुआ अन्तःकरण अन्तमें उसी ध्येय-(परमात्मा) में लीन हो जाता है, उससे अभिन्न हो जाता है। इसीको समाधि अवस्था कहते हैं। दूसरा उदाहरण नमकका है। जलमें छोड़ी हुई नमककी कंकड़ी जलके सम्बन्धसे जिस प्रकार जलस्वरूप हो जाती है, उसी प्रकार विषय-सम्बन्धसे रहित मन लययोगकी सहायतासे ध्येय वस्तु (परमात्मा) से युक्त होकर अन्तमें तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार आत्मस्वरूपकी उपलब्धि ही लय-योगकी सर्वोत्तम महालय समाधि है। नाद और बिन्दुकी सहायतासे इस समाधिकी सिद्धि होती है। इसमें नाद और बिन्दुकी एकता होकर मनभी उसीमें लीन हो जाता है। उस अवस्थामें दृश्यका नाश होकर द्रष्टाका स्वरूप प्रकट हो जाता है। यही लय-योगकी समाधि है।

यद्यपि चारों योग-संहिताओंमें श्रीजीने सब विषय विशदकर दिये हैं और साधनक्रम (क्रियासिद्धांश) भी बता दिया है, तथापि उन्होंने स्थान स्थान पर चेतावनी भी दे दी है कि, योगसाधनाका यह विषय केवल पुस्तकके सहारे सधने योग्य नहीं है। इसकेलिये ब्रह्मशक्ति महामायाकी कृपा और श्रीसद्गुरुके अनुग्रहका प्रयोजन

होता है। चारों योगोंके तत्त्ववेत्ता योगिराज सद्गुरु ही अधिकारि-भेदानुसार योगक्रियाओंको बताकर शिष्यको कृतार्थ कर सकते हैं। बिना योग्य गुरुसे शिक्षा प्राप्त किये और रहस्य समझे योग साधन करनेसे लाभके बदले हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु सद्गुरुका लाभ भी बिना महामायाकी कृपाके हो नहीं सकता। भाग्यवान् साधक ही भगवत्कृपा प्राप्त कर श्रीसद्-गुरुका लाभ करते और उनके उपदेशानुसार साधना करके अपने दोनों लोक बना लेते हैं। गोस्वामीजीने ठीक ही ही कहा है—

"बिनु हरि कृपा मिलें नहिं सन्ता"

अथवा—

"बिनु सतसंग विवेक न होई।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई"॥

——

राजयोगसंहिता

योगमार्गका चतुर्थ और अन्तिम सोपान राजयोग है। राज-योग-संहिताका मङ्गलाचरण इस प्रकार किया गया है :—

आदिमध्यान्तपूर्णाय बाह्याभ्यन्तरतस्तथा।
परात्मने नमस्तस्मै सर्वपूर्णाय सन्ततम्॥
यस्मिन्सर्वे यतः सर्वे यः सर्वे सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयोदेवस्तस्मै सर्वात्मने नमः॥

जो आदि, मध्य और अन्तमें पूर्ण है और भीतर-बाहर भी पूर्ण है, उस सर्वपूर्ण परमात्माको निरन्तर नमस्कार है। जिसमें

सब कुछ विद्यमान है, जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो सब कुछ है और सर्वत्र व्याप्त है, उस सर्वात्मा सर्वमय देव (परमात्मा) को प्रणाम है। जिन पूज्यपाद महर्षि मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, अगस्त, पुलस्ति, पुलह, क्रतु, वेदव्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, मनु, वाल्मीकि, विष्णु, हारीत, शुक्राचार्य, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, शातातप, भरद्वाज, कपिल, गौतम, पतञ्जलि, कणाद, कश्यप, पराशर, मार्कण्डेय, कौशिक, रोमश, शङ्ख, कण्व, शाण्डिल्य, लिखित, दक्ष, जैमिनि, नारद, वामदेव, भरत, भृगु और पाणिनिकी कृपासे इस भूमण्डलमें चिरस्थायी आत्मज्ञान प्रकाशित हुआ, उनको प्रणाम कर इस 'राजयोगसंहिता'का अब आरम्भ किया जाता है। उक्त महर्षिगण ही इस राजयोगके प्रवर्तक हैं।

सब योगोंमें श्रेष्ठ होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यके मतसे योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है। राजयोग सध जाने पर जीव और ब्रह्मके एकत्वकी सिद्धि होकर सर्वत्र अद्वितीय परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, इसीसे राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारके समवायको अन्तःकरण कहते हैं। उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है। उसको राजयोग कहते हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी कारण दृश्यके साथ जगत् रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेसे सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तियोंको जीतकर स्वस्वरूप जिससे प्रकाशित हो जाता है, वह राजयोग कहाता है। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण, मायासे अतीत परब्रह्मकी उपलब्धि कर लेना

ही राजयोगका उद्देश्य है। इसीसे जिस प्रकार वेदान्तभूमिमें अधिकार लाभ करनेकेलिये साधकको शम-दमादि षट्साधन सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा; उपरति; श्रद्धा और समाधान); नित्यानित्य वस्तुविवेक इहामुत्र फलयोग-विराग और मुमुक्षुत्वके साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होना पड़ता है; उसी प्रकार राजयोग-साधनके पहिले योगीको भी साधन चतुष्टयसम्पन्न होना पड़ता है। अन्यथा इसमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

राजयोग साधनमें विचार-बुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताकेद्वारा ही राजयोगका साधन होता है। राज-योगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं। राजयोगकी समाधि निर्वि-कल्प समाधि कहाती है। राजयोगमें जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली हो, वे महात्मा जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। महाभाव, महाबोध अथवा महालयसमाधिमें जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली हो, वे ही तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोगभूमिमें अग्रसर हो सकते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंका राजा है और साधनकी चरम सीमा है। इसीसे इसको राजयोग कहते हैं। यह पहले कहा गया है कि, श्री भगवान् पतञ्जलिके योगदर्शनमें वर्णित अष्टाङ्गयोग ही सब योगसाधनोंका भित्ति स्वरूप है। परन्तु राजयोगका साधन केवल अन्तःकरणके द्वारा सूक्ष्मरूपसे होता है। अतः इसमें स्थूलशरीर और वायु सम्बन्धी कोई क्रिया नहीं होती। अन्य योग साधनोंकी तरह राजयोगके आसन, प्राणायामादिके साथ स्थूल क्रियाओंका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अष्टांग अन्तः-करणके द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्र रूपसे साधित होते हैं। उनके लक्षण भी भिन्न हैं। उनका विवरण 'जीवन्मुक्त श्रीजी' शीर्षक प्रकरणमें किया गया है। साथ ही राजयोगके षोडश अङ्गों, सप्तज्ञान भूमियों, प्रथम सप्ताङ्गों, सप्त योगभूमियों, सप्त उपा-

सना भूमियों, वैराग्यादि चतुष्टयों, ज्ञानस्वरूप और अज्ञानस्वरूपों, राजयोगके साधनों और साधनविज्ञानोंका भी विवेचन उसी प्रकरणमें किया गया है। अतः यहाँ द्विरुक्ति करना उचित नहीं जान पड़ता। जिन बातोंका पहले उल्लेख नहीं हुआ है, इस संहितामें उल्लिखित उन्हीं बातोंका यहाँ ऊहापोह किया जायगा।

राजयोगसंहिताके २८ प्रकरण हैं। यथा:—१—मंगलाचरण, २—राजयोगका लक्षण, ३—राजयोगके अङ्ग, ४—प्रथम सात अङ्ग, ५—सात योगभूमियाँ, ६—सात उपासनाभूमियाँ, ७—सात ज्ञानभूमियाँ, ८—प्रथमसाधन, ९—राजयोगकी धारणा, १०—राजयोगका ध्यान, ११—प्रस्थानत्रय, १२—राजयोगकी समाधि, १३—समाधिका लक्ष्य, १४—समाधिके अङ्ग, १५—मन्त्रयोगकी समाधि, १६—हठयोगकी समाधि, १७—लययोगकी समाधि, १८—राजयोगकी आवश्यकता, १९—राजयोगका क्रम, २०—राजयोगके अधिकारी, (इसीमें वैराग्य, वस्तुविवेक, शमदम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुत्वके लक्षण दिये गये हैं।), २१—अज्ञानका स्वरूप, २२—ज्ञानका स्वरूप, २३—राजयोगके साधन, (इसके यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके लक्षण दिये गये हैं), २४—साधनका विज्ञान, २५—सिद्धावस्था, २६—कर्माधिकार, २७—उपासनाधिकार और २८—ज्ञानाधिकार (व्यष्टि ज्ञान और समष्टिज्ञान।

राजयोगमें सप्तज्ञान भूमियोंके अनुसार सात प्रकारके अनुभव इस प्रकार बताये गये हैं:—१—परमाणुकी नित्यता, ब्रह्मको सृष्टिका निमित्त कारण मानना और षोडश पदार्थोंको जानकर परमतत्त्वकी प्राप्ति कर लेना पहली भूमिका अनुभव है। २—धर्माधर्मका निर्णय कर षट्पदार्थोंके ज्ञानके द्वारा परमतत्त्वको

प्राप्तकर लेना दूसरी भूमिका अनुभव है। ३—जगत्का मूल वृत्ति है। चित्तवृत्तिका निरोध कर परमतत्त्वकी उपलब्धि करना तीसरी भूमिका अनुभव है। ४—प्रकृतिको भलीभाँति जानकर परमतत्त्वका साक्षात्कार करना चौथी भूमिका अनुभव है। ५—कर्मकी प्रधानताके कारण जगत् ही ब्रह्म है, यह पांचवीं भूमिका अनुभव है। ६—भक्तिकी प्रधानतासे ब्रह्म ही जगत् है, यह छठी भूमिका अनुभव है और ७—ज्ञानकी प्रधानतासे मैं ही ब्रह्म हूँ, यह सातवीं भूमिका अनुभव है।

मन्त्र, हठ और लय ये तीनों साधनावस्थाके योग हैं, राजयोग सिद्धावस्थाका योग है। इसका अधिकार सर्वोपरि होनेसे इसके योगाङ्गोंके लक्षण अन्य योगोंके योगाङ्गोंके लक्षणोंसे भिन्न होना स्वाभाविक है। राजयोगके षोडश अंग इस प्रकार हैं:—सात भूमियोंके सात पूर्वोक्त अनुभव, जो सब विचार प्रधान हैं, दो प्रकारकी धारणा, प्रकृति धारणा और ब्रह्मधारणा, तीन प्रकारके ध्यान, विराट् ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान और चार प्रकारकी समाधि,—दो सविचार और दो निर्विचार। इन सोलह अङ्गोंकी साधनासे राजयोगी कृतकृत्य हो जाता है। राजयोगसाधनकी अन्तिम दशा वह है, जब योगी अपनी व्यष्टि-जीवसत्ताको परमात्माकी समष्टिसत्तामें विलीन कर देता है। इसका क्रम इस प्रकार है:—प्रथम पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें विलीन कर दिया जाता है। फिर इन स्थूलभूतोंके लयके अनन्तर मनको बुद्धिमें, बुद्धिको अहङ्कारमें, अहङ्कारको चित्तमें, चित्तको क्षेत्रज्ञमें और क्षेत्रज्ञको परमात्मामें विलीन कर अविद्याका नाश हो जानेसे योगीका जीवत्व उसी प्रकार परमात्मामें विलीन हो जाता है, जिस प्रकार घटके नष्ट हो जानेपर तदन्तर्गत घटाकाश महाकाशमें विलीन होता है।

सुकौशल पूर्ण कर्मको योग कहते हैं। सुकौशलपूर्ण कर्मयोगका आचरण करता हुआ राजयोगी जीवन्मुक्त पदवीको प्राप्त करता है। कर्मयोगकी सात भूमियोंके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं :— १—अन्त:करणमें वैराग्यका उदय होनेपर 'मैं मूढ़ होकर क्यों बैठा हूँ? मुझे गुरु और शास्त्रकी सहायतासे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिये' इस प्रकारकी जो इच्छा होती है, उस कर्मयोगकी प्रथम भूमिको शुभेच्छा कहते हैं। २—शास्त्रसज्जनसङ्ग और अभ्यास-वैराग्यसे जब सदाचारमें प्रवृत्ति हो, वह दूसरी विचारणा-भूमि है। ३—तीसरी तनुमानसा वह कहाती है, जब उक्त दोनों भूमियोंके द्वारा इन्द्रियार्थ वस्तुमें अनासक्ति हो जाय। इस अवस्थामें मन बहुत ही क्षीणप्रभ हो जाता है। इन तीनों भूमियोंके अभ्याससे जब बाह्यपदार्थोंसे मन विरक्त हो जाय और शुद्ध आत्माके विषयमें वह अवस्थित रहे, उस चौथी भूमिकी संज्ञा सत्तापत्ति है। इन चारों भूमियोंके अभ्याससे बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंसे चित्त हटकर उन दोनों प्रकारके संस्कारोंका लोप हो जाता है और परमानन्दमय अपरोक्ष नित्य परब्रह्मका साक्षात्कार होनेसे चित्तमें एक विलक्षणता आ जाती है, इस पाँचवीं भूमि या अवस्थाका नाम असंसक्ति है। उक्त पाँच भूमियोंके आधारपर 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ', इस प्रकारकी भावना दृढ़ होकर जब बाह्य अथवा आभ्यन्तर किसी अन्यपदार्थकी भावना शेष न रहे, तब उस छठी भूमिको पदार्थाभावनी कहते हैं। इस अवस्थामें भेदबुद्धि नष्ट होकर शरीर धारणोपयोगी व्यापारोंके अतिरिक्त योगी अन्य कोई व्यापार नहीं करता, न कोई चेष्टा ही करता है। इन छ: भूमियोंके दृढ़ अभ्याससे किसी वस्तुमें भेद बुद्धि नहीं रह जाती और केवल ब्रह्मरूपमें ही योगी रम जाता है। इस अन्तिम और सप्तम भूमिको तुर्यगा कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्तकर योगी कुम्हारके पहियेके

समान स्थित रहकर अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मोंका भोग करता रहता है और जीवकेन्द्रसे हटकर भगवत्केन्द्रसे परिचालित होता हुआ भगवत्कार्यमें ही प्रवृत्त रहता है। जगत्कल्याणार्थ वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि उसका कार्य भगवत्कार्य हो जाता है।

राजयोगीके प्रकृति-भेदानुसार ज्ञानभूमियोंके साथ कर्मभूमियों और उपासनाभूमियोंके साधनका भी सम्बन्ध रहता है। कर्म-भूमियोंका विवरण ऊपर दिया गया है। १—उपासना-भूमियोंमेंसे संयमके द्वारा दिव्य नाममें परमात्माका अनुभव करना पहली नाम-पराभूमि है। धारणा, ध्यान और समाधिको एक लक्ष्यसे युक्त करना ही संयम है। २—दिव्यरूपमें परमात्माका दर्शन करना दूसरी रूपपराभूमि है। ३—उनको विभूतियोंमें देखना तीसरी विभूति पराभूमि कहाती है। ४—उनको स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंमें अनुभव करना चौथी शक्तिपराभूमि है। ५—उनको त्रिगुणोंमें देखना पाँचवी गुणपराभूमि कही जाती है। ६—उनको त्रिभावोंमें देखना छठी भावपराभूमि है और ७—परमात्माको स्वरूपमें देखना सातवीं स्वरूपपराभूमि कही जाती है। इस भूमिमें पहुँच-कर योगी पराभक्तिका अधिकारी और जीवन्मुक्त होकर परमानन्द पदको लाभ करता है। उक्त कर्म, उपासना और ज्ञानकी सब भूमियोंको राजयोगी पारकर जाता है।

राजयोगीकी धारणाका क्रम भी अन्य योगोंसे भिन्न है। पंच-धारणा मुद्राओंके अभ्याससे योगी पाँचों तत्त्वोंकी धारणामें सिद्धि-लाभकर सूक्ष्मक्रियाओंकी साधनाने पंचतत्त्वोंके जय करनेमें समर्थ होता है। राजयोगकी धारणा सिद्धिमें पंचधारणा मुद्राएँ और पंच-सूक्ष्म लयक्रियाएँ परम सहायक होती हैं। इन्हींके अभ्याससे योगी उन्नतभूमिमें पहुँचकर त्रिविध ब्रह्म ध्यानके साधनमें समर्थ होता है।

ब्रह्म, ईश और विराट् रूपी त्रिविध धारणासे ही योगी अग्रसर होता है। धारणा दो प्रकारकी होती है,—१—प्रकृति-धारणा और २—ब्रह्मधारणा। धारणाका यह विषय श्रीगुरुदेवसे ही समझने योग्य है।

धारणाके उपरान्त ध्यानकी बारी आती है। वेद, शास्त्र और गुरुदेवकी सहायतासे ही योगी ब्रह्म, ईश और विराट्का ध्यान करनेमें समर्थ होता है। अन्य योगोंके साधकोंको तो किसी एक ही प्रकारके ध्यानका अभ्यास करना पड़ता है; ध्यानान्तरसे उनकी हानि होती है; परन्तु राजयोगीके लिये त्रिविध ध्यान हितकारी हैं। राजयोगके ध्यानमें साधकका यह भाव रहता है कि, मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, मैं ही दृश्यका द्रष्टा हूँ और मैं ही अखण्ड ब्रह्माण्ड हूँ। राजयोगमें सिद्धिलाभ करनेके लिये योगतत्त्व-वेत्ताओंने अनेक साधन-क्रियायें बतायी हैं। राजयोगकी ध्यानप्रणालीसे निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है।

वेदान्तशास्त्र-(दर्शन)की प्रस्थानत्रयीके अनुसार राजयोगमें भी प्रस्थानत्रयकी कल्पना की गयी है। ब्रह्म, ईश और विराट्भावसे परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हैं। एक अद्वैत परमात्माके ही ये तीनों विलास हैं। तत्त्वातीतपद मन और बुद्धिसे परे है। यद्यपि राजयोगीमें द्वैतभाव नहीं रहता, तथापि सूक्ष्मरूपसे सच्चिदानन्दभावका रसास्वादन बना रहता है। कर्म, उपासना और ज्ञानके त्रिविध विलासानुसार एकमें सत्सत्ताका, दूसरेमें आनन्द-सत्ताका और तीसरेमें चित्सत्ताका विलास अनुभूत होता है। यही राजयोगका प्रस्थानत्रय है।

यज्ञ और महायज्ञका लक्षण पहले बताया जा चुका है। इनसे आधिभौतिक शुद्धि, भगवद्भक्तिसे आधिदैविकशुद्धि और आत्मा-नात्मविचारसे आध्यात्मिक शुद्धि होती है। त्रिविधशुद्धि सम्पा-

दनकर ध्यानसिद्धि हो जानेपर राजयोगी निम्नलिखित सात साधनों-मेंसे किसी न किसी साधनमें निरन्तर युक्त रहता है :—१—मानसिकरूपसे ब्रह्ममन्त्रका जप करना और जपके साथ साथ उस मन्त्रका अर्थानुगम करते हुए भावपर लक्ष्य स्थिर करना। २—शारीरिक कर्मयोगमें रत रहना। यज्ञार्थ, काम सङ्कल्पवर्जित कर्तव्यबोधसे केवल जगत्-कल्याणार्थ जो कर्म किया जाता है, वही कर्मयोग कहाता है। ३—मानसिक कर्मयोगमें रत रहना; ४—संसारमें रहते हुए विषयरागरहित रसानुभव करना और उस समय आत्मलक्ष्य विस्मृत न होना, ५—उपासनाकी सप्तभूमियोंके अनुसार ध्यानमें निरतर रहना, ६—तटस्थ ज्ञानके द्वारा आत्मानुसन्धान करना और ७—स्वरूपज्ञान प्रकाशक विज्ञानका अनुसन्धान करना।

राजयोगका साधन धारणा और ध्यानभूमिसे आरम्भ होता है और उसकी परिसमाप्ति समाधिभूमिमें होती है। समाधिभूमिमें प्रथम वितर्क रहता है, फिर विचार उदित होता है। तदनन्तर आनन्दानुगत और अस्मितानुगत अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है। ये चारों पहले दो भेद सविचार और दूसरे दो भेद निर्विचार समाधिके हैं। इसी तरह विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग ये चार भेद दृश्यके हैं। राजयोगी इन सबको पार कर जाता है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिमें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भाव भी नहीं रहता। जब द्वैतभाव या कोई विकल्प बचन नहीं रहता, वही तुरीयावस्था कहाती है।

पातञ्जलयोगदर्शन और अन्य संहिताओंमें लिखा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्', 'परजीवात्मनोरेव मेलनं योग उच्यते'। इन बचनोंका तात्पर्य यह है कि, चित्तवृत्ति निरोधके द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें

जीवात्मा-परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी उपलब्धि होती है, उस साधनको योग कहते हैं। अर्थात् चित्तवृत्तियोंका जबतक निरोध नहीं होता, तब तक जीवकी पृथक् सत्ता बनी रहती है। चित्तवृत्तिका ज्यों-ज्यों निरोध होता जाता है त्यों-त्यों अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका प्रकाश होने लगता है और चित्तवृत्तिके पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण ही नष्ट हो जाता है और तब स्वरूप पूर्णरूपसे प्रकाशित हो जाता है।

मन्त्रयोगकी महाभाव, हठयोगकी महाबोध और लययोगकी महालय समाधिमें साधकको सिद्धावस्था प्राप्त होनेपर चित्त वृत्तिके निरोधमें बहुत कुछ सहायता मिलती है; परन्तु उक्त तीनों समाधियाँ सविकल्प होनेसे साधक लौकिक पुरुषार्थके द्वारा केवल चित्त वृत्तियोंके दबानेमें समर्थ होता है। उस अवस्थामें चित्तवृत्ति-योंका न पूर्ण विलय होता है और न मूल नाश ही। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरण द्वारा मन्त्रयोगकी महाभाव समाधिका उदय होता है। वायुनिरोधके द्वारा हठयोगकी महाबोध समाधि-का उदय होता है और नाद तथा बिन्दुके एकीकरणसे लययोगकी महालय-समाधिका उदय होता है। ये तीनों समाधियाँ लौकिक उपाय सम्भूत हैं, हठ पूर्वक अनुष्ठित होती हैं और ज्ञान सम्बन्ध रहित हैं। यद्यपि ये बलपूर्वक चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेमें समर्थ होती हैं, तथापि उनका मूलोच्छेद नहीं कर सकतीं। अन्ततः तीनों समाधियोंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। तीनोंमेंसे किसी एक की सिद्धि हो जानेपर योगी जब उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी राजयोगका अधिकारी होता है। वास्तवमें मन्त्र, हठ और लययोग जहाँ समाप्त होता है, वहींसे राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार प्रारम्भ होता है।

पहले राजयोगके जो १६ अङ्ग बताये हैं, राजयोगी उनमेंसे प्रथम सात ज्ञानभूमियोंका रहस्य जानकर क्रमशः उनका साधन करता है। इस सप्ताङ्ग साधनके उपरान्त सत्-चित् भावमय प्रकृतिराज्य और पुरुषराज्य दोनों राज्योंका दर्शनकर उनकी धारणासे वह अनन्त प्रपञ्चको भूल जानेमें समर्थ होता है। यह आठवाँ और नवाँ अङ्ग है। अनन्तर परिणाम शीला प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे जानकर ब्रह्म, ईश और विराट् रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका अनुभव करता है। यही ध्यानभूमिकी पराकाष्ठा है और यही राजयोगका दसवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ अङ्ग है। तदुपरान्त यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि दशाओंको पारकर वह स्व-स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है। ये चारों समाधियाँ मन्त्र, हठ और लय योगकी समाधियोंसे भिन्न हैं। इनकी सिद्धिसे योगीको सबप्रकारके योगसाधनोंका जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है। सब प्रकारके योगसाधनोंका यही अन्तिम लक्ष्य है।

अन्तःकरणमें सृष्टिभाव विशेषका जब उदय होता है, तब वह तद्भावमय हो जाता है। जब अन्तःकरण शून्यवृत्तिको धारण करता है, तब उसमें वृत्ति-शून्यता आ जाती है और साधनकी परिपक्व दशामें अन्यवृत्तियोंका नाश होकर जब अन्तःकरण ब्रह्मभावसे परिपूर्ण हो जाता है, तब साधक ब्रह्म ही हो जाता है। श्रुति भी यही घोषणा करती है कि, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है, कार्यसे कारणकी नहीं। कार्यभावका यदि अभाव हो जाय, तो सच्चिदानन्दभाव ही अवशिष्ट रह जाता है। कारणके बिना जब कार्यका होना सम्भव नहीं, तब पहले इस अखिल दृश्य जगत्रूपी कार्यके मूल कारणका अनुसन्धान करना आवश्यक है। कार्यसे

कारणका निश्चय कर फिर कार्यका परित्याग करनेसे एक मात्र मूल कारण ब्रह्म ही बच रहता है। कार्य-विवर्जित होनेसे राजयोगी चित्स्वरूप ही हो जाता है। फिर उसे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञानाग्निसे उसके सब पाप-पुण्य जब भस्म हो जाते हैं, तब उसे पुनर्जन्म कहाँ? उसका कोई कर्तव्य भी शेष नहीं रहता।

यद्यपि निर्विकल्प समाधिसिद्ध योगीका कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, तथापि उसकी जबतक विदेह मुक्ति न हो, तबतक प्रारब्ध-कर्मोंके वेगसे विराट केन्द्रके द्वारा परिचालित होकर वह कुलालचक्रकी तरह आजीवन निर्लिप्त होकर जगत्कल्याणकारक कर्म करता ही रहता है। यही ईश-कोटिके जीवन्मुक्त महात्माके जीवनमें कर्माधिकारका भाव है। जीवन्मुक्तके ब्रह्मस्वरूप हो जानेपर यद्यपि वह उपास्य-उपासक-भावसे अतीत हो जाता है, तथापि परमानन्दके विलासके कारण वह कभी चिदानन्दमय विराट्रूपमें परमानन्दका अनुभव करता है और कभी ईश्वरकी स्तुति करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहता है। भगवद्भक्त अर्जुनकी विराट् स्वरूपकी स्तुति विराट्दर्शनजनित परमानन्दके विलासका ही उदाहरण है। श्रीभगवान् शङ्कराचार्य प्रभु ईश-भावमें मुग्ध होकर कहते हैं:—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो हि तारङ्गः॥

हे नाथ! भेद न होनेपर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं। तरङ्ग समुद्रका ही हुआ करता है, तरङ्गका समुद्र नहीं हो सकता। यही जीवन्मुक्तके जीवनमें उपासनाधिकारका भाव है और जब वह ज्ञानाधिकारके भावमें पहुँचता है, तब उसे दृढ़ निश्चय हो जाता है कि, इस संसाररूपी प्रपञ्चका ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई उपा-

दान कारण नहीं है। संसार ब्रह्मरूप ही है। व्याप्य-व्यापक भाव मिथ्या है। परमात्माका ज्ञान हो जानेपर भेद-बुद्धि कहाँ रहेगी? एकमात्र ब्रह्म ही नाना प्रकारके नामों और रूपोंमें विलसित है। उन्हींमें कर्मकी भी स्फूर्ति हुआ करती है। जिस प्रकार रस्सीमें रस्सीका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सर्पका भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार प्रपञ्चके अधिष्ठानभूत परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर प्रपञ्चरूपी संसार लयको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानमय, अनन्त, सदानन्दमय, एक, सर्वधर्मशून्य और मनोवाणीके अगोचर होनेसे उसमें सजातीय अथवा विजातीय भावरूपी द्वैतका रहना सम्भव नहीं है। यही अद्वैतपद है और यही जीवन्मुक्तके जीवनमें ज्ञानाधिकारका भाव है।

इसमें सन्देह नहीं कि, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ये चारों अपने-अपने अधिकारके अनुसार क्रमशः मुक्ति प्रदान करनेवाले साधन हैं; परन्तु राजयोगकी महिमा सर्वोपरि है। राजयोगकी सिद्धावस्थाको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये; सब साधनोंका चरम फल यही है।

इस प्रकार चारों योगोंकी योगसंहिताओंको योगमार्गियोंके हितार्थ महान् योगिराज श्रीजीने प्रकाशित कर योगसाधनपद्धति व्यवस्थित कर दी है। योगविषयके जाननेवाले योगी अपने देशमें अब विरले ही रह गये हैं; परन्तु पश्चिमी देशोंके लोगोंका इस ओर विशेष रूपसे ध्यान आकृष्ट हो रहा है और वे इस विषयमें भारतको ही जगद्गुरु मानते हैं। वहाँके साधक जो यौगिक चमत्कार दिखाते हैं, वे इस बातको स्वीकार करते हैं कि, उन्हें योगका यह ज्ञान हिमालय पर्वतके योगियोंसे ही प्राप्त हुआ है। हमारी यह पैतृक सम्पत्ति होनेपर भी हम इसकी उपेक्षा करते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है। ऐसे प्राचीन गूढ़ और विलुप्त तत्त्वज्ञानका

पुनरुद्धार कर उसे प्रकाशित कर भारतवासियोंको पुनः जगद्गुरु पदपर प्रतिष्ठित करनेका श्रीजीका सदासे लक्ष्य रहा आया है और तदनुसार प्रबल पुरुषार्थ करनेमें वे कोई बात उठा नहीं रखते थे। 'गुप्तम्-गुप्तम्' कहकर मन्त्रशास्त्र और योगशास्त्रके ज्ञाताओंने अधिकारी पुरुषोंको भी अपनी विद्या प्रदान नहीं की, न किसीको उसका क्रियासिद्धांश ही समझाया। इसका परिणाम यह हुआ कि, यह जगत्कल्याणकारिणी विद्या ही संसारसे उठ गयी। श्रीजी इस नीतिके विरुद्ध थे। वे सब विषय चुरा नहीं रखते और प्रकाशित कर दिया करते थे तथा जिज्ञासु भक्तोंको विवरण एवं क्रियासिद्धांश सहित समझा दिया भी करते थे। योगशास्त्रोक्त अनेक विषय गुरुगम्य हैं, सद्गुरुसे ही वे जाने जा सकते हैं; परन्तु ऐसे सद्गुरु कहाँ मिलें? इसका उत्तर यही हो सकता है कि—"जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।" उत्कण्ठा और लगन होनेसे सद्गुरु भी मिल ही जाते हैं। श्रीस्वामी विवेकानन्द जैसे जिज्ञासुको रामकृष्ण परमहंस जैसे सद्गुरु मिल ही गये। श्रीजीने उक्त संहिताओंको प्रकाशित कर योगमार्ग परिष्कृत और विशद कर दिया है, उसपर अब चलना हमारा काम है।

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

(सनातनधर्मका विश्वकोष)

श्रीजीद्वारा इस महाग्रन्थके प्रणयनके निमित्त-कारण श्रीभारत-धर्म महामण्डलके प्रधान सभापति स्वर्गीय मिथिलेश महाराजाधिराज श्रीरमेश्वर सिंह दरभङ्गेश्वर महोदय हुए थे। उन्होंने एक

दिन श्रीचरणोंमें प्रार्थना की कि, इस विकराल कलिकालमें काम आने योग्य सनातनधर्मका एक ऐसा वृहद् सिद्धान्त ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाय, जिसमें साङ्गोपाङ्ग सनातनधर्मका रहस्य विस्तृत रूपसे वर्णित हो और जिससे सनातनधर्मावलम्बी सब वर्णों और आश्रमों तथा सब सम्प्रदायों और पन्थोंके लोग समानरूपसे पूर्ण लाभ उठा सकें और अपने धर्मका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकें। दूसरी प्रेरणा श्रीजीके सुयोग्य प्रधान शिष्य ब्रह्मीभूत श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजकी ओरसे मिली। श्रीभारतधर्म-महामण्डलद्वारा स्थापित उपदेशक महाविद्यालयमें अध्ययन किये हुए श्रीजीके यही प्रभावशाली और परमवाग्मी विद्वान् प्रथम शिष्य थे, जिन्होंने अपनी ओजस्वी वाग्धाराके द्वारा सनातनधर्मी लोगोंको सोतेसे जगा दिया और विपथगामियों अथवा भूले-भटके लोगोंको उनका वास्तविक कल्याणमार्ग बताकर नये संघटन-द्वारा संघटित कर दिया। उस समय वे धर्मप्रचारार्थ भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भ्रमण कर रहे थे। भ्रमणमें उन्हें भी ऐसे एक बृहत् ग्रन्थके निर्माणकी आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने अपने परमपूज्य गुरुदेव श्रीजीके चरणोंमें निवेदन किया कि, ऐसे एक महाग्रन्थका निर्माण हो जाना-ही चाहिये।

श्रीजीने दोनोंका अनुरोध स्वीकार किया और अपने तत्त्वावधानमें श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजके द्वारा यह महाग्रन्थ लिखवा दिया। श्रीजी बड़े देशकालज्ञ थे। वे जानते थे कि यद्यपि सृष्टिके आरम्भसे ही अनादि और अनन्त वेद ही जगत्में ज्ञान-ज्योतिका विस्तार करते आये हैं; परन्तु कालप्रभावसे उनका एक सहस्रांश भी उपलब्ध नहीं हो रहा है और वे यह भी जानते थे कि, कालके ही प्रभावसे मनुष्योंकी बुद्धि और आध्यात्मिक विचारकी शक्ति सत्ययुगसे त्रेतामें, त्रेतासे द्वापरमें और द्वापरसे कलियुगमें बराबर

घटती आ रही है और इस समय बहुत ही मलिन तथा हीन बल हो गयी है। इसी भविष्यको जानकर कि, आगे चलकर वैदिक ज्ञानके समझनेकी बुद्धि-शक्ति मनुष्योंमें नहीं रहेगी, प्राचीन महर्षियोंने द्वापरके अन्ततक वैदिकदर्शनशास्त्र, स्मृतिशास्त्र, पुराण-शास्त्र, तंत्रशास्त्र तथा अनेक संहिता-ग्रन्थ प्रकाशित कर दिये थे, परन्तु इस समय मनुष्योंकी बुद्धि इतनी अधिक मलिन और आध्यात्मिक विचार-शक्ति इतनी अधिक क्षीण हो गयी है कि, वेदके भाष्य-स्वरूप उन ग्रन्थोंके आशयको समझकर और धर्मका रहस्य जान-कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर लेना असम्भव-सा हो गया है। इस कारण वेद और पूर्वोक्त शास्त्रोंके आधारपर वर्तमान अधि-कारियोंके उपयोगी यह एक ऐसा महाग्रन्थ श्रीजीने निर्माण किया है, जिसके अध्ययन-अध्यापनसे सनातनधर्मका रहस्य, यथार्थ स्वरूप और उसके समस्त अङ्गों-उपाङ्गोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। साथ ही इसके अध्ययनसे वेद-शास्त्रोंका आशय और उनके धर्मविज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप भी भली-भाँति ज्ञात हो सकता है। जबतक जिज्ञासुओंको आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त नहीं होती—जो सद्गुरुकृपासे ही प्राप्त हो सकती है—गम्भीर वेदोंका तात्पर्य समझनेमें नहीं आ सकता। जो लोग उस शक्तिको बिना प्राप्त किये ही धर्म-व्याख्या और धर्ममीमांसाके ग्रन्थोंका प्रणयन करने लगते हैं, वे स्वयं विपथगामी होकर दूसरोंको भी गिरा देते हैं। ऐसे अनेक ग्रन्थ इस समय रचे गये हैं और रचे जा रहे हैं, जिनके भ्रम-पूर्ण और असत् विधानोंके प्रचारसे धर्मजगतकी बड़ी हानि हो रही है। इस विपत्तिसे आर्यजातिको बचानेकेलिये एक ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थका प्रयोजन था, जिसकी सहायतासे सब प्रकारके जिज्ञासुओंकी शङ्काओंका उत्तम रीतिसे समाधान किया जा सके। आजकल लोगोंका ध्यान आधिभौतिक उन्नतिमें सिमट गया है,

इन्द्रिय सुख ही प्रधान लक्ष्य माना जाने लगा है, पदार्थविद्या (साइंस) का बोलबाला है तथा धर्म, अन्तर्जगत्, परलोक आदिके विषयमें नास्तिकता बढ़ती जा रही है। ऐसे कठिन समयमें दार्शनिक और वैज्ञानिक युक्तियोंसे पूर्ण एक ऐसे सनातनधर्म सम्बन्धी महाग्रन्थकी आवश्यकता थी, जिसके द्वारा अर्वाचीन और प्राचीन शैलीपर विद्याध्ययन करनेवाले सब प्रकारके अधिकारी सनातनधर्मका विस्तृत ज्ञान सुगमतासे प्राप्त कर सकें। इस आवश्यकताकी पूर्ति श्रीजीने इस बृहत् ग्रन्थका प्रणयन करके कर दी है।

श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज इसके प्रथम खण्डकी भूमिकामें लिखते हैं :—श्रीगुरुमहाराजके श्रीमुखसे वेदोंका गम्भीर विज्ञान समझते समय और दर्शनशास्त्र तथा योगशास्त्रका अध्ययन करते समय मेरे चित्तमें यह वासना उत्पन्न हुआ करती थी कि, यह अपूर्व धर्मविज्ञान और गम्भीर दार्शनिक तत्त्व—जो कालप्रभावसे बहुत दिनोंसे लुप्तप्राय था—जगत्कल्याणार्थ और सनातनधर्मके पुनरभ्युदयार्थ लिपि-बद्ध करके पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया जाय। क्योंकि वेदका सार-स्वरूप यह अध्यात्मज्ञान एकमात्र श्री गुरुकृपासे ही प्राप्त हो सकता है।" यहाँ 'अन्धा माँगे एक आँख और भगवान देवें दोनों आँखें' यह कहावत पूर्णरूपसे चरितार्थ होती है। श्री स्वामीजी वेदके सारभूत अध्यात्म-ज्ञानको ही प्रकाशित करना चाहते थे; किन्तु श्रीजीने इस महाग्रन्थमें वेदोंका सारा तत्त्वज्ञान अङ्गोपाङ्ग सहित ठसेठस भर दिया है और समस्त शङ्काओंका युक्ति और शास्त्रोंद्वारा प्रतिपक्षीको निरुत्तर करनेवाला समाधान बड़े कौशलसे भर दिया है। कवि कहते हैं :—

अब्धिर्लंघित एव वानर भटैः किं तस्य गम्भीरताम्।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्दाचलः॥

वानर योद्धाओंने समुद्रको लाँघ डाला, किन्तु क्या वे उसकी गहराईको जान गये? नहीं, वह तो वही पुष्ट शरीर मन्दाचल पर्वत जानता था जो मथानी बनकर समुद्रमें समुद्र-मन्थनके समय पातालतक पहुँच गया था। जिस महात्माने वेद-शास्त्ररूपी समुद्रका मन्थन कर उसके तल-तकका पता लगा लिया हो, वही ऐसा विशाल ग्रन्थ निर्माण कर सकता है। श्रीजी इसी कोटिके महापुरुष थे, यह बात इस ग्रन्थके सरसरी तौरसे उलटने-पुलटनेसे भी समझमें आ सकती है।

ऋग्वेद संहिताके जिस प्रकार ६४ अध्याय ८ अष्टकोंमें विभक्त हैं, उसी प्रकार इस ग्रन्थके भी ६४ अध्याय ८ समुल्लासोंमें विभक्त हैं और ८ ही खण्डोंमें प्रकाशित हुए हैं। पहले इस महाग्रन्थका नाम 'श्रीसत्यार्थविवेक' रक्खा गया था; किन्तु पीछेसे इसके विशाल आकार-प्रकारको देखते हुए 'श्रीधर्मकल्पद्रुम' रक्खा गया और इसके समुल्लासोंका नाम 'काण्ड' रख दिया गया। सनातन-धर्मका यह एक अपूर्व विश्वकोष कहा जा सकता है। इसके प्रथम समुल्लासोंमें धर्म, दानधर्म, तपोधर्म, कर्म-यज्ञ, उपासना-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ और महायज्ञ ये सात विषय समाविष्ट हुए हैं। 'धर्म' शीर्षकमें धर्मके विराट् स्वरूप, धर्माङ्गनिर्णय, सनातनधर्मके सर्वधर्म पितृत्व और धर्म-प्रचारका विषय वर्णित है। 'दानधर्म' में विविध दानके लक्षण, सात्विक दानकी महिमा और तामसिक दानका कुफल बताकर आधुनिक दानकी समीक्षा की गयी है। 'तपोधर्म' में विविध तपके लक्षण, तपोमहिमा, मानसिक तप, वाचनिक तप और शारीरिक तपके लक्षण बताये गये हैं। 'कर्मयज्ञ' में कर्मकी महिमा, कर्मसे विविध लोकोंकी प्राप्ति, नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक कर्म, सकाम-निष्कामकर्म और कर्मकी गहन गतिका विवरण है। 'उपासना-

यज्ञ'में उपासनाका लक्षण और स्वरूप, परमात्माकी आनन्दसत्तासे उपासनाका सम्बन्ध, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, ब्रह्मके सगुण-निर्गुणरूप, चार योगोंकी सहायतासे उपासनाकी क्रमोन्नति, अवतार-ऋषि-देव-पितर-प्रेतादि विभूतियोंकी उपासना, भक्ति और योग तथा कर्म और ज्ञानमें उपासनाकी उपकारिता समझायी गयी है। 'ज्ञानयज्ञ'में ज्ञानका स्वरूप और महिमा, सप्तज्ञान और अज्ञानभूमियाँ, तटस्थज्ञान और स्वरूपज्ञान तथा श्रीगीतोक्त सुख, बुद्धि, धृति और ज्ञानके लक्षण बताये गये हैं। 'महायज्ञ'में यज्ञ और महायज्ञके विज्ञान तथा ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञके स्वरूप तथा फलका निर्णय किया गया है। यहीं प्रथम समुल्लास समाप्त होता है।

दूसरे समुल्लासमें वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद तथा ऋषि और पुस्तक ये आठ एवं साधारण-धर्म, विशेषधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, और नारीधर्म ये चार, सब मिलाकर बारह विषय आ गये हैं। 'वेद' शीर्षकमें वेदोंका स्वरूप और आविर्भाव, वेदोंकी अपौरुषेयता, वेदईश्वरकृत और पूर्ण क्यों हैं? वेदके इन्द्र-वरुण आदि देवताओंका रहस्य, मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक भेदसे चार वेदविभागों और शाखाओंका निर्णय, ब्राह्मणभाग स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण, इसका विवरण देकर अन्तमें निष्कर्ष बताया गया है। 'वेदाङ्ग'में षड्ङ्गोंकी आवश्यकता और शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिषका स्वरूपवर्णन, फलज्योतिषकी सत्यता बताकर निष्कर्षनिर्णय किया गया है। 'दर्शनशास्त्र'में जो वेदोपाङ्ग है—प्राच्य और प्रतीच्य-दर्शनोंकी समीक्षा कर न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसाके रहस्यका वर्णन करते हुए सप्तज्ञान-भूमियोंका विस्तृत दार्शनिक वर्णन किया गया है। 'स्मृतिशास्त्र'में

स्मृतियोंकी आवश्यकता और संख्या, स्मृतियोंमें मतभेदका कारण स्मृतियोंका सार्वभौमत्व और उनका जातीय जीवनसे सम्बन्ध बताया गया है। 'पुराणशास्त्र'में पुराणोंकी नित्यता और वेदप्रामाण्य, पुराणके लक्षण; भेद और संख्या, पुराण नवीन हैं या प्राचीन? पुराणके सम्बन्धमें होनेवाले, सन्देहोंका निराकरण, पुराणकी त्रिविधभाषाओं और भावोंमें पूर्णता, रामलीलाका आधिभौतिक स्वरूप, श्रीकृष्णचरित्रकी पूर्णता और अपूर्वता, गोपियोंका चरित्र, रासलीलाका आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप, देवासुर-संग्राम और गङ्गाजीकी महिमा तथा पुराणकी सर्वतोमुखी पूर्णताका वर्णन किया गया है। 'तन्त्रशास्त्र'में तन्त्रोंका विराट् स्वरूप, तन्त्रोंमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय शक्तिका तत्त्व-निर्णय, तन्त्रविरुद्ध संदेहोंका हेतु और तान्त्रिक साधनोंके साथ युगधर्मके सम्बन्धका वर्णन किया गया है। 'उपवेद'में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेदका विवेचन है। 'ऋषि और पुस्तक'में ऋषियोंके श्रेणिभेद और मन्वन्तरानुसार उनकी संख्या, ऋषिका लक्षण और अध्यात्मराज्यपर उनका अधिष्ठातृत्व, ज्ञानमहिमा और ज्ञानाधारभूत पुस्तकोंके पाँच भेद विवेचित हुए हैं। यहीं ४६६ पृष्ठोंमें प्रथमखण्ड समाप्त होता है।

द्वितीय समुल्लासमें 'साधारण धर्म और विशेषधर्म' शीर्षकमें साधारण धर्मसे क्रमोन्नति, विशेषधर्मका स्वरूप, साधारणधर्म, विशेषधर्म और असाधारण धर्मके भेद तथा रहस्य का कथन किया गया है। 'वर्णधर्म'में वर्णधर्मके साथ त्रिगुणमयी प्रकृतिका मौलिक सम्बन्ध, चतुर्विध जीव सृष्टिमें प्राकृतिक चार वर्णोंकी व्यवस्था, शकुनशास्त्रका विज्ञान, समष्टि सृष्टिमें युगानुसार वर्ण-धर्म-विपर्ययका रहस्य, जन्मना या कर्मणा वर्ण-निर्णय, वर्ण-व्यवस्थाके

न रहनेसे हानि-लाभ और वर्णधर्मके आदर्शका विचार किया गया है। 'आश्रम धर्म'में आश्रमधर्मका उद्देश्य, ब्रह्मचर्यमहिमा, गार्हस्थ्य कर्तव्य, दाम्पत्य प्रेम, वानप्रस्थधर्म, संन्यासधर्म और कर्मोपासना-ज्ञानके सामञ्जस्यसे संन्यासकी पूर्णताका वर्णन किया गया है। 'नारी-धर्म'में नारीधर्मविज्ञान और पुरुष-धर्मसे उसकी विशेषता, स्त्रीयोनिसे मुक्तिकेलिये पातिव्रत्य, कुमारीका लक्षण और शिक्षण, विवाहकाल, गृहिणी-धर्म, सतीधर्मके साथ लज्जाका सम्बन्ध, परदा-प्रथा, बिधवा-धर्म, एकपतिव्रतका विज्ञान, नियोग, विधवा विवाहका परिणाम, अन्य जातीय नारियोंसे आर्यनारियोंकी बिशेषता, क्षत और अक्षतयोनि विधवाओंका पत्यन्तरग्रहण, वैधव्यधर्म पालनकी विधि, विधवाका गौरव और बहुविवाहके विषयमें स्त्रीधर्मसे पुरुषधर्मकी विशेषताकी समीक्षा की गयी है। ७५० पृष्ठोंमें यहीं इस ग्रन्थका द्वितीय समुल्लास और द्वितीय खण्ड समाप्त होता है।

तृतीय समुल्लासमें आर्यजाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति-धर्म तथा अपद्धर्म इन पाँच विषयोंका समावेश किया गया है। 'आर्यजाति'में अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषता, आर्यजातिका लक्षण, आर्यजातिका आदि निवासस्थान, 'हिन्दू' शब्दपर विचार और आर्यजातिकी सर्वाङ्गीण पूर्णतापर विचार किया गया है। 'समाज और नेता' में सामाजिक जीवनकी चिरस्थितिका कारण, सामाजिक नेताओंका श्रेणिविभाग, हिन्दू-समाजकी वर्तमान दुर्दशा, योग्य नेताके लक्षण, सामाजिक नेताके दस कर्तव्य, जातीय मौलिकता, भाव, भाषा, आचरण, चरित्र, शिक्षा, अनुकरणशून्यता, गुण-पक्षपात, एकता और अनुशासन व्यवस्थाके साथ सामाजिक उन्नतिका अविच्छिन्न सम्बन्ध, इन बातोंका ऊहापोह किया गया

है। 'राजा और प्रजाधर्म' में आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समताके साथ जागृतिक स्थिति और उन्नतिका सम्बन्ध, राज्य-शासन-प्रणालीके चार भेद, राजा और प्रजाका स्वरूप तथा परस्परके प्रति कर्तव्य एवं राजधर्मका वर्णन किया गया है। 'प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्तिधर्ममें प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्मका स्वरूप और एक लक्ष्यता, चन्द्रगति और सूर्यगति, प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्मके अनु-सार कर्मयोगीकी मुक्ति और जीवन्मुक्तिकी अवस्थाके भेद एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्मकी व्यापकता तथा वर्णाश्रम और नारीधर्मके साथ उनका स्वाभाविक सम्बन्ध वर्णित हुआ है। 'आपद्धर्म' में आपद्धर्मका लक्षण और भावके साथ उसका सम्बन्ध, भावतत्त्वका गूढ़ार्थ, आपद्धर्मके साथ पात्रका सम्बन्ध, आपद्धर्मके साथ देश और कालका सम्बन्ध, देश-काल-पात्रानुसार आपद्धर्मके पालनका अनु-शासन, महर्षि विश्वामित्र आदिके उदाहरण और देश-कालानुसार आपद्धर्मके विधानपर विचार किया गया है। यहीं तृतीय समुल्लास समाप्त होता है।

चतुर्थ समुल्लासके प्रथम दो अध्यायोंमें भक्ति और योग तथा मन्त्रयोग ये दो विषय विवेचित हुए हैं। 'भक्ति और योगमें भक्तिका लक्षण, भक्तिके अधिकार, भक्तिकी महिमा, भक्तिके भेद, नौ अङ्गोंमें विभक्त वैधीभक्ति, रागात्मिका भक्ति, रागात्मिका भक्तिके सात गौण रस और सात मुख्य रस, पराभक्तिका लक्षण और महिमा, भक्ति और योगका सम्बन्ध तथा चतुर्विध योगों और उनके अष्टाङ्गोंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। 'मन्त्रयोग' में मन्त्र-योगका लक्षण, भावके साथ नाम-रूपका सम्बन्ध, प्रतिमापूजन, पञ्चदेव तथा अन्य देव-देवियोंकी मूर्त्तियोंका रहस्य, शिवलिङ्ग रहस्य, ईश्वरकी पञ्चोपासनारूपसे पञ्चधा पूजाका कारण, प्रतिमामें प्राण-प्रतिष्ठा, सगुणोपासना, मूर्त्तिपूजापर होनेवाले

आक्षेपोंका निराकरण, मूर्त्तिस्थापना और मूर्त्तिपूजासे अनन्त कल्याण, ॐकारसे दिव्यमन्त्रोंकी उत्पत्ति तथा मन्त्रोंके साथ देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध, ॐकार महिमा, जीवशरीरके साथ मन्त्रोंका सम्बन्ध, मन्त्रशक्ति, मन्त्रमहिमा और मन्त्रोंसे सिद्धि-प्राप्तिका कारण, नामोपासना और मन्त्रयोगके षोडश अङ्गोंका वर्णन किया गया है। यहीं चतुर्थ समुल्लासके दो अध्याय और ११२२ पृष्ठोंमें तृतीय खण्ड समाप्त होता है।

चतुर्थ समुल्लासके शेष पाँच अध्यायोंमें हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा तथा वैराग्य और साधन ये पाँच विषय गुम्फित हुए हैं। 'हठयोग'में अष्टाङ्गयोगकी प्रामाणिकता, हठयोगका लक्षण, हठयोगके सप्ताङ्ग, प्रथमाङ्ग षट्कर्म, द्वितीयाङ्ग आसन, तृतीयाङ्ग मुद्रा, चतुर्थाङ्ग प्रत्याहार, सिद्धियाँ, पञ्चमाङ्ग प्राणायाम, षष्ठाङ्ग ध्यान और सप्तमाङ्ग समाधिका वर्णन है। 'लययोग'में लययोगका लक्षण, लययोगाङ्ग, लययोगके नौ अङ्ग, प्रथमाङ्गनियम, द्वितीयाङ्गनियम, तृतीयाङ्ग स्थूलक्रिया, चतुर्थाङ्ग-सूक्ष्मक्रिया, स्वरोदय, पञ्चमाङ्ग प्रत्याहार, नादक्रिया, षष्ठाङ्ग धारणा, षट्चक्रभेदन, सप्तमाङ्ग ध्यान, अष्टमाङ्गलयक्रिया और नवमाङ्ग समाधिका वर्णन है। 'राजयोग'में राजयोगका लक्षण और साधनक्रम, राजयोगका अष्टाङ्ग साधन, राजयोगाङ्ग, राजयोगके सोलह अङ्ग, सप्तज्ञान भूमियोंके अनुसार सप्ताङ्ग, उपासना और कर्मयोगभूमि, दो प्रकारकी धारणा, तीन प्रकारका ध्यान, राजयोगकी समाधि, समाधिका लक्ष्य और राजयोगसिद्ध महात्माके जीवनमें कर्मोपासना ज्ञानाधिकार इन विषयोंका वर्णन हुआ है। 'गुरु और दीक्षा'में मुक्तिपथमें गुरुका प्रयोजन, 'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्ति, गुरुके साथ ईश्वरका कार्य कारण सम्बन्ध, आचार्य और गुरु शब्दका पार्थक्य, गुरुदेव-महिमा, गुरु-सेवाफल, गुरुसेवा-

विधि,—गुरु-शिष्यलक्षण और दीक्षाविधिका वर्णन हुआ है। 'वैराग्य और साधन'में वैराग्यका लक्षण, वैराग्यकी उत्पत्तिका कारण, विषयसुखका स्वरूप, विषयी मनुष्यका मरणकालीन दुःख, मरणोपरान्त विषयी मनुष्यको प्रेतत्वकी प्राप्ति, आतिवाहिक देहमें नरकादि दुःख, स्वर्ग सुखके साथ दुःखोंका सम्बन्ध, गर्भवास और प्रसवकालीन दुःख और वैराग्यप्रशंसा तथा वैराग्यके साथ साधनाका सम्बन्ध इन विषयोंका वर्णन हुआ है और यहीं चतुर्थ समुल्लास समाप्त होता है।

पञ्चम समुल्लासके प्रथम दो अध्यायोंमें आत्मतत्व और जीवतत्व ये दो ही विषय विवेचित हुए हैं। 'आत्म-तत्त्वमें ब्रह्म-ईश्वर-विराट् तत्त्व, आत्मज्ञान-प्रशंसा, देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, प्राणात्मवाद, मनआत्मवाद, परमात्माका सच्चिदानन्दस्वरूप, परमात्माका अध्यात्मभाव (निर्गुण ब्रह्मभाव), परमात्माका अधिदैवभाव (सगुण ईश्वरभाव), परमात्माका अधिभूत भाव (विराट् भाव) और आस्तिक सप्तदर्शनोंकी सप्तज्ञान-भूमियोंके अनुसार ईश्वर-सत्ताका प्रतिपादन किया गया है। 'जीवतत्त्वमें' जीवके स्वरूपके विषयमें अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद, जीवकभावके विकाशका रहस्य, अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवादका समन्वय, जीवात्माका परिणाम, जीवात्माकी शरीर-त्रयोपाधि, संस्कारानुसार उद्भिदादियोनिक्रमसे मुक्ति-पर्यन्तकी जीव-गति और सप्तदर्शनोंकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार जीवका स्वरूप कथन किया गया है। यहीं पञ्चम समुल्लासके प्रथम दो अध्यायोंके साथ १४९६ पृष्ठोंमें इस महाग्रन्थका चतुर्थ खण्ड समाप्त होता है।

इस ग्रन्थके पञ्चम खण्डमें पञ्चम समुल्लासके प्राण और पीठ-तत्त्व, सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तत्त्व, ऋषि, देवता और पितृतत्त्व और अवतारतत्त्व इन चार विषयोंका विवेचन किया गया है। प्राण और

पाठ-तत्व'में प्राणका लक्षण, पाश्चात्योंका मत, आर्यशास्त्रानुसार प्राणका स्वरूप, समष्टि प्राणकी महिमा, व्यष्टिप्राणकी महिमा, पीठका लक्षण, गर्भाधान, परलोकगत आत्मा तथा देवताओंके आकर्षणार्थ पीठासन, सम्मोहनक्रिया, प्राणविनिमय, शवसाधन, तान्त्रिक उपासना और चक्र आदिके साथ पीठका सम्बन्ध वर्णित हुआ है। 'सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तत्त्व'में अनन्त सृष्टि-विलास, सृष्टिका कारण, सृष्टिकी पूर्व-अवस्था, सृष्टिके विषयमें आधुनिक विज्ञान-शास्त्रका मत आर्यशास्त्रानुसार पाँच-भौतिक सृष्टि-तत्त्व, ज्योतिःशास्त्रके अनुसार स्थूल ब्रह्माण्ड, जड़-चेतनात्मक जीवसृष्टि और दैवी सृष्टि, सृष्टि-तत्वके विषयमें सप्तदार्शनिक मतोंका सामञ्जस्य, सृष्टिके विषयमें अनेक उपधर्मों तथा पाश्चात्य पण्डितोंका मत, स्थितितत्त्व, स्थितिकार्यमें धर्म-शक्तिका विचित्र विलास, चतुर्विध प्रलय, ब्रह्माण्डकी आयु, नैमित्तिक प्रलय और प्राकृतिक प्रलयका वर्णन है। 'ऋषि, देवता और पितृतत्त्व'में अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत त्रिविध शक्तियोंके अनुसार ऋषि, देवता और पितरोंको स्वरूप, सृष्टिकर्ता ब्रह्माका स्वरूप, उनकी पूजा क्यों नहीं होती? देवियोंका स्वरूप और उनका देवोंके साथ सम्बन्ध, देवताओंके स्वरूप और उनकी संख्या, देवताओंके नित्य-नैमित्तिक भेद और नैमित्तिक देवताओंका स्वरूप, दैवराज्य और देवताओंके विषयमें बौद्धादि साम्प्रदायिकोंका भ्रम, जन्मान्तर-प्रदान-कार्यमें देवता और पितरोंका सम्बन्ध तथा इस विषयमें टीकाकारोंका भ्रम, नित्य-पितरोंका स्वरूप तथा कार्य; नित्य,ऋषियोंके स्वरूप; उनके सात विभाग-नैमित्तिक अवतार तथा क्रियाकलापोंका विवरण दिया गया है। अवतारतत्त्वमें अवतारका लक्षण; श्री भगवानकी कलाओंके विकाशके तारतम्यानुसार चतुर्विध जीव योनियोंमें शक्तिके विकाशकी महिमा, मनुष्य-

योनिमें विभूतिरूपसे भगवत्कलाका विकाश तथा विभूतियोंका धर्मोन्नतिकारी कार्यकलाप, श्रीभगवान्‌की नौ कलाओंसे अवतारकोटिका प्रारम्भ और अवतारोंके भेद, अवतारोंके प्रकट होनेमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन कारण, मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन तथा परशुराम अवतारका वर्णन, राम-सीताके प्रकट होनेका कारण, रामावतार और श्रीरामचन्द्रके आदर्शचरित्रकी विस्तृत आलोचना तथा उनके चरित्रके विषयमें अर्वाचीन विद्वानोंकी विविध शङ्काओंका समाधान, रामके सहायक वानर आदिका स्वरूप तथा बालिवधका रहस्य, सीताके चरित्रमें पातिव्रत्यका आदर्श, पूर्णावतारके साथ अंशावतारोंके स्वरूपों तथा क्रियाकलापोंके नाना भेद कृष्णावतारके प्रकट होनेका कारण; कृष्ण और बलरामका जन्म; कृष्णावतारके साथ ब्रजबालकों और ब्रजगोपियों आदिका प्राक्तन दैव सम्बन्ध तथा श्रीकृष्णार्जुनका पूर्वजन्म, कृष्ण और बलरामकी अवतारलीला, कृष्णावतारमें कर्मयोग, कृष्णावतारमें उपासनायोग, कृष्णावतारमें ज्ञानयोग, बुद्धावतार, कल्की अवतार, दशावतारोंके विषयमें वेद-शास्त्रोंका प्रामाण्य, विशेष-अविशेष नित्यावतारों एवं ऋषि और देवताओंके अवतारोंका विवरण तथा अवतारतत्त्वका सिंहावलोकन किया गया है। यहीं १८९४ पृष्ठोंमें इस महाग्रन्थका पञ्चम खण्ड समाप्त होता है।

श्रीधर्मकल्पद्रुमके षष्ठखण्डमें दस विषयोंका समावेश हुआ है। यथा :—१—माया-तत्त्व, २—त्रिगुणतत्त्व, ३—त्रिभावतत्त्व, ४—कर्मतत्त्व, ५—मुक्तितत्त्व, ६—पुरुषार्थ और वर्णाश्रम, ७—भारतीय वैदिक-दर्शन, ८—धर्मसम्प्रदाय, ९—धर्म-पन्थ और १०—धर्म-मत। इन दसों विषयोंकी इस खण्डमें विस्तृत समीक्षा की गयी है, जो जिज्ञासुओंके लिये बड़े कामकी वस्तु है।

'माया-तत्त्व'में ब्रह्मशक्ति महामायाका अधिदैव रहस्य तथा उनकी परा और अपरा शक्ति, महामायाकी चार अवस्थाएँ, सप्तशती और श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार परा और अपरा प्रकृति, बन्धमोक्षदायिनी अविद्या और विद्या, मायाके सम्बन्धसे सगुण-निर्गुण ब्रह्मभाव, महामायाके विभिन्न भावोंके अनुसार सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी लीला और सप्तदर्शनोंकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार मायाके स्वरूपका वर्णन किया गया है। 'त्रिगुण-तत्त्व' में त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका लक्षण, त्रिगुणोंका स्वरूप, परिणाम और कार्य, त्रिगुणोंके अनुसार दान, तप, यज्ञ, कर्म, कर्ता, भक्ति, श्रद्धा, उपासना, उपासक, ज्ञान, बुद्धि, धृति, प्रतिभा, पुरुषार्थ, आनन्द, सुख और त्यागका लक्षण, त्रिगुणानुसार भयानक, रोचक और यथार्थ संज्ञक त्रिविध वचनों, त्रिविध पौराणिक भाषाओं और त्रिविध अहङ्कारोंका लक्षण, जड़चेतनात्मक जगत्के प्रत्येक पदार्थ तथा भावमें त्रिगुणोंका लीलाविलास, त्रिगुणोंका पारस्परिक सम्बन्ध, लक्षण तथा विकाशक्रम, गुणपरीक्षा और गुणानुसार जीवगतिका विवेचन तथा त्रिगुण भेदानुसार उपासनाओं और विविध वृत्तियोंका रहस्य बताकर त्रिगुणातीत होनेका उपाय निर्द्धारित किया गया है।

'त्रिभाव-तत्त्व' में साधन-राज्यमें भावकी परमावश्यकता, सृष्टि-दशामें परमात्माके साथ भावका सम्बन्ध, वेदके काण्डत्रयके साथ भावत्रयका सम्बन्ध, भाववैचित्र्यके अनुसार चित्रवृत्ति-वैचित्र्य और जीवजगत्में क्रियावैचित्र्य, कर्म, उपासना तथा ज्ञानयज्ञमें भावानुसार सिद्धिका तारतम्य, सृष्टि-स्थिति-प्रलय क्रियाके साथ त्रिविध भावों और शक्तियोंका सम्बन्ध, शुद्धभावके आश्रयसे किस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति होती है तथा असत् वस्तु भी कैसे सत् बन जाती है, कारण-ब्रह्मके भावत्रयानुसार कार्यब्रह्मके प्रत्येक

अङ्गमें भावत्रिययका सम्बन्ध और मुक्तिके साथ भावतत्त्वका सम्बन्ध वर्णित हुआ है।

'कर्म-तत्त्व'में कर्मोत्पत्तिका विज्ञान और कर्मका स्वरूप, कर्मके जैव, ऐश और सहजरूपसे तीन भेद और उनके लक्षण, कर्म बीजरूपी संस्कारोंके त्रिविध भेद और त्रिविध कर्मोंका अतिगहन रहस्य बताया गया है।

'मुक्तितत्त्व' में जीवमें मुमुक्षुभावके उत्पन्न होनेका कारण, मुक्तिपदवी या प्रतिष्ठाके लाभका क्रम, मुक्तिके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंके सन्देहका निवारण, कर्म, उपासना और ज्ञानके अनुसार मुक्तिके विविध प्रकार और भेद, मुक्तिसे पुनः प्रत्यावर्तन आदि असम्बद्ध युक्तियोंका भ्रमनिवारण तथा वैदिक सप्त दार्शनिक भूमियोंके अनुसार मुक्तिके स्वरूपका निर्णय किया गया है। यहीं इस महाग्रन्थके पाँच समुल्लास पूर्ण होते हैं।

छठे समुल्लासके 'पुरुषार्थ और वर्णाश्रम' प्रबन्धमें पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के साथ वर्णचतुष्टय (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) का स्वाभाविक सम्बन्ध, सनातनधर्मके चार पाद, उनमें से द्वितीयपादरूपी विशेष धर्मके अन्तर्गत वर्णाश्रम-धर्मके साथ जातीय बीज-रक्षाका सम्बन्ध, वर्णाश्रमधर्मकी सार्व-भौम उपकारिता सिद्ध करनेवाला श्री शम्भुगीताका एक चित्र, जीवकी विविध गति, अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) के साधन-पथमें वर्णाश्रमधर्मकी अनन्य उपकारकारिता, पृथ्वीके समस्त मानवसमाजोंमें चातुर्वर्ण्यका सम्बन्ध और चतुर्विध पुरुषार्थके लक्ष्यकी विवेचना की गयी है। 'भारतीय वैदिक दर्शनोंकी समीक्षा' में दर्शनोंकी महिमा एवं उनके स्वाभाविक सात भेद, कारण-कार्यरूपसे सृष्टिमें सर्वत्र तीन और सात भेद, सात ज्ञान-भूमियाँ और सात अज्ञान-भूमियाँ, सात दार्शनिक ज्ञानभूमियोंमें

मुमुक्षुकी उन्नतिका क्रम, दार्शनिक विरोधाभाससम्बन्धी शङ्काओंका निराकरण, अधम-मध्यम-उत्तम अज्ञान-भूमियोंके साथ आर्येतर समस्त दार्शनिक सिद्धान्तोंका सम्बन्ध और सप्तज्ञान तथा सप्त अज्ञानभूमियोंके निदर्शक महाकाशगोलकका वर्णन किया गया है।

'धर्मसम्प्रदाय' शीर्षकमें श्रीसनातनधर्मका कल्पवृक्षके समान सार्वभौम स्वरूप, ज्ञानराज्यके विस्तारमें पाँच प्रकारकी पुस्तकें, धर्मसम्प्रदाय, धर्मपन्थ और धर्ममतके पृथक्-पृथक् लक्षण, धर्मसम्प्रदायोंका वैदिक आधार और स्वरूप तथा सगुण पञ्चोपासनाके पञ्च सम्प्रदायोंकी समीक्षा की गयी है। 'धर्मपन्थ'में धर्मपन्थका लक्षण तथा उनकी उत्पत्तिका कारण, रामानन्दी-पन्थ, कबीर-पन्थ, दादूपन्थ, रामसनेही-पन्थ, बाऊल-पन्थ, गोरखपन्थ, नानक-पन्थ, रामदासी-पन्थ, लिङ्गायत पन्थ, स्वामी नारायण-पन्थ और दशनामी-पन्थका निरूपण किया गया है।

'धर्ममत समीक्षा' में धर्ममत लक्षण और धर्ममतोंका एक ही लक्ष्य, सनातनधर्मके उदार और सार्वभौम सिद्धान्तोंमें ईसाई, मूसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी (इसराइल), बौद्ध, जैन आदि सभी धर्ममतोंका अन्तर्भाव, विशेष धर्मराज्यमें विरोधाभासका निराकरण, मुस्लिम धर्ममतके साथ आर्यधर्मके भक्ति जैसे विषयकी आंशिक समता, आर्यधर्मके साथ यहूदी धर्ममतका आंशिक सिद्धान्त-सामञ्जस्य, पारसी धर्ममतके साथ आंशिक सिद्धांत-सामञ्जस्य, ईसाई धर्ममतके साथ आंशिक सिद्धान्त-सामञ्जस्य और सनातनधर्मकी सार्वभौम उदारताकी समीक्षा की गयी है। यहीं इस महाग्रन्थका छठाँ खण्ड समाप्त होता है।

'श्रीधर्मकल्पद्रुम' के सप्तम खण्डमें १—चतुर्दश लोक-समीक्षा, २—परलोकसमीक्षा, ३—जीवन्मुक्तिसमीक्षा, ४—सदाचार,

५—षोडशसंस्कार, ६—श्राद्धतर्पण, ७—पञ्चमहायज्ञ, ८—सन्ध्या गायत्री और ९—ॐकार-महिमा, इन नौ विषयोंका समावेश हुआ है।

परलोक तथा चतुर्दशभुवनोंके विषयमें गवेषणा-परायण पश्चिमी विद्वानोंकी अनुसन्धित्साको बढ़ती हुई देखकर उनकी शिक्षासे दीक्षित भारतवासियोंके हितार्थ इस खण्डमें प्राच्य-प्रतीच्य मतोंको उद्धृत कर इन रहस्यपूर्ण विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। साथ ही श्राद्ध, तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, सन्ध्या, गायत्री, प्रणव आदि विषयोंका गूढ़ रहस्यपूर्ण गम्भीर तत्त्व युक्ति-प्रमाणोंके साथ बताया गया है। सबकी क्रिया-विधियोंका भी निर्देश किया गया है। सोलह संस्कारोंमेंसे प्रत्येक संस्कारका विज्ञान तथा क्रिया-कलाप बताकर वैदिक संस्कारोंके प्रचारकी सुविधा कर दी गयी है। यह खण्ड गृहस्थाश्रमके उपयोगी विषयोंसे परिपूर्ण होनेके कारण प्रत्येक गृहस्थके लिये संग्रहणीय हुआ है।

इस सप्तम खण्डकी 'चतुर्दशलोक-समीक्षा' में लोक-रहस्य, सप्तद्वीप तथा नौ वर्ष, चतुर्दश भुवन, सप्त अधोलोक और उनके अधिवासी, सप्त ऊर्ध्वलोक और उनके अधिवासी तथा चतुर्दश लोकोंके उत्पत्ति-विनाशकी समीक्षा की गयी है। 'परलोक-समीक्षा'में परलोकपर विश्वासकी नैसर्गिकता, परलोकके विषयमें पश्चिमी विद्वानोंका अनुसन्धान, परलोकके विषयमें प्राचीन आर्य-शास्त्रका सिद्धान्त, प्रेतलोक तथा प्रेतोंका स्वरूप, नरकलोक तथा नारकियोंका स्वरूप, पितृलोक तथा पितरोंका स्वरूप और परलोक-विज्ञानके रहस्यका वर्णन किया गया है।

'जीवन्मुक्ति समीक्षा'में जीवन्मुक्तकी विचित्र स्थिति, जीवन्मुक्त जीवनमें कर्मरहस्य, जीवन्मुक्तके दो भेद, जीवन्मुक्त जीवनकी अलौकिक विचित्रता तथा विदेह मुक्तिके रहस्यका विवेचन किया

गया है। 'सदाचार' शीर्षकमें सदाचारका लक्षण, सदाचारके साथ जातीय जीवन तथा ब्रह्मतत्त्वका सम्बन्ध, प्रातःकृत्य, मध्याह्न-कृत्य, भोजनमें भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य, दृष्टिदोष, भोज्यपदार्थोंके गुणावगुण, मध्याह्नोत्तर तथा रात्रि-कृत्य और सदाचारकी विज्ञान-मूलकतापर विचार किया गया है। 'षोडशसंस्कार'में संस्कार-महिमा तथा प्रकार भेद, गर्भाधानसे लेकर चूडाकरणतक प्रथम सात संस्कार, उपनयनसंस्कारका रहस्य, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत और समावर्तन संस्कार और अग्न्याधान, दीक्षा, महादीक्षा तथा संन्यास-संस्कारका महत्त्व बताया गया है। 'श्राद्ध-तर्पण'में सप्रमाण श्राद्ध-महिमा, श्राद्धलक्षण, श्राद्धकृत्य, श्राद्धकाल, श्राद्धमें मन, मन्त्र, द्रव्य तथा ब्राह्मण-भोजनका विज्ञान, श्राद्धविज्ञानकी व्यापकता तथा तर्पणका वर्णन किया गया है। 'पञ्चमहायज्ञ'में नित्यकर्मके अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञानुष्ठान, देवयज्ञानुष्ठान, भूतयज्ञानुष्ठान और नृयज्ञानुष्ठानकी विधि बतायी गयी है।

'सन्ध्या-गायत्री' में सन्ध्योपासनकी महिमा, सन्ध्याका लक्षण और कालनिर्णय, सन्ध्याके अन्तर्गत दशविध कृत्योंका रहस्य, गायत्री महिमा, गायत्रीका अर्थ तथा उसके अन्तर्गत प्रत्येक शब्दका तात्पर्य और गायत्रीजपकी विधि तथा फल वर्णित हुआ है। अन्तिम 'ॐकार महिमा' में प्रणवके त्रिभाव, सप्रमाण प्रणव, सार्द्धत्रिपाद, प्रणव-माहात्म्य तथा प्रणवकी स्तुति की गयी है। यहीं २४३० पृष्ठोंमें यह सप्तम खंड समाप्त होता है।

इस महान् ग्रन्थके अन्तिम अष्टम खण्डमें प्रकीर्ण विषयोंका समावेश किया गया है। इसके दस अध्याय हैं। यथा:— १—गोमहिमा, २—व्रतोत्सवमहिमा, ३—तीर्थमहिमा, ४—संगीतशास्त्र, ५—भाषाविज्ञान, ६—शिक्षा समालोचना, ७—

राजनीतिक जगत्, ८—उन्नतिका आदर्श, ९—आर्यजीवन और १०—उपसंहार।

'गोमहिमा' में आर्यशास्त्रानुसार गोजातिका सर्वोच्चस्थान, गोमाताकी विशेषशक्ति, विज्ञानानुसार गव्य द्रव्योंकी विशेषता, गोमय-गोमूत्र-गोरोचन आदिकी महिमा और गोवंशनाशके कारण बताये गये हैं। 'व्रतोत्सवमहिमामें व्रतलक्षण तथा व्रतभेद, व्रताधिकार-निर्णय, नित्य-नैमित्तिक व्रत तथा प्रायश्चित, काम्यव्रत, व्रतोंसे त्रिविध लाभ, व्रतोंसे शिक्षा, व्रतोंमें कुरीति और उत्सव-महिमाका वर्णन किया गया है। 'तीर्थमहिमा' में तीर्थ-लक्षण तथा तीर्थादितीर्थ यात्रासे लाभ, शिवशक्ति-पीठ, काशीतीर्थ-महिमा तथा काश्यां तु मरणान्मुक्तिः' पर विचार, प्रयागमाहात्म्य, गया-माहात्म्य, मथुरा-माहात्म्य, अन्यान्य प्रधान तीर्थ और तीर्थ-सुधारपर प्रकाश डाला गया है। 'संगीतशास्त्र' में संगीतकी महिमा और व्यापकता, संगीतका प्राचीन इतिवृत्त, संगीतोत्पत्ति तथा रागलक्षण, मार्गी तथा देशी संगीत तथा नादलक्षण, स्वर तथा मूर्च्छनाका लक्षण, राग-रागनियोंके ध्यान तथा उनके गानका समय, वाद्यकला, ताल, लय तथा वाद्य-यन्त्रोंके विविध भेद, नृत्यकला और नृत्यकलाके विविध भेद वर्णित हैं।

'भाषाविज्ञान' में भाषा-लक्षण तथा भाषा-महिमा, ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक भाषाका आदि-विकाश, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंकी उत्पत्ति, सभ्यताके क्रमविकाशके अनुसार भाषाकी उन्नति, देवनागरी आदि लिपियोंका विकाश, काव्यलक्षण और रसभेद और हिन्दी कवियोंकी जीवनियाँ तथा हिन्दीभाषाकी सार्वजनिकताको सिद्ध किया है। 'शिक्षा-समालोचना' में शिक्षाका विज्ञान और शिक्षाका आदर्श जातीय शिक्षाका प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास, शिक्षाका लक्षण तथा शिक्षाके चार भेद, धर्म-

शिक्षाकी नितान्त आवश्यकता तथा आर्यनारियोंके लिये शिक्षाका आदर्श बताया गया है। 'राजनीतिक जगत' में स्वराज्यका लक्षण चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यसिद्धिका रहस्य, आर्यजातिमें स्वराज्य और पराराज्यका इतिहास, वर्तमान प्रजातन्त्र तथा उसके मूल कारण, आर्यजातिकी प्राचीन प्रजातन्त्रकी नीति और समयानुकूल राजनीतिका वर्णन किया गया है 'उन्नतिके आदर्श' में उन्नतिके विषयमें परस्पर-विरोधी दो मतवाद, 'जाति' शब्दका मौलिक लक्षण, 'उन्नत' शब्दका मौलिक लक्षण, विशेषतामें जातिकी प्राण-प्रतिष्ठा और आर्यजातिकी जातीय विशेषताका वर्णन किया गया है।

'आर्यजीवन' में आर्यजीवनकी विशेषता, आर्यजीवनमें अध्यात्म लक्ष्य, आर्यजीवनमें मंगलमयी शान्ति, आर्य-जीवनमें सरलता, आर्यजीवनमें भौतिक विज्ञानकी गौणता, आर्यजीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान, आर्यजीवनमें सर्वधर्मसमन्वय, आर्य-जीवनमें धर्मकी एकान्तिकता, आर्यजीवनमें देशसेवा और आर्य-जीवनकी वर्तमान दीन-दशाका ऊहापोह किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थराज आठ खण्डोंमें समाप्त कर अन्तमें 'उपसंहार' रूपसे समूचे ग्रन्थका सिंहावलोकन किया गया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो जानेपर इसको नवशिक्षित और प्राचीन विद्वानों-ने बड़े आदरसे अपनाया, इसका कारण इसकी विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता तो यह है कि, इसमें किसी मत-मतान्तर, प्रामा-णिक शास्त्र या विचारका खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु अधिकारानुसार ज्ञानसूत्रमें विवेक-मणियोंकी तरह सबका संग्रथन किया गया है। श्रीजीका यह सिद्धान्त था कि, त्रिगुणके तारत-म्यानुसार विभिन्न अधिकारोंकी अनेक जातियाँ संसार में विद्यमान हैं। उनकी उन्नतिके लिये धर्माचार्यों, धर्ममतप्रवर्तकों और अवता-

रादि रूपसे श्रीभगवानकी विभूतियाँ सर्वत्र स्वतः प्रकट हुआ करती हैं। उनके विरचित धर्मग्रन्थोंमें कुछ मतभेद प्रतीत होनेपर भी जिन जातियोंके लिये वे लिखे गये हैं, उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति और अधिकारानुसार उनकी पूर्ण उपयोगिता है। ईसाई, मूसाई, पारसी आदि धर्मोंके ग्रन्थ इसी श्रेणीमें हैं। उनका इस ग्रन्थमें खण्डन न कर सबकी उपकारिता बताई गयी है और मौलिकताके विचारसे सर्वधर्म-समन्वय भी किया गया है। सनातनधर्मके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदायों और पन्थोंमें जो मतभेद, सिद्धान्त-भेद और आचार-भेद देख पड़ते हैं, उनका ज्ञानभूमियोंके तारतम्यानुसार सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। जीवात्मा, परमात्मा, ईश्वर, प्रकृति, माया आदि तात्त्विक विषयोंमें विभिन्न दर्शनोंमें जो विभिन्न मत पाये जाते हैं, उनका दार्शनिक क्रमोन्नत ज्ञानभूमियों-के अनुसार सबकी सत्यता और उपयोगिता बताकर सबका सामञ्जस्य किया गया है। इसी तरह सामाजिक, धार्मिक, यौगिक आदि विषयोंमें भी किसीका खण्डन न कर सामाजिक तथा वैयक्तिक स्थितिके अनुसार सबकी उपयोगिता सिद्ध की गयी है। प्रकृतिके निम्नस्तरके जीव स्वभावतः देहात्म बुद्धि हुआ करते हैं। उनमें सदाचार, सतीधर्म आदिका अभाव, पुरुषान्तरग्रहण, विवाह-विच्छेद आदिका प्रचलन, इन्द्रियपरता, निकृष्ट विभूतियोंकी उपा-सना, स्पृश्यास्पृश्य, खाद्याखाद्य आदिके विचारकी न्यूनता जैसी निम्नकोटिकी बातें हुआ करती हैं, उनके प्रति उपेक्षा न कर उन्हें अपनी स्थिति समझा देना और क्रमोन्नतिका सोपान दिखा देना युक्तियुक्त है। इस महाग्रन्थमें इसी उदारपन्थका अनुसरण कर निम्नतमसे लेकर उच्चतम अधिकार तक पक्षपातरहित विवेचन किया गया है और उपासना, भक्ति, योग आदि साधन-मार्गोंके विषयमें अङ्गभेद, अधिकार-भेद आदिका दिग्दर्शन कराते

हुए यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इन्हीं कारणोंसे यह ग्रंथ सर्वप्रिय हो सका है।

इस ग्रन्थकी महत्त्वपूर्ण दूसरी विशेषता यह है कि इस समय संसारमें सर्वत्र विज्ञान (साइन्स) का बोलबाला है। साइन्स 'कैसे' (How) तो बताता है, किन्तु 'क्यों' (Why) नहीं बता सकता। यह अध्यात्मविद्या (Philosophy) ही बता सकती है। स्थूल और सूक्ष्म-प्रकृतिकी लीलाको साइन्स और कारण-प्रकृतिके अलौकिक विलासको अध्यात्म-विद्या ही प्रकट करती है। आर्यशास्त्रोंमें लौकिक प्रकृतिराज्य और अलौकिक ब्रह्मराज्य दोनोंका तत्त्व-निरूपण उत्तम तथा सम्पूर्ण रूपसे किया गया है। इसी प्रणालीको अपनाकर इस महाग्रंथमें प्रत्येक विषयकी मीमांसा साइन्स और अध्यात्मविद्याके आधारपर की गयी है। वास्तवमें सनातनधर्म ही पूर्ण विज्ञानानुकूल (Scientific) धर्म है। जगत्में साइन्सकी जितनी-जितनी उन्नति होती जाती है और जितने नये-नये आविष्कार होते जाते हैं, उतनी ही सनातनधर्मान्तर्गत विषयोंकी सत्यता और प्रामाणिकता सिद्ध हो रही है। जो कार्य अब साइन्सके विद्वान् यंत्रोंकी सहायतासे कर रहे हैं, वे सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंने योग-दृष्टिद्वारा पहले ही कर रक्खे हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि वर्तमान देशकालमें समस्त सामाजिक तथा धार्मिक विषयोंका यथार्थ तथ्यनिर्णय, कुरीतियोंकी आलोचना तथा सुधारका उपाय निर्देश और आपद्धर्मकी यथाशास्त्र विवेचनाकी नितान्त आवश्यकता है। श्रीधर्मकल्पद्रुममें बिना पक्षपातके इन सभी विषयोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग पूर्ण हो गया है और यह यथार्थ धार्मिक विश्वकोष हो जानेसे इसका 'धर्मकल्पद्रुम' नाम भी चरितार्थ हुआ है। इस महाग्रन्थके निर्माणमें श्री जीको बारह वर्ष परिश्रम करने पड़े हैं

और वे पूर्णरूपसे सफल हुए हैं। ऐसा ग्रन्थ हिन्दीमें ही क्या, भारतकी अन्य किसी भाषामें अबतक नहीं रचा गया है, विदेशी भाषाओंकी तो बात ही क्या है। श्रीजीने यह ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें रचा, जिससे हिन्दी भाषाकी भी असाधारण श्रीवृद्धि हुई है।

भारतवर्षका इतिवृत्त

कालज्ञान-सम्बन्धी गाथाओंको इतिवृत्त या इतिहास कहते हैं—आधुनिक विद्वन्मन्य लोगोंका प्राचीन लेखकोंपर यह आक्षेप है कि, वे इतिहास लिखना नहीं जानते थे। इसका कारण यह है कि, सूक्ष्म दैवीराज्यका उन्हें ज्ञान नहीं है और स्थूलविज्ञानको ही सब कुछ मान बैठे हैं। लौकिक-अलौकिक सब बातोंको स्थूल दृष्टिसे देखनेका उन्हें अभ्यास हो गया है। उन्हें सोचना चाहिये कि, जगत्के आदि गुरु जो आर्यलोग सब शास्त्रों, विद्याओं और मानवी सभ्यताके सब अङ्गोंके आविष्कर्ता थे, वे इतिहास लिखना न जानें, यह कहाँतक सम्भव है? नवीन सभ्यताके इस युगमें मनुष्योंका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियोंकी तृप्ति ही हो रहा है; परन्तु प्राचीन आर्योंका लक्ष्य आत्माकी ओर था। इन्द्रियपरायण विदेशी गुरुओंकी शिक्षाका ही यह फल है कि, भारतीय नवशिक्षित लोग अपनी प्राचीन सभ्यता, अध्यात्म लक्ष्य और परम्परासे

च्युत होकर अपने पूर्वजोंकी ज्ञानगरिमापर आक्षेप-प्रक्षेप करने लगते हैं। शिक्षित और सभ्यसमाजकी यह दुःखजनक दशा देखकर पूज्यपाद श्रीजीको इस ग्रन्थके लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। परिदृश्यमान स्थूल जगत ही सब कुछ है, इन्द्रिय-सेवाके लिये ही मनुष्य और मनुष्यसमाज अपना अभ्युदय चाहता है, दैवजगत् या पारलौकिक चिन्ताका कोई प्रयोजन नहीं है, इत्यादि भ्रमोंको दूर करनेमें यह ग्रन्थ यथासम्भव सहायता प्रदान करेगा और सूक्ष्मजगतके अस्तित्व, दार्शनिक चिन्ता और आध्यात्मिक विचारका महत्त्व प्रतिपादनकर इतिहासके प्रेमी विद्वानोंको प्रौढ़ चिन्ता करनेका अवसर देगा। इस ग्रन्थके द्वारा ऐतिहासिक जगतमें एक शुभनवीन परिवर्तन होकर जगत्का परम कल्याण होगा।

बात यह है कि, इस समयकी इतिहास लिखनेकी शैलीसे प्राचीन शैली भिन्न थी। वर्तमान शैली यह है कि, काल और पृथ्वीके छोटे-छोटे भागोंतककी घटनावली यथासम्भव एकत्र कर—पक्षपातरहित और पक्षपातसहित प्रकाशित कर दी जाती है। प्राचीन आर्योंकी शैली इससे भिन्न थी। महाभारत युद्धके पूर्वकालके पुराण और इतिहास धर्मग्रन्थ रूपसे प्रकाशित किये जाते थे। उनमें काल और देशके छोटे-छोटे भागोंपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। क्योंकि अनादि-अनन्तकाल और अनादि-अनन्तदेशका विराट्रूप उनके ज्ञाननेत्रोंके सामने सदा बना रहता था। उनका उल्लेख वे प्रतिदिन कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके सङ्कल्पोंमें किया करते थे। वह रीति अब भी यहाँकी सनातनधर्मी जनतामें प्रचलित है। इस महान् काल और विराट् देशकी दृष्टिको आकुंचित करना वे अप्रयोजनीय समझते थे। उस समयके पुराणों और इतिहासोंमें वे ही गाथाएँ लिखी जाती

थीं, जो देवलोक और मनुष्यलोकसे मिली-जुली हों तथा जिनसे लोक-शिक्षा होकर मनुष्यजातिकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक उन्नति हो सके। वेद और वेदसम्मत पुराणादि शास्त्रोंकी भाषाशैली और भावशैलीका रहस्य भी साधारण विद्वानोंके लिये दुर्ज्ञेय है। त्रिविध भाषाओं और त्रिविध भावोंको जो समझते हों, वे ही उस रहस्यको जानकर पुराणादिका यथार्थ अर्थ जान सकते हैं। उसीके अभावसे आजकलके ऐतिहासिक लोग प्राचीन आर्योंपर वृथा आक्षेप-प्रक्षेप किया करते हैं। उक्त तीन भाषाओं और भावोंका विवरण श्रीजीने भूमिकामें ही दे दिया है, जिससे ग्रन्थके समझनेमें सुगमता हो।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके सब मिलाकर बारह अध्याय हैं। यथा:- १—ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष, २—ब्रह्माण्डका मानचित्र, ३—जगद्-गुरु भारतद्वीप, ४—सृष्टिप्रकरण और कालचक्र, ५—मनुष्य-सृष्टिका आदि स्थान और वर्णाश्रमबन्ध, ६—भारतद्वीपका सामाजिक संघटन, ७—वेद और शास्त्रका अनादित्व, ८—भारतद्वीपका-धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा, ९—राजानुशासन विज्ञान, १०—प्राचीन भारतद्वीपकी शिक्षाप्रणाली, ११—रामायण और १२—महाभारत।

'ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष, शीर्षक प्रथम अध्यायमें मनुष्य-शरीरके उदाहरणसे ब्रह्माण्डका स्वरूप, मेरुदण्डके स्थानमें दैवी सुमेरुपर्वत, चतुर्दशभुवन और बिलस्वर्ग, भौमस्वर्ग और दिव्य स्वर्गरूपसे उनके विभाग, सूर्य-चन्द्र आदि स्थूललोक भौम स्वर्गमें हैं, भूलोकके सात द्वीप और सात समुद्र, जम्बुद्वीपके नौ वर्ष, उनमें हमारी पृथ्वीका नाम भारतवर्ष, हिन्दुस्थानका नाम आर्यावर्त या भारतद्वीप, भारतवर्षमें ही मानवपिण्ड और अन्य वर्षोंमें देवपिण्ड

तथा साइकिक रिसर्च करनेवालों और रेडियोयन्त्रसे दैवीजगत्‌की सिद्धि की गयी है।

'ब्रह्माण्डका मानचित्र' में ब्रह्माण्ड-शरीरके ऊपरकी ओर सात ऊर्द्धलोक और नीचेकी ओर सात अधोलोक, हमारी पृथ्वी-ही मृत्युलोक और कर्मभूमि तथा अन्य सब देवलोक और भोग-भूमि, बिलस्वर्ग (सात अधोलोक) के अनुशासक असुरराज, उनकी राजधानी, भुवर्लोक और स्वर्लोककी सन्धिमें ध्रुवलोक, देवराज इन्द्रकी राजधानी और अन्यान्य देवराजधानियाँ, ग्रह-उपग्रह और ध्रुवका स्थान, मनुष्यके मेरुदण्डके समान ब्रह्माण्डमें दैवी पर्वत सुमेरुका स्थान, ब्रह्मपुरीका स्थान, जन-तप और सत्य लोकों-का ब्रह्मलोक, उपासनलोक और ज्ञानलोकसे सम्बन्ध, भूर्लोकादि त्रिलोकोंका विस्तार, भूर्लोकके सात द्वीपोंमें से जम्बुद्वीपका स्थान, उसके चारो ओरके सप्तसमुद्र और सप्तद्वीप, वातावरणरूपी समुद्र, सुमेरु पर्वत और सप्तद्वीपोंके चारों ओरके वातावरणरूपी सात समुद्रोंका स्वरूप, जम्बुद्वीपके नौ वर्षोंको वेष्टित करके सुमेरुकी स्थिति, जम्बुद्वीपमें भारतवर्ष दक्षिणकी ओर, इलावृत वर्ष मध्यमें, उससे सुमेरुका सम्बन्ध, भारतवर्षरूपी पृथ्वीके नौ विभागमें, उनमें हिन्दुस्थानकी स्थिति, मनुष्यशरीर और देवशरीरकी पृथकता, मनुष्य देवशरीरको नहीं देख सकता इसका कारण, उन्नत जीव शरीरोंके देवशरीर, नारकीय शरीर, प्रेत-शरीर और मनुष्यशरीर रूपसे चार भेद, प्रथम तीन तथा असुर-शरीर देव-पिण्ड और चौथा मानव पिण्ड, सहज पिण्डके उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और मनुष्ये-तर जरायुज रूपसे चार भेद, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक-का स्थान, नरकलोककी सीमापर जम्बुद्वीपको चारों ओरसे घेरने-वाला लवणसमुद्र और पदार्थ विद्यासेवियोंको 'ब्रह्माण्डका मान-चित्र' समझानेके लिये निष्कर्षका वर्णन किया गया है।

'जगद्गुरु भारत-द्वीप में भारत-द्वीप (हिन्दुस्तान) में ही आदि मानव सृष्टिके होनेका प्रमाण, अग्रजन्मा ब्राह्मणोंके आदि गुरु होनेसे भारत ही मानव सभ्यताका आदि गुरु, भारतके आदिगुरु होनेका विशेषकारण, भारतीय दर्शनोंका महत्त्व, जीवाणुओंके सम्बन्धमें भारतवासियोंका पूर्वज्ञान, मानवजातिके जानने योग्य सर्वश्रेष्ठ विषयोंके आविष्कर्ता भारत-द्वीपवासी ब्राह्मणगण, उसपर पश्चिमी विद्वानोंकी सम्मतियाँ, आर्ट, साइन्स और फिलासोफीका भारतद्वीपमें ही पूर्ण विकास, प्राचीन सभ्यताके प्रचारका मौलिक सिद्धान्त और पूज्यपाद महर्षियोंकी और वर्तमान कालकी इतिहास-लेखन-प्रणालीमें लक्ष्यकी भिन्नताका विवरण दिया गया है ।

'सृष्टि-प्रकरण और कालचक्र'में प्राकृतिक सृष्टि, ब्राह्मीसृष्टि, प्राजापत्य सृष्टि और वैजीसृष्टि रूपसे सृष्टिके चार स्तर, सृष्टिका प्रवाह रूपसे अनाद्यनन्तत्व, प्रलयावस्थामें कर्मसंस्कारोंका विद्यमान रहना और उन्हींसे ब्रह्माण्डकी पुनः सृष्टि, त्रुटि-पर-निमेष-काष्ठा-कला-घटिका-क्षण-अहोरात्र रूपसे एक मानव दिनकी गणना । मानव वर्षोंके हिसाबसे चतुर्युग, मन्वन्तर, भगवान ब्रह्माका दिन तथा भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी आयु, प्रत्येक मन्व-न्तरमें मनु, सप्तर्षि और इन्द्रादि पदधारी देवताओंका बदलना, पाँच प्रकारकी पुस्तकोंका स्वरूप, वेदोंका अपौरुषेयत्व, सृष्टि और प्रलयका स्वरूप, इन्द्रादि पदधारी देवताओंके कार्य, मानव सृष्टिकी आयु कितनी बीती और कितनी बाकी है, इन सब विषयोंकी विवे-चना की गई है ।

'मनुष्य सृष्टिका आदि स्थान और वर्णाश्रमबन्ध'में सिद्ध किया गया है कि, भारतद्वीप ही मनुष्यसृष्टिका आदि-स्थान है । इसके अतिरिक्त प्रथम पूर्णावयव मानव पिण्डकी उत्पत्ति, वर्णाश्रम-शृंखलाका अनादित्व, पञ्जाबमें देविका नदीके तटपर आदि मनु-

ष्योंका उत्पन्न होना और सबका ब्राह्मण होना, आजकलकी कल्पनाओंका निराधारत्व, चतुर्विध भूतसंघका प्रकृतिके अधीन रहकर उन्नत होना, मनुष्यकी कर्म करनेकी स्वाधीनतासे ही धर्माधर्मका उसके साथ सम्बन्ध, मनुष्यकी अधोगति रोकनेके लिए भगवान् मनुके द्वारा वर्णाश्रमबन्धकी रचना और वर्णाश्रमबन्धका औपनिषदिक दृश्य भी विवेचित हुआ है।

'भारतद्वीपका सामाजिक संघटन' में वन और वृक्षके समान मनुष्य-समाज तथा मनुष्यका सम्बन्ध, वर्तमान जगतके समाज-विज्ञान और भारतके प्राचीनतम समाज-विज्ञानकी विभिन्नता, आर्यजातिके समाज-विज्ञानके अनादि, स्वाभाविक और पूर्ण होनेके अकाट्य कारण, समाजविज्ञानको सफल बनाने, सामाजिक शृंखलाको सुदृढ़ करने और आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजातिको उच्छृंखलताकी तपनसे बचानेके लिये वर्णाश्रमका महत्त्व, सुखका स्वरूप और उसकी प्राप्तिमें चारों आश्रमोंका सहायकत्व, बीज और क्षेत्ररूपसे नर और नारीका होना, क्षेत्रकी रक्षाकी विशेष प्रयोजनीयता, आर्यमहिलाओंकी पवित्रताकी रक्षा करना, असवर्ण विवाहको रोककर रजोवीर्यकी शुद्धि बनाये रहना, वर्णाश्रमकी रक्षाके लिये सुदृढ़ दुर्गस्वरूप ऋषियोंद्वारा स्थिरीकृत विवाहपद्धति, शुद्धाशुद्ध विवेक आदिका अनुसरण करना आदि-विषय आ गये हैं। अन्तमें मीमांसादर्शनके अनुसार कल्पद्रुमरूपसे वर्णाश्रमका वर्णन किया गया है।

'वेद और शास्त्रका अनादित्व' में वेदोंका अनादित्व और अपौरुषेयत्व, पाँच प्रकारकी पुस्तकोंमेंसे वेदका नादमयी पुस्तक होना और आधुनिक विज्ञानसे उसकी सिद्धि, शब्दरूपसे वेदका नित्यत्व और भाव रूपसे स्मृतिशास्त्र (दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराणादि) का नित्यत्व, इनके कालनिर्णयकी सयौक्तिक अनावश्यकता,

ब्रह्माण्ड पुस्तक, पिण्डपुस्तक, नादपुस्तक और बिन्दुपुस्तक इन चार प्रकारकी पुस्तकोंका युगयुगान्तरोंमें इस मृत्युलोकमें आविर्भावतिरोभाव होना और देवलोकमें इनका नित्य विद्यमान रहना, कल्पके आरम्भमें जो ज्ञानराशि-रूपसे वेदोंका प्रादुर्भाव होता है, उनका कल्पान्ततक बना रहना और युगयुगान्तरोंमें मृत्युलोकमें उनका आविर्भाव-तिरोभाव होते रहना, अनादि विषयोंके कालनिर्णयकी चेष्टाका निष्प्रयोजनीयत्व, सात ज्ञानभूमियाँ, और सात अज्ञान-भूमियाँ भक्ति और चार प्रकारके योगसाधन, ब्राह्मकल्पके अन्तमें नीचेके ग्यारहलोकोंका दग्ध होना, वैदिक, तांत्रिक और मिश्रकर्मकाण्ड, इसकल्पके वेदोंकी संख्या और इस अध्यायका निष्कर्ष दिया गया है।

'भारतद्वीपका धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा' में धर्मकी सर्वव्यापकता और उसका यथाथ स्वरूप तथा भारतद्वीपवासी ब्राह्मणों द्वारा ही उसका जगतमें प्रकाशित होना, जगद्धात्री श्रीभुवनेश्वरीरूपमें धर्मका वर्णन, सृष्टि-स्थिति-लयका स्वरूप, जड़राज्यमें धर्मकी व्यापकता और उसका स्वरूप, चेतनराज्यमें उद्भिज्जसे लेकर जीवके जीवन्मुक्त होनेतकके क्रममें धर्मकी व्यापकता और उसका स्वरूप, उद्भिदादि चतुर्विध भूतसंघमें धर्माधर्म-विचारका सम्बन्ध न होना, धर्माधर्मका लक्षण, कर्मभूमि भारतवर्ष (पृथ्वी) और मोक्षभूमि भारतद्वीप (हिन्दुस्थान) का ब्रह्माण्डमें श्रेष्ठत्व, चार प्रकारके धर्म, साधारण धर्मकी समस्त धर्म-मार्गोंमें उपयोगिता, साधारण धर्मकी पृथ्वीभरके धर्ममतोंके लिये उपकारिता, विशेषधर्म, आपद्धर्म और असाधारण धर्मके लक्षण और उदाहरण, शिल्पशास्त्र, पदार्थविद्या, दर्शनशास्त्र आदि पृथ्वीमें प्रचलित सब शास्त्रोंका आदि शिक्षक भारतद्वीप, वैदिक दर्शनशास्त्रोंका सात श्रेणियोंमें विभक्त होना और उनका स्वरूप, ईश्वरतत्व और

उपासना प्रणालीका भारतद्वीपमें ही पूर्णरूपसे आविष्कार होना, पृथ्वीके कई धर्ममतोंका ईश्वरको भगवान यमधर्मराजके रूपमें मानना, पन्द्रह स्तरोंमें विभक्त उपासनाप्रणाली, द्वादशस्तरमयी ध्यान प्रणाली आठ स्तरोंवाली धारणाप्रणालीके रूपमें ईश्वरतत्त्वका भारतद्वीपमें ही सांगोपांग विकसित होना और सृष्टिकी प्रारम्भिक दशामें भारतद्वीपमें ही सब प्रकारके ज्ञानसम्बन्धी शास्त्रोंका आविर्भाव होनेके कारण इस द्वीपकी ज्ञानगरिमाका प्रदर्शन किया गया है।

'राजानुशासन' में भारतद्वीपमें देश-कालके अनादि और अनन्त होनेके कारण लौकिक इतिहासके लिखनेकी शैलीका अनुसरण न होना, प्राचीन आर्योंके पुराण और इतिहासके ग्रन्थोंको धर्मग्रन्थ मानना, उनमें देवलोक और मनुष्यलोककी मिलीजुली शिक्षाप्रद गाथाओंका धर्मके लक्ष्यसे परकीय भाषा और लौकिक भाषामें लिखा जाना, आर्योंके इतिहास और राजानुशासनका दैवी-जगतसे सम्बन्ध, इस विषयमें तुलनात्मक विचारशील व्यक्तियोंकी शङ्काओंका समाधान, लौकिक सुखको लक्ष्यमें रखकर नहीं, किन्तु प्रकृतिराज्यके अकाट्य नियमोंको सामने रखकर आर्योंके राजधर्म-विज्ञानका निर्णय, जगत्प्रसविनी महाशक्तिकी तीन दशाएँ और उनका स्वरूप, सौरजगतके दृष्टान्तसे मनुष्य-समाजमें आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंका विकाश और उनका कार्यक्रम, दोनोंकी समता में ही मनुष्य-समाजकी सुखशान्ति, संयुक्त-कुटुम्ब-पद्धतिमें दोनोंकी समता, आर्योंके विधिनिर्माताओंका दैवजगत्से सम्बन्धयुक्त होनेके कारण भ्रम-प्रमादसे रहित होना, भारतद्वीपके प्राचीन राजाओंके निरङ्कुश तथा विषयगामी न होनेके कारण, उन्हीं कारणोंसे राजा-प्रजामें संघर्षका न होना, राजानुशासनका राजदण्ड और सामाजिक दण्डसे सुरक्षित रहना, तीनों लोकोंकी राजानुशासन

व्यवस्थासे भारतद्वीपकी राजानुशासन व्यवस्थाका घनिष्ठ सम्बन्ध, राजधर्म और प्रजाधर्ममें आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंकी समता रहनेकी आवश्यकता, प्राचीनकालके राजधर्म और प्रजाधर्मकी श्रेष्ठता और उनके सुख-शान्तिप्रद होनेके कारण, वर्तमान चार प्रकारकी राजशासनप्रणालियाँ और आर्योंकी प्राचीन राजतन्त्र शासनप्रणाली, इनकी तुलनात्मक पर्यालोचना, दैवी जगतपर विश्वास रखने और न रखनेवालोंकी युद्धनीतिमें और न्यायदानकी प्रणालीमें सैद्धान्तिक विभिन्नता, प्राचीन राजानुशासनकी उत्कृष्टता और पृथ्वीभरमें इस समय उसका अभाव, युद्धकी स्वाभाविकता, तीन प्रकारके अनुशासन और पहले जैसा शुभकाल उपस्थित न होने तक धर्मको राजानुशासनसे पृथक् रखनेका औचित्य सिद्ध किया गया है।

"प्राचीन भारतकी शिक्षा प्रणाली" में भारतद्वीपमें प्राचीन-कालमें अन्य स्वातन्त्र्योंकी तरह शिक्षा-स्वातन्त्र्य, एकमात्र जगद्गुरु ब्राह्मणोंपर ही शिक्षाका भार, विद्या-शिक्षाका लक्ष्य ऐहिक और पारत्रिक पूर्ण अभ्युदय तथा अन्तमें मोक्ष, जगत्‌का सब कार्य लोकशिक्षा पर ही निर्भर, अधिकारके अनुसार शिक्षा, पूर्णप्रज्ञों द्वारा विद्याओंका आविष्कार होनेसे उनका भ्रम-राहित्य, योग-युक्त अन्तःकरणसे महर्षियोंकी शास्त्ररचना, पिण्डसे ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डसे पिण्डज्ञान, प्रत्येक व्यक्तिमें बीजरूपसे रहने-वाली शक्तिको विकसित करना शिक्षाका प्रधान कार्य, प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें धर्मशिक्षाका प्राधान्य, धर्मका कल्पद्रुमरूपसे वर्णन, नवीन शिक्षा-प्रणालीमें मनुष्यत्वकी प्राप्ति, धर्म और मोक्षको स्थान नहीं, प्राचीन और नवीन शिक्षा प्रणालीका तुलना-त्मक विचारके अन्तमें यह बताया गया है कि प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके कौन-कौन आदर्श आजकलके शिक्षाशैली प्रवर्तक विद्वा-नोंको ध्यानमें रखने चाहिये।

"रामायण" में पुराण और इतिहासका लक्षण, आदर्श पुरुष-जीवन और आदर्श नारीजीवनके दृष्टान्तको जगत्में स्थापन करनेके लिये ही राम और सीताका जन्म, ब्रह्मशक्ति और क्षात्र-शक्तिके सामञ्जस्यके लिये रामावतार, सीता महारानीके जीवनमें सतीत्वका आदर्श, रामावतारसे वीर, करुणा, वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि रसोंका आदर्श-प्रदर्शन, रामराज्यका आदर्श, मनुष्य-समाजकी धारणाके प्रधान चार अङ्ग और राम-राज्यमें उनका पूर्ण उत्कर्ष, रामराज्य राज-प्रजा सत्तात्मक, राम सीता चरित्रमें आदर्श संबंधी शङ्काओंका समाधान, रामराज्यके साथ आधुनिक राज्योंकी तुलना, भगवान् राम और भगवती सीताके आदर्श जीवनकी विशेष आलोचना, इतिहासों और पुराणोंके चरित्रवर्णनकी भिन्नता, उनमें केवल लौकिक इतिहास खोजनेकी निष्फलता, विभिन्न पिण्डोंमें भगवदवतारोंका आवि-र्भाव, अवतार-शरीरोंमें दो प्रकारकी क्रियाएँ, रामायणमें आधुनिक विचारसे असम्भव चरित्रोंका समाधान, रामराज्यमें सृष्टिरक्षाके चतुर्व्यूहोंकी पूर्णता और रामायणका महत्व वर्णित हुआ है।

"महाभारत" में महाभारतकी महिमा सर्वोपरि होनेके कारण, महाभारतमें कथित धर्मविषय, शृंखलाकी महिमा और उससे ब्रह्माण्डके सब कार्योंकी सुसम्पन्नता, कलाविकाशके तारतम्यसे अंशावतार और पूर्णावतार, पूर्णावतारकी पूर्णताका वर्णन, पूर्णा-वतार होनेके समयका वर्णन, कृष्णचरित्र, उससे पूर्णावतारत्वकी सिद्धि, कर्म, उपासना और ज्ञानके विचारसे श्रीकृष्णका पूर्णा-वतारत्व, श्रीकृष्ण चरित्र भावातीत कोटिका है और उसमें समष्टि जगतके कल्याणका ही हेतु है, भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका विज्ञान, उनके जटिल कर्मों और धर्मसंकटोंमें किए हुए निर्णयोंका विज्ञान तथा तत्संबंधी शङ्काओंका समाधान, श्रीकृष्ण-

जीवनमें निष्काम कर्मयोगकी भावातीत गति, महाभारत युद्धका प्रामाणिक कालनिर्णय, महाभारतके निर्माण संबंधी शङ्काओंका समाधान, परीक्षितकी आयु, महाभारतकी रचनाका काल, बौद्ध और जैन मतका पुरातन होना, आजकल जितने प्रकारके तत्त्वानुसन्धान किये जाते हैं, उनके आधार आर्योंके पुराण और इतिहास ग्रन्थ, रामावतारका कालनिर्णय, पुराणके पाँच भेद और उनमें पाँचवाँ इतिहास, इतिहासोंमें महाभारतकी प्रधानता इतिहास-पुराणोंके समझनेमें तीन प्रकारकी भाषाओं और तीन प्रकारके भावोंको जाननेकी आवश्यकता, वैदिक और पौराणिक इतिवृत्तके साथ आधुनिक लौकिक इतिवृत्तिको तुलनात्मक गवेषणा करनेवालोंकी शङ्काओंका समाधान, पुराण और इतिहास ग्रन्थोंमें कल्प-कल्पान्तरोंकी जो गाथाएँ मिलती हैं, उनके जाननेका क्रम, इतिहास और पुराणोंमें प्राप्त होनेवाली लौकिक गाथाओंका स्वरूप, महाभारत कालमें इन्द्रप्रस्थका पृथ्वी भरकी राजधानी होना और वहाँके राजाका पृथ्वीभरका सम्राट् होना, दैवराज्य और लौकिक राज्यका सम्बद्ध होना, दैवी राजा, दैवी राजधानी और दैवी कालका वर्णन, धर्मराज यम, कालराज मनु और देवराज इन्द्रके पदोंके कर्तव्य कार्य, इस कल्पके मनु और इन्द्रोंकी नामावली, रामायण और महाभारतमें प्रधानतः सूर्य-चन्द्रवंशोंका वर्णन और इस अध्यायका निष्कर्ष दिया गया है। अन्तमें क्लेशनिवारक कालिका स्तोत्र भी दिया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थरत्न बारह अध्यायोंमें समाप्त हुआ है। इस ग्रन्थका यह प्रथम खण्ड है और कलियुगके प्रारम्भसे पहलेकी घटनाओंका प्रकाशक है। इसके विज्ञानको सम्मुख रखकर कराल कलिकालके उदय होनेसे लेकर अबतकका इतिवृत्त जिनमें प्रकाशित हो, ऐसे इसके अनेक खण्ड लिखनेका श्रीजीका विचार था, पर

अब वह असम्भव है। जिज्ञासुओंको इस खण्डसे जितना लाभ उठाते बने, उठा लेना चाहिये।

——

सप्त गीताएँ

सर्वव्यापक, सर्वजीव-हितकारी, समस्त पृथ्वीके सब धर्मोंके पितृस्वरूप सनातमधर्ममें उपासनाके दो भेद माने गये हैं— सगुण और निर्गुण। लीला-विग्रहों अर्थात् अवतारोंकी उपासना सगुण उपासनाके ही अन्तर्गत है। सृष्टिके स्वाभाविक पञ्च-तत्त्वोंके अनुसार शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति और गणेश इन पञ्च देवोंकी सनातनधर्ममें सगुण ब्रह्मरूपसे उपासना की जाती है। पञ्च प्राकृतिक विभागोंपर संयम करके पूर्वाचार्योंने पाँच उपासक सम्प्रदायोंकी कल्पनाकर पाँच सगुण उपासना प्रणालियाँ प्रचलित की हैं। लीला-विग्रहोपासना सगुणोपासनाकी पूर्णताके लिये है ऋषि, देव तथा पितरोंकी और अन्य क्षुद्र भूत-प्रेतादिकी उपासनाका अधिकार सकाम राज्यसे सम्बन्ध रखता है। निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाङ्मन और बुद्धिसे अगोचर आत्म-स्वरूपकी उपासना है। वह केवल आत्मज्ञानप्राप्त तत्त्वज्ञानी महा-पुरुषों और जीवन्मुक्त संन्यासियोंके ही उपयोगी है, उसमें सर्व-साधारणका अधिकार हो नहीं सकता। सगुण उपासना सब श्रेणीके उपासकोंके लिये हितकारी है।

प्रत्येक उपासक-सम्प्रदायके उपयोगी अनेक आर्षसंहिताएँ और अनेक तन्त्रग्रन्थ पाये जाते हैं। प्रत्येक साम्प्रदायके उपनिषद् उपलब्ध होते हैं और प्रत्येकके पञ्चाङ्ग भी विद्यमान हैं। तदनुसार पञ्चाङ्गमेंसे प्रत्येकका गीताग्रन्थ सबसे प्रधान माना गया है। पञ्चोपासनाओंमेंसे यद्यपि शिवगीता, गणेशगीता, देवीगीता आदि ग्रन्थ प्राप्य हैं, तथापि वे असम्पूर्ण ही हैं। श्रीजीके दीर्घ परिश्रम और अनुसन्धानके फलस्वरूप श्रीसूर्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता, श्रीविष्णुगीता और श्रीशम्भुगीता नामक पञ्चोपासनाके पाँच गीताग्रन्थ संपूर्ण आकारमें उपलब्ध हुए हैं। ये पांचों ग्रन्थ अतिअपूर्व उपनिषद् स्वरूप हैं। पाँचों गीताएँ वेदोक्त विज्ञान, सनातनधर्मके अपूर्व रहस्य, गंभीर अध्यात्मतत्त्व और पूज्यपाद महर्षियोंकी ज्ञान गरिमाके सिद्धान्तोंसे परिपूर्ण हैं। इनमें निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासनाका रहस्य, सगुण उपासनाका महत्त्व और विज्ञान, वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका मर्म, सनातनधर्मके सब गम्भीर सिद्धान्तोंका निर्णय, अध्यात्मतत्त्व, अधिदैवतत्त्व, अधिभूततत्त्व, यहाँ तक कि वेदोंका सब सार आ गया है। इनके पाठसे उपासकोंको बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

ज्ञानकाण्डका विघ्न जिस प्रकार अहङ्कार है, उपासनाकांडका विघ्न साम्प्रदायिक विरोध है, उसी प्रकार कर्मकाण्डका विघ्न दम्भ है।

इनके पाठसे कर्मकाण्डी अपने दम्भका परित्याग कर भक्त बन जायँगे, उपासकगण साम्प्रदायिक विरोधको भूलकर उदार और पराभक्तिके अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानियोंके लिये तो ये उपनिषदोंके सारस्वरूप ही प्रतीत होंगे। गृहस्थोंकेलिये ये पाँच गीताएँ परममङ्गलकर और संन्यासियोंके लिये अध्यात्म पथप्रदर्शक

हैं। इन पाँचोंको साङ्गोपाङ्ग प्रकाशित कर श्रीजीने उपासक सम्प्रदायोंका अनन्त उपकार-साधन किया है। प्रत्येक गीतामें कौन-कौन विषय आ गये हैं, उनका ब्यौरा इस प्रकार है :—

श्रीसूर्यगीता

इस गीताके सात अध्याय हैं। यथा :—१—अधिदैवरहस्य-निरूपण, २—पञ्चोपास्ति निरूपण, ३—कर्मरहस्य निरूपण, ४—कर्मविभाग निरूपण, ५—सृष्टिप्रकरण और आत्मस्वरूपनिरूपण, ६—अधिभूत-रूपदर्शन और योगविज्ञाननिरूपण तथा ७—जीवन्मुक्तलक्षण निरूपण।

"अधिदैव रहस्य निरूपण" में प्रथम श्रीभगवान् वेदव्याससे सूतजी ब्रह्मसारूप्य प्राप्तिमूलक ज्ञानके सम्बन्धमें प्रश्न करते हैं और व्यासजी सूर्य और सप्तर्षियोंके सम्बादरूपसे इस गीताका उपक्रम करते हैं। जिज्ञास्य विषय :—कर्म-उपासना-ज्ञानका रहस्य, मुक्तिका उपाय, कर्मोपासना ज्ञानका सामञ्जस्य प्रतिपादक अधिदैवरहस्य। सूर्यदेवका स्वरूप, उनकी सत्तासे ही सृष्टि-स्थिति-लयक्रिया, भूर्लोक और आर्यावर्तकी सीमा, आर्यावर्त(भारत) का अलौकिक माहात्म्य, सात्त्विकी और तामसी शक्तिरूपसे ऊर्द्ध्वलोकवासी देवता और अधोलोकवासी दानव, देवासुर-संग्राम, सुरासुरोंके समानाधिकारसे धर्मकी पूर्णस्थिति, देवताओं और ऋषियोंके अवतारोंसे ज्ञान और शक्तिका सामञ्जस्य, ज्ञानियोंके अन्तःकरणमें ज्ञानरूपसे श्रीभगवान्का प्रकट होना, पाँचों कोशोंमें भगवान्की शक्तिकी स्थिति, उन्हींकी सहायतासे भगवद् ज्ञानकी प्राप्ति, स्थूललोकका सूक्ष्मलोकके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेवाला प्राणमय कोश, उसी कोशमें पीठ-स्थापन करनेसे दैवी शक्तियोंका प्रादुर्भाव, कुण्डलिनी शक्तिके

आविर्भावसे भगवत्तेजका दर्शन, द्रव्य, मन्त्र और मनकी शुद्धिसे पीठाविर्भाव तीर्थों और विग्रहादि दिव्य देशोंमें पीठकी सहायतासे दैवी शक्तिका आविर्भाव कर्मोपासनाके प्रभावसे स्थूल लोकोंमें अनेक पीठोंकी प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठाताओंके गुणकर्मानुसार पीठोंमें और दैवी-शक्तिके दर्शनमें तारतम्य, पीठाविर्भावके मुख्य स्थान, उनमें प्रधान अपना शरीर, द्रव्य, मन्त्र और मनकी शुद्धिके अभावसे तथा उपासना और दिग्बन्धादिके द्वारा पीठकी सुरक्षा न होनेसे पीठमें प्रेतों और असुरोंका प्रवेश कर जाना, पीठाविर्भावका सर्वोत्तम स्थान अपना अन्तःकरण, स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय शक्ति, नित्य और नैमित्तिकतीर्थ, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतसे देवता, ऋषि और पितरोंके सम्बन्ध, अधिदैव सृष्टि, ऋणत्रयके साथ देवता, ऋषि और पितरोंका सम्बन्ध, त्रिविध शुद्धिके साथ इनका सम्बन्ध और अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूतके लक्षण इत्यादि विषय आ गये हैं।

"पञ्चोपास्ति निरूपण" में ऋषियोंके द्वारा उपास्यविधि जाननेकी जिज्ञासा, सूर्यदेवद्वारा उसका स्पष्टीकरण, पाँचों उपास्य-देव चित्, तेज, शक्ति, ज्ञान और सत्के प्राधान्यसे सगुण ब्रह्म, सृष्टि अवस्थामें ईश्वर और लयावस्थामें ब्रह्म, दोनों एक ही, अधिकारानुसार इनकी उपासना, जगज्जन्मादि कारणरूपसे पाँचों एक, सत्, चित् और आनन्द सत्ता, आनन्दसत्तासे सृष्टिकी अभि-व्यक्ति, दो प्रकारका शृङ्गार—शुद्ध और मलिन, चित्, तेज, शक्ति, ज्ञान और सत् क्या है? इन्हींसे पञ्चोपासनाका सम्बन्ध, ब्रह्माकी पूजा क्यों नहीं होती? हरिहरकी तन्मयता, पुरुषस्रोत और प्रकृति-स्रोत, भगवद्विभूति और भक्तकी प्रधानताका वर्णन किया गया है।

"कर्मरहस्यनिरूपण" में जीवोंके आवागमनका कारण, उसकी निवृत्ति कैसे हो? चित्शक्तिकी पड़छाई माया और

अविद्या, मायासे ईश्वर और अविद्यासे जीवका सम्बन्ध, शक्तिका प्रथम समुल्लास ही कर्म, कर्मसे सृष्टिका आरम्भ और आवागमन तथा अकर्मसे मुक्ति, हेय-उपादेय रूपसे द्विविधकर्म, सहज और स्वकृत द्विविध कर्म, प्रारब्ध संचित और आगामी स्वकृतके ही भेद, कर्मके द्वारा नीच योनियोंमें भी पतन, पुण्यात्माओंका पतन कैसे सम्भव है? पुण्यात्माओंका भी पाप करना सम्भव होनेसे उनका पुनर्जन्म होना संभव, पुण्य-पापोंके क्षयसे ज्ञानकी प्राप्ति, ज्ञानीको कर्म-फल-भोग नहीं, नित्य, नैमित्तिक और काम्यकर्म, जीवन्मुक्तमें नित्य कर्मोंकी स्थिति, विदेहमुक्तिके पूर्वतक कर्मोपासना-ज्ञानका समुच्चय, इन तीनोंकी परस्पर सापेक्षता, यज्ञ, दान और तप अत्याज्य, इनके फलका त्याग और त्रिविध त्याग वर्णित हुआ है।

"कर्मविभाग निरूपण" में तान्त्रिकी, पौराणिकी, स्मार्ता, श्रौता और औपनिषदी, पाँच कर्मभूमियाँ, संन्यासावस्थाके कर्म, कर्मोपासना-ज्ञानका परस्पर हेतुत्व, अनुबन्ध चतुष्टय, कर्मविषयक संशयका निराकरण, कर्मत्यागका परिणाम, शुद्ध और अशुद्ध द्विविध कर्म, अशुद्ध कर्म पुण्य-पापात्मक और शुद्धकर्म मुक्तिदायक, बाह्याभ्यान्तर दोनों प्रकारके शुद्ध कर्म ज्ञानियोंके लिये अत्याज्य, आभ्यन्तर द्विविध कर्म, सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि, प्रारब्ध कर्मकी त्रिविध गति और भगवान्‌को सब कर्मोंका समर्पण आदि विषयोंकी विवेचना की गयी है।

"सृष्टि प्रकरण और आत्मस्वरूप निरूपण" में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सृष्टिका विराट, ब्रह्माण्ड और पिण्डसे सम्बन्ध, सृष्टि प्रकरण, सहज, जैव और ऐश त्रिविधकर्म और उनका ब्रह्माण्ड, पिण्ड और अवतारोंसे सम्बन्ध, कर्मोपासना-ज्ञानसे आर्यजातिकी घनिष्ठता, इन तीनोंका ब्रह्मा-विष्णु-

महेशके साथ सम्बन्ध, भगवान्से सब देवताओंकी उत्पत्ति और उनकी उपासना ही भगवान्की उपासना, भाव और श्रद्धा, धर्माङ्गोंके साधनमें भाव वैचित्र्यसे फलवैचित्र्य, श्रद्धा, भाव और भक्तिका प्रत्याहार, धारणा और ध्यानसे सम्बन्ध, श्रद्धा, भाव और भक्तिसे भगवान्का साक्षात्कार और भगवान्के स्वरूपका स्पष्टीकरण किया गया है।

"अधिभूतरूप दर्शन और योगविज्ञान निरूपण"में ऋषियोंकी भगवान्के विराट् रूप दर्शनकी अभिलाषा और सूर्यदेवका उनको दिव्यचक्षु प्रदान करना, उग्र विराट् रूपका दर्शन होनेपर ऋषियों द्वारा स्तुति और सौम्यरूपदर्शन करानेकी प्रार्थना, व्यासद्वारा सौम्यरूपका वर्णन, सौम्यरूपकी स्तुति और सूर्यदेवकी उपासनाकी आज्ञा, योग और भक्ति विषयक ऋषियोंकी जिज्ञासा, स्नेह, प्रेम, श्रद्धा और भक्तिरूपसे चतुर्विध अनुराग, वैधी, रागात्मिका और पराभक्ति, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग और इनमें राजयोगका प्राधान्य विवेचित हुआ है।

"जीवन्मुक्त लक्षण निरूपण"में कर्मिश्रेष्ठ जीवन्मुक्तके लक्षण, जीवन्मुक्त और विदेह मुक्तोंका कर्मित्व, विदेहका लक्षण, विदेहमुक्त महात्माका स्वरूप, स्वानुभूतिका माहात्म्य, गुरुभक्तिका माहात्म्य और फलश्रुतिका समावेश हुआ है। इस प्रकार सूर्यगीताकी सुन्दर रचना सात अध्यायोंमें समाप्त हुई है।

———

श्रीशम्भुगीता ।

इस गीताका उपक्रम इस प्रकार हुआ है :—अध्यात्मतत्त्व और अधिदैव तत्त्वको प्रकाशित करनेवाली अनेक गीताएँ और वेदार्थ प्रकाशक अनेक पुराण सुन लेनेके पश्चात् सूतजीने श्रीभगवान् व्यासजीके निकट आवागमनचक्रकी गति और उसका रहस्य जाननेकी इच्छा प्रकट की, तब व्यासजीने पितरों और सदाशिव (शम्भु) के सम्वादरूपसे उनको "शम्भुगीता" सुनाना आरम्भ किया। इसके भी सात अध्याय हैं। यथा :—१—धर्मनिरूपण, २—पिण्डसृष्टिनिरूपण, ३—चक्रपीठशुद्धि निरूपण, ४—दैवलोक निरूपण, ५—अध्यात्मतत्त्वनिरूपण, ६—भगवद्भागवत सम्बन्ध निरूपण और ७—शिवलिङ्ग निरूपण।

पहले अध्याय "धर्मनिरूपण" में पितरोंकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीसदाशिवका उन्हें सगुणरूपसे दर्शन देना और 'श्रीशम्भुगीता' का उपदेश देना, एक ओर दैवासुरी और दूसरी ओर चतुर्विधभूत संघकी प्राकृत सृष्टि तथा दोनोंके बीचमें पूर्णाङ्गयुक्त, स्वाधीन और कर्मकी अधिकारिणी मानवी सृष्टिका होना, उसकी क्रमोन्नतिके लिये वर्णाश्रमधर्म और उसीसे पितरोंका सम्बर्द्धन और उनके द्वारा जीवोंका अभ्युदय, श्रीशम्भुका सशक्तिक अद्भुत रूप-दर्शन, पितरोंद्वारा उनकी स्तुति, पितरोंके शरणापन्न होकर निर्भयताका पथप्रदर्शन करनेकी प्रार्थना करनेपर श्रीशम्भुकी आज्ञा, पितरोंका स्थूलसृष्टिके नियामक होना और उनकी प्रसन्नतासे जीवको धर्म सहायक स्थूल मनुष्य शरीरका प्राप्त होना, कालप्रभावसे मनुष्योंमें धर्मके गाम्भीर्यका लोप हो जानेसे उनका कुमार्गगामी होना, उनकी बुद्धिका बहिर्मुखी और इन्द्रियपरायण होना, जलाशयका उदाहरण, सनातनधर्मका लक्षण, उसके चार

पाद, उसका अभ्युदय-निश्रेयसप्रदत्व, सर्वलोकहितकारित्व और सार्वभौमत्व, धर्मशक्तिके द्वारा ज्ञानी भक्तोंकी मुक्ति, मनुष्योंकी क्षुद्रताका नाश, वर्णाश्रमधर्मका महत्त्व, उसकी बीजरक्षासे मनुष्योंका क्रमाभ्युदय, प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म तथा दोनोंकी सुरक्षासे पितरोंकी शक्तिकी सुरक्षा, धृति, क्षमा, ब्रह्मचर्य आदि वृत्तियाँ, साधारणधर्म और विशेषधर्म, उनके अङ्गोपाङ्ग, धर्मकी गतिका गहनत्व, भावकी सहायतासे धर्मके रूपोंमें अन्तर, भावतत्त्वके जाननेके लिये अन्तःकरणविज्ञान, चतुर्विध अन्तःकरण, मनका अन्तर्विभाग चित्त और बुद्धिका अन्तर्विभाग अहङ्कार, जीवोंका संस्कारानुचरत्व, संस्कारोंका वासनोत्पन्नत्व, वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म, कर्मसे पुनःवासना, वासनासे पुनः संस्कार, इस प्रकार वासनाचक्र और जीवोंके आवागमनचक्रका चक्रनेमिक्रमानुसार घूमते रहना, कर्मसंस्कारानुसार आसक्तिका उदय, मन और चित्तरूपी दम्पतिसे वासनाकी उत्पत्ति, उसीसे सृष्टिका संवर्द्धन, बुद्धि और अहंकारके संयोगसे भावतत्त्वका उदय, शुद्ध और अशुद्धभाव, आसक्ति और भाव दोनोंमेंसे किसी एकके आश्रयसे कर्मोंका होना, आसक्तिमें विवशता और भावमें स्वाधीनता, प्रारब्ध, गुरु और देवताओंकी प्रसन्नतासे आसक्तिसे रक्षा, शुद्धभावाश्रितोंका विषयासक्त न होना, पूर्वसंस्कारानुसार आसक्ति, तदनुसार हेयोपादेयताका ज्ञान, सद्भावमूलक पापकर्मका भी पुण्य-कर्म और अधर्मका धर्मरूपमें परिणत हो जाना, विद्या और अविद्या रूपसे भगवच्छक्तिका द्विविधत्व, भावके प्रभावसे जड़का चेतन होना, इसके उदाहरण, धर्माधर्म-निर्णयमें पूर्णावतार और ज्ञानी भक्तोंका अधिकार, वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंका प्रामाण्य, साधारणधर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म और आपद्धर्म, ज्ञानी पुरुषोंका जगद्गुरुत्व, उनको श्रीभगवान्‌का आशीर्वाद; बीजरक्षासे

कालान्तरमें शुद्ध प्रजाकी वृद्धि, पितरोंके कर्तव्य-पालनसे मानवोंका मङ्गल और जगत्का मङ्गल आदि विषय प्रतिपादित हुए हैं।

"पिण्डसृष्टिनिरूपण" में भावत्रय सम्बन्धी पितरोंकी जिज्ञासा, वर्णाश्रमकी बीजरक्षा कैसे हो? आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ज्ञानसे सात्विक ज्ञानज्योतिका जाग उठना, आधिभौतिक पदार्थविद्याएँ, उनकी प्राप्तिका सुलभत्व, अधिदैवविद्याका अतिगुह्यत्व और दुर्ज्ञेयत्व, भगवत्प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय चार रूप, स्थूलप्रकृतिके सात अधिकार, सूक्ष्म और कारणशक्तिके विज्ञानोंका आधिदैविक ज्ञानरूप तथा तुरीय शक्तिके तत्त्वका अध्यात्म ज्ञानरूप होना, त्रिगुणमयी श्यामा, परिणामी त्रिगुण, श्यामाकी तन्मयावस्था विद्या और जगत्प्रसविनी अविद्या, भगवान्‌बीजदाता, उन्हींसे त्रिविध देवताओंका आविर्भाव, उनका त्रिविध सृष्टि और त्रिविध गतिका नियन्तृत्व, त्रिगुण वैचित्र्यसे श्यामाके आकर्षण-विकर्षण और रागद्वेषात्मक दो रूप, प्रथमस्थूल, द्वितीय सूक्ष्म, राग और आकर्षण रजोगुणमूलक तथा विकर्षण और द्वेष तमोगुणमूलक, दोनोंके समन्वयसे सत्त्वगुणका विकाश, उसके विकाशसे जीवान्तःकरणमें ज्ञान और धर्मभावका विकाश, पुरुषमें विकर्षण और स्त्रीमें आकर्षण, दम्पतीका पवित्र और सात्त्विक संगम, संगमक्षणमें सात्त्विक आधिदैविक पीठ और उसमें स्थूलशरीर प्रदानार्थ पितरोंका तथा भोगलोकोंसे जीवोंको यहाँ पहुँचानेके अर्थ देवताओंका आकृष्ट होना, रजोगुणकी विजयसे गर्भाधान, दम्पतीके सत्वमें लय हो जानेपर ऋषियोंका आकृष्ट होना, उनका आकृष्ट होना कैवल्यप्रदमार्गको विषद करनेके अर्थ, त्रिगुण भेदसे नर-नारियोंका गुणमुग्ध, रूपमुग्ध और काममुग्ध होना, संगमके समयकी तीन दशाएँ,—प्राकृत, विकृत और उन्माद, दम्पतीमें सात्त्विक भावकी महत्ता, सोलह पुरुषभेद और

सोलह नारी भेद, दाम्पत्य प्रेम अभ्युदय और मोक्षप्रद, नारीधर्म तप:प्रधान और पुरुषधर्म यज्ञप्रधान, नारीके प्रधान आठ गुण और पुरुषका वर्णाश्रमधर्म पालनरूपी एक ही गुण, स्त्री-पुरुषकी परीक्षा ज्ञानी पुरुषों या ज्योतिष–स्वरोदय द्वारा सम्भव, दाम्पत्य-सम्बन्धमें विचारणीय २५ विषय, नारीकी धृतिका माता-पिता और पतिके द्वारा सुरक्षित रहना, इससे उत्कृष्ट सन्तानकी प्राप्ति, वर्णाश्रमधर्मके पालनसे आत्मज्ञान और पराभक्तिका विकाश, वर्णाश्रमानुकूल सदाचारकी महिमा, उसीसे उच्चमानव-पिण्डकी बीजरक्षा, वर्णाश्रमधर्मके आठ प्रयोजन, त्रिविध शुद्धिसे बीजकी रक्षा और उसीसे धर्मरक्षा आदि बातें विवेचित हुई हैं।

"चक्रपीठशुद्धि निरूपण" में चित्-जड़-ग्रन्थिकी सहायतासे जीवोंका उत्पन्न होकर ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए आर्य-भावत्वको प्राप्त करना, देवताओं और पितरोंके कार्य, आवागमन-चक्रकी परिधियाँ, भेद, फल और अधिकार, दो अवस्थाएँ और तीन गतियाँ, आवागमनचक्र कब शान्त होता है ? जीवोंकेलिये पिण्डका प्रयोजन, त्रिविध पिण्ड और उनके लक्षण, निःश्रेयसका लक्षण, पीठ और चक्रका लक्षण, चतुर्विधपीठ और चतुर्विधचक्र, सगर्भ अगर्भ रूपसे चक्रके दो भेद और उनका फल, आवागमनचक्र और पीठकी त्रिविध शुद्धि तथा फल, जन्म-मृत्यु और शुभाशुभ-भोग लोक, दम्पतीके संगमकालकी अवस्थाके अनुसार जीवका गर्भमें प्रवेश, गर्भवास और प्रसवकालीन पीड़ा, जन्म होते ही पूर्व-जन्मोंकी विस्मृति, रजोवीर्यके तारतम्यानुसार स्त्री, पुरुष या नपुंसक प्रजोत्पत्ति, संगमकालीन अवस्था आदिका विवरण दिया गया है।

"दैवलोक निरूपण" में सूक्ष्म दैवीजगत्‌का स्थूल जगच्चालकत्व और सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारकत्व, दैवराज्यके तीन भेद और

उनके चालक, त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति, अधिभूत शक्ति सम्पन्न पितरोंके नायक ब्रह्मा, अध्यात्मशक्ति सम्पन्न ऋषियोंके नायक शिव और अधिदैव शक्तिसम्पन्न देवताओंके नायक विष्णु, सर्वव्यापक पञ्चकोष, विराट् रूपके चौदहविभाग, पिण्डोंमें कोषोंकी प्रधानता, पिण्ड स्थित जीवोंका देवलोकके साथ और देवलोक स्थित देवासुरोंका पिण्डोंके साथ सम्बन्ध, पञ्चकोषोंका स्वरूप और उनके विकाशका तारतम्य, एक पिण्डका दूसरे पिण्डपर प्रभाव, देवासुरोंकी राजधानियाँ, आर्यावर्तमें ही भगवान् और देवताओंके अवतारोंका होना, भूलोकके चार विभाग, भूलोकमें यमदण्डका अधिकार, मृत्युलोकसे ही सब लोकोंमें जीवका आना-जाना, मृत्युलोकसे प्रेतलोक, पितृलोक और नरकलोकका सम्बन्ध, ज्ञानका प्रकाशक आर्यावर्त, रजोवीर्यकी शुद्धिसे वर्णाश्रमधर्मकी बीजरक्षा, उसीसे पीठ-चक्रशुद्धि, देवर्षिपितरोंकी प्रसन्नता और मुक्तिसाधक ज्ञानकी प्राप्ति, माता-पिता, भगवद्विभूति, भगवदवतार और सप्तविध वृद्धोंकी पूजा तथा उसका फल बताकर अन्तमें वर्णाश्रमबन्धका वर्णन किया गया है।

"अध्यात्मतत्त्वनिरूपण"में श्यामा प्रकृतिका श्रीभगवान्के साथ अभेद, उसके व्यक्त-अव्यक्त रूप, सद्भावके आश्रयसे दृश्य प्राकृतिक सृष्टि, अविद्यारूपसे प्रकृतिका जीवत्व प्रदान और विद्यारूपसे मोक्ष प्रदान, श्यामाकी विश्वलीला, आत्मज्ञानद्वारा उसका दर्शन, वर्णचतुष्टयका चतुर्विध पुरुषार्थोंसे सम्बन्ध, तेज और तेजस्वीका लक्षण, ऋषियोंकी चतुर्दशभुवनोंमें गति, पञ्चकोषपूर्ण ज्ञानविकाशके क्षेत्रोंमें उनके कार्यका विकाश, पांच प्रकारकी पुस्तकें, उनके लक्षण और उदाहरण; पाँचोंके रक्षक ऋषिगण, ऋषियोंका लक्षण, उनका मन्त्र द्रष्टत्व, भेदभावका निराकरण, उसके दृष्टान्त और वैज्ञानिक युक्तियाँ, शास्त्रोंमें विरोध-कल्पनाका अनौचित्य,

ज्ञानकी तीन श्रेणियाँ, अधिभौतिक ज्ञान—अनन्त शाखायुक्त, उसकी पदार्थ विद्यामें परिणति, आधिदैविकज्ञान—अनेक शाखा युक्त, स्थूलसृष्टिका कारणीभूत, आध्यात्मिकज्ञान—सातभूमिकाओंमें विभक्त, सब भूतोंमें अद्वैतभाव स्थापित होनेसे मुक्ति, आश्रमधर्म ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक, ब्रह्मचर्यमें गुरुसेवाओंके द्वारा अध्यात्म बल, गार्हस्थ्यमें संयमकेद्वारा आत्मबल तपके द्वारा वानप्रस्थमें आत्मधन और संन्यासमें त्यागके द्वारा आत्मधर्मकी प्राप्ति और उससे मुक्ति, आत्मबल और आत्मधन प्राप्त करनेवाले ही वास्तविक धनिक, रजोबीर्यका पीठशुद्धिमें और चक्रशुद्धिमें सहायक होना, वर्णधर्मका पीठशुद्धिमें और आश्रमधर्मका चक्रशुद्धिमें सहायक होना, भगवान् एकसे अनेक हुए, तबसे ब्रह्मानन्द प्राप्तिपर्यन्त साधककी सोलह अवस्थाएँ और सोलहों अवस्थामें अपरोक्षानुभूति आदिका ऊहापोह किया गया है।

"भगवद्भागवत सम्बन्ध निरूपण" में पितरोंके प्रश्न वेदान्तके अधिकारियोंका ज्ञानवान और जीवन्मुक्त होना कैसे सम्भव है? श्रीभगवान्के अवतारों और जीवन्मुक्तोंमें क्या अन्तर है? जीवन्मुक्त कर्मबन्धनको कैसे काट सकते हैं? इत्यादि। श्रीसदाशिव द्वारा समाधान—श्रीभगवान्का लक्षण, उनके गुणोंका भागवतमें प्रकाशित होना, भगवान् और भागवतमें अभेद; भागवतोंका अनुभव और उनकी जीवन्मुक्तावस्था, प्रारब्धादि त्रिविध कर्मोंके लक्षण, उनका जीवन्मुक्तके साथ सम्बन्ध; जीवन्मुक्तका प्रारब्धभोग; उनके सञ्चित और आगामी कर्मोंका ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें लय, उनसे ही समष्टि सुख दुःख और युगोंका प्रवर्तन; ज्ञानी पुरुषोंके पुण्य और पापोंका उनको सुख या दुःख देनेवालोंका अंशभागी होना; इसीसे उनका सब कर्मबन्धनोंसे छुटकारा; जीवन्मुक्तोंका ब्रह्मस्वरूप होना; प्रारब्धकर्मानुसार दो प्रकारके जीवन्मुक्त—

ब्रह्मकोटिके और ईशकोटिके; ईशकोटिके जीवन्मुक्त जगत्‌का उपकार करनेमें निरत रहते हैं और वे जो कुछ करते हैं, वह श्रीभगवान्‌का ही कार्य हुआ करता है, श्रीभगवान्‌की कृपासे ही जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति, श्रीभगवानके शरणागत आर्त आदि भक्तोंको श्रीभगवान्‌की प्रकृतिका मातृभावसे उन्नत करना, चतुर्विध अर्थी भक्तोंके प्रकृतिकी उपासनामें निरत रहने पर उनको प्रकृतिका पतिव्रता स्त्रीरूपसे श्रीभगवान्‌के अभिमुख करना, ज्ञानी भक्तोंका प्रकृतिमें लय होकर मुक्त हो जाना, ज्ञानी भक्त दिव्य आचारके अधिकारी, देश-काल-क्रियात्मक प्रकृतिकी विभूतियोंसे ज्ञानीका बन्धन नहीं, सगुण भगवद्विभूतियाँ और प्रकृतिकी विभूतियाँ, उनके लक्षण, जीवन्मुक्तोंके कर्म, त्रिगुणकी छः वृत्तियोंकी जीवन्मुक्तमें विचित्र स्थिति, ज्ञानीका जगद्गुरु होना, अवतार कर्माधीन और जीवन्मुक्त कर्म बन्धनसे मुक्त, अवतारोंको श्रीभगवान्‌की शक्तिकी अपेक्षा और जीवन्मुक्त निरपेक्ष, जीवन्मुक्तकी तीन अद्भुत दशाएँ, तीसरी दशामें विदेह मुक्ति और भगवत्सा-म्यत्व, इन सब विषयोंकी विवेचना की गयी है।

"शिवलिङ्ग निरूपण" में श्रीभगवान्‌की लिङ्गके रूपमें पूजा क्यों की जाती है? पितृगणको चिन्मय लिङ्गके दर्शनार्थ श्रीसदाशिवका दिव्य चक्षुप्रदान, चिन्मय लिङ्गका वर्णन, पितृगणद्वारा उस लिङ्गके विराट् रूपकी अद्भुत स्तुति, स्तुतिसे श्रीसदाशिवकी प्रसन्नता और आशीर्वाद प्रदान, जैव, ऐश और सहज कर्मोंके द्वारा त्रिविध मुक्ति, वर्णाश्रमधर्मके रक्षक होनेसे पितरोंको मुक्तिकी प्राप्ति, भगवद्युक्त होनेके लिये सरल उपाय, पितरोंके भगवद्युक्त होनेसे संसारका अभ्युदय और उनकी मुक्ति, शम्भुगीताके अध्ययनका फल, विश्वधारक याग प्रणालीका दिग्दर्शन और उस यागका फल, गीतामाहात्म्यके प्रचार सम्बन्धी श्रीसदाशिवकी पितरोंको

आज्ञा और उसका फल, ये सब विषय इस अन्तिम अध्यायमें वर्णित हुए हैं। इस प्रकार सात अध्यायोंमें यह 'श्रीशम्भुगीता' समाप्त हुई है।

श्रीशक्तिगीता

यह शक्ति-उपासकों (शाक्तों) का मार्ग-दर्शक और परम-सहायक ग्रन्थ है। इसके भी सात ही अध्याय हैं। यथाः— १—शक्ति और शक्तिमान्का अभेद योग, २—चित्कला विज्ञान-योग, ३—वेद काण्डत्रय विज्ञान योग, ४—मन्त्रशक्ति विज्ञान योग, ५—कर्मविज्ञानयोग, ६—ज्ञान-विज्ञानयोग और ७—विराट् रूप-दर्शन और विभूतियोग।

"शक्ति और शक्तिमानके अभेद योग" में सूतजीका श्रीभग-वान् वेदव्यासके निकट शक्ति गीताके श्रवणकी इच्छा प्रकट करना, श्री व्यासजीका ब्रह्मादि देवता और महादेवीके सम्वाद रूपमें शक्तिगीता सुनाना; देवासुर-संग्राममें देवताओंके हार जानेसे उनका श्रीभगवतीके दर्शनकी अभिलाषासे अम्बायज्ञका अनुष्ठान करना, नारदजीके द्वारा दर्शन न पानेका कारण जानकर श्रीविष्णुके उपदेशसे श्रीविष्णुको ही चक्रेश्वर बनाकर ब्रह्मचक्रका विधिपूर्वक अनुष्ठान करना, श्रीभगवतीका आविर्भाव, देवताओंका दर्शन पानेपर उनके अद्भुत स्वरूपका वर्णन, देवताओं द्वारा अद्भुत स्तुति, श्रीभग-वतीके स्वरूप ज्ञान और सान्निध्य प्राप्तिकी जिज्ञासा, सच्चिदानन्द-मयी श्रीभगवतीके कारणब्रह्म, कार्यब्रह्म, प्रकृति, पुरुष आदि रूपोंके धारणका विज्ञान, आनन्दसत्ताका विलास जगत्, क्षेत्ररूपा प्रकृति और बीजरूप पुरुष, स्थावरमें सत्सत्ता और जंगममें चित्सत्ता-

की प्रधानता, आनन्दसत्ताकी सत् और चित्‌में व्यापकता, त्रिगुणके द्वारा सृष्टि-स्थिति-लय और त्रिभावके द्वारा उनका अनुभव, अनेक ब्रह्मा-विष्णु-महेशोंकी उत्पत्ति और उनको उनकी शक्तियोंकी प्राप्ति, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भावोंसे ऋषि, देवता और पितरोंकी उत्पत्ति, चतुर्विध शक्तियोंका स्वरूप और जगदुत्पत्तिमें उनकी कारणता, महामायाका स्वरूप, शक्ति और शक्तिमान्‌में अभिन्नता तथा ब्रह्म, ईश और विराट्‌के स्वरूपका वर्णन किया गया है।

"चित्कला विज्ञानयोग"में कलारूपसे श्रीभगवतीका सर्वत्र अनुभव करनेके लिये श्रीभगवतीकी कलाओंका ज्ञान प्राप्त करनेकी जिज्ञासा, दृश्यप्रपञ्चमें श्रीभगवतीकी कलारूपसे व्यापकता, सद्भाव, चित्‌भाव और आनन्दभावकी सोलह-सोलह कलाओंकी श्रीभगवतीमें पूर्णता, उन सोलह-सोलह कलाओंमेंसे एक-एक कलाके आश्रयसे दृश्य प्रपञ्चकी सृष्टि, वे ही सोलह-सोलह कलाएँ एक-एककी सोलह सोलह होकर दृश्य व्याप्त हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेशमें सोलहों कलाओंकी पूर्णता और उनमें ऋषि, देवता और पितरोंकी प्रधानता, सप्तर्षि, अन्यान्य ऋषि-महर्षि, उनके अवतार, तैंतीस देवता, नित्य नैमित्तिक देवता, पितृगण, प्रजापति आदिमें कलाओंका तारतम्य, श्रीभगवतीमें शक्तिकी षोडश कलाएँ, उन्हीं कलाओंका उद्भिज्जादि जीवों, मनुष्यों और अवतारोंमें तारतम्य, धर्ममें सोलहों कलाओंका विकास और उसकी विश्वधारकता, धर्मके अंगों, उपांगों और धर्मसम्प्रदायोंमें कलाओंका तारतम्य, प्रवृत्ति धर्मके अधिष्ठाता विष्णु और निवृत्ति धर्मके अधिष्ठाता सदाशिव तथा उनका जगद्गुरुत्व, आर्य नारीधर्मके आदर्श, उनका स्वरूप और फल, महामाया भावमें भेद-राहित्य, गौरीभावमें तन्मयता और दुर्गाभावमें सर्वशक्ति-

मत्ता, प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्मकी पूर्णताकी अवस्था, उसके अधिकारी, त्रिगुणभेदसे धर्मके अङ्गोंपाङ्गोंमें कलाओंका वृद्धिक्रम, उसकी पूर्णता, वर्णाश्रमधर्ममें कलाओंकी पूर्णताका परिणाम, नारीजातिके आदर्शका प्राकट्य और साधकोंमें त्रिविध भावोंका अनुभव वर्णित हुआ है।

"वेदकाण्डत्रय विज्ञानयोग"में वेदके काण्डत्रयका विज्ञान क्या है और योग रहस्य तथा वेदविज्ञानके साथ योगका क्या संबंध है? योगशक्तिवर्णन, कर्म-उपासना-ज्ञानयोगके लक्षण और उनकी धारणा, कर्मयोगके भेद, उनसे जगदश्वत्थ और प्रबोधकल्पपादपकी उत्पत्ति, उनके साथ अभ्युदय और कैवल्यका सम्बन्ध, सकाम-निष्कामकर्म, उनके साथ प्रवृत्ति-निवृत्ति और साधारण तथा विशेषधर्मका सम्बन्ध, त्रिविधगति, सुख और आनन्दसे कर्मयोगमें प्रवृत्ति, सुखका विभूतिसे और आनन्दका स्वरूपोपलब्धिसे, सम्बन्ध, चतुर्विधभक्त, स्वरूपोपलब्धिकी बाधक सिद्धियाँ, संयमका सिद्धियोंसे एकतत्त्वका स्वरूपोपलब्धिसे सम्बन्ध, योगके आठ अङ्ग, संयम और एकतत्त्वके सम्बन्धसे उनके सोलह भेद, क्रिया सिद्धान्शके विचारसे चदुर्विधयोग, उनके लक्षण और ध्यान तथा उनका अष्टांगयोग मूलकत्व, ज्ञानी भक्तोंके साथ अभिन्नता, योगके आठों अङ्गोंके लक्षण, उनके भेद, शुक्ल और सहज गतिके साथ सविकल्प और निर्विकल्प समाधिका सम्बन्ध, धारणा और ध्यानसे संयम और एकतत्त्वका प्रारम्भ, संयम और एकतत्त्वका लक्षण, उनके साथ सिद्धि और आत्मज्ञान अर्थात् अभ्युदय तथा निःश्रेयसका सम्बन्ध, योगकी प्राणभूताभक्ति, उसके भेद, आसक्ति और भाव तथा संयम और एकतत्त्वसे गौणी एवं पराभक्तिका सम्बन्ध, तत्त्वज्ञानके द्वारा यथार्थस्वरूपोपलब्धि, ज्ञानयोगका माहात्म्य, विद्या और अविद्याके साथ मुक्ति और बन्धनका सम्बन्ध, ज्ञानके

द्विविध अधिकार, उनका ऊर्द्ध्वगति, निर्वाण, परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूतिसे सम्बन्ध विवेचित हुआ है।

"मन्त्रशक्तिविज्ञानयोग"में प्रणव और बीजमन्त्र, उनका निर्गुण और सगुणरूपसे सम्बन्ध, मन्त्रके साथ देवताका सम्बन्ध, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, उनका कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म तथा प्रणव और बीजमन्त्रोंके साथ सम्बन्ध, मन्त्रोत्पत्ति और रूपोत्पत्ति; भाव और शब्दके साथ रूप और मन्त्रका सम्बन्ध, प्रणव और बीजमन्त्रोंका माहात्म्य, गायत्रीमाहात्म्य, बीजमन्त्रोंके भेद, प्रणव और बीजमन्त्रोंकी शक्ति, शस्त्र-अस्त्ररूपसे मन्त्रोंके भेद, उनके लक्षण, उनका सकाम-निष्कामसे सम्बन्ध, मन्त्रोंके द्वारा दैवी-शक्तियोंका आकर्षण, कर्म-उपासना-ज्ञानके साथ मन्त्रोंका सम्बन्ध; ब्रह्ममन्त्र, उसका माहात्म्य, मन्त्रसिद्धिके प्रभावसे सब कार्योंकी सिद्धि, अमन्त्रककर्मका कुफल, मन्त्रोंके द्वारा दैवी शक्तियोंका आविर्भाव, मन्त्रोंके साथ अगर्भ-सगर्भ योगका सम्बन्ध, साङ्ग-अनङ्ग मन्त्रोंके लक्षण और फल, मन्त्रोंमें वर्णचतुष्टय और उसका फल, सृष्टि और लयके साथ मन्त्रोंका सम्बन्ध, प्रणवके अभ्यासका फल, प्रणवसे सृष्टि और लयका सम्बन्ध, मन्त्र और कर्मका चेतनत्व तथा जडत्व, इत्यादि विषयोंका विवरण दिया गया है।

"कर्म विज्ञानयोग" में जगदुत्पादक कर्मका विज्ञान क्या हैं? उसकी गतिका रहस्य क्या है? उसकी शक्तिका लय करके मुक्तिका उपाय क्या है? देवताके इन प्रश्नोंके समाधानमें श्रीमहादेवीकी आज्ञा, कर्मकी व्यापकता, उसका सर्वकारणत्व, कर्म और महा-देवीकी शक्तिमें अभेद, कर्मके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध, कर्मके भेद, उनका कार्य और उनके अधिकारी, शक्तिके सम्बन्धसे अवतार भेद, अवतारोंका काल, कर्मका बीज संस्कार, संस्कारोंकी उत्पत्तिका स्थान, संस्कारोंके भेद और उनके साथ बंधमोक्षका सम्बन्ध, प्राकृत-

संस्कारोंके साथ वैदिक संस्कारोंका सम्बन्ध, अप्राकृत संस्कारोंकी अनन्तता, वैदिक संस्कार, उनके विभाग, उनका प्रवृत्तिरोधकत्व और निवृत्ति पोषकत्त्व, संन्यासमें प्राकृत संस्कारोंकी पूर्णता, कर्म-विभागके साथ संस्कारविभागका सम्बन्ध, संस्कारोंकी सादि-सान्तता, संस्कार शुद्धि, कर्मशुद्धि और मुक्तिका परम्परासम्बन्ध, संस्कार और कर्मका बीज और अंकुरके समान सम्बन्ध, सृष्टिप्रवाहकी अनादि-अनन्तता, सहजकर्मका जीवोंकी उत्पत्ति, अभ्युदय और मुक्ति-विधायकत्त्व, स्त्री-पुरुषोंमें संस्कार-शुद्धिका प्रकार और उसका परिणाम, त्रिविध कर्मोंका वैज्ञानिक स्वरूप और उनका कार्य, ईश्वरका स्वरूप, कर्मोंके सञ्चालक, कर्मकी गति जाननेसे मुक्ति, कर्मकी दो गतियाँ और उनका परिणाम, आकर्षण-विकर्षण शक्ति और उनका त्रिगुणोंसे सम्बन्ध, दोनोंकी साम्या-वस्था और उससे मुक्तिका सम्बन्ध, कर्मयोगका लक्षण और फल, सकाम और निष्कामभावसे कर्मोंके परिणाममें तारतम्य, कर्म-बन्धनसे छूटनेका सुगम उपाय, द्वन्द्वसे बन्ध और एकतत्त्वसे मुक्ति, निष्काम भावसे जैव कर्मका नाश, जैवी प्रकृतिका परिवर्तन और मुक्ति, कर्मफलोंका अवश्यम्भावित्व, मुक्तात्माओंके कर्मोंकी स्थिति, अवतारोंकी कर्माधीनता, मुक्तात्माओंका कर्मभोग, उनका सहज और ऐश कर्मोंके अधीन होना, कर्मत्यागकी असम्भवनीयता और कर्म-अकर्मके ज्ञानसे मुक्ति, ये सब विषय प्रतिपादित हुए हैं।

"ज्ञानविज्ञान योगमें" देवताओंने श्रीमहादेवीसे जिज्ञासा की है कि, वह तत्त्वज्ञान कौन सा है, जिसके जान लेनेसे कर्मबन्धनसे छुटकारा पाकर साधकको सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है ? उत्तरमें महादेवी आज्ञा करती हैं,—श्रीभगवतीका विस्तृत स्वरूप, उनकी आनन्द सत्तासे जगतकी उत्पत्ति, तत्कालीन विद्या और अविद्याका स्वरूप तथा उनके कार्य, बन्धदशाका मिथ्याज्ञानमूलकत्व,

विद्या और अविद्याके वशजीवोंकी अवस्था, ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म और अधिभूत भाव, शुद्धाशुद्ध कर्म और उनका बन्ध-मोत्तसे सम्बन्ध, अधिदैव और अधियज्ञ भाव, स्त्रीधारा-पुरुषधारा, कूटस्थ और उनका ईश्वरमें उत्तरोत्तर लयक्रम, आत्मज्ञानका विकाशक्रम, त्रिगुणानुसार त्रिविध भक्त, उनका अनुभवक्रम, उसके फलसे उनका विभूतियुक्त जन्म, ज्ञानी भक्तका अनुभवक्रम, उसमें दाम्पत्यप्रेमकी उपमा, पराभक्तिका स्वरूप, वैधीभक्तिमें उन्नतिका क्रम और उससे मुक्ति, सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंके लत्तण, क्रियमाणका प्रारब्ध होना दृष्ट और अदृष्ट संस्कारोंका विनिमय तथा उनके अधिकारी, ज्ञानीभक्तके कर्मोंकी दशा और उनका कर्मबन्धनसे छुटकारा, मुक्तिकी प्राप्तिमें सदाचारकी आवश्यकता और उसका फल, ज्ञानके अधिकारी, धर्माचरणसे भगवत्सान्निध्यकी प्राप्ति, चतुर्विंशतितत्त्व, अन्त:करण चतुष्टयका परस्पर सम्बन्ध, उसमें विद्या और अविद्याकी स्थिति, उसका फल, स्थूल, सूत्तम और कारण शरीरोंके लत्तण, पञ्चकोषोंका लत्तण आदि विषय प्रतिपादित हुए हैं।

"विराट् रूप दर्शन और विभूतियोग"में देवताओंकी श्रीजगदम्बाके विराट् स्वरूप दर्शनकी अभिलाषा, महादेवीका उनको दिव्य चत्तु: प्रदान करना, विराट्रूपका विस्तृत वर्णन, उसके दर्शनमें असमर्थता प्रकट करते हुए दृश्यमें व्याप्त स्वरूपका दर्शन करा देनेकी श्रीमहादेवीसे देवताओंकी प्रार्थना, श्रीमहादेवीकी त्रिविध और सप्तविध विभूतियों और उनके दर्शनका फल, श्रीमहादेवीकी साधारण विभूतियाँ विभूतिरूपसे उनकी सर्वत्र व्यापकता, उनका साधारण स्वरूप, धर्मकल्पद्रुम और उस पर-स्थित दो पत्ती, शक्तिगीताका स्वरूप, फलश्रुति, उसके प्रचारका

स्थान, उसके अनधिकारी और इसके द्वारा शक्तियागका विधान, उसका फल, ये सब विषय इस अन्तिम अध्यायमें समाविष्ट हुए हैं। इस प्रकार 'शक्तिगीता' सात अध्यायोंमें समाप्त हुई है।

श्रीविष्णु गीता

देवलोकमें देवताओंको निर्भय करनेके लिये श्रीभगवान् महाविष्णुने आविर्भूत होकर जो उपदेश दिये थे, वे इस गीतामें ग्रथित हुए हैं। श्रीमहाविष्णु और देवताओंके सम्वादरूपमें भगवान् वेदव्यासने सूतजीको यह गीता सुनायी है। इसके भी सात ही अध्याय हैं। यथा १—वैराग्य योग, २—सृष्टि-सृष्टि धारकयोग, ३—गुण-भाव-विज्ञानयोग, ४—कर्मयोग, ५—भक्तियोग, ६—ज्ञानयोग और ७—विश्वरूप दर्शनयोग।

"वैराग्य योग" में संसारका द्वन्द्वात्मक होना, द्वन्द्वोंके सामञ्जस्यकी रक्षाकेलिये दैवजगतमें देवता और असुरोंका प्रभुत्व, देवताओंकी प्रधानतासे सृष्टिका सामञ्जस्य, अप्रधानतासे नाना-विपर्यय, एकके तपःक्षयसे दूसरेका प्राधान्य, देवासुरसंग्रामका नित्यत्व, नैमित्तिक संग्राम, भोगवृद्धिसे देवताओंका तपःक्षय, दैव-राज्यपर असुरोंका अधिकार, नारदजीके उपदेशसे देवताओंकी तपस्या, श्रीमहाविष्णुका दर्शन, महामायाकी सहायतासे देवताओंके प्रकृतिस्थ होनेपर उनके द्वारा श्रीमहाविष्णुका स्वरूप वर्णन, श्रीमहाविष्णुके नाना विशेषणोंके भावोंको लेकर उनकी अद्भुत स्तुति, मोह–भय–ताप और अभाव मिट जानेके उपायकी देवताओंद्वारा जिज्ञासा, श्रीमहाविष्णुकी आज्ञा,—सदाचारके त्यागसे देवताओंके दुःखोंकी उत्पत्ति, सदाचारका ब्रह्मसद्भावसे सम्बन्ध, तापत्रयका हेतु अज्ञान, ज्ञानसे निर्भयता और मुक्ति, अभ्यास, साधारण ज्ञान, ध्यान, कर्मफलत्याग और शान्ति

इनकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता, ज्ञानीकी अवस्था और उसका फल, इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें आसक्ति ही स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति, आवागमन और परम दुःखका कारण, विषय-वैराग्यसे शिथिल-बन्धन साधकको ज्ञानोदयके साथ ही उन्नत अधिकारकी प्राप्ति, नश्वर शरीर सम्बन्धी भय भ्रान्तिमूलक, वैराग्यवर्णनके प्रसङ्गसे दृश्यप्रपञ्चका यथार्थ स्वरूपवर्णन और वैराग्य प्राप्ति विषयक विस्तृत विचार विवेचित हुए हैं।

"सृष्टि-सृष्टिधारकयोग" में सृष्टि क्या है और उसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? निगुर्णावस्थामें अद्वितीयता और शक्तिके आविर्भावसे सगुण महाविष्णुस्वरूपका आविर्भाव, शक्तिके दो रूप—विद्या—अविद्या—और उनके कार्य, आनन्दप्रकाशके लिये द्वैतरूपका आविर्भाव, शक्ति और मूलप्रकृतिका तादात्म्य, उसके विभाग, अष्टधा प्रकृति, मुक्तिदायिनी चेतनप्रकृति, सृष्टिका प्रवाहरूपसे अनाद्यनन्तत्व, प्रकृतिका सृष्टि-स्थिति-लयकर्तृत्व, उसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी सहायता, ब्रह्माका कार्य, सृष्टिचक्रका विवेक, अव्यक्त भावका वर्णन, भक्तिके द्वारा परमपुरुषकी प्राप्ति, परमपुरुषका स्वरूप, सृष्टिमें श्रीभगवान्‌का निर्लिप्तत्व और महत्त्व, धर्म ही सृष्टिका आधार, नियामक और मुक्तिदेनेवाला, धर्मका स्वरूप और उसका महान् कार्यकलाप, धर्म, कर्म और यज्ञका तादात्म्य, सहज और जैवकर्म, सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ यज्ञका सम्बन्ध, उसके द्वारा देवताओं तथा जीवोंकी परस्पर तुष्टि यज्ञका ब्रह्मसे सम्बन्ध, यज्ञके भेद, ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता, स्वर्गसे पुनरावृत्ति, भगवान् यज्ञेश्वर, दैवी और आसुरी सम्पत्ति, आसुर-सर्ग, काम-क्रोध और लोभ तीन नरकके द्वार, कार्याकार्य विचारमें शास्त्रोंका प्रामाण्य, दैवीभावकी रक्षाके लिये वर्णधर्म, चतुर्वर्णोंके कर्म, अपने अपने कर्मोंके आचरणसे सिद्धि, कर्मोंका सदोषत्व,

चेतन जीवोंके चार भेद, कृतविद्योंके आदर्श भगवान्, उनकी ओर दृष्टि रखनेसे पतनका भय नहीं आदि विषय समझाये गये हैं।

"गुणभावविज्ञानयोग" में अव्यक्त दशासे व्यक्तदशा होनेके समय त्रिगुणमयी प्रकृतिका आविर्भाव, त्रिगुणोंमें परिणाम, त्रिगुणोंके लक्षण, उनका जीवोंको बन्धनमें डालनेका प्रकार, एकके प्राधान्यमें अन्य दोनोंकी अप्रधानता, गुणोंके लक्षण, उस अवस्थामें शरीरत्यागका फल, गुणों द्वारा गति, उनका कर्मकर्तृत्व, उनके परे भगवद्भावकी स्थिति, त्रिगुणातीत होनेसे मुक्ति गुणातीतका लक्षण, यज्ञका लक्षण, त्रिगुणभेदसे ज्ञान, दान, तपादिके त्रिविध-लक्षण, भयानक-रोचक और यथार्थ वचनोंके अधिकारी, त्रिविध भाषाएँ, उनके लक्षण और अधिकारी, तीन पुरुषार्थ, त्रिगुणोंके अनुसार उनके लक्षण, त्रिविध आहार। सुख और त्यागके लक्षण, त्रिगुणोंका जगद्व्यापकत्व गुणातीतहोनेका आदेश, गुणकर्म विभागसे चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि, गुणमय भावोंसे मोहित होनेसे श्रीभगवान्की विस्मृति, श्रीभगवान्के शरणापन्न होनेसे गुणमयी मायासे निस्तार, त्रिगुणके द्वारा सृष्टि-स्थिति-लय, त्रिभावके द्वारा ज्ञान, विद्या और अविद्याका कार्य, कामका स्वरूप, उसके दमनका उपाय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्माकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता, श्रीभगवान्का स्वरूप, निष्पापपुण्यात्माओंकी श्रीभगवान्में भक्ति, उससे अध्यात्मादि भगवत्स्वरूपोंका ज्ञान, ब्रह्म अध्यात्मकर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके लक्षण, ॐतत्सत् मन्त्रकी व्याख्या, त्रिभवोंके स्वरूप, जीवात्मा स्वरूप, क्षर, अक्षर और परमात्माका लक्षण, परमात्मज्ञानसे सर्वज्ञता प्राप्ति आदि विषय प्रतिपादित हुए हैं।

"कर्मयोग" में सृष्टिप्रवाहके प्रवर्तक श्रीभगवान्, महामाया सृष्टिप्रवाहकी जननी, सृष्टि स्थिति-लयका कारण कर्म, प्रकृतिके

दो भेद, त्रिगुणमयी प्रकृतिका कर्मोत्पत्तिका हेतुत्व, त्रिविध कर्मोंके लक्षण, उनके साथ सृष्टि-स्थिति-लयका, जीवोंका, देवता, ऋषि और पितरोंका सम्बन्ध, जैवकर्मके शुद्धाशुद्धभेद, उनसे पुण्य-पाप, वासनाप्रवाह और सृष्टिप्रवाहका सम्बन्ध, वासनानाशसे जैवकर्मकी सहज तथा ऐश-कर्ममें परिणति, कर्मयोगकी दशा, शुक्ल-कृष्णगति, उनके साथ प्रवृत्ति-निवृत्तिका सम्बन्ध, सहजगतिके अधिकारी, कर्मगतिकी दुर्ज्ञेयता, सहजगतिमें मृत्युकेलिये स्थानविशेषकी अनावश्यकता, कर्मयोगी होनेका उपदेश, कर्मयोगका लक्षण और फल, कर्मयोग और ज्ञानयोग, कर्मयोगकी श्रेष्ठता, यज्ञार्थ कर्मका अकर्तृत्व, कर्मसे सिद्धि, लोकसंग्रहार्थ कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता, श्रीभगवान्की कर्ममें प्रवृत्तिका तत्त्व, लोकसंग्रहार्थ बुद्धिभेद न करते हुए कर्मोंका करना, कर्मकर्तृत्वका आत्मामें वृथा आरोप, राग-द्वेषराहित्य, स्वधर्ममें मरण कल्याणप्रद, श्रीभगवान्की कर्मोंमें निर्लिप्तता, इसीके ज्ञानसे मुक्ति कर्म-अकर्म और विकर्म, पण्डितका लक्षण, युक्त और अयुक्त, कर्म और शमका आरुरुक्षु और योगारूढसे सम्बन्ध, योगारूढका लक्षण योगभ्रष्टकी गति, अन्ते मतिः सा गतिः, कर्मयोगकी सर्वोत्कृष्टता आदि विषय वर्णित हुए हैं।

"भक्तियोग"में पराभक्तिका अधिकार, उसका फल और उसकी प्राप्ति न होनेतक सगुणोपासनाकी आवश्यकता, रागात्मिका भक्तिमें लीलामय अवतारोंकी उपासनाकी आवश्यकता, निर्गुण, सगुण और लीलामयविग्रहोंकी एकता, अवतारोंके भेद, समय और प्रयोजन, भगवान्के ज्ञानसे भगवद्भावकी प्राप्ति, कर्मोंके द्वारा सिद्धि, वैधी और रागात्मिका भक्ति, चार प्रकारके योग, उनके साधन प्रकार, युक्तका लक्षण और उसकी दशा, मनोवशीकारका उपाय, अभ्यास और वैराग्यसे मनोनिग्रह, चतुर्विधभक्त, ज्ञानी भक्तकी सर्वोत्कृष्टता, श्रद्धापूर्वक देवार्चनका फल, सब समय भगवत्स्मरणका

आदेश, मृत्युकालीन साधन, अनन्य भक्तिका महत्त्व, राक्षसी, आसुरी और दैवी प्रकृतिके व्यक्तियोंके भाव, दैवीप्रकृति सम्पन्न व्यक्तियोंके साधनभेद, भक्तिसे अर्पित क्षुद्र वस्तुका भी श्रीभगवान्के द्वारा स्वीकार, पापात्माकी भी भक्त होनेसे मुक्ति, अनन्य भक्ति करनेका आदेश, अव्यक्तोपासनासे कर्मयोगकी श्रेष्ठता, अभ्यास, कर्म और कर्मफलत्याग, श्रीभगवान्के प्रियभक्तके लक्षण वर्णित हुए हैं।

"ज्ञानयोगमें" त्रिविधज्ञान और उसका स्वरूप, उसके अधिकारी, तटस्थज्ञानकी तीन भूमिकाएँ, द्विविधप्रकृति, उसके कार्य, ज्ञानका लक्षण, उसकी प्राप्तिमें श्रीगुरुकृपाकी आवश्यकता, ज्ञान-प्राप्तिका उपाय, ज्ञानकी उत्कृष्टता, ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी, ज्ञानसे अज्ञानका नाश, साम्यभावका लक्षण, ब्रह्मविद्का लक्षण, युक्तका लक्षण, नवविद्याप्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रका स्वरूप, ज्ञेयका स्वरूप, प्रकृति, पुरुष और परमात्माका कार्य, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी व्यापकता, परमेश्वरकी समभावसे व्यापकता, प्रकृतिका कर्मकर्तृत्व और आत्माका अकर्तृत्व, परमात्माकी निर्लिप्तता, सृष्टिकातत्व, अधिष्ठान, कर्ता, करण (साधन) और दैवके द्वारा कर्मोंका होना, निर्लिप्तका लक्षण, ज्ञानी और अज्ञानीकी रात्रि, स्थितप्रज्ञका लक्षण, सङ्ग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिविभ्रम और बुद्धिनाशकी कारण परम्परा, प्रसादका लक्षण, इन्द्रियसंयमका फल, कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी श्रेष्ठता, ज्ञानयोग और कर्मयोगका समानफलजनकत्व, कर्मयोगके बिना संन्यासप्राप्तिमें कठिनता, कर्मयोगीकी दशा, संन्यासी और योगीका लक्षण, कर्मफलको भगवान्में अर्पण करना ही संन्यास, कर्मन्यास और त्याग, त्यागीका लक्षण, ब्रह्मीभूतकी लक्षण, श्रीभगवान्में सब कर्मोंका अर्पण आदि विषय विवेचित हुए हैं।

"विश्वरूप दर्शनयोग" में देवताओंकी जिज्ञासा,—किस रूपमें चिन्तन करनेसे हम आपको निरन्तर प्राप्त कर सकते हैं ? विष्णुकी आज्ञा—दिव्यचक्षुओंके द्वारा विज्ञान-कोषमें स्थित होनेसे प्रतिक्षण मेरे विराट्रूपका दर्शन हो सकेगा। श्रीमहाविष्णुके द्वारा देवताओंको दिव्यचक्षुप्रदान, विराट्रूपका दर्शन होनेपर देवताओं द्वारा श्रीमहाविष्णुकी स्तुति और विराट् रूपका वर्णन तथा विभूति रूपमें दर्शन देनेकी प्रार्थना, अद्भुत विभूति रूपका वर्णन, विभूतियोंका अनन्तत्व, विभूतिमानका लक्षण, भगवत्स्वरूपका वर्णन, विभूति, विराट् रूप और आत्मस्वरूपका मन, बुद्धि और समाधिसे सम्बन्ध, भगवान्के शरणापन्न होनेकी आज्ञा, भगवान्की प्रसन्नता, द्वापरके अन्तमें कृष्णावताररूपसे पुनः भारतमें इस 'विष्णुगीता' के ज्ञानका उपदेश देनेका भविष्य कथन, इस गीताका माहात्म्य, आधिदैविक तापनिवृत्तिके लिये 'विश्वम्भरयोग' करनेकी आज्ञा, उसके द्वारा सब व्याधियोंकी निवृत्ति, गीताका अधिकारी और उसके द्वारा जगत्से शान्ति-प्रचार, फलश्रुति आदि विषय वर्णित हुए हैं। इस प्रकार यह गीता सात अध्यायोंमें समाप्त हुई है।

श्रीधीश गीता

पञ्चदेवोपासकोंकी पाँच गीताओंमेंसे यह पाँचवी गीता है। इसके सात अध्याये हैं। यथा—१—स्वस्वरूपभावनिरूपण, २—सिद्धिस्वरूपनिरूपण, ३—ज्ञानभूमिनिरूपण, ४—धर्मविज्ञान-निरूपण, ५—वेदान्तनिरूपण, ६—वेदान्तसिद्धान्तनिरूपण और ७—विराट्स्वरूपनिरूपण। 'धीशगीता' सुनानेकी श्रीभगवान् व्यासनारायणसे सूतजीकी प्रार्थना, व्यासजीकी आज्ञा,—जिज्ञासुओंको ज्ञानोपदेश और मुमुक्षुओंको तत्त्वज्ञानोपदेश देकर

जगतमें वेदोंका प्रचार करना ही मेरे जीवनका व्रत है। ऊर्ध्व-सप्तलोक देवावास और सप्तअधोलोक असुरावास, मध्यसन्धिमें मृत्युलोक, भूर्लोकका पार्थिवलोक, दैवलोक, पितृलोक, देवासुर-संग्राममें असुरोंकी जीत होनेपर कुछ ऊर्ध्वलोकों पर असुरोंका अधिकार, ऋषियोंकी चतुर्दशभुवनोंमें अबाधित गति, ऊर्ध्वसप्त-लोकोंमें उनका निवास, भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकमें देवराज इन्द्रका अनुशासन, सप्तअधोलोकोंमें असुरराजका अनुशासन, सप्तम ऊर्ध्वलोकमें ब्रह्मसद्भावयुक्त महर्षियोंका निवास, वहाँसे उनकी अपुनरावृत्ति, छठें और सातवें लोककी सन्धिमें सगुणो-पासनाके लोकोंकी स्थिति, देवता और ऋषियोंका निरन्तर समा-गम, ऋषियोंकी धीशलोकमें जाकर श्रीभगवान् महागणपतिसे भगवत्स्वरूपसम्बन्धी जिज्ञासा, श्रीमहागणपतिका ऋषियोंको 'धीशगीता' सुनाना। इस प्रकार उपक्रमकर श्रीव्यासदेवने ऋषियों और श्रीगणपतिके सम्वादरूपमें यह गीता प्रकाशित की है।

इसके प्रथम अध्याय "स्वस्वरूपभावनिरूपण" में सप्तज्ञान-भूमियोंसे परे श्रीभगवान्‌की स्थिति, भक्तोंकी भावनाके अनुसार स्थूलरूप और ज्योतिरूपमें उनका दर्शन, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ, वृत्तियाँ, भाव और महत्‌का स्थूल विषयोंसे परे होना, तदनन्तर भगवद्दर्शन, भगवत्स्वरूप, स्वरूपस्थितिमें मूलप्रकृतिका भगवान्‌में लीन होना, व्युत्थानदशामें उसके द्वारा सृष्टि-स्थिति-प्रलय, भावोंसे गुणोंका अनुभव, भावोंके द्वारा भगवान्‌का आविर्भाव और भक्तोंको ज्ञानप्रदान, भावोंकेद्वारा प्रकृतिदर्शन और उससे मुक्ति, कारणदशामें त्रिभावोंकी अद्वैतता, कार्यदशामें त्रिभावात्मक तटस्थज्ञानका मुक्तिप्रदत्व, भावत्रयरूपसे श्रीभगवान्‌की व्यापकता, भक्तिसागरमें उन्मज्जन-निमज्जन करनेमें भावत्रयकारण, अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत भावोंके लक्षण, इनको देवता, ऋषि और पितरों-

से सम्बन्ध, कार्यब्रह्मरूप जगत्के पदार्थों, शास्त्रों, सृष्टि और लय-क्रियाओं और जीवभावमें तथा देवासुरसंग्राम एवं उत्पत्ति और मुक्तिदशामें त्रिभावोंका परिदर्शन, 'ॐ तत्सत्' मन्त्रका भावत्रयसे सम्बन्ध, इसके जपादिसे अन्तर्दृष्टिकी प्राप्ति, त्रिभावोंकी कार्य-ब्रह्ममें व्यापकता, त्रिभावोंमें श्रीभगवान्‌का दर्शन होनेपर प्रकृति-बन्धनसे मुक्ति आदि विषयोंका प्रतिपादन किया गया है।

"सिद्धिस्वरूपनिरूपण" में ऋषियोंके द्वारा सप्तज्ञानभूमियोंके ऊपर सिद्धिसहित श्रीगणेशजीका साक्षात्कार होनेपर सिद्धिस्वरूपके रहस्यको जाननेकी इच्छा करना, श्रीगणेश-जीकी आज्ञा,—सिद्धि भगवच्छक्तिरूपा है, श्रीभगवान्‌के निरपेक्ष होनेपर भी वे भगवत्सेवामें सदा निरत रहती हैं, अध्यात्म-अधि-दैव-अधिभूत और सहजरूपसे चतुर्विध सिद्धियाँ, भगवान्‌की सिद्धिके साथ निर्लिप्तता, सिद्धियोंके भेद, सिद्धिप्राप्तिके प्रधान आठ उपाय, तप, संयम और समाधिके द्वारा सब प्रकारकी सिद्धियों-की प्राप्ति, चतुर्विध सिद्धियोंके लक्षण, योगी, तपस्वी और जीव-न्मुक्तोंमें प्रकाशित होनेवाली तैंतीस सहज-सिद्धियाँ भगवत्प्रकृति महामाया सिद्धियोंके द्वारा जीवोंको विमोहित कर आवागमनके चक्रमें फँसाती हैं, ज्ञानी विमोहित नहीं होते, ज्ञानियोंकी सिद्धिका प्राकट्य कुलकामिनीके अङ्गदर्शनके समान, भक्तिहीन योगी, लक्ष्यहीन तपस्वी और ज्ञानहीन उग्रकर्मा साधक सिद्धियोंको प्रकट कर पतित होते हैं, सिद्धिके चार आयुधोंका रहस्य, अज्ञसाधक सिद्धियोंको प्राप्तकर स्वर्ग, नरक, पितृलोक और प्रेतलोकमें भ्रमण करते रहते हैं किन्तु ज्ञानी भक्त मुमुक्षु सिद्धिके अधीश्वरको प्राप्त करते हैं, आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु भक्तोंको मातृरूपिणी सिद्धि भगवान्‌की ओर अग्रसर करती है, पराप्रकृति और अपराप्रकृति रूपसे सिद्धिके दो रूप, अपराप्रकृतिका अनेक विधत्व, पराप्रकृति-

का एकत्व, जीवोंके समष्टि कर्मोंके अनुसार भगवान्‌की आज्ञासे भगवदवतारोंमें ऐसी सिद्धियोंका प्रकाश, परासिद्धिकी उपासना, सिद्धिके मोदक और त्रिशूलकी ओर दृष्टि न रखकर चक्र और पद्मकी ओर दृष्टि रखनेकी आज्ञा और उसका कारण आदि विषय विवृत हुए हैं।

"ज्ञानभूमिनिरूपण" में दिव्य दृष्टिसे ज्ञानभूमियोंमें परासिद्धिका उत्तरोत्तर स्पष्ट दर्शन होना, तटस्थ और स्वरूपज्ञानके लक्षण, तटस्थमें सच्चिदानन्दभावकी पृथक् अनुभूति और स्वरूपमें अद्वैतरूपसे अनुभव, तटस्थमें भावोंकी अनन्तता और स्वरूपमें अद्वैतता, स्वरूपकी प्राप्तिमें तटस्थकी कारणता, स्वरूपावस्था और उससे पूर्ण सात्विक ज्ञानका मिलान, तटस्थका अहङ्कारसे सम्बन्ध और स्वरूपका भगवद्रूपत्व, अविद्यासे विभक्त ज्ञान और विद्यासे अविभक्तज्ञान, विभक्तज्ञानसे अविभक्त ज्ञानमें ले जानेवाली सात ज्ञानभूमियाँ, सात अज्ञानभूमियोंसे बचनेकेलिये कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डकी कारणता, सोपानारोहणके समान ज्ञानभूमियोंके अतिक्रमण कर लेनेपर भगवत्स्वरूपका दर्शन, परासिद्धिकी कृपासे ज्ञानभूमियोंका स्वरूप ज्ञान प्राप्तिमें कारणत्व, ज्ञानभूमियाँ और उनकी प्राप्तिमें अज्ञानभूमियोंके अतिक्रमणका प्रयोजन, चतुर्विधभूतसंघोंमें अज्ञानभूमियोंका स्थितिक्रम, मनुष्योंमें अधम-मध्यम और उत्तमरूपसे पाँचवीं, छठीं और सातवीं अज्ञानभूमिकी स्थिति, उनके लक्षण और उनके निराकरणमें वेदोंकी तत्परता, ज्ञानभूमियोंका शुद्ध-सत्त्वगुण-वर्द्धकत्व और उसका अनुभव, श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूपी त्रिविध पुरुषार्थ और ज्ञानभूमियोंमें उनकी उपकारिता, ज्ञानभूमियोंका लक्षण, महाकाशगोलक और उसमें छाया तथा ज्योतिरूपसे अज्ञान और ज्ञानके सात सात स्तर, दस स्तरोंका मनुष्योंसे सम्बन्ध और

उन्हींमें सब दर्शनशास्त्रोंकी स्थिति, दर्शनोंमें परस्पर विरोधकल्पनाका अनौचित्य आदि विषय वर्णित हुए हैं।

"धर्मविज्ञान निरूपण"में बताया गया है कि, सृष्टिका धारक धर्म ही अज्ञान भूमियोंसे बचाकर साधकको ज्ञानभूमियोंमें पहुँचाता है, धर्मकी स्थितिके भगवान् ही अधिष्ठान, धर्मका स्वरूप भगवच्छक्ति, सात्विकी शक्ति धर्मरूप, आकर्षण-विकर्षणमें राजसिक-तामसिक शक्ति दोनोंके सामञ्जस्यमें सात्विकी शक्ति और उसीसे ब्रह्माण्डकी स्थिति, सृष्टिके सामञ्जस्यमें देवासुरसंग्रामका कारणत्व, उद्भिज्जसे मनुष्य तक पहुँचनेमें धर्म ही कारण, मनुष्य ही मोक्षका अधिकारी, धर्मशक्तिके द्वारा मनुष्यकी मुक्ति, धर्मका महत्त्व, धर्मके साधारण और विशेष भेद, साधारण धर्मके चौबीस तत्त्वोंके अनुसार चौबीस भेद, साधारणधर्मका महत्त्व, उसका अन्यान्य धर्ममार्गोंका जनकत्व और पितृभाव, सनातनधर्म, विशेषधर्म और उसके अङ्गभूत वर्णाश्रमधर्मका लक्षण, नारीधर्म तपःप्रधान और नृधर्म यज्ञप्रधान, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, आपद्धर्म, शैवधर्म, वैष्णवधर्म आदि विशेष धर्म हैं, विशेषधर्ममें सदाचारकी प्रधानता, विशेषधर्मका अन्तिम अधिकार संन्यास, सदाचारसे लेकर संन्यासतक विशेषधर्मका सम्बन्ध, वर्णाश्रमादि विशेषधर्मोंके पालनसे ज्ञानभूमियोंके पथिक होकर साधारणधर्मके अधिकारी होना, उससे धर्मके सार्वभौमरूपका ज्ञान होना, सार्वभौमस्वरूपका पूर्णज्ञान होनेपर भगवत्सायुज्यकी प्राप्ति आदि विषय विवेचित हुए हैं।

"वेदान्तनिरूपण"में श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी उपयोगिता, स्वभावजनित सहजकर्म और अविद्याके प्रभावसे जीवत्वका आविर्भाव, अविद्या और कर्मप्रवाहका अनादित्व, सहजकर्मकी, प्रकृतिके साथ ही उत्पत्ति, उससे चतुर्विधभूतसंघकी उत्पत्ति, जीवका चिज्जडग्रन्थिरूपत्व, चैतन्यके जीवभावकी प्राप्तिका क्रम और विद्याकी

सहायतासे जीवकी मुक्ति, अविद्याके जाल और कर्मबन्धनसे भक्तिके द्वारा मुक्ति; प्रकृतिके तीन गुण और उनके कार्य, तीन गुणोंमें सत्त्व और तमकी प्रधानता तथा रजका उभय सहायकत्व, तमोमयी प्रकृति अविद्या और सत्त्वमयी प्रकृति विद्या, सत्त्वमें तमका और तमका सत्त्वमें परिणाम, चिज्जडग्रन्थि, विद्या और अविद्याके कार्य तथा उनका फल, ब्रह्म, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर, अन्नमय-प्राण-मय-मनोमय - विज्ञानमय - आनन्दमयकोष, जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तिअव-स्थाएँ और प्राज्ञ, तैजस तथा विश्वसे लक्षण, चौबीस तत्त्व और पचीसवाँ पुरुष, इन्द्रियोंके विषय, दो इन्द्रियोंकी विशेषता, अन्तः-करणके विषय, इन्द्रियों और अन्तःकरणकी देवताएँ, अन्तः-करणकी प्रधानदेवता ब्रह्मा, वे चतुरानन क्यों हैं ? जीव और ईश्वर-का लक्षण, अविद्या और मायाका स्वरूप तथा उनके कार्य, पञ्च-कोष, तीन अवस्थाएँ, जीव और ईश्वर, इनसे आत्माकी अभिन्नता, 'नेतिनेति' विचारसे तत्त्वातीतकी प्राप्ति और भगवद्दर्शन आदि विषयोंपर प्रकाश डाला गया है।

"वेदान्त सिद्धान्तनिरूपण"में पञ्चकोषोंसे आत्माका आवरण, सृष्टिप्रकरण पञ्चीकरण, प्रत्येक ब्रह्माण्डके चौदहविभाग, पिण्डाभि-मानी जीव और अखिल ब्रह्माण्डाभिमानी ईश्वर, उनका अविद्या और मायासे सम्बन्ध, जीव और ईश्वरमें अभेद, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थरूपसे 'तत्त्वम्' पदका एकीकरण, ब्रह्मका सत्यत्व, जगतका मिथ्यात्व तथा जीव और ब्रह्मकी एकता, सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि होनेसे मुक्ति, अविद्या मायाकी भ्रान्ति दूर होनेसे ब्रह्मरूपका दर्शन, जड़-जीवों, अज्ञानीजीवों, ज्ञानियों और जीवनमुक्तोंकी संसार-सम्बन्धी दृष्टि, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्तवाले जीवन्मुक्तोंका परिवार आदि विषयोंका विवरण है।

अन्तिम "विराट्स्वरूपनिरूपण"में श्रीगणपतिकी कृपासे

ऋषियोंके तृतीयज्ञाननेत्रका उन्मीलन, उससे श्रीभगवान्के विराट्-रूपकादर्शन, ऋषियोंकेद्वारा उसका अद्भुत वर्णन, श्रीमहागणपतिके नाना विशेषणोंसे उनके अलौकिक कार्योंका दिग्दर्शन, ऋषियों द्वारा श्रीधीश महाप्रभुकी स्तुति, योगयुक्तदशामें उनका सगुणरूप, आत्मयुक्तदशामें विराट्रूप और कर्मयुक्त दशामें विभूतिरूप उपासनामें परम सहायक, दो प्रकारके जीव—स्वाधीन और प्राकृत, प्राकृतोंमें हाथी और स्वाधीनोंमें मनुष्यका भगवद्रूपत्व, इसीसे गजानन और मनुष्यशरीररूपसे भगवानके सगुणरूपका होना, भगवानकी विभूतियाँ, सिद्धिमें सात्विकश्रद्धा रखनेकी श्रीधीशकी आज्ञा, उसके तीन भाव, धीशगीताका माहात्म्य, अधिकारी, फलश्रुति, अनुष्ठान विधि आदि विषय सन्निविष्ट हुए हैं। इस प्रकार सात अध्यायोंमें यह गीता समाप्त हुई है।

श्रीगुरुगीता।

उक्त पञ्चदेवोपासनाकी पाँच गीतायें प्रकाशित होनेसे पहले ही श्रीजी द्वारा श्रीगुरुगीता प्रकाशित हो गयी थी। क्योंकि क्या लौकिक और क्या पारलौकिक सब प्रकारका ज्ञान श्रीगुरुदेवसे ही प्राप्त होता है। अतः श्रीगुरुदेवकी कृपा प्राप्त करनेकेलिये साधक को श्रीसद्गुरुका रहस्य सबसे पहले जान लेना परम आवश्यक है। एक भक्तका कथन है :—

गुरु गोविन्द दोनों मिले काके लागूँ पाय।
बलहारी गुरुदेवकी (जिन) गोविन्द दियो बताय॥

बिना श्रीसद्गुरुकृपाके इस भवसागरसे पार होनेकेलिये भगवत्साक्षात्कार होकर साधकका उद्धार होना असम्भव है। इसीसे

प्राचीन महर्षियोंने श्रीगुरुदेवके शरणापन्न होकर उनसे दीक्षा लेनेकी परिपाटी चलायी है, जो भारतमें अब भी प्रचलित है। पत्थरपर बीज बोनेसे जैसा वह फूलता-फलता नहीं, वैसे ही बिना गुरुदीक्षाके साधन करनेसे आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। आर्योंका तो यहाँतक विश्वास है कि बिना गुरुदीक्षा लिये जो मर जाता है, उसको उत्तम गति प्राप्त नहीं होती। "गुरु बिन कौन बतावे बाट ?" यह सिद्धान्त संसारके सब धर्म-सम्प्रदायोंको मान्य है। मुसलमानोंके धर्मका शरीअत, तरीकत, मारफ़त या हकीकत कोई पन्थ हो, ईसाइयोंका कैथेलिक, ग्रीकचर्च, प्रोटेस्टण्ट कोई पन्थ हो, जैनोंका श्वेताम्बर, दिगम्बर कोई मत हो अथवा बौद्धोंका उत्तर दक्षिण कोई सम्प्रदाय हो, सबमें दीक्षा ग्रहणकी रीति न्यूनाधिक परिमाणमें प्रचलित है। योगिनीतन्त्रमें तो स्पष्ट ही लिखा है :—

> गुरुवक्त्रात्सादितो हि काममोक्षप्रदो हि सः।
> पुस्तकाद्वाचितो मन्त्रो केवलं वर्णमात्रकः॥

अर्थात्—गुरुमुखसे जो मन्त्र प्राप्त हो, वही भोग और मोक्षको देनेवाला है। पुस्तकसे जो मन्त्र पढ़ लेता है, वह तो केवल अक्षरमात्र है, उसका कोई फल नहीं। श्रीजीने इसी विचारसे गुरुतत्त्वको जाननेके विचारसे यह गीता प्रकाशित की है।

महर्षियोंके जिज्ञासा करनेपर उमामहेश्वर संवादात्मक यह गीता सूतजीने उन्हें सुनायी है। इसके चार ही अध्याय हैं :— १—गुरुदीक्षा, २—गुरुमाहात्म्य, ३—गुरुपूजापद्धति और ४—श्रीगुरुगीता माहात्म्य। अन्तमें श्रीभगवान् शंकराचार्यकी 'मणिरत्नमाला' जोड़ दी गयी है और साधकोंकी गुरुमहिमा सम्बन्धी

कुछ हिन्दी कविताएँ भी दे दी गयी हैं। इनको मिलाकर इस गीताके पाँच अध्याय माने जा सकते हैं।

"गुरुदीक्षा" प्रकरणमें बताया गया है कि, जिस शक्तिके द्वारा हम उन्नतिकी ओर ले जाये जाते हैं, वही शक्ति गुरुदेव हैं और जिसके इंगितमात्रसे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि अपने-अपने कार्य करते रहने हैं, वही जगत्संचालिका महाशक्ति जगद्गुरु रूप है। शास्त्रमें गुरु दो प्रकारके माने गये हैं—१—शिक्षागुरु और २—दीक्षागुरु। माता, पिता, आचार्यादि, जो सांसारिक ज्ञानकी अभिवृद्धिमें सहायता करें, वे शिक्षागुरु हैं और त्रितापतप्तजीव शान्ति-प्राप्तिके लिये जब व्याकुल हो उठता है, तब उसकी व्याकुलता मिटानेके लिये जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष, इस मायामय अन्धकारपूर्ण संसारपथको उपदेशरूपी दीपकके द्वारा प्रकाशित कर सुगम कर देता है, वह दीक्षागुरु है। श्रीगुरुदेवकी शक्तिका पार नहीं। वे यदि इच्छा करें, तो चाहे जैसे देशकालमें, चाहे जैसे अधिकारके शिष्यका—बिना परीक्षा किये ही दीक्षा द्वारा कल्याण कर सकते हैं। सनातनधर्ममें जिस प्रकार गुरुकी महिमा, आध्यात्मिक उन्नति करनेमें गुरुदीक्षाकी आवश्यकता और गुरुतत्त्वको विस्तृत रूपसे प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकारका वैज्ञानिक-भावपूर्ण प्रतिपादन कहीं देखनेमें नहीं आता। यद्यपि जीव अपने कर्मानुसार ही आवागमनचक्रमें घूमता हुआ सत्-असत् फल भोग किया करता है, तथापि कर्म जड़ होनेके कारण अपने आप फल उत्पन्न नहीं कर सकता। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ही अपनी महाशक्तिके द्वारा उन कर्मोंके अनुसार जीवको फल प्रदान किया करते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक उन्नति करते समय मनुष्यको ईश्वरकी शक्तिकी सहायता लेनी पड़ती है। भगवान् स्वयं मूर्तिमान् होकर जीवको फल प्रदान नहीं करते, किन्तु वे अपने जीव-

रूपी अनन्त केन्द्रोंमेंसे किसी श्रेष्ठ पुरुषके केन्द्रमें स्थित होकर गुरुके रूपमें जिज्ञासुका कल्याणसाधन किया करते हैं। इस जीव-हितकारी महान् कार्यमें ईश्वर कारणभूमि और श्रीगुरुदेव कार्य-भूमि है। इसीसे आर्यशास्त्रोंमें गुरुदीक्षा और गुरुदेवकी इतनी महिमा वर्णित हुई है। गुरुदीक्षाके बिना सब प्रकारका साधन विफल हो जाता है और परम कल्याणकारी आध्यात्मिक उन्नति भी नहीं होती। मन्त्र, हठ, लय और राजयोगका साधन तो बिना गुरुदेवकी सहायताके हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये गुरुदेवकी कृपा ही सर्वोपरि है। इसी अध्यायमें गुरु और शिष्यके लक्षण भी बता दिये गये हैं।

"गुरुमाहात्म्य" अध्यायमें प्रथम कैलाश और जगद्गुरु श्री-सदाशिवके रूपका वर्णन है, फिर पार्वतीजी श्रीशङ्करजीसे गुरुदीक्षा प्रदानकी प्रार्थना करती हैं और शिवजी उन्हें 'गुरु' शब्दका विस्तृत अर्थ बताते हैं। तदनन्तर गुरुप्रणामके मन्त्रोंका उपदेश देकर गुरुसेवा और गुरुमहिमा पर प्रकाश डालते हैं कि, गुरुमूर्तिका ध्यान ही सब ध्यानोंमें श्रेष्ठ है, गुरुचरणोंकी पूजा ही सब पूजाओं-में श्रेष्ठ है, गुरुवचन ही सब मन्त्रोंमें श्रेष्ठ है और गुरुकी कृपा ही मुक्तिका प्रधान कारण है। गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें समस्त विश्वमें व्याप्त हैं। गुरुसे श्रेष्ठ कोई देवता नहीं है। संन्यासी भी जो गुरुसेवा नहीं करते, वे केवल वेषधारी हैं। गुरु-सेवासे असम्भव सम्भव हो जाता है और चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति होती है। गुरुसेवासे बढ़कर कोई तपस्या, जप, व्रत, अनुष्ठान नहीं और गुरुसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ वस्तु भी नहीं है। संसारमें गुरुदेव ही साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। सब तीर्थोंमें गुरु ही सर्वप्रधान तीर्थस्वरूप हैं। गुरु बिना ज्ञान नहीं और जब ज्ञान ही नहीं, तब जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्ति कहाँ?

"गुरुपूजापद्धति" में श्रीशंकरजीने गुरुका ध्यान और गुरु-नमस्कारके मंत्र बताकर शिष्यके कर्तव्यों और आचारोंका वर्णन किया है। जो आजीवन गुरुसेवामें अनुरक्त रहता है, वह देहान्तके पश्चात् ब्रह्मलोकमें गमन करता है और भवबन्धनसे उसका छुटकारा हो जाता है।

"गुरुगीता माहात्म्य" में गुरुगीताका विस्तारपूर्वक माहात्म्य वर्णित हुआ है। अन्तिम "मणिरत्नमाला" अथवा "प्रश्नोत्तर रत्न मालिका" में ऐसी शंकाओंके अकाट्य उत्तर दिये गये हैं, जिनसे जिज्ञासुओंके सब सन्देह निवृत्त होकर ज्ञानका प्रकाश हो जाता है और साधक अपने कर्त्तव्योंको अच्छी तरह समझ लेता है। जो अपने कर्तव्योंपर अटल है, उसके अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिमें सन्देह ही क्या रह जाता है? इस अध्यायके अन्तमें अनेक महात्माओंके काव्यमय ऐसे वचन दिये गये हैं, जिनके पठन और मननसे साधकका सर्वविध मंगल हो सकता है। क्या व्यवहार और क्या परमार्थ सब शुभकर्मोंके मूलमें श्रीगुरुदेव ही प्रधान कारण-होनेसे सभी उपासक सम्प्रदायोंके लिये गुरुगीता परम सहायक हो सकती है। इसी विचारसे श्रीजी महाराजने सब वर्णों और सब आश्रमोंके उपयोगी यह गुरुगीता प्रकाशित की है और इससे सब प्रकारके साधक और जिज्ञासु लाभ उठा सकते हैं।

संन्यास गीता

श्रीसनातनधर्मानुसार वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु संन्यासी माने गये हैं। अन्ततः साधु-संन्यासी ही सब वर्णों और आश्रमोंके स्वाभाविक गुरु हैं और वे ही हिन्दुसमाजके स्वाभाविक तथा चिरमान्ये नेता रह आये हैं। भारत साधुओंका देश है।

इसके नेता पूर्व परम्पराके अनुसार जब तक साधु-संन्यासी बने रहेंगे, तब तक इनके पतनकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि समस्त वसुधाको अपना कुटुम्ब मानना, सर्वलोक हितमें निरत रहना और जगतके हितमें आत्मसमर्पण कर देना निष्काम-व्रत-परायण साधु-संन्यासियोंके लिये ही सम्भव और सहज साध्य है और वही आर्योंका लक्ष्य रह आया है।

परन्तु आजकल साधु-संन्यासी हिन्दुसमाजके गलग्रह और वृथा भारस्वरूप समझे जाते हैं। लोगोंकी ऐसी धारणा होनेमें साधु-संन्यासियोंका ही दोष है, जिसे उन्हें यथासम्भव शीघ्र सुधार लेना चाहिये। भूले-भटके जीवोंको सत्पथ प्रदर्शन करनेका जिनका काम है, इस समय उन्हींके भ्रान्तपथ हो जानेसे उन्हींको मार्ग दर्शन करानेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। क्योंकि वर्तमान अधिकांश साधु-संन्यासी अपना अधिकार भूल गये हैं, संन्यास-धर्मोक्त कर्म-उपासना-ज्ञानकी साधन प्रणालीको भुला दिये हैं और संन्यासाश्रमके प्रधानधर्म निष्काम व्रतका ही संन्यासकर बैठे हैं। इसीसे वे समाजके गलग्रह समझे जा रहे हैं। इस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये और विशेषत: साधु-संन्यासियोंमें जो अनेक भेद, पन्थभेद, सम्प्रदायभेद तथा आचार-विचार भेद चल पड़े हैं, समन्वय कर शान्ति और पारस्परिक विरोधको मिटानेके लिये श्रीजीने यह "संन्यास गीता" प्रकाशित की है। यदि वर्तमान साधु-संन्यासी निरपेक्ष होकर आस्तिक बुद्धिसे इसका स्वाध्याय करेंगे, तो वे अवश्य ही अपने अपने अधिकारानुसार आध्यात्मिक उन्नति करनेमें समर्थ हो सकेंगे। यह ग्रन्थ साधु-संन्यासियोंके अधिकारोंका निर्णायक और पथप्रदर्शक ही सिद्ध होगा, इसमें साधारणधर्म, दानधर्म, तपोधर्म, यज्ञधर्म, कालधर्म आदि विषयोंके साथ ही साधु-संन्यासियोंके अधिकार भेद और धर्म विस्तृत रूपसे

वर्णित होनेके कारण यह केवल साधु-संन्यासियोंके ही नहीं, किन्तु सब वर्णों और सब आश्रमोंके लोगोंके लिये भी अध्ययन करने योग्य है। गृहस्थ लोग इसके द्वारा विविध ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि यह सबके लिये उपयोगी और परम लाभदायक है। अब तक साधु-संन्यासियोंका आचार-विचार-प्रदर्शक और उपासनाके उपयोगी कोई ग्रन्थ नहीं था। श्रीजीके असाधारण अध्यवसाय और परिश्रमसे इस ग्रन्थका लाभ हुआ है, जिससे वह अभाव तिरोहित हो गया है। इससे अधिकसे अधिक लाभ उठाकर साधु-संन्यासियोंको पुनः अपना पूर्व गौरवका पद प्राप्त कर लेना चाहिये।

इसके बारह अध्याय हैं। यथा—१—महर्षि समागम निरूपण, २—साधारण धर्मनिरूपण, ३—दान-तपोधर्म-निरूपण, ४—कर्मोपासनाज्ञाननिरूपण, ५—कालधर्मनिरूपण, ६—संन्यास धर्म निरूपण, ७—कुटीचकधर्म निरूपण, ८—बहूदकधर्म निरूपण, ९—हंसधर्म निरूपण, १०—परमहंसधर्मनिरूपण, ११—जीवन्मुक्त विज्ञान निरूपण और १२—आत्मस्वरूप निरूपण।

"महर्षि समागम निरूपण" में मङ्गलाचरणके उपरान्त तपोवन और आश्रम शोभाका वर्णन, महर्षियोंका श्रीयाज्ञवल्क्यसे समागम, महर्षियों द्वारा प्रश्नकर्ता रूपसे अपने प्रतिनिधि महर्षि जैमिनीकी नियुक्ति, जैमिनीका भाव सम्बन्धी प्रश्न और याज्ञवल्क्यका उत्तर रूपसे त्रिविध श्रद्धाका वर्णन आ गया है।

"साधारण धर्मनिरूपण" में श्री महर्षि याज्ञवल्क्यने 'संन्यास-गीता' का उपक्रम करते हुए सामान्य धर्मतत्त्व, सनातनधर्म और आर्यजातिके लक्षण, धर्माङ्ग, सनातनधर्मके पितृत्व और धर्माङ्गों-के उपाङ्गोंका वर्णन किया है।

"तपोधर्म निरूपण" में दानलक्षण, अभयदान, ब्रह्मदान और

अर्थदान, दानके त्रिविध भेद और दानसे मुक्ति, दानमें देश-काल-पात्रका विचार, तपका लक्षण और तपो महिमा पर विचार किया गया है।

"कर्मोपासना ज्ञाननिरूपण" में कर्मयज्ञका स्वरूप उसकी महिमा, त्रिविध कर्मयज्ञ, कर्मयज्ञके भेद, उपासनायज्ञ और ज्ञान-यज्ञका विवरण दिया गया है।

"कालधर्म निरूपण" में संन्यासधर्मसम्बन्धी ऋषियोंकी जिज्ञासा, जिज्ञासुरूपसे श्री शुकदेवकी नियुक्ति, श्रीशुकदेवजीका प्रश्न और महर्षि याज्ञवल्क्यका उत्तर—ब्रह्मवादीकी श्रेष्ठता, कलिका स्वरूप, प्रबल कलिका लक्षण, कलि किसे बाधा नहीं करेगा? कर्मोंसे कालका गठन आदि विषयोंकी विवेचना की गयी है।

"सन्यास धर्मनिरूपण"में चार वर्णों और चार आश्रमोंके धर्म, संन्यासियोंके चार भेद, उनके धर्म और अधिकार, कलिकाल-के नानाप्रकारके साधु-संन्यासियोंके संज्ञाभेद, संन्यासियोंका कर्त्तव्य, संन्यासग्रहणका कालनिर्णय, संन्यासियोंका लक्षण और उनका महत्त्व समझाया गया है।

"कुटीचकधर्मनिरूपण" में संन्यासका लक्ष्य, आतुरसंन्यास, संन्यास महिमा, कुटीचक धर्म, पञ्चोपासना और दोषप्रायश्चित्त बताया गया है।

"बहूदकधर्मनिरूपण"में बहूदकका लक्ष्य, ज्योतिध्यान, बिन्दुध्यान, ईश्वरध्यान और ब्रह्मध्यान, अनधिकार हंसादि दशाओंमें प्रवेशका निषेध, बहूदक धर्म, सुकृत दुष्कृतत्याग और परब्रह्म पदप्राप्ति आदि विषय विवृत हुए हैं।

"हंसधर्मनिरूपण" में हंसव्रत कब ग्रहण करना चाहिये? कर्मयोगका साधन, चार प्रकारके गुरु, मनोजय करनेकी रीति,

चार प्रकारके योग, कर्म-उपासना-ज्ञानकी सात-सात भूमिकाएँ, शिखा, सूत्र, दण्ड आदि चिह्नोंकी मीमांसा और हंसाचारका वर्णन किया गया है।

"परमहंसधर्म निरूपण"में परमहंस दशा कब प्राप्त होती है? ब्रह्मकोटीके जीवन्मुक्त, ईशकोटीके जीवन्मुक्त, ब्रह्मस्वरूप सन्त और जीवन्मुक्तके लक्षण बताये गये हैं।

"जीवन्मुक्त-विज्ञाननिरूपण" में विविदिषा-संन्यास और विद्वत्संन्यास, चार प्रकारकी वासनाएँ, परमोपकार-परायण ईश-कोटिके जीवन्मुक्तोंका महत्त्व, त्रिविध शुद्धि, विश्वमोहिनी अविद्या और कर्म ब्रह्मका विचार प्रतिपादित हुआ है।

अन्तिम "आत्मस्वरूप निरूपण" में द्वैताद्वैत विवेक और चित्का बन्धन, शुद्धचिद्भाव, मनोनाश, योगारूढ़की तीन अवस्थाएँ, ब्रह्म और जगतका अभेद, परब्रह्मको प्रणाम और फल-श्रुति कही गयी है।

इस प्रकार यह 'संन्यास गीता' बारह अध्यायोंमें समाप्त हुई है। इस गीताके प्रकाशित हो जानेसे मनुष्यजाति कृतार्थ हुई है और जगत् धन्य हुआ है। इसका जहाँ अध्ययन-अध्यापन होता है, वहाँ ज्ञानजननी वाग्देवता खेलने लगती है। आत्मज्ञान प्राप्तिकी यह कुञ्जी है और चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंके लिये "श्रीगुरुगीता" की तरह यह भी परम उपकारक है। इसमें जो ब्रह्मप्रणाम आया है, वह अत्यन्त अपूर्व होनेसे अनुवाद सहित यहाँ उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है।

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शन दृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥
यत्तद्व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः॥

अपुण्य-पुण्योपरमे यं पुनर्भव निर्भयाः ।
शान्ता संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥
अप्रमेय शरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे ।
अपारपरमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥
परः कालात्परो यज्ञात्परात्परतरो हि यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥
आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितः ।
यं ज्ञानेनाधिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥
स्फुरन्ति शीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयोदेवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

अर्थात्—जिससे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य और कर्ता-हेतु-क्रियाका विलास होता है, उस ज्ञातात्मरूपी परमात्माको नमस्कार है। व्यक्त प्रकृतिमें अवस्थित जिस अव्यक्त सत्ताको महर्षिगण पहचान लेते हैं और जो प्रत्येक क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान है, उस क्षेत्रात्मारूपी परमात्माको नमस्कार है। धर्म-अधर्मसे अतीत, पुनर्जन्म भयहीन, शान्त, संन्यासीगण जिस परमपुरुषको प्राप्त करते हैं, उस मोक्षात्मारूपी परमात्माको नमस्कार है। जिससे उत्पत्ति और प्रलयकी सब क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें पुनः विलीन हो जाती हैं, उस हेत्वात्मारूपी परमात्माको नमस्कार है। जिसके शरीरकी तुलना नहीं है, जिसके ज्ञान-

रूप चक्षु सर्वत्र व्याप्त हैं और जिसकी परम सत्ताका परिणाम अपार है, उस दिव्यात्मारूपी परमात्माको नमस्कार है। जो कालसे, यज्ञसे और परसे भी परतर है, विश्वके अनादि आदि स्वरूप विश्वात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। पञ्चकोषमय शरीरमें अवस्था न करके आत्मज्ञान ही उसका ज्ञान है, यह जान कर उस ज्ञानकी ही सहायतासे ज्ञानी लोग जिसको प्राप्त करते हैं, उस ज्ञानात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। घोर अविद्यारूपी अन्धकारके परपारमें विराजमान महान् तेजस्वरूप जिस परमपुरुष-को जानकर ज्ञानीगण मृत्युको जीत लेते हैं, उस ज्ञेयात्मास्वरूप परमात्माको नमस्कार है। जिससे आनन्दकण आकाश और पृथ्वीमें बिखरे रहते हैं, उस सकल भूतोंके प्राण ब्रह्मानन्दात्मारूप परमात्माको प्रणाम है। जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सबकुछ है और सर्वदेवमय है, उस सर्वात्मारूप परमात्माको नमस्कार है।

यह ब्रह्मप्रणाम विशुद्ध ज्ञानदायक और आध्यात्मिक उन्नति-कारक होनेसे प्रत्येक हिन्दूको प्रातःकाल इसका पाठ और चिन्तन करना चाहिये। यह गीता ब्रह्मचारियोंको ज्ञानदायक, गृहस्थोंको धनधान्य और विद्वान् सुयोग्य सन्तति देनेवाली वानप्रस्थोंको तपस्याकी पराकाष्ठामें पहुँचानेवाली और संन्यासियोंकेलिये सर्वसिद्धिकारी है। इसका पाठ करनेवाला तापत्रयसे मुक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है।

श्रीगुरवेनमः

जीवन्मुक्त श्रीजी

इस जीवनवृत्तके चरित्र-नायक पूज्यपाद श्रीजी महाराज जीवन्मुक्त एवं कृतकृत्य थे, अतः उनको अपने लिये इस जगत्के कोई भी वस्तु प्राप्तव्य नहीं रही थी, और इसलिये कोई कर्तव्य भी अवशिष्ट नहीं था, इस कारण वे निरन्तर लोककल्याण तथा लोक-सेवाके पुनीत कार्योंमें सतत संलग्न रहते थे, एवं जीवन्मुक्तके सभी लक्षण श्रीजीमें साकार थे। जीवन्मुक्तके लक्षण योगवाशिष्टमें इस प्रकार वर्णित है—

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥
नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा।
यथा प्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयान्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

य: समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

भगवान् रामचन्द्रके जीवन्मुक्ति-विषयक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् वशिष्टजी कहते हैं कि, इन्द्रियादि व्यवहार करते हुए भी जिसको यह समस्त जगत्:प्रपञ्चशून्य सा प्रतीत होता है, केवल आकाशके समान सर्वव्यापी चिन्मात्र शेष रहता है, उसको जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिसकी मुखकान्ति सुखमें उछलती नहीं एवं दु:खमें मुर्झाती नहीं, तथा दैववशात् प्राप्त वस्तुमें ही जो तृप्त रहता है, उसको जीवन्मुक्त जानना चाहिये । विषय-राग-रहित होनेके कारण जो जागते हुए भी सुप्तके समान रहता है, जिसकी जाग्रद्दशा है ही नहीं उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। बाहर राग-द्वेष-भयादि युक्त जैसा व्यवहार करते हुए प्रतीत होनेपर भी भीतर आकाशकी तरह जिसका स्वरूप स्वच्छ हो, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। कर्म करते अथवा न करते समय भी जिसमें अहंभावका आवेश नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती है, उसको जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिसमें लोगोंको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, उसको जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिसकी संसार-कलना शान्त हो चुकी है, जो कलावान् होकर भी निष्फल तथा सचित्र होकर भी निश्चिन्तकी तरह रहता है, वह महात्मा जीवन्मुक्त है। जो समस्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी शान्त शीतल बना रहता है, जिसका आत्मा सदा परिपूर्ण स्वरूप है, वही जीवन्मुक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी पाचवें अध्यायमें अन्य शब्दोंमें जीवन्मुक्त महापुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्यते तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन्श्वसन् ।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

अर्थात्—विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय, योगयुक्त पुरुष, जिन्होंने समस्त प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार किया है, कर्म करके भी उसमें लिप्त नहीं होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, जागते, नेत्रोंको बन्द करते और खोलते हुए भी केवल इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें लगी हुई हैं, ऐसी निश्चित धारणाके कारण मैं कुछ नहीं करता हूँ, ऐसा समझते हैं। समस्त कार्योंको ब्रह्ममें अर्पण करके आसक्ति-रहित होकर जो महापुरुष कर्म करते हैं, वे जलसे कमल-पत्रके समान पापमें लिप्त नहीं होते हैं।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त महात्माके लक्षण एवं व्यवहारके विषयमें राजयोग-संहितामें लिखा है—

अनुवन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्त समाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेऽति धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुखितः ॥

तात्पर्य यह है कि, जैसे व्यक्तियोंके साथ जीवन्मुक्त महापुरुषका सम्बन्ध होता है, उनके साथ अनाशक्त भावसे ऐसा बर्ताव करते हैं, कि भक्तके सामने पूर्णभक्त, शठके सामने शठ, बालकके सामने

बालक, वृद्धके सामने वृद्ध, धीरके सामने धैर्यशील, युवकके सामने युवक और दुःखितके सामने दुःखित दिखाई देते हैं। जिस प्रकार स्फटिक मणिकके सामने जिस रङ्गका पुष्प रखा जाय, स्फटिक मणि उसी रङ्गका दिखाई देता है, वस्तुतः उसपर कोई रङ्ग नहीं चढ़ता है, उसी प्रकार त्रिभावातीत ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित जीवन्मुक्त महापुरुषमें किसी भी भावका अभिनिवेश नहीं होता है।

हमारे चरित्रनायक पूज्यपादश्रीजीमें जीवन्मुक्तके सभी लक्षण उनकी चेष्टाओंमें प्रत्यक्ष परिलक्षित होते थे। इसका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

पूज्यपाद श्रीजीकी सेवामें भारतके सभी भागोंसे सब प्रकारके लोग दर्शनार्थ अथवा किसी न किसी प्रयोजनसे आया ही करते थे। उनमें, भगवद्भक्त, ज्ञानी, गायक, संगीतज्ञ, शास्त्रज्ञ, राजनीतिज्ञ, बालक, वृद्ध, दुःखी, सुखी सभी प्रकारके व्यक्ति होते थे। जब कभी भक्तका समागम हो जाता था तब घन्टोंतक भगवद्भक्ति विषयक वार्ता होती और श्रीजीके युगल नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु प्रवाहित होता रहता था, भिक्षा एवं विश्रामका नियमित समय बीत जाता था, किन्तु इसकी सुधि नहीं रहती और किसीका उनसे भिक्षा करनेके लिये निवेदन करनेका भी साहस नहीं होता। इसी प्रकार कई घन्टे बीत जाते थे। जब कभी कोई संगीतरसज्ञ आ जाता था, तब संगीतसम्राटकी तरह श्रीजी राग-रागिनियोंके भेद, गीत-नृत्य, ताल, मोढ़, मूर्च्छना आदिकी व्याख्या करते एवं गायक अपना संगीत उनको सुनाकर अपनेको कृतकृत्य समझता तथा संगीत-सम्बन्धी विविध कला दिखाकर अपनेको सौभाग्यशाली समझता था। श्रीजी भी ऐसे गुणियोंका उपाधि, प्रमाणपत्र आदि श्रीमहामण्डलकी ओरसे प्रदान कर उचित सम्मान किया करते थे। बालकोंके साथ वे एक सरल बालक की तरह क्रीड़ा

करते थे। दुःखियोंके दुःखसे वे इतने द्रवित होते थे कि दीन-दुःखी, अनाथ, निराश्रय, विद्यार्थी, आदिकी सहायताकेलिये उन्होंने 'विश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार' नामकी एक संस्था ही अलग स्थापित की थी। पूज्यपादद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके विक्रयसे जो आय होती थी, इस संस्थामें जमा होती थी। इसी धनसे इस प्रकारके लोगोंकी सहायता की जाती थी। जो भी श्रीजीके पास पहुँच जाता, उसकी करुणाकहानी वे बड़ी सहानुभूतिसे सुनते थे, एवं यथासाधन यथायोग्य उसकी सहायता करते थे। श्रीजी निन्दास्तुतिमें सदा समान रहते थे, इसके अनेक उदाहरण उनके दिव्य जीवनमें दृष्टिगोचर हुए, जिनमें एक-दो घटनाओंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। श्रीजीके अनेक राजा-महाराज शिष्य एवं भक्त थे, उन्हींमें एक भक्त श्रीमान् राजा शशिशेखरेश्वरराय राजा ताहिरपुर थे, राजासाहब शास्त्रप्रकाश लिमिटेड के उच्चपदाधिकारी थे, पूज्यपाद श्रीजीके एक दूसरे भक्त श्रीबटुकदेव मुखोपाध्याय, उसी कम्पनीके एक कार्यकर्त्ता थे। इस कम्पनीको पूज्यपाद श्रीजीने शास्त्रोंके प्रकाशनके लिये स्थापित की थी। किसी विषयको लेकर राजासाहब तथा मुखोपाध्याय महाशयमें विवाद हो गया और राजासाहबने श्रीबटुकदेव मुखोपाध्यायके साथ अपमानजनक बर्ताव किया यह विषय जब श्रीजीके सामने लाया गया तो पूज्यपादने दोनों पक्षको सुननेके पश्चात् श्रीबटुकदेवका पक्ष समर्थन किया, उनकी समदृष्टिमें राजा-रङ्क समान हो चुका था; पक्षपातकी कोई सम्भावना उनके पास नहीं थी। अतः श्रीजीकी दृष्टिमें राजासाहब दोषी ठहरे। इसपर राजासाहब इतने रुष्ट हो गये कि, उन्होंने अपनी सारी शक्ति एवं साधन लगाकर श्रीजीको अपमानित तथा लाञ्छित करनेको ठान ली। इसी झगड़ेमें शास्त्रप्रकाश लिमिटेड कम्पनी तो बन्द हो ही गयी। राजासाहबने 'त्रिशूल' नामसे एक

मासिक पत्रका प्रकाशन किया जिसमें श्रीजीपर नाना प्रकारसे गालियोंका बौछार किया जाने लगा। यही क्रम बहुत दिनोंतक चलता रहा, परन्तु पूज्यपाद श्रीजीने उनके निराधार आक्षेपों, आरोपों एवं गालियोंका कभी कोई उत्तर तक नहीं दिया; वे तो हिमालय जैसा स्थिर एवं समुद्र जैसा गम्भीर रहकर अपना कर्तव्य करते रहे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं है। श्रीमान् राजासाहबको इतने हीसे संतोष नहीं हुआ, उन्होंने इसमें विफल होकर न्यायालय-की शरण ली और श्रीजीपर सोलह भूठे मुकदमें किये, अपना लाखों रुपये व्यय किया, परन्तु सबमें हारकर स्वयं शान्त हो गये। इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना भी घटी, जिसमें सम्मानपूर्ण बदला लेनेकी भी शिक्षा मिलती है। श्रीभारतधर्ममहामण्डल स्थापित होनेके पहले भारतधर्ममहामण्डल नामकी संस्था पं० दीनदयालु शर्मा तथा पं० माधवमिश्र, ये पण्डितद्वय जो अपनी असाधारण व्याख्यान-कलासे यथेष्ठ ख्यातिप्राप्त थे लाहोरमें संचालित करते थे। इन दोनों सज्जनोंमें परस्पर मत-भेद हो जानेसे दोनों ही मिलकर श्रीजीके पास आये एवं भारतधर्ममहामण्डलकी बागडोर सम्हालनेकी प्रार्थना की। उस समय श्रीजी मथुरामें निगमागममण्डली नामकी संस्थाकी स्थापना करके उसका सञ्चालन कर रहे थे। इन दोनों सज्जनोंके विशेष आग्रह एवं अनुरोधसे पूज्यपादने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और एक सर्वसम्मत अखिल भारतीय सनातनधर्मकी संस्थाकी स्थापनाका विचार करके मथुराकी निगमागममण्डली, लाहोरका भारतधर्म-महामण्डल, और बम्बईकी सनातनधर्मपरिषद् आदि कई संस्था-ओंको मिलाकरवर्तमान अखिलभारतीय श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी स्थापना की, और उसका प्रधान कार्यालय विद्या एवं धर्मका केन्द्र काशीपुरीमें लाया गया। अब इस अखिल भारतीय विराट् धर्म-

सभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी १८६० के धारा २१ के अनुसार श्रीजीने रजिस्ट्री करवा दी, एवं इसका विधिवत सञ्चालन प्रारम्भ किया। यह सब कार्य पीछे पं० माधव मिश्रको अच्छा नहीं लगा, अत: वे श्रीजीके विरोधी बन गये। वे बहुत अच्छे व्याख्याता तो थे ही, अत: उन्होंने अपनी समस्त शक्ति लगाकर एवं भारतके विभिन्न स्थानोंमें घूम-घूमकर पूज्यपाद श्रीजीका विरोध प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार एक-दो वर्ष बीत गये। श्रीजीने इनके इस कृतिपर कभी ध्यान नहीं दिया, न कभी कोई प्रत्युत्तर ही दिया। इसी बीच पं० माधवमिश्रके कनिष्ठ भ्राताको फरीदकोट राज्यमें सात वर्षके कारावासकी सजा सुनायी गयी। पं० माधवमिश्रको किसी प्रकार यह बात विदित हुई कि, फरीदकोटके दीवान रायवरदाकान्त लाहिरी श्रीजीके अनन्य भक्त हैं। पं० माधवमिश्रजी श्रीजीकी सेवामें काशीमें उपस्थित हुए। उन्होंने निम्नाङ्कित शब्दोंमें श्रीजीकी सेवामें उपस्थित होनेकी अनुमति माँगी—"मैं आपको मुँख दिखाने योग्य तो नहीं हूँ किन्तु आप सच्चे साधु हैं, ऐसा कोई अपराध नहीं जो आप क्षमा नहीं कर सकते हैं, इसी विश्वाससे दर्शनार्थ आया हूँ।" श्रीजीने यह सूचना द्वारपाल द्वारा पाते ही मिश्रजीको अपने पास बुला लिया तथा उनके आनेका कारण पूछा। पं० माधवमिश्रने अपने भाईके कारावासके विषयमे निवेदन किया एवं प्रार्थना की कि, आप यदि कृपा करें तो इस महान् विपत्तिसे मेरे भाईका उद्धार हो सकता है। श्रीजीने उसी समय एक पत्र अपने भक्त श्रीवरदाकान्त लाहिरीको लिखकर पं० माधवमिश्रको दे दिया, जिसमें श्रीजीने लिखा था—"प्रिय वरदाकान्तजी! यह पत्र लेकर पं० माधवमिश्र आपके पास जा रहे हैं। सुना है, इनके छोटे भाईको सात वर्षका कारावास हुआ है। यदि आप

छोड़ सकते हों, तो तत्काल उनको छोड़ देवें।" श्रीवरदाकान्त लाहिरी बड़े रसिक थे, एवं वे सब पूर्व घटनाओंको भी जानते थे। पं० माधवमिश्र वह पत्र लेकर सीधे फरीदकोट पहुँचे और दीवान साहबके पास श्रीजीका पत्र भेजवाया, श्रीवरदाकान्त लाहिरी महाशय पत्र पढ़ते ही अपने कमरेसे बाहर आ गये और दोनों हाथोंसे पं० माधवमिश्रका गाढ़ आलिङ्गन किया मानों अपने किसी अभिन्न हृदयमित्रसे वर्षोंके पश्चात् मिले हों। मिश्रजीके आतिथ्य-सत्कारका उचित प्रबन्ध कर दिया और उसी दिन ही उनके कनिष्ठ भ्राताको कारागारसे मुक्त कर दिया। यह सब देखकर पं० माधवमिश्रका हृदय आनन्दसे गद्गद् हो गया, और उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। इसके कुछ महीने पश्चात् पं० माधवमिश्र श्रीजीकी सेवामें कलकत्ते पहुँचे, वहाँ वे प्रतिदिन श्रीजीके दर्शनोंकेलिये आया करते एवं श्रीजीसे कालीघाट जानेकी प्रार्थना करते, उनके कई दिनों तक बार-बार आग्रहपूर्ण प्रार्थना करने पर एक दिन उनके साथ श्रीजी कालीघाट पधारे, वहाँ पं० माधवमिश्रने कालीमाताके सामने अपने अपराधोंके लिए क्षमा-प्रार्थना की तथा भगवती कालीको साक्षी करके प्रतिज्ञा की कि "आजसे जब तक जीवित रहूँगा, तब तक श्रीस्वामीजी महाराजके झण्डेके नीचे इनके आदेशानुसार श्रीमहामण्डलकी सेवा करूँगा।" श्रीजीकी अलौकिक क्षमा तथा उदारतासे वे ऐसे प्रभावित हुए कि जबतक जीवित रहे, श्रीजीके अनन्य भक्त बने रहे।

श्रीजीने संस्कृत हिन्दी, अंगरेजी, बंगाली आदि भाषाओंमें लगभग दो सौ ग्रन्थोंका प्रणयन किया, इनमें दर्शनोंके आविष्कार एवं भाष्य, टीका आदि सम्मिलित हैं; परन्तु उन्होंने किसीमें अपना नाम तक नहीं दिया। धार्मिक विश्वकोषके समान धर्म-

कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ उन्होंने स्वयं प्रणयन किया, उसमें अपने प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजका नाम दिया। अंगरेजी वर्ल्डस् इटरनल रिलिजन (World's Eternal Relegion) जिसका जर्मनभाषामें अनुवाद हुआ उसपर भी श्री स्वामी दयानन्दजी महाराजका ही नाम दिया। ऐसे ही अनेक ग्रन्थोंपर स्वामी दयानन्दजी महाराजके नाम दिये गये, श्री भारतधर्ममहामण्डलके बड़े-बड़े महाधिवेशन हुए, जिनमें स्वाधीन नरपतिगण सभापति होते थे, श्रीजीने स्वयं उन सबका प्रबन्ध किया करते थे, परन्तु कभी किसी महाधिवेशनमें स्वयं नहीं पधारते थे। इन सबसे यह स्वतः सिद्ध है कि लोकेषणा श्रीजीको स्पर्श भी नहीं कर सकती। "तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मज्ञ शोकको तर जाता है, यह श्रुति वचन श्रीजीमें साकार देखा गया। श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज पूज्यपादके एकमात्र सुयोग्य शिष्य होने से उनके परम स्नेहास्पद एवं कर्मयोगके सहायक दक्षिणहस्तके समान थे। वे हृद्रोगसे गम्भीररूपसे अस्वस्थ हुए, उसीमें वे ब्रह्मीभूत भी हो गये। ऐसी गुरुतर वियोगकी सन्धिमें भी श्रीजीकी मुखमुद्रा कुछ भी म्लान नहीं हुई, वह तो सदाकी भाँति सहज प्रसन्नथी, शोककी छायाका स्पर्श भी उनपर नहीं था, जैसा गीतामें कहा है—

> यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
> न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
> स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥५

जिसको प्राप्त करके मनुष्य अन्य किसी भी लाभको उससे अधिक नहीं मानता है और जिसमें स्थित हो गुरुतर दुःखके

द्वारा भी विचलित नहीं किया जा सकता। स्थिरबुद्धि, मोहित नहीं होनेवाला, ब्रह्ममें प्रतिष्ठित ब्रह्मवेत्ता महापुरुष प्रिय विषयके प्राप्त होनेपर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्त करके उद्विग्न नहीं होता है। श्रीमद्भगवद्गीताकी यह उक्ति उनमें उस समय साकार देखी जाती थी। और भी—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥६

जो ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसने अपनी सब इन्द्रियोंको जीत लिया है, जो कूटस्थ है, जिसकी दृष्टिमें मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीताके इस श्लोक द्वारा भी जीवन्मुक्त महापुरुषके वाह्य लक्षणपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। क्योंकि साधारण प्राकृत मनुष्य अपने ज्ञानेन्द्रियोंसे विषयोंका आस्वादन करके तृप्ति प्राप्त करता है और इसी कारण विषयोंकी उपलब्धि अथवा प्राप्तिकेलिये सर्वदा लालायित रहा करता है, परन्तु जो महात्मा ज्ञान एवं परमात्माकी अनुभूतिसे परम तृप्ति प्राप्त कर चुका है, स्वतः उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें हो जाती हैं, वे कभी विषयोंकी ओर जाती ही नहीं, अतः वह विजितेन्द्रिय होता है, इस कारण उसको मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान दीखता है। क्योंकि जब विषयकी स्पृहा नहीं रहती है, तब जैसा मिट्टी और पत्थर निष्प्रयोजन है, वैसा ही सुवर्ण भी निष्प्रयोजन है, अतः तीनों समान है। पूज्यपाद श्रीजीकी दृष्टिमें मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण समान हो गया था, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिदिन उनके जीवनमें देखा जाता था। उनके चरणोंमें राजा महाराजाओंने लाखों रुपयेकी भेंट की किन्तु श्रीजीने उन्हें स्पर्श तक नहीं किया। वे सब श्रीभारतधर्ममहामण्डलको लोक-कल्याणके कार्योंकेलिए दे दिया करते थे।

श्रीजीकी एक शिष्या खैड़ीगढ़की महारानी सुरथकुमारी देवीने अपनी दीक्षाके समय प्राय: तीन लक्ष रुपये गुरुदक्षिणाके रूपमें भेंट की, परन्तु पूज्यपादने उसको ग्रहण नहीं किया। अनेक वर्षोंतक यह धन वहीं खैड़ीगढ़में पड़ा रहा और धार्मिका रानी पूज्यपादसे इसे लेनेकेलिये प्रार्थना करती रहीं, उनके प्रार्थनाका कोई फल नहीं हुआ। अन्तमें सन् १६१६ के नवम्बरमें श्रीमती महारानी सुरथकुमारी देवी गम्भीर रूपसे रुग्ण हो गयीं, तब वे चिकित्साकेलिये लखनऊ, आयीं, परन्तु वहाँ उनको कोई लाभ नहीं हुआ, अत: वे निराश होकर गुरुचरणोंमें काशीमें शरीर छोड़नेकेलिये लखनऊसे काशी आयीं, उस समय वे वह धनराशि भी अपने साथ लेती आयीं। वे काशी आकर श्रीगुरुदेवकी कृपासे शीघ्र ही स्वस्थ हो गयीं। पुन: उन्होंने बड़ी नम्रतासे रुपया लेनेकेलिये श्रीचरणोंमें निवेदन किया। उस धनको स्वयं न लेकर पूज्यपादने महारानीके दीक्षा नाम 'महामाया' के नामसे "महामाया ट्रस्ट" नाम से एक पृथक् ट्रस्ट स्थापित कर दिया था उसी ट्रस्टकी आयसे अब श्रीमहामण्डलके लोक-कल्याणकारी अनेक धर्म कार्योंका सञ्चालन हो रहा है और उसके साथ ही महारानीका नाम भी अमर हो गया है। ऐसा त्याग समलोष्टाश्म काञ्चन महापुरुष के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ! श्रीजी महाराज अपने पास कौपीनके अतिरिक्त कभी कोई वस्तु नहीं रखते थे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जगद्गुरु भगवान् कृष्णचन्द्रने ब्राह्मीस्थितिका जो वर्णन किया है; उससे जीवन्मुक्तकी अवस्थापर अच्छा प्रकाश पड़ता है, यथा—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।

अर्थात् जब मनुष्य अन्तःकरणकी सब कामनाओंको सर्वथा परित्याग कर देता है और अपने आत्मामें ही संतुष्ट रहता है उस समय उसको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सदा निस्पृह रहता है, जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, उस मुनिको स्थिरबुद्धि कहा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेह-रहित होनेसे उस-उस शुभ अथवा अशुभको प्राप्त होनेपर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा-प्रतिष्ठित है। जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, ऐसा जानना चाहिए। प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलपूर्वक हर लेती हैं। उन सब इन्द्रियोंका संयम करके जो भगवानमें युक्त एवं भगवत्-

परायण है, जिसकी इन्द्रियाँ सम्पूर्णतः उसके वशमें हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। यही ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हुए महापुरुषकी स्थिति है, जो महापुरुष इसको प्राप्त कर लेता है, वह कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमेंभी इसमें स्थित रहकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

इन श्लोकोंमें वर्णित स्थिति ऐसी है, जिससे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका पूर्णरूपसे संतुलित होना या सम हो जाना प्रदर्शित हुआ है। हम प्रतिदिनके व्यवहारमें देखते हैं कि, कोई भी प्रतिकूल स्थिति आते ही मनुष्य दुःखसे उद्विग्न हो जाता है, और किसी प्रकार कहीं भी उसको शान्ति नहीं मिलती है; इसी प्रकार प्रिय वस्तु या सुखकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य फूला नहीं समाता है, उन्मत्त हो उठता है। कभी मनुष्य रागमें, कभी द्वेषमें, कभी भयमें तथा कभी क्रोधमें विह्वल हुआ करता है। साधारणतः मनुष्योंकी यही स्थिति रहा करती है। इसी स्थितिको पातञ्जल-दर्शनमें "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" अर्थात् वृत्तिकी सारूप्यता कहा है, इसी तरह मनुष्योंकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी उसे विचलित रखती हैं, कभी मधुर मनोहारी प्रिय शब्दके द्वारा कान उसके मनको अपनी ओर खींचते हैं, तो कभी सुन्दर रूप या सुन्दर दृश्यके द्वारा आँखें उसको अपनी ओर खींचती हैं, कभी स्निग्ध मधुर सुगन्धकेद्वारा उसकी नासिका मनको अपनी ओर खींच लेती हैं, कभी विविध रसास्वादनकेद्वारा जिह्वा उसको अपनी ओर खींचती है, तो कभी स्पर्शेन्द्रिय सुखद स्पर्शद्वारा अपनी ओर खींचा करती है। इन विषयोंकी प्राप्तिमें जो व्यक्ति या कोई वस्तु बाधक होती है, उससे द्वेष एवं जो सहायक होती है, उससे राग स्वभावतः उत्पन्न हुआ ही करता है। इन्हीं कारणोंसे मानव सदा उद्विग्न, अशान्त तथा असंतुष्ट बना रहता है। परन्तु जो धीर व्यक्ति अशान्ति

तथा उद्विग्नताकी कारणभूता अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है, उसके मनको इधर-उधर बाहरी विषयोंमें खींचकर अशान्त करनेवाली कोई वस्तु नहीं रह जाती है। अतः उसका अन्तःकरण न तो अनुकूल विषयोंको प्राप्त करके आनन्दोन्मत्त होता है, न प्रतिकूल विषयके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष ही करता है। किन्तु यह स्थिति बिना ब्रह्मनिष्ठाके हो ही नहीं सकती है, इसी कारण भगवान्ने कहा है कि,

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अर्थात् उपवासकेद्वारा शरीर क्षीण हो जानेसे उस समयके लिये विषय निवृत तो हो जाते हैं, परन्तु विषयोंमें रस—सूक्ष्म स्पृहा निवृत्त नहीं होती है, रस तो परमात्माके दर्शनके पश्चात् ही निवृत्त होता है। अतः जिन्होंने परमात्माका साक्षात् कर लिया है और जिनकी बुद्धि उस ब्रह्मनिष्ठामें निश्चल हो चुकी है, उन्हीं महाभाग्यशाली महापुरुषकी इन्द्रियाँ सम्पूर्ण रूपसे उनके वशमें हो जाती हैं, अतः स्वभावतः उनकी बाह्य चेष्टा तथा लक्षण उपर्युक्त श्लोकोंमें जैसा कथित है, हो जाता है। इन्हीं बाह्य लक्षणोंसे ब्रह्मनिष्ठा या ब्राह्मी स्थितिका स्पष्ट दर्शन होता है। ब्रह्मनिष्ठ अथवा जिसकी प्रज्ञा—बुद्धि आनन्दका एकमात्र आधार तथा स्वयं आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें विश्राम कर चुकी है, उसको इन्द्रियों एवं विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले सभी प्रकारके सुख अत्यन्त तुच्छ अनुभूत होते हैं। ऐसे महात्माकी इन्द्रियाँ इस कारण विषयोंमें रमती नहीं। केवल उनकी शरीर-निर्वाहकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है, इन्द्रियाँ सम्पूर्णरूपसे उनके अधीन हो जाती हैं। दूसरे शब्दोंमें साधारण मानव इन्द्रियोंके अधीन रहा करते हैं, परन्तु इन ब्रह्मनिष्ठ महात्माकी इन्द्रियाँ उनके अधीन रहती हैं। पूज्यपाद श्रीजीके बाह्य

लक्षण ऐसे ही दृष्टि-गोचर होते थे। भिक्षा करते समय उनको रसका ज्ञान नहीं होता था, किसी भोज्य पदार्थमें नमक नहीं है, इसका भी उनको ज्ञान नहीं होता था। शरीरका सभी व्यवहार वे समाधिस्थ अवस्थामें ही किया करते थे। प्रायः उनको अपने शरीरका भान ही नहीं रहता था। अपना कोई भी स्वत्वका विचार उनमें देखा नहीं जाता था। सभी समय केवल लोक-कल्याण तथा धर्मकी रक्षाकी चिन्ता एवं अध्यात्मचिन्तन उनका स्वभाव था। शरीर-रक्षाकी नितान्त अनिवार्य आवश्यकताके अतिरिक्त कोई वस्तु वे ग्रहणतक नहीं करते थे। एक समयकी बात है; श्रीजी महाराज मालवामें मुल्थान राज्यमें विराजते थे। यहाँ के चीफ महाराज भरतसिंह पूज्यपादके परम भक्त थे। श्रीजी वहाँ कुछ महीने विराजते रहे। वहींपर उनके दर्शनके लिये एक भक्त महिला उपस्थित हुईं, उन्होंने देखा कि, श्रीजीके पहननेके वस्त्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, अतः श्रीजीके लिये वे चार वस्त्र बना लायीं, पूज्यपादको जब यह मालूम हुआ तो वे उक्त भक्त महिलापर इसलिये अत्यन्त असन्तुष्ट हो गये कि चार क्यों लायीं। पुनः बहुत देर-तक उक्त भक्त महिलाके अनुनय-विनय करनेपर श्रीजीने उस वस्त्र-को अनिच्छासे ही स्वीकार किया। इसी प्रकार श्रीजीका एक भक्त उनके लिये कुछ कीमती शीत-वस्त्र लाया। उक्त भक्तकी अत्यन्त विनम्रता देख उस समय तो श्रीजीने स्वीकार कर लिया, किन्तु दूसरे ही दिन वह भक्त जब पुनः दर्शनको आया, तो उससे कहा कि, इस वस्त्रसे तो मुझे बड़ा ही कष्ट है, यह मुझसे उठाया भी नहीं जाता है, तुम मुझे कष्ट तो नहीं देना चाहते हो, अतः इसे ले जाओ—यों कहकर वह शीत-वस्त्र उस भक्तको लौटा दिया। इस प्रकार छोटी-छोटी बातोंमेंभी श्रीजीकी निरपेक्षता दृष्टिगोचर हुआ करती थी।

हमारे चरित्रनायक श्रीजीकी प्रज्ञा अविचल रूपसे ब्रह्ममें प्रतिष्ठित थी, यह उनके दिव्य जीवनकी कुछ झाँकियोंसे स्पष्ट है, जिनका कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। वे सम्पत्ति, विपत्ति, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, प्रिय-अप्रिय सभी विषयोंमें समान रहते थे, वे सदा आत्म-क्रीड़-आत्मरतियुक्त रहते हुए लोक-कल्याणके कार्योंमें तत्पर रहते थे। अन्तिम समयमेंभी उनकी वह ब्राह्मी स्थिति स्थिर थी। बारह घण्टेसे उनकी नाड़ीका स्पन्दन बन्द था, परन्तु उनकी मुखमुद्रा सदाकी भाँति प्रसन्न तथा प्रशान्त थी। उनकी प्रज्ञा ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होनेके कारण उनमें भय, उद्वेग, अशान्तिका कोई चिह्न-तक नहीं था।

भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है कि—

> साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
> प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः॥

अर्थात् जो मुझे अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ-सहित जानता है, वह मुझे प्राणके प्रयाण-कालमें भी जानता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि, मृत्युकी सन्धि इतनी दारुण एवं भयङ्कर होती है कि, इस सन्धिमें बड़े-बड़े योगी, यती, उपासक, साधक एवं ज्ञानीभी मोहित हो जाते हैं, उनकी बुद्धि मोहित हो जाती है, धृति नष्ट हो जाती है, मृत्यु-यन्त्रणा एवं वियोग-जन्य पीड़ामें सब कुछ विस्मृत हो जाता है। परन्तु जो भगवानके अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ इन तीनों भावोंको जानता है, अर्थात् अनुभव कर लेता है, वह इस प्राण-प्रयाण-कालमें भी भगवान्को जानता है, न तो उसकी बुद्धि मोहित होती है, न धृति विचलित होती है।

डाक्टरोंने आक्सिजन गैसके प्रयोगकी सम्मति दी, तदनुसार वह यन्त्र लाया गया, उसके प्रयोग करते ही श्रीजीने बायें कर-कमलसे उसको वेगसे हटा दिया तथा सामने उपस्थित उद्विग्न एवं शोकाकुल अपने शिष्यों एवं भक्तोंसे गम्भीर वाणीसे यह आदेश दिया—धैर्यसे काम लो" उसके कुछ घण्टेके पश्चात् ही उन्होंने अपनी इस नश्वर लोककी लीला संवरण की और ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त किया। श्रीजीके इन सभी बाह्य चेष्टाओं तथा लक्षणोंसे यह स्वतः सिद्ध होता है कि, वे जीवन्मुक्त एवं कृतकृत्य थे, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीजीके शिष्य तथा भक्तगण

हमारे चरित्रनायक पूज्यपाद श्रीजी महाराजके जितने भक्त-गण थे, उनको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है; एक तो वे जो उनके मन्त्र-शिष्य थे, दूसरे जो उनके निष्काम कर्मयोगके सहायक भक्त थे। यद्यपि श्रीजी मन्त्र-दीक्षा बहुत ही कम देते थे, तथापि जो बहुत ही आग्रहसे वर्षों कृपाकी प्रतीक्षा करते थे, उनको दीक्षा देनी ही पड़ती थी। श्रीजीकी दीक्षाके पहले जो योग्यताकी परीक्षा होती थी, उसमें उत्तीर्ण होना भी सरल नहीं था, अतः उनके साधु शिष्य चार ही थे, उनके नाम ये हैं—स्वामी दयानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी परमानन्द। स्वामी योगानन्दजी महाराज तो दीक्षाके कुछ महीने पश्चात् ही एकान्तयोग साधनाके लिये कहीं चले गये, वे फिर नहीं लौटे, स्वामी परमानन्द भी प्रायः बाहर घूमते थे, उनको औषधि-निर्माण एवं चिकित्सामें विशेष रुचि थी। स्वामी दयानन्दजी महाराज तथा स्वामी विवेकानन्दजी महाराज

आजीवन श्रीजीके चरणोंकी छत्रछायामें रहकर उनके आदेशके अनुसार उनके निष्काम कर्मयोगमें सहायता करते रहे। इन दोनोंमें भी स्वामी दयानन्दजी महाराज तो श्रीजीके दक्षिण हस्त ही थे। इनकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा भी अद्वितीय तथा अलौकिक थी। इन्होंने श्रीमहामण्डलके प्रचार-विभाग, ग्रन्थ-प्रणयन-विभाग एवं उपदेशक महाविद्यालयके अति महत्त्वपूर्ण कार्योंके सञ्चालनका वागडोर अपने हाथमें लिया था। उनकी वक्तृत्व शक्ति भी अलौकिक थी। उनके समयमें लाउड स्पीकरोंका विशेष प्रचार नहीं था, वे तीन-तीन घण्टे भाषण करते थे, एवं पचास-पचास हजार जनताकी भारी भीड़ मन्त्रमुग्धकी तरह उनकी विद्वत्तापूर्ण मधुरवाणी सुनते-सुनते नहीं अघाती थी। भारतके कोने-कोनेमें उन्होंने सनातनधर्मका संदेश पहुँचाया। इसी प्रकार वे सिद्धहस्त लेखक भी थे। उनकी मातृभाषा बंगाली होते हुए भी उन्होंने हिन्दीके अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं। पूज्यपाद गुरुदेवकी आज्ञानुसार लिखा हुआ धर्मकल्पद्रुम नामक धार्मिक विश्वकोष उनकी ही लेखनीकी अमर देन है। धर्मविज्ञान नामक सनातनधर्मका तुलनात्मक वृहत् ग्रन्थ उनकी अलौकिक प्रतिभाका परिचायक है, जिसको पढ़कर कोई भी बुद्धिमान सनातनधर्मका मर्मज्ञ बन सकता है। इन्होंने श्रीमद्-भगवद्गीतापर गीतार्थ-चन्द्रिका नामक टीका भी लिखी है। श्रीजीके शिष्योंमें ये एक महान् शक्तिशाली भगवद्विभूति थे, जिन्होंने श्रीजीके कार्योंमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया और सन् १९३५ में श्रीजीके चरणोंमें ही अन्तिम श्वास लिया।

श्रीजीके कुछ राजन्यवर्ग भी मन्त्र-शिष्य थे, जिनमें श्रीमान् स्वर्गीय महावल विजयसिंह डूँगरपुर, महाराज अर्जुनसिंह नरसिंह-गढ़, महाराजा यशवन्त सिंह सैलाना, तत्कालीन महारानी सैलाना, महारानी डूँगरपुर, महारानी नरसिंहगढ़, महारानी खैरीगढ़ आदिके

नाम विशेषरूपसे उल्लेख्य हैं। श्रीजीके भक्त अनेक स्वाधीन नरपतिगण थे, जिनकी सहायता एवं सहयोगसे उन्होंने श्री भारतधर्म महामण्डलकी स्थापना की तथा सफलतापूर्वक उसका सञ्चालन किया। इनमें प्रमुख हिन्दू-सूर्य महाराना फतेहसिंह उदयपुर, महाराजा शार्दूलसिंह किशनगढ़, महाराजा जयसिंह अलवर, महाराजा प्रतापसिंह काश्मीर, महाराजा प्रतापसिंह टीकमगढ़, महाराजा सामन्त सिंह बिजावर, महाराजा पुञ्छ, महाराजा कीर्तिशाह टिहरी, महाराजा नरेन्द्रशाह टिहरी, महाराजा दिलीपसिंह सैलाना, महाराजा शाहपुरा, श्रीमान महाराजाधिराज रमेश्वरसिंह दरभङ्गा-नरेशके नाम विशेष उल्लेख्य हैं। महाराजा दरभङ्गा आजीवन श्री-भारतधर्म-महामण्डलके प्रधान सभापति बने रहे, एवं उपर्युक्त सभी नरपतिगण श्रीजीके श्रीमहामण्डल तथा उनके द्वारा प्रवर्तित अन्य पुण्य कामोंमें यथायोग्य हाथ बटाते रहे। इनमें कुछके कुछ पत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पूज्यपादके चरणोंमें उनकी कैसी भक्ति एवं अनुराग था, इसका कुछ दिग्दर्शन होता है—

हिज हाईनेस महारावल श्री विजयसिंह महारावल महोदय डूंगरपुर राजस्थानके पत्रोंकी प्रतिलिपि।

Crest of H.H.
Dungarpur.

Udai Bilas Palace,
Dungarpur,
Rajputana.

7. 8. 15.

OMTATSAT.

जय श्री गुरुदेव,

Your Holiness' kind letter came as God send to us. To day is my Birth day. Guru Maharajs' kind letter

gave me new life. Please offer my fevla in the divine mothers' service. The Maharani read out your letter to her to me, thank your Holiness for the Holy advice you have been kind enough to give her. The prayer to the mother contained in Durga कीलक "पत्नीं मनोरमां देहि"—has been amply justified in my case, Till Her infinite mercy the mother has treated me more kindly than I human wretch ever deserved. We have had good rains now, thanks to mothers kindness and all anxiety is for the present over but more rain is needed. I will certainly try to come if I can, and then will make it a point for visit Vindhyachal.

Your Holiness' last Updesh Patra contains preference to मूल मन्त्र, what is that.

I want to be enlightened other matters I am trying my humble best.

As I had taken to reading Tulasi Krit Ramayan and Srimad bhagawat prior to begining Satyarthvivek. I have not read much of that book but no sooner than finish I will read more of a book your holiness wishes me to read.

With loving Pranama in the lotus feet of Gurudeva.

I may be permitted for continue your humble Shishya.

(Sd)-Vijai Singh

Crest of H. H.
Maharawal Dungarpur.

Udai Bilas Palace
Dungarpur.
30. Oct. 1916.

OM TATSAT.

Jai Shri Guru Deo,

I am in receipt of your kind but typed letter. Uptil now Maharaj was kind enough to write with your own hand but now modern typing machine seems to have got in between our correspondence. I hope it was not due to any indisposition. I enjoyed Guru Bhai Vivekanand's company and it was nobly kind for Maharaj to send him here during my illness. Maharaj is ever in my •memory, your picture remains in my room and I worship it with the prayers and my heart, and your real image appears there and blesses me every day—*MAN* मन *is* सर्वव्यापक It is Guru like of you to pray for me to the Divine and Beloved Mother. As for my illness and my pash upmanik troubles, I have enough of Dharmik backbone thank to you and the mother, and I am happier after I have host them and nearer my beloved goal than ever before.

The Sahasra Chandi yag be done in Benares where it will be cheaper, for which is the Holy reat, where my divine and beloved Ganges flows. As for Sankalpa, I want only that the mother may ever keep me in her heart and save me from evil, I desire no worldly pleasu-

res, and neither after death except that She may ever be my kind protecting mother. Your Holiness can choose Sankalpa on that line.

I do hope your Holiness will really honour Dungerpur this cold weather and give us all the great personal pleasure of your Holy and inspiring company.

We all join in our loving Pranams to Gurudeo.

Your Dass
(Sd) Bijaya Singh.

Crest of H. H.
Maharawal Dungarpur.

Udai Bilas Palace
Dungarpur.
29-Nov. 1915.

OM TATSAT.

Jai Shree Guru Deo,

Your kind letter received. I had been to Ajmer to join the College Council meeting and returned only day before yesterday.

I have handed over the Photo as desired and given Your Holiness's kind message to her. Why does not your Holiness write to her direct. I can have no objection.

If your Holiness wishes I shall give all my news—good or bad.

I have written to Dadabhaiji of Alwar as ordered. I have no news to give, if your Holiness wishes I shall wait to read your……pens' efforts though late they may be. When shall I get Geeta's translations. I am much anxious to get them.

Through mother's love we are all well and send our *PAWANDHOK*.

Adham Shishya
(Sd) Bijaya Singh.

The Palace
Dungar Pur
२८-८-१६

ओं तत्सत्

श्री गुरुदेवजीकी जय

महाराजका कृपापत्र दासको मिला। जो कुछ महाराजने अनुग्रह करके लिखा उसके लायक यह अधम दास नहीं है यह स्वयं गुरुदेवकी कृपा दृष्टि है—ईश्वर ही साक्षी है कि श्रीमहाराना साहबसे मिलकर दासके हृदयको कितना खेद हुआ। यज्ञका निर्विघ्नतापूर्वक होना सुनकर हर्ष हुआ। महाराजके दो और पत्र मोहनलालद्वारा मिले। पढ़कर अति हर्ष हुआ। महाराजको यज्ञके खरच वास्ते रुपये भेजे थे वो पहुँचे होंगे। यज्ञकी आशिका एक ब्राह्मणद्वारा गुरुदेव यहाँ पहुँचावेंगे ऐसी आशा करता हूँ। अब एक और दासकी हृद्यातुर प्रार्थना है कि, इस शार्दिक नवरात्रिमें श्रीविन्ध्य-

वासिनीमें एक लक्ष चण्डी अनुष्ठान श्रीजगदम्बा प्रीत्यर्थ कराया जावे। जो कुछ खरचेका अन्दाजा होगा दास डाकद्वारा अर्पण करेगा। गुरुदेवभी माताके वहाँ दासके खातिर पधार कर कृपा-दृष्टि वास्ते प्राथना करेंगे। एक अति रुद्र और एक लक्ष चण्डी करनेका दासको बड़ा उत्साह था तो एक तो विश्वनाथकी कृपासे हो गया और दूसरा भी जगत्जननी माता अवश्य करा देंगी। फिर जब महाराज कृपा कर दासकी कुटी पावन करेंगे तब भारत-धर्म-महामण्डल वास्ते और यथाशक्ति दास अच्छी सहायता करेगा, फिर मेरी सब मनोरथ कामना इस संसारके बासकी पूरी हो जावेगी। और मैं दूसरी सफर-वास्ते बुलानेपर ईश्वरको तैयार मिलूँगा। यहाँ इष्टदेव व गुरुदेवकी कृपासे सब ठीक है। स्त्री व बालगोपाल गुरुदेवकी कृपादृष्टिके पयासे हैं।

(ह) दास विजयसिंह

श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री श्री गुरुजी महाराजकी पवित्र सेवामें पावाँधोक निवेदन होवे। महाराजकी कृपासे सर्वथा मंगल है।

किंकरी
देवेन्द्रकुँवर
(महारानी महोदया डूगरपुर)

श्रीमती महारानी सुरथकुमारी देवी खैरीगढ़ (दीक्षानाम महामाया) के पत्रोंकी प्रतिलिपि।

सिंगाही

Khairigarh. ५-८-१७

ओम् ऐं

परमहंस परमाराध्य परम पूजनीय श्री १०८ गुरुदेव-चरण-कमलेषु साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम।

कृपा पत्र स्वयम् लिखे हुये कमलोंका दर्शन करके कृतार्थ हुई अहोभाग्य दासीका करकमलोंका भान हो जाता है।

दासी आशा करती है कि यज्ञमें सफलता होगी। कलक्टर साहेब भी खुश होगा। सब हाल लिखें कि क्या-क्या हुआ।

श्रीजीने केदारीके पत्रमें लिखा था कि माताको महामण्डलके कार्य भी करना चाहिये, दासीका ऐसा भाग्य कहाँ जो ऐसे धर्मकार्य करनेकी बुद्धि हो, परन्तु श्रीजीकी ही शक्तिसे जो कार्य होगा करनेको मनसे वाचनासे कर्मसे करनेको हर समय तैयार है। जो हुक्म होगा उसकी तामील की जावेगी क्योंकि वह कार्य अपना ही है जो कुछ होगा श्रीजीके प्रकाशसे ही अपने आप सुफलता होगी।

श्रीजीने लिखा था कि ता० ८ को राजपूतानाका यात्रा होगा क्या ता० तै हो गया पहले किस राजमें पधारेंगे और कौन-कौन साथमें जावेंगे फिर वहाँ से कबतक वापस पधारेंगे ? आशा है, कि जल्द वापस पधारनेका प्रबन्ध करेंगे कृपया सब हाल लिखें।

महाराजा गेक्वारको उस मामिलेमें लिखा गया या नहीं काली बाबूके पत्रसे मालूम हुआ कि अभी उसके निसबत कुछ नहीं किया गया।

अब श्रीजीके राज्यका हाल यह है कि इस साल जमीन बहुत पड़ गई है। करीब २०,००० हजार मुतालबामें कम हो गया, तीन लाख तीस हजार (३३००००) का मुतालबा था उसमेंसे तीन लाख पाँच हजार वसूल है पाँच हजार सिवायका रकम खैर उसके लिये कमी ज्यादा हुआ ही करता है। जबानी दरियाफ्तसे मैनी-जरका जवाब यही होता है कि मेरी बदकिसमत जिसका क्या जवाब हो सकता है। अभी कागजी कारवाई नहीं हुई है सालतमाम वजट बन रहा है और कुछ पुराने हिसाबात भी बाकी हैं निकलते जाते

हैं। दासीको कमी मुतालबाका कुछ भी खियाल नहीं सिर्फ खूबी इन्तजामका खियाल जरूर ही है क्योंकि यों तो ईलाका है दो चार हजारकी कमीबेशी हुवा ही करता है परन्तु इस कदर कमी वायस बदनामी रियासत है। हमारे मैंनजर साहबको सिर्फ यही खियाल है कि हम भी अपना नाम मिसल बहादुरके कमा लेवें मगर इन्तजाम रियासतका यह हाल है। अब देखना है आइन्दा क्या करता है।

बाकी हाल जो होगा पीछे निवेदन करूँगी। श्रीजी फिलहाल उसको सिर्फ इतना लिखें कि इमसाल तुम्हारे इन्तजामसे इलाकेकी आमदनी बढ़ी होगी ऐसा मालूम होता है देखें क्या जवाब देता है।

श्रीजीकी दासी
(ह) महामाया

श्रींऐं

Khairi Gurh

Singahi
13/1/16

परमहंस परमाराध्य परम् पूजनीय श्री १०८ गुरुदेव चरण-कमलेषु साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम्।

ता० ४ का कृपापत्र पहुँचा कुल हाल अधिवेशनका सुनकर प्रसन्नता हुई। श्रीजीके दर्शनके निमित्त दासीको अति विकलता रहती है परन्तु श्रीजीके रियासतका काम जिसके वास्ते बहुत ताकीद की गई थी अधूरा छोड़ना भी नहीं हुवा जिसमें लोग हँसी करैं, क्योंकि ६ बरसके हिसाबात विलापास पड़े थे बहुतसे

निकल गये हैं अभी बहुत बाकी हैं करीब एक महीनेके और मिहनत है उसके बाद रोजमर्राका काम रह जायगा जो की पत्रद्वारा भी आसानीसे हो सकता है। बमबहादुरका लड़का बहुत बीमार हो गया था अब श्रीजीकी कृपासे अच्छा होने लगा है क्या करूँ सामने होनेसे मोह लगती ही है। दासीका शरीर भी अच्छा है कोई चिन्ताकी बात नहीं है शरीरका धर्म है कि सुख-दुःख उठावे श्रीजी सर्वज्ञ हैं बाकी सब श्रीजीकी कृपासे अच्छा है।

श्रीजीकी दासी
(ह०) महामाया

श्रीऐं

Khairi Garh

Singahi
१६-६-१५

परमाराध्य परमपूजनीय श्री १०८ गुरुदेवचरण कमलेषु साष्टाङ्ग दण्डवत।

ता० १२ का कृपापत्र पहुँचा कृतार्थ हुई। शिवजीके आज्ञाअनुसार अहंकार-रहित ध्यान साधन इत्यादिके लिये निवेदन करती हूँ—इस अयोग्य दासीसे ब्रह्ममूर्त्तिका ध्यान ही होना कठिन है तब भी पूर्वजन्मके संस्कारसे और प्रारब्धवेगसे जहाँ ऐसे ब्रह्ममूर्त्तिकी कृपादृष्टि इस मन्दबुद्धिके ऊपर हुई है शायद, आशा है कि किसी समय उसीकी कृपासे सर्व प्रकाशका अनुभव हो। यों तो शिवजीका ध्यान हर समय चित्तसे नहीं निकलता परन्तु सुबह ४ बजेसे ६ बजेतक आज्ञाअनुसार कुछ साधन वगैरा हो जाता है उस समय मालूम नहीं कि शिवजीका ध्यान विशेष करके चित्तमें नहीं जमता इसका कारण क्या है? किसी समय एक सूर्यका प्रकाश सामने आकर तमाम शरीरमें

फैल जाती है ऐसा मालूम पड़ता है और कभी इनके ध्यानके समय भी क्षणमात्रके लिये अन्तसकरणमें कंपायमान होता है। और क्या-क्या अनुभव होते हैं कहाँ तक निवेदन करूँ। रातको निद्राके समय शिवजी विशेष करके ध्यानमें आते हैं और शामको पूजाके समय भी साढ़े ६ बजेसे ८ बजेतक भी ध्यान हो जाता है। क्या शिवजीकी कृपादृष्टि इन दिनों दासीके ऊपर कमी है, ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि शिवजी विशेष करके ध्यानमें नहीं आते हैं जैसा कि आया करते थे। दासीको यह अनुभव होता है कि शायद शिवजी भी उसी प्रकाशमें मिल जाते हों जो कि दासीको अनुभव होता है, कृपा करके लिखें।

Rest all well.

श्रीजीकी दासी
(ह) महामाया

ओम् ऐं

Khairi Garh

सिंगाही
७-६-१७

परमाराध्य परमपूजनीय श्री १०८ गुरुदेवचरणकमलेषु साष्टाङ्ग दण्डवत। ता० २६ का कृपापत्र स्वयम् लिखे हुये पत्रका दर्शन पाकर इस अधैर्य चित्तको शान्ति प्राप्त करके अनुगृहीत हुई। जैशंकर। अतिकृपा महाकृपा जिसके लिये वाणी नहीं है कि तहरीर करूँ। खैर, इतनी प्रार्थना जरूर ही स्वीकार हो। हे नाथ तुम दासीके लिये ये हो।

ओं नमस्ते सते सर्व लोकाऽश्रयाय।
नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय॥

नमोऽद्वैत तत्त्वाय मुक्तिप्रदाय।
नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यम्।
त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्॥
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ।
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्।
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्॥
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकम्।
परेषां परं रक्षकं रक्षकानाम्॥
परेश! प्रभो! सर्व रूपाऽविनाशिन्!
अनिर्देश्य! सर्वेन्द्रियाऽगम्य! सत्य!
अचिन्त्याऽक्षर! व्यापकाऽव्यक्त तत्त्वम्!
जगद्भासकाऽधीश! पायादपायात्॥
तदेकं स्मरामस्तदेकं जपाम
स्तदेकं जगत्साक्षि रूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशम्।
भवाम्भोधि पोतं शरण्यं व्रजामः॥

हे ब्रह्ममये!

आपमें सब स्थित हैं, आपसे सब उत्पन्न हुए हैं, आप सर्वरूप हैं जो सब ओर हैं अर्थात् सर्वव्यापक हैं और आप सर्वमय देव हो उन सर्वात्मा ब्रह्मको प्रणाम है।

हे कमलानने! आपही कमलोंमें वास करके उसका रस, रूप, गन्धमें भोग करनेवाले हो, इति शुभम—

श्रीजीके इच्छा अनुसार ही दासीका यश प्रतिष्ठा बढ़नेकी संभावना है क्योंकि दासीकी इच्छा इच्छा ही नहीं जो कुछ इस

२४ तत्त्वोंसे होता है वह सर्व तेरी इच्छा वो हुक्मके बमौजिब होता है। दासीका सब सत्व आपहीका है ऐसा भावना रहता है। यह सुनकर चित्तमें शान्ति हुई कि श्रीजीका शरीर अब ठीक है। दासी प्रार्थना करती है कि राजपूताना यात्रासे श्रीजी शीघ्र वापस पधारेंगे। यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि कलक्टर साहब भी यज्ञमें शरीक होंगे। क्या काली बाबू लेक्चर कहेंगे श्रीजीके साथ कौन-कौन जायेंगे। दासीका शरीर अब ठीक है कोई शिकायत नहीं।

श्रीजीकी दासी
(ह०) महामाया

True copies of the letters of H. H. Major General Maharaja Sir Pratap Singh G.C.S.I. G.C.I.E. Maharaja Jammu and Kashmir.

THE PALACE,
Srinagar.
7th September, 1917.

Your Holiness,

I have received your Holiness' letter of the 1st September 1917, and thank you for the good wishes. I wish that the tour, which you are undertaking, may prove to be of great benefit to the cause in which you are working.

When visiting Udaipur kindly convey my kindest regards and remembrances to His Highness the Maharana Sahib.

As regards the repairs of Kedarnath temple and restoration of Joshi Mutt, I am candidly of opinion that at this time of war no one man will be able to under-

take such a large expenditure. I think you are already aware that all our resources are at present devoted towards war in various ways and to incur the expenditure of repairs and restoration work will mean to exaggerate my resources of expenditure. I am exceedingly sorry to tell you so frankly but as it appears to me that my previous letters on the subject have not convinced you, I thought it wise to tell you in a straight forward manner. We must, therefore, invite every Sanatan Hindu to come forward and help in this cause. A list must be started and all the important personages, who follow the Sanatan Dharma, should be called upon to contribute something towards these work. I am almost certain that if you undertake to do in the manner I have proposed, your efforts will certainly meet with success. I cannot deny that as a strict follower of the Sanatan Dharma, it is my principle to devote, as much as it is possible, my resources towards the restoration of these works, but you would believe me when I say that this is not a time and when the list is ready, I will do my level best to offer my share.

I hope you will do as I have suggested and take up the matter accordingly.

Sastang Pranam.

Yours' most Obediently
(Sd.) Pratap Singh.

Crest of H. H. Major General Maharaja Sir Pratap Singh G.C.S.I. G.C.I.E. Maharaja Jummu and Kashmir.

CAMP.
Benares City.
3-1-1917

Your Holiness,

I have much pleasure in acknowledging the receipt of your Holiness' kind letter of the 3rd delivered to me by Rai Bahadur Shivpuriji. He has conveyed to me Your Ashirbad and given me the Yagna Bhasma so kindly sent by you. I am very glad to have seen Rai Shivpuriji.

I shall leave Benares on the night of the 4th Instant.

I trust this will find Your Holiness in the enjoyment of excellent health.

Shastang Purnam under Holiness' Holy Charanarbind.

Your Holiness' obediently
(Sd.) Pratap Singh.

To

His Holiness Sri Swami Gyananandji
Shri Bharat Dharma Mahamandal
Benares Cantt.

True copies of the letters of H. H. Maharaja Arjun Singh of Narsinghgarh.

Crest of H. H.
Narsinghgarh.

Narsinghgarh.
C. I.
January 12, 1912.

Your Holiness,

Very many thanks for your Holiness' kind letter of the 5th January. The baby is by your Holiness' favour and blessing much better now. It is hoped that he will be alright soon.

I am arranging to have the "Vidyartanakar" read to me, as directed by your Holiness and will write to your Holiness about it and the other subject referred to in your Holiness' letter under reply later on.

I am thinking of going out on tour in the district shortly and will probably not return to Narsinghgarh before the middle or end of February 1912.

I have already informed your Holiness about my health in my last letter which must have reached your Holiness before now.

With my best Pranams

Your Holiness' Obediently
(*Sd*) Arjun Singh.

Crest of H. H.
Narsinghgarh,

Narsinghgarh C. I.
November 11, 1912

Your Holiness.

I am much obliged to your Holiness for your kind letter of the 4th November and for your good wishes for me.

I returned from Bombay on the 5th instant after about 10 days' stay there. I can not say that I enjoyed the visit as the Climate of Bombay is any thing but pleasant in October.

The opinion of Doctors Rao Shrijaonkar and Major whom I consulted in Bombay regarding my ailments is not very encouraging but they say that the disease is not dangerous to life.

I fully realise how your Holiness and Shri Bada Swamiji Maharaj are anxious for my welfare and how both of you have been trying to help me and am fully convinced that your efforts in my behalf will one day bring about the long wished result and I will through your favour and God's Kindness, once again enjoy the blessings of health.

Everything, as your Holiness truly observes, awaits the maturity of time and I await with patience the day which will see the realization of my hopes.

I am also anxious to see your Holiness, but can not yet say when I shall have the pleasure of kissing your Holy feet.

With best Pranams.

Your Holiness' obdt. Servent
Sd.) Arjun Singh.

Crest of H. H.
Narsinghgarh.

Narsinghgarh.
C. I.
21-7-1915

Your Holiness,

Many thanks for your Holiness kind letter from Khairigarh received a short time ago.

I am in my usual health. Shri Bara Swami Ji Maharaj writes from Bhuvaneshwar that he is preparing a medicinal oil for me and hopes to bring it with him when he comes here in the second week of August next. So I am writing for Swami Ji Maharaj now.

The senior Maharani had not been well of late. She has been suffering from slow fever but is better now

Rai B. K. Lahiri has after all consented to remain here to help me in my administration and I am glad that he has done so. I have put him in charge of the Judicial, the Police and the house hold departments. Kindly keep his appontment here confidential.

I have received three copies of Satyarth Vivek from Bharat Dharm Mahamandal Office Benares.

I shall be glade to know the result of Holiness' visit to Khairigarh. (Oudh).

With respectful Paranams.

I remain
Your Holiness Obediently
(Sd.) Arjun Singh

True copy of a letter of Maharajadhiraj Rameshwar Singh of Darbhanga.

Crest of H. H. Maharajadhiraj Darbhanga.

Rajnagar
October 12

My dear Swamiji,

Many thanks for your letter. You not being able to come was a great disappointment but I recognised that you have to go to different places on very important work. I wish you every success in your undertaking.

The blessings, that I have from you and all other dhus whom it may be good fortune to know, are two :

viz. (1) That while I live, strength and health be permitted to me to do good to the people.

(2) That, at the end,

Shri 108 Vishweshwar may take me to Himself in the *twice* sacred city.

I am glad to inform you that the कोटि होम progredssing favourably. The Mandapa is admirably adopted to allow the egiers of smoke, and there 250 priests officiating. I shall be glad to have your programme until the month of Nov. I shall be here in Darbhanga until the 13th and I then go to Sankerpur.

Yours Sincerely
(Sd.) Rameshwar Singh

True Copy of a letter of Maharaja Jai Singh of Alwar Rajsthan.

Crest of H. H.
Alwar.

Alwar
Rajputana.
3rd September 1915.

Pujyavar Swamiji,

I was somewhat surprised to see from your letter of 22nd Aug. that you complain of my not having written to you in reply to your two previous letters; because I wrote to you on the 25th July in reply to yours of 20th in which I also said something about the Satyartha-Viveka.

Many thanks for sending me the two books, Tattwa Bodh, and the Mantra-Yoga-Samhita,

I thank you also for the invitation to me to attend the Mahamandal Mahadhiveshan about Christmas time which I am afraid I must decline.

Have you not settled as yet your proposed tour in Rajputana? If so, can you tell me at all when you are likely to give us the pleasure of your visit to Alwar?

With Pranam,

Your Sincerely
(Sd.) Jay Singh

True copy of a letter of Raja Baldeo Singh of Poonch.

Crest of Raja
of Poonch State.

Poonch House
LAHORE.
7-1-1915

My dear Sri Sawamiji,

Your letter of 7th August 1914 was handed to me personally by Pt. Durga Dutt Vidya Ratna the other day. He was introduced to me by Dr. Balkrishen Kaul. We had a long talk with him and in the course of conversation he highly recommended the younger brother of the Raja of Ajaigarh. I shall be greatly pleased if you will kindly favour me with your views on the subject. I will not decide the point one way or the other till I hear from you.

I am at present in Lahore and will await reply of my present letter here.

With charanbandna.

Always very sincerely Yours
Sd/-Buldeo Singh

True copy of a letter of Raja Suraj Bux Singh of Kasmanda.

2 Park Road,
Lucknow.
6th May '15.

To

His Holiness, Shri Paribrajakacharya Shri Swami Gyananandji Maharaj,

Dear Sir,

I am very much obliged to you for your kind letter. I thank you for the same.

Yes, Kunwar Tej Bahadur Shah has brought me a copy of your SATTYARTHAVIVEK.

I have gladly accepted it considering myself greatly honoured by your august self.

I have not seen it through as yet, I have only glanced at random. I intend to profit by reading it when I will go to Kasmanda. As there is plague in that part of the country. So I have postponed my going for sometime more. I fancy, I will go home by the end of this month. Till then, I will stay here.

I suppose, on your return from Singhai, you will pass through Lucknow and perhaps break journey. You usually put up with Rai Bahadur Munshi Prayag Narayanji. I hope to pay my respects to you when you are here.

With respects

I am
Your Charnasevak,
(Sd) Surj

देशके औरभी अनेक स्वाधीन नरपतिगण एवं गण्यमान्य सज्जन श्रीजीके भक्तोंमें थे, जिनका विवरण विस्तारपूर्वक यहाँ नहीं दिया जा सका। यों तो एक बार भी श्रीजीके दर्शन करने तथा उनकी पीयूष-पूरित मधुर वाणी श्रवण करनेका जिनको सौभाग्य प्राप्त होता, वे श्रीजीके भक्त बन जाते थे, अतः भारतके सभी स्थानोंमें उनके भक्त थे। श्रीजीका कर्म-योग-क्षेत्र केवल धार्मिक एवं सामाजिक था, अतः राजनैतिक क्षेत्रके सज्जनोंके सम्पर्कमें आनेका उनको कोई प्रयोजन नहीं हुआ, केवल लोकमान्य बाल-गङ्गाधर तिलक किसी प्रकार श्रीजीके सम्पर्कमें आ गये थे और वे उनके भक्तोंमें थे। एक समय जब किसी कार्यवश श्रीजी महाराज पूना पधारे थे, उस समय तिलकजी कारागारमें थे, बृटिश शासनकी उनसे सम्बन्ध रखनेवालोंपर भी कड़ी क्रूर दृष्टि रहती थी, अतः श्रीजीके साथ रहनेवाले भक्तोंने उनको लोकमान्यके घर जानेसे रोका भी, परन्तु श्रीजी कब माननेवाले थे, वे उन्हींके घर जाकर अतिथि हुए, श्रीबालगङ्गाधर तिलककी साध्वी धर्मपत्नीने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे श्रीजीका आतिथ्य किया। श्रीजी एक या दो दिन उनके यहाँ ठहरे थे। कारागारसे बाहर आनेके पश्चात् सन् १९२१ के अगस्तमें लोकमान्य तिलक श्रीजीके दर्शनोंकेलिये काशी आये

थे। वे प्रातःकाल दस बजे आये थे, एवं एक बजे मध्याह्नमें वापस गये, उनके साथ उनके कई सहयोगी भी थे, उस दिन श्रीजीके उपदेशोंसे वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि, जानेके पूर्व उन्होंने श्रीजीको अभिवचन दिया था कि, अबसे वे राजनीतिके साथ-साथ धर्मकी सेवा भी करेंगे। परन्तु देशके दुर्भाग्यसे काशीसे लौटनेके कुछ दिन पश्चात् ही उनका स्वर्गवास हो गया।

विदेहमुक्ति

सृष्टिका यह नियम है कि, इसमें जड़ या चेतन कोई भी वस्तु नित्य या स्थिर नहीं है। इसी अपरिहार्य नियमके अनुसार सभी शरीरधारियोंकोभी अपना शरीर कभी-न-कभी छोड़ देना पड़ता है। कोई भी ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, ध्यानी, भक्त, शूर, वीर यहाँ-तक कि भगवान्के अवतार भी इसके अपवाद नहीं हुए। भगवान् राम तथा कृष्णनेभी इसी नियमके अनुसार लोकाभिराम भक्त मनोहारी अपने सुन्दर शरीरका परित्याग कर दिया। भगवान् रामका स्वधाम गमनका जो वर्णन अध्यात्म रामायण तथा वाल्मीकि रामायणमें प्राप्त होता है, वह बड़ा ही सुखद है। भगवान् रामने अपने वियोगमें रोने-बिलखनेके लिये किसीको नहीं छोड़ा था, वे अपने स्वजनों एवं पुरजनोंको भी अपने साथ लेकर गये थे। भगवान् कृष्णके स्वधाम-गमनका जो वर्णन श्रीमद्भागवत्में उपलब्ध है, वह बड़ा ही कारुणीक तथा हृदय-द्रावक है, उस प्रसङ्ग-को पढ़नेसे आजभी हृदय द्रवीभूत हो जाता है और भावुक भक्तों-के नेत्रोंसे स्वतः अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। वस्तुतः प्रियजनके वियोग जैसा दारुण दूसरा दुःख भी नहीं है। महाराज युधिष्ठिरने जब अर्जुनके मुखसे प्रियतम भगवान् कृष्णके स्वधाम-गमनका अत्यन्त अमङ्गलमय समाचार सुना तो तत्क्षण अभि-

मन्यु-कुमार परीक्षितको पृथिवीका साम्राज्य देकर उनको सम्राट् पदपर अभिषिक्त कर स्वयं विना किसीसे कुछ कहे उत्तराखण्ड-की यात्रा की। उनके भ्रातृभक्त भाई अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव तथा साध्वी द्रौपदीनेभी उनका अनुगमन किया। भगवान् कृष्णसे विरहित यह पृथिवी उनको एक क्षणकेलिये भी ठहरनेयोग्य नहीं प्रतीत हुई। अस्तु—

पूज्यपाद श्रीजीके दिव्य जीवनकी अनेक घटनाएँ भगवान् कृष्णसे मिलती हैं। वे अपनी माताके आठवें गर्भसे आविर्भूत हुए थे, भाद्रपद कृष्ण अष्टमीके दिन अर्धरात्रिके समय उनका भी प्रादुर्भाव हुआ था। सनातन-धर्मकी रक्षा तथा प्रचारके लिये वर्तमान समयके अनुसार उनकोभी अनेक बड़े-बड़े संघर्षों तथा प्रहारोंका समस्त जीवन सामना करना पड़ा। श्रीजी अपने योग-ऐश्वर्यको छिपाये रहते थे, अतः उनके यथार्थ स्वरूपको साधारणतः लोग जानने एवं समझनेमें असमर्थ रहे। कुछ थोड़े लोग जिन्हें उनके बहुत निकट सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे ही उनको कुछ पहचानते थे। श्रीजीके ऐसे भक्तोंको आज कोईभी सन्त, महात्मा, त्यागी, विरागी जँचता ही नहीं। पूर्णावतार भगवान् कृष्णको भी उनके समयमें केवल महाराज युधिष्ठिर तथा पितामह भीष्म यथार्थरूपसे पहचानते थे ऐसा महाभारतसे पता चलता है।

पूज्यपाद श्रीजीने अपने दिव्य जीवनके प्रारम्भसे अन्ततक निरन्तर सनातन-धर्मकी रक्षा, शिक्षा, प्रचार एवं प्रसारके लिये अनेक अलौकिक अतुलनीय कार्य किये। ऐसा कार्य भगवान् आदि शङ्कराचार्यके तिरोभावके पश्चात किसीके द्वारा नहीं हुआ था। अन्तके इधर दस वर्षोंसे श्रीजीने काशीसे बाहर सञ्चार करना बन्द कर दिया था। वे श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्यालयके ऊपर शारदा पुस्तका-

लयमें एक ओर एकान्तमें विराजते थे। श्रीमहामण्डल तथा उससे सम्बन्धित धर्मकार्योंको करते हुए भी वे प्राय: समाधिस्थ रहा करते थे। ग्रन्थोंके प्रणयनका कार्य भी उनकी रुचिके अनुकूल होनेसे वे किया करते थे, परन्तु बाहरी लोगोंसे मिलना उन्होंने प्राय: छोड़ दिया था। उन्होंने अपने महाप्रयाणका समय जान लिया था। अन्तके दो-तीन वर्षों पहले उनको प्रास्ट्रेट ग्लाण्ड (Prostrate gland) के कारण बार-बार लघुशङ्काकी बाधा होती थी। डाक्टरों-ने इञ्जेक्शनकी सम्मति दी, परन्तु श्रीजीने यह कहकर इञ्जेक्शन लेना अस्वीकार कर दिया कि, इस सात्त्विक शरीरमें बाहरी अपवित्र वस्तुका प्रवेश नहीं कराना है। माघकृष्ण प्रतिपदा सम्वत् २००८ को लघुशङ्का होना सर्वथा बन्द हो गया, इस अवस्थामें अन्य कोई उपाय सफल न होनेपर डाक्टरोंने शल्य-क्रियाकी व्यवस्था की। जैसा ऊपर कहा गया है, श्रीजीने काशीसे बाहर जाना दस-बारह वर्षोंसे बन्द कर दिया था, अत: उनकी इच्छाके विरुद्ध उत्तम शल्य-क्रियाके लिये उनको काशीसे बाहर लिवा जाना भी सम्भव नहीं था, माघकृष्ण चतुर्थी सम्वत् २००८ के प्रात:कालका वह घोर अशुभ दिन था, श्रीजी जिस कक्षमें विराजमान् थे, वहीं उसी आसनपर शल्य-क्रिया डाक्टरोंने की। श्रीजी शान्त भावसे लेटे थे, उनको चेतना-शून्य करनेकी भी आवश्यकता नहीं हुई, शल्य-क्रियामें डेढ़ घण्टे लगे, श्रीजी समाधिस्थ थे। शल्यक्रियाके कारण उनके दिव्य शरीरसे जो रक्त-श्राव हुआ उसी समयसे उनकी नाड़ी-का स्पन्दन धीरे-धीरे क्षीण होते-होते बन्द हो गया। तबतक सन्ध्या हो चुकी थी। पुनः डाक्टर लोग आये, परन्तु कोई उपचार कार्यकारी नहीं हुआ, क्योंकि श्रीजी अपनी भौतिक लीला संवरण करना चाहते थे। डाक्टरोंने आक्सीजन गैसकी सम्मति की, तदनुसार उपर्युक्त यन्त्र मँगाया गया, जैसे ही वह यन्त्र श्रीजीकी

नासिकापर रखा गया, तत्क्षण श्रीजीने अपनी बायें करकमलसे झटकेसे उसको हटा दिया एवं सामने खड़े अपने शोक-विह्वल भक्तों एवं शिष्योंको लक्ष्य करके मेघके समान गम्भीर वाणीमें आदेश दिया कि—"धैर्यसे काम लो—धैर्यसे काम लो", इसके पश्चात् वे पुनः समाधिस्थ हो गये। एवं प्रातः पाँच बजे ब्राह्ममुहूर्तमें अपने आत्माको परमात्मामें विलीन करके उन्होंने इस लोककी लीला समाप्त करके विदेह मुक्ति प्राप्त की।

श्रीजीके तिरोधानसे सनातन-धर्मका सूर्य अस्त हो गया एवं सनातनधर्मी जनता अनाथ हो गयी, परन्तु श्रीजीने अपने ग्रन्थोंमें जिस ज्ञान-राशिका भरपूर भाण्डार भर दिया है, वह युगान्ततक मानव जातिको आलोक प्रदान करता रहेगा और उसको अनन्त सुख तथा शान्तिका पथ प्रदर्शन करता रहेगा इसमें सन्देह नहीं।

यद्यपि अब पूज्यपाद श्रीजीका प्रशस्त भाल, विशाल लोचन, नुकीली नासिका, कम्बुकण्ठ, अदृष्टपूर्व जटामुकुट-मण्डित मनोहर मुख-मण्डल, चरण-चुम्बित रजत-धवल श्मश्रुसे सुशोभित वह सर्वाङ्ग सुन्दर साकार विग्रह जिसका दर्शन करनेसे साक्षात् चन्द्रचूड़ भुजङ्गभूषण भगवान् शङ्करके दर्शनका भान होता था, हमारे नेत्रोंके सामने नहीं है, किन्तु वे ब्रह्मरूपमें सदा सर्वदा सर्वत्र विराजमान् हैं तथा अपने शरणागत भक्तोंकी सब बाधा-विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, एवं उनका सर्वविधि कल्याण करते हैं। उन साक्षात् शङ्कर-स्वरूप जगद्गुरु महाप्रभुके राजीव चरणोंमें हमारी साञ्जलि प्रार्थना है कि, आर्यजातिको ऐसी सुबुद्धि प्रदान करें, जिससे आपकेद्वारा प्रदर्शित पथपर चलकर वह अपना तथा समस्त मानवजातिका कल्याण कर सके तथा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥

श्रद्धाञ्जलि एवं संस्मरण

भगवत् पूज्यपाद श्रीजी महाराजके सहस्रों भक्त एवं शिष्य भारतके सभी प्रदेशोंमें थे। श्रीजीके ब्रह्मलीन होनेका समाचार जिनको जिनको मिला, वे उनके वियोगसे अत्यन्त व्यथित हुए। उनकी श्रद्धाञ्जलि एवं संस्मरणके सहस्रों तार एवं पत्र संस्कृत हिन्दी एवं अँगरेजीमें जो श्रीभारतधर्म महामण्डलके प्रधान कार्यालयमें आये थे, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। स्थानाभावसे उन सबको प्रकाशित करना सम्भव नहीं है—

श्रीचरणस्मरणम्।

श्री पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्रिणा—

आदर्शो दर्शनानामपि मुकुटमणिर्योगपारङ्गमानां,
सिद्धानां सुप्रसिद्धोऽमितमहिमखनिर्ज्ञानरत्नाकराणाम्।
संशास्ता यो नृपाणां निधिरतिमहसामाश्रयः सज्जनानां
ज्ञानानन्दो गुरुणामपि परमगुरुर्ब्रह्मधाम प्रतस्थे ॥१॥

भाद्रे द्विशून्यनवभूयुतवैक्रमेऽब्दे कृष्णे
वसौ जनुरभूद् भवतोऽर्धरात्रे।
सप्ताधिके मृतिरपि द्विसहस्रयुक्ते
माघेऽसिते शरतिथावधिकाशि कल्ये ॥२॥

श्रुत्या निदर्शितमहो शतवर्षमायुः सत्ये
युगे तदपि सत्यमभूत् कलौ तु।

योगेन संयमयुतेन तपोबलेन पञ्चाधिका
व्यतिगता भवत: शताब्दी ॥३॥

आदर्श-दर्शन-निदर्शन-रम्यरूप !
हर्ष-प्रकर्ष-परिवर्ष-निकर्ष-मूर्त्ते !
आद्यानवद्यपरिवन्द्यपदारविन्दे
त्वद्भक्तिरस्ति विमला परमाऽचला च ॥१॥

संघर्षकृत्यकृत नित्यपरापकर्षैराषों-
विधिर्नभवतो ह्यसमान आसीत् ।
आसीस्त्वमेव भगवन् सुकविर्मनीषी
वेदोदितो भुवि गतः परिभूः स्वयम्भूः ॥२॥

आजानुबाहुरतिरम्यविशालभालः
कर्पूरसुन्दररुचिः कमलायताक्षः ।
कन्दर्पदर्पदलनाय धृतावतारस्त्वं
भूतभावन इव प्रतिभासितोऽभूः ॥३॥

निष्कामकर्मयुगहैतुकभक्तिभूमे !
हे ज्ञानयोगपरमादृत धर्ममूर्त्ते !
सन्देह-सूर्य-सुखरूप शरण्य धन्य
त्वादृक् त्वमेव भगवन् नहि कश्चिदन्यः ॥४॥

श्मश्रूण्यकृत्रिमविशालजटाकलापा
उत्थाय गन्तुरिह यस्य भुवं स्पृशेयुः ।
कौपीनवाननतिपीनवपुस्त्वदन्यो
नान्यो मुनिस्त्रिभुवने परिलक्षितोऽभूत् ॥५॥

आधत्त भक्तजनता भगवन्तमेत्य क्षुद्रे
गुणान् कति निजे हृदये त्वदीयान् ।
स्वादूदकाम्बुधितटं मरुपान्थसंघः
प्राप्याददीत कियदम्बु दृतौ स्वकीये ॥६॥

योऽभूदभूमिरनयस्य जगत्प्रसिद्धः
लोकैषणादिशितदोषशरैरविद्धः।
अष्टाङ्गयोगयुतसाधितसिद्धिसिद्धः
दीप्त्या स्वया प्रसृतया परितः समिद्धः ॥७॥
प्रोद्यत्प्रतापनिधिवेदविदां वरिष्ठः
सन्मातृपितृचरणप्रणयी घनिष्ठः।
योगप्रवृद्धतपसा वयसा स्थविष्ठः,
त्वं वेदचिन्तनविधौ हि सदा यविष्ठः ॥८॥
अश्रद्दिगन्तयशसा महसा महिष्ठः
ज्ञानप्रसारणविधानपरो गरिष्ठः।
ऋद्ध्या विवेकपरयाऽपरया समृद्धः
त्वदृक्समो न भगवन् भुवि बोधवृद्धः ॥९॥
स्पृष्टो न येन विभवो नच यो निकृष्टः
हृष्टः सदैवपरमार्थविधानमृष्टः।
दृष्टः शिवाङ्घ्रिसरसीरुहसंनिकृष्टः
भृष्टो भवादृशगुरुर्विधिना न सृष्टः ॥१०॥
दिष्टोन्मुखोऽध्वनि*सतां सुधियां प्रविष्टः
शिष्टः स्वभावत उत प्रभया विशिष्टः।
देवर्षि-पितृ-दनुजेन्द्र-नरेन्द्र-यक्ष-
गन्धर्व-किन्नर गणाः खलु मण्डले ये।

---

*दिष्टोन्मुखः = प्रारब्धमात्रभोक्ता इत्यर्थः। सञ्चितक्रियमाण-प्रारब्धसंज्ञकेषु त्रिषु कर्मसु संचितक्रियमाणयोर्नाश आत्मज्ञाने संजाते "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इति भगवद्वचनोऽनुसृत्य भवति। किन्तु "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः" इतिशास्त्रवलेन जीवन्मुक्तैरपि प्रारब्धकर्म भुज्यत एवेति।

चित्रार्पिताः सततनिश्चलनिर्निमेषा-
स्त्वद्दर्शनार्थमिह नूनमुपाययुस्ते ॥११॥
कल्पद्रुमोभगतश्चरणारविन्दं
सा कामधेनुरमला तव पादसेवा।
एतद्द्वयीविरहितं यदि किञ्चिदस्ति
तत्सर्वमेव कविकल्पनया प्रसूतम् ॥१२॥
रत्नानि रत्ननिकरस्य महार्णवस्य
धामानि धामनिधिदेवविवस्वतश्च।
तद्वत्प्रभो भगवतःसदनन्तकीर्त्तेः
कार्याणि हन्त वचसो मनसः पराणि ॥१३॥

—–

पुण्यस्मृतिः

(श्रीपं० श्रीजीवदेव शर्म्मा न्यायतीर्थ एम्० ए० कलिकाता)

ज्ञानानन्दं यशसि विशदं पूज्यपादारविन्दं।
ज्ञानस्यन्दं भरतधरणीधर्मकन्दं पुराणम् ॥
उच्चैर्वन्द्यं नृपतिनिकरैर्मौलिमालाप्रसूनैः।
शुद्धस्वान्तं शिवतनुधरं हन्त ! शान्तं नमामि ॥

अहो ज्ञानसिन्धुः शुष्कतां गतः ! विद्यापारावारोऽस्मन्नयनपारमासादितः ! धर्म्मविग्रहः साम्प्रतं तिरोभूतः ! यस्य किल प्रभावः समग्रे भारते नवालोकमुद्दीपयन् जनानां धर्म्मचेतनां जनयामास। स्मरामि हन्त ! भारतधर्ममहामण्डलनभोमण्डलमण्डनायमानानां पूज्यचरणानां ज्ञानानन्दस्वामिनामखण्डप्रतापं धार्मिकचेतःसु स्निग्धधरातलकल्पेषु। म्लेच्छप्रभावमोहितानामपि

देशीयभूपतीनां स्वामिपादस्योपरि कियान् स्थितः श्रद्धातिशयः? का कथा धर्मरसपिपासूनां नरनाथानाम्?

काशीस्थलं केन्द्रीकृत्य वङ्गमिथिलाङ्गकोशलदेहलीमहाराष्ट्र-राजस्थानादिविभिन्नप्रदेशेषु धर्मसङ्घटनमपूर्वं समजनि स्वामिवर्याणां महिम्ना। स्वामिदयानन्दमहोदयः शिष्यरूपेण विशिष्ट प्रचार-कर्म्म कुर्वन्नपूर्वव्याख्यानभाषणादिना सनातनवर्णाश्रमधर्मस्य मङ्गलमयस्वरूपं प्रकटयन् पर्यटत् प्रदेशात् प्रदेशान्तरम्। कियानुत्साहः कियान् आग्रहः कियदौत्सुक्यं दृष्टे तदानीन्तनजनसमवाये। धर्ममहामण्डलपादपस्य सर्वतो विसारिणी शाखा काञ्चन धर्मच्छायां रचयन्ती सर्वत्र विललासाप्रतिहता। समग्रमुत्तरभारतं महामण्डलच्छत्रतले मिलितं ललितधर्मसूत्रानुबद्धं जनकुसुममाल्यमयमेकमिव प्रत्यभात्। स्वामिपादानामुपदेशविशेषगर्भाः कियन्तो ग्रन्था मुद्रापिताः धर्मभावप्रसारणाय। तदीयमसाधारणं प्रतिभानं धर्मस्वरूपनिरूपणपरं बहूनामभूदवलम्बनम्।

अतीतानि पञ्चाशद्वर्षाणि, संसारसारभूता मे जननी यदा गतासुरभूत् तदा पितृपादाः संसारभारमसहमाना विकलहृदया इतस्ततो धावन्ति स्म। षट् शिशुसन्तानान् पितृव्यजायाधीनान् कृत्वा पितृदेवाः स्वामिज्ञानानन्दशरणमाजग्मुः। तदानीं भारतधर्ममहामण्डले नित्यं योगानुष्ठानकुशला कापि गोष्ठी प्रचलतिस्म। तत्र च कियत्कालं स्थित्वा स्वामिपादेभ्यो योगमभ्यस्यन् कथञ्चित् तात्कालिकीं शान्तिमभजत् पितृदेवः। तदा प्रभृति स्वामिपादैः समं घनिष्ठः परिचयः पितृदेवस्य समभूत्।

राजस्थानस्य बहवो राजानः स्वामिपादान् साक्षात् महादेवविग्रहानिव पूजयन्ति स्म। प्रत्यक्षीकृतमिदं पितृपादैः स्वयमुदयपुरराज्ये। तदानीं महाराणाफतेसिहमहोदयः सिंहासनारूढः कठोरनियमनिष्ठः कुलोचितगौरवरक्षापरायणः स्वामिपादान्

मदीयपितृदेवद्वितीयान् कदाचिदागतान् दृष्ट्वा सम्यग् अभ्यर्थयामास। अमरमङ्गलं नाम नाटकं पितृदेवमुखादाकर्ण्य परमं सन्तोषमभजत् कृतवांश्च सत्कारविशेषम्। महाराणामहोदयो विद्याया विलासं न कल्याणकरं मन्यतेस्म। विद्यासम्पदा भूषिता बहवः शिक्षिताभिमानिनः प्रतारणाकुशला भवन्तीति विद्यादोषमुद्घाटयामास। अमरमङ्गले कविकल्पितमपि चरित्रं सत्यरूपतां दधारेति तदीयसन्तोषकारणं समजनि। परन्तु स्वामिपादानां प्रभाव एव महाराणामहोदयस्य सर्वसन्तोषमूलमिति तत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि। धर्मग्लानिनिरासाय सतामाश्वासनाय च स्वामिवर्य्याः कदाचिदपि नालस्यमभजन्। वर्त्तमानधर्मावसादमाकलय्य दूनोऽहं स्वामिपादेभ्यो नैराश्यसूचकं किञ्चिदवोचम्। तदुत्तरेण तैरुक्तम्—'मा तावदवसादं गमः धर्मव्यतिक्रमो दृष्टो द्रक्ष्यते च। काले काले धर्माधर्मतरङ्गः समुत्पद्यते विलीयते च। अधर्मः कियत्कालस्य कृते वृद्धिमापद्यते न चिरम्थ। पुनरपि धर्मोदयः पुनरपि विशुद्धो भावो भारतभूमिं पवित्रयिष्यति। भगवद्वचनं कदापि न विस्मरे।'

अहो महान् विश्वासः स्वामिपादानामन्तिमदर्शनकाले मया स्वयमनुभूतः तादृशं महात्मानमनुस्मृत्य कांश्चन श्लोकान् श्रद्धाञ्जलिविषयभूतान् इदानीं निवेदयामि—

काशीवासप्रियमनुपमं प्रेम धर्मे दधानं
कान्त्या गौरं रजतगिरिवद्गौरवं पालयन्तम्।
सौरं तेजःप्रसरमभितो बिभ्रतं ब्राह्मणार्हं
दिव्याकारं तमिह महिमप्रोज्ज्वलं हा स्मरामि॥

भ्रामं भ्रामं बहुजनपदं काममामन्त्र्य लोकान्
धर्मग्लानिप्रशमनकृते मण्डलं निर्मिमीषुः।
कं वा क्लेशं तनुधनमनोगोचरं सोढवान् नो
सोऽयं देवः सफलकरणो हा! गतोऽस्तं चिराय॥

एकान्तेन प्रियतममिव श्रद्धया सेवमानो
मान्यो धर्मोज्ज्वलपदवहं मण्डलं भारतं सः।
नानारूपाभरणसदृशैर्भूरिविद्याविभागैः
सज्जीकृत्य प्रमुदितमनाः ब्रह्मरूपे ममज्ज ॥
विष्वग् विश्वं कुमतिकलया ग्रस्तमालोक्य दूनो
लोकान् सर्वान् प्रति हितधियाखण्डभूमण्डलान्तः
चिन्ताधाराविनिमयकृते सङ्गमेकं विधाया-
लङ्क्यादेशः स्मृतिपथगतोऽप्येष जीयात् स पूज्यः ॥
नानाभाषापरमविदुषां ज्ञानतः शुभ्रभासा
माशाचक्रं जगति जयतां भुञ्जतां पूर्णमायुः।
नित्यं योगप्रवणमनसां सत्यसङ्कल्पभाजां
तेषां हन्त स्मरणमपि नः पुण्यराशिं तनोति ॥
काशि! कासि प्रियतमसुतं गोपयन्ती निजाङ्के
हे विश्वेश! क्व भवति भवज्ज्ञानमूर्तिर्विलीना?
गङ्गे स्वाङ्के कथमिव लयः क्षेमरूपस्य सोढः
पुण्याधोराऽप्यहह! सकला किं न शून्यायते भूः ॥
नित्यो देवो निखिलजगतां चित्तचारी विराजन्
पूज्यः स्वामी मिलितललितव्यासरूपो विधत्ताम्।
धर्मप्राणं स्वकृतिनिरतं भारतं मण्डलञ्च
प्रीतिस्निग्धजनगणमपि श्रीसनाथं पवित्रम् ॥

श्रद्धाञ्जलिः

वामाचरणभट्टाचार्यशास्त्रिणा

क्व गतो बत भारताद्दतो यतिरेकः स्मरणीयगौरवः ।
कृतभारतधर्ममण्डलः, स्थिरधीब्रह्मनिधिः सुधीप्रियः ॥
जनराज्यमसह्यवेदनं, परिहायाशुगते सुशिक्षिते ।
निजगेहमहो त्वया विना, तिमिरैरावृतमेव वीक्षते ॥
उपदेशमशेषमादरात्, भवदीयं सुमतिः शृणोति यः ।
स तु मोहपरायणोजनस्त्वरितं याति पुरा स्वशिष्यताम् ॥
प्रियशिष्यगणाय दर्शनं क्षणमात्रं भवता न दीयते ।
नवदेवसुधाहृदप्रियप्रियमन्यद्भुवने न विद्यते ॥
वरराजशिरः सुचुम्बिते, चरणे ते वरणीयतां गते ।
अयि ! हन्त समन्ततस्तव, प्रतिरूपन्त्वधुना विलोक्यते ॥
तव दीनजनस्य पालनं, व्रतमासीदसताऽपि गीयते ।
परलोकगते भवादृशे, कमिदानीं शरणं प्रपद्यते ॥
शिवभावमवाप सादरं, जनताकातरतामचिन्तयन् ।
भवतापविलोपकामनः शमनीयातुलयातनाहरः ॥
चिरमुक्तजने त्वमुक्तता भवति स्वामिवरे न सम्भवेत् ।
प्रतियोगिमतास्वभावतः सहसाऽभाववता न भूयते ॥
न च कालघनेन संवृता, ददृशे तावककीर्त्तिकौमुदी ।
प्रतिभाति सतीव सम्प्रति, प्रतिमासेव सतां प्रपूजिता ॥
विधिना विधिनेव वेदना, समये शेषदशे निराकृता ।
चिरकालसुखे सुखप्रिये, मरणं नास्ति सतीति भीयते ॥

—————

श्रद्धाञ्जलयः समर्प्यन्ते।

गङ्गाविष्णु शास्त्रिणा।

योगीन्द्रवर्ये दर्शनसार्वभौमे धर्मस्य तत्त्वार्थविदां वरिष्ठे
ब्रह्मीभूते सर्वतन्त्रस्वतन्त्रे ज्ञानानन्दे सद्गुरूणां वरण्ये
श्रद्धाभक्तिदिव्यपुष्पैः समेता उल्लसन्तु श्रद्धाञ्जलयो मदीयाः।

गौतमकणादपतञ्जलिव्यासप्रभृति - दार्शनिकचक्रवर्त्तिमहर्षिवर्य-जन्मभूमौ श्रीशंकराचार्यादिसर्वोत्तमज्ञानशाल्याचार्यश्रीविभूषिते कुमारिल-मण्डनोदयनाचार्य प्रमुख-पण्डित-प्रकाण्डसर्वविधज्ञान-प्रसवे सर्वविधविज्ञानप्रभवे पवित्रे भारते व्यतीतपञ्चसहस्राधिकवत्सरे कलियुगे नाद्यावधि सर्वदर्शनसत्समन्वयविधायक दार्शनिक नव्य-भव्यभावाविष्कारक हिन्दुजातिरेकमात्रप्रतिनिधिविराट् संस्था श्रीभारतधर्म-महामण्डल-संस्थापक ज्ञाननिधिधर्ममर्मज्ञब्रह्मीभूत श्रीगुरुदेव स्वनामधन्य श्रीज्ञानानन्दसदृशो महनीयमहिमा महा-पुरुषः कश्चिदजनि।

हतभाग्यभारतस्य दौर्भाग्यमेतद् यादृस्यां विकटपरिस्थितौ धर्म-राजनीत्योः सामञ्जस्यकारकः प्राच्यप्रतीच्यज्ञानविज्ञानतत्त्वा-भिज्ञानरत्नाकरः श्रीगुरुदेवपूज्यपाद श्रीज्ञानानन्दसंनिभः महनीय महात्मा ब्रह्मत्वमाप्नोत्। अहो! सहसा अनभ्रे वज्रपातः। हा विधे! तव चेतसि करुणाया लेशोऽपि नास्ति! वयमनाथाः किंकर्त्तव्यविमूढाश्च जाताः। साम्प्रतंतु परमाराध्य-श्रीचरणेषु श्रद्धाञ्जलिं समर्प्य सन्तोषमावहामो वयं श्रीचरणचिरसेवकाः। श्रीचरणचिररक्षितेनतत्सेवकेन स्नेहभाजनेन तदीयदुःसह-वियोग-विह्वलेन —

भारतधर्ममार्तण्डो हा ! अस्तमितः !!!

श्रीदीनानाथशर्म्मा शास्त्री सारस्वतः ।
—विद्यावागीशः, विद्यानिधिः, विद्याभूषणः—'
(प्रिन्सिपल सं० हिं० महाविद्यालयः देहली) ।

'भारतधर्ममहामण्डलं' प्रतिष्ठाप्य यो भारते तन्नाम विश्रावयिता, तद्गौरवापादकश्च समभूत्; कश्मीरादिदेशानां महनीयमहाराजा यच्चरणसरोरुहभृङ्गायिता यदीयस्थानस्य सोपानानामनावृतभूमिं सप्रह्वभावमधितिष्ठन्तिस्म; यो विलुप्तस्य कर्म्ममीमांसादर्शनस्य दत्तात्रेयस्मृतिप्रभृतिप्राच्यग्रन्थानां च समुद्धर्ता, भारतप्रसिद्धस्वामिदयानन्दमहोदयप्रभृतीनां गुरुस्थानीयः, महोर्जस्वलप्रतापतप्तमस्तकावनमितप्रत्यर्थिसार्थः, भगवच्छङ्कराचार्याणां विलुप्तस्य ज्योतिष्पीठस्य समुद्धर्ता, धर्मकल्पद्रुम-धर्मविज्ञानादि-महोत्तमपुस्तकानि यः स्वामिदयानन्दमहोदयद्वारा विरचय्य सनातनधर्म्मस्य महोपकारमचीकरत्; स एव संस्कृत-विद्वद्रत्नं; स एव मनस्वी, धीरगभीरः, सर्व्वद्वन्द्वसहिष्णुः, स्वस्थानस्थ एव सर्व्वेषां राजमहाराजादीनामादेष्टा, संस्कृताङ्गल हिन्दीभाषिकपत्त्रपुस्तकैः सनातनधर्मस्य सत्यः प्रचारकः, सनातनधर्म्मिणामुत्साहनाय तत्कृत्यानुरूपमुचितपदवीप्रदापयिता, भारतधर्म्ममार्तण्डः, पूजनीयचरणः सनातनधर्म्मि-भीष्मपितामहः स्वामीश्रीज्ञानानन्दमहाभागः पूर्णायुः प्रपद्य अस्मान् विरहय्य बृहस्पतिं जेतुमिव देवभूवं गतः इति तद्विरहेण नितान्ततान्तस्वान्ता वयं महाखेदमनुभवामः ।

केचिद् अद्यतना मनुतनुजनुषोऽल्पमपि कृत्यं कृत्वा स्वनामधेयं विख्यापयितुं विविधोपायाँस्तन्वते; परमयं तपस्विशिखामणि-

महानुभाव: सनातनधर्मस्य वास्तविकीं परिचर्य्यां विधायापि स्वनामधेयं सदा सुगुप्तमेव व्यधात्। अतएव भूयांसः पुमांसः खलु महाभागममुं विदन्त्यपि नहि; परं 'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन निवार्यते' इति न्यायेन अभिज्ञा जनास्तत्कार्य्यसंस्तुता एव।

भारतधर्ममहामण्डलस्य यादृशी विशालसम्पत्तिर्दृश्यते, सा अस्यैव महात्मनः परिश्रमं सद्भावं च स्मारयति। अखिल-भारतवर्षीयाध्यात्मिकविश्वविद्यालयः, आर्यमहिलामहाविद्यालय-प्रभृतयो विभागा अदसीययैव अकम्पया अनुकम्पया प्रच-लन्ति। अस्यैव छत्रच्छायायां प्रतिष्ठापितेन 'सूर्योदयेन' संस्कृतसंसारस्य सनातनधर्म्मिजगतश्च बहूपकृतम्।

प्रत्यर्थिभिर्महामण्डलं बहुकृत्वः* आक्रान्तम्; कतिविधा दोषा-स्तस्मिन् आसञ्जिताः; अदसीया अधिकारिणः क्रूरमपोदिताः ×; परममुष्यैव महानुभावस्य अदम्यप्रतापेन सर्व्वे एव पराजिग्यिरे।

अमुष्यैव महाभागस्य कैवल्येन विरहं निशम्य, विषण्णोऽहं करुणावरुणालयं भगवन्तं प्रणतिप्रवणः प्रार्थये—दीनबन्धो! करुणासिन्धो! पूज्यचरणारविन्द आनन्दकन्दः श्रीस्वामिज्ञाना-नन्दोमहाभागस्त्वदभिन्नतामेतदर्थमुपाढौकिष्ट, यत् त्वयि भारतधर्म-महामण्डलस्य परिबृंहकं बलं प्रादुःष्याद्; येन तत् (भारतधर्म-महामण्डलं) प्राग्वदेव स्थेमानं प्रपन्नं सद् भारतधर्म्मस्य सनातन-धर्म्मस्य उन्नमनाय प्रभूयात् प्रभूयात्।

"मूर्त्तं ज्ञानं गभीरोऽमृदुतपसि रतः शीलवान्, सुप्रभावः
सद्धर्मं भारतीयं सततमृषिरिव त्रातुमत्रावतीर्णः।
स्वामी श्रीशङ्करार्योऽपर इह सुगतद्रावकोऽस्मान् विहाय
ज्ञानानन्दो गतः स्वर्विरहितसुधवेवाऽप्रकाशास्ति काशी"॥

---

* बहुकृत्वः—कृत्वसुच् प्रत्ययः। + स्थेमानं-स्थिरताम्।
अपोदिताः। अपोपसृष्टाद् वदतेर्निष्ठायाम्।

श्रद्धाञ्जलिः ।

श्रीसरयूप्रसाद शास्त्री द्विजेन्द्रः

कालेऽस्मिन् कलिना नितान्तविषमे धर्मेष्वलं सर्वशः
शैथिल्यं गमितेषु भारतमहीमध्येऽवतीर्णो गुरुः ।
सम्प्रावर्त्तयदत्र धर्मविषये विष्वङ् महामण्डलं
'ज्ञानानन्दयतिः' स शाश्वतपदं विन्दन् तिरोऽभूदितः ॥
नेतारःसुनृपाश्च धर्मगुरवः सर्वेऽपि यस्योत्तमै
रारम्भैरुपलभ्य धर्मसरणिं स्वैः स्वैर्गुणैरन्वयुः ।
यत्सम्प्रेरणलब्धचारुमतयाः स्वैरित्वदोषत्यजः
सन्मार्गं खलु शिश्रियुश्च सुजनाःसिद्धान्तमाशिश्रियन् ।
विद्वांसोऽप्युपदेशकाः सुरगुरुप्रस्पर्द्धिवाग्वैभवाः
स्वाध्यायेन विनिर्मिता बहुतरा धर्मप्रचारव्रताः ।
येनाऽसौ यमिनांवरोऽद्य नयनाध्वानं सपद्युत्सृज-
न्नस्माकं हृदयेषु भात्यातितरां धाम श्रयन् भास्वरम् ॥
मोहं शोकमतीत्य यत्पदमिह श्रुत्या समुद्घोषितं
'ज्ञानानन्दगुरुः' स्ववेदगुरुको भुक्त्वायुरूर्ध्वं शतात् ।
प्राप्तस्तत्पदमादधाति हृदि नः स्वादर्शमित्युच्छ्रितं
धर्मादेव परत्रचेह च सुखं लभ्यं जनैः स्यादिति ॥
वयं महामण्डलमध्यचारिणः सुहृत्समेताः सकलद्विजेन्द्राः ।
तस्मिन् परेधाम्नि विलीयमाने श्रद्धाञ्जलिं शोकहृदाऽर्पयामः ॥

मंत्र-महौषधमन्दिरे शोकोद्गारः ।

श्रीरामबालकशास्त्री (सन्देश-संपादकः)

सं० २००७ वैक्रमाब्दे माघकृष्णासप्तम्यां चन्द्रवासरे (२६-८-४) अपराह्ले बादनद्वये स्थानीय-भेलूपुरस्थेऽस्मिन् मंदिरे तांत्रिकशिरोमणीनां श्रीमतां पं० शारदाप्रसादमिश्र (औपनिषद) 'सप्ततीर्थ' महोदयानां साभापत्ये एका विशिष्टा गोष्ठी संजाता। तत्र सर्वतंत्र-स्वतंत्राणां योगिवर्याणां विद्यावयस्तपोवृद्धानां श्रीज्ञानानन्दस्वामि-महोदयानां पंचोत्तरशतवर्षीयाणां ब्रह्मीभावावसरे वयं वाराणसेया विद्वांसः शोकसन्तप्तहृदयाः परमात्मानं प्रार्थयामो यन्नश्वरमिदं देहं विहाय परब्रह्मणि विलीनः कैवल्यपदभाक् महापुरुषः शाश्वतिकीं परां शान्तिमुपगच्छेदिति। प्रस्तावममुं स्वीकृतवन्तः सर्वेऽत्रत्याः समुपस्थिता विद्वांसः यतो वै भुवि सुदुर्लभं पुरुषरत्नमेनं विहाय समस्तासनातनीया जनता साम्प्रतं स्वीयामनाथतामनुभवति।

अथानेन महामनीषिणा श्रीज्ञानानन्दस्वामिमहोदयेन स्वकीयेऽस्मिन् मण्डले पञ्चाशद्वर्षावधि निगूढतमनिगमागमपथ-प्रदर्शकपुस्तकानां प्रणयनेन तेषां प्रकाशनेन सर्वतोभावेन तेषां प्रचुरप्रचारेण च महानुपकारः कृतः संरक्षिता च भारतीया संस्कृत-संस्कृतिरिति किंबहुना प्रलपनेन। तत्रैव समुपस्थितविद्वन्मण्डल--प्रतिनिधिना पं० श्रीसरयूप्रसादशास्त्रिणा (द्विजेन्द्रेण) तथोक्त-मन्दिरसंचालकेन स्वरचितश्रद्धाञ्जलिपाठः कृतः अनन्तरं गोष्ठी विसर्जिता।

——

श्रद्धाञ्जलि ।

महामहोपाध्याय व्याख्यानवाचस्पति पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

जिनके दर्शनके लिये काशीमें आनेकी लालसा मनमें लगी रहती थी, उन स्वामीजी महाराजके कैलाशवासी होनेके कारण हृदयमें बहुत दुःख हो रहा है। ब्रह्मीभूत श्रीस्वामीजी महाराजकी ऐसे तो सभीपर एक समान कृपा रहती थी, किन्तु मुझपर उनकी बहुत ही कृपा रहती थी। उनकी कृपाका मुझे गर्व था। श्रीस्वामीजी महाराज जैसे महात्मा थे, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके सम्बन्धमें कितना भी कहा जाय, किन्तु बस थोड़ा ही है। ऐसे महात्माओंके पवित्र चरित्रके कथनसे पवित्रता प्राप्त होती है। मुझे बहुत समयतक उनके सम्पर्कमें लाभ उठानेका अवसर मिला। एक श्लोक है 'श्रमेण महिमानं' जिसका तात्पर्य है कि, परिश्रमसे महिमा प्राप्त होती है। श्रीस्वामीजी सचमुच अपने परिश्रमके कारण ही अत्यन्त महान् महिमाको प्राप्त हुए। उनके चरित्रोंका यदि कोई पूर्णतः वर्णन करना चाहे, तो वर्णन करते करते थक भले ही जाय, पर उसका अन्त नहीं हो सकता। अतः उनकी चरित्रावलीका स्मरण कर हम उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

श्रीस्वामीजी महाराजके दर्शनका प्रथम सौभाग्य जब मुझे मिला था, प्रायः उसके अनन्तर ही भारतधर्म-महामण्डल सन् १९०१ में स्थापित हुआ। पूज्य महात्माजीने महामण्डलकी स्थापना करके सनातनधर्मके प्रति बहुत बड़ा कार्य किया। मुझे

यह बात अच्छी तरह विदित है कि, समग्र भारतवर्षमें श्रीभारत-धर्म-महामण्डलके द्वारा सनातनधर्म-सम्बन्धी जैसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए और सनातनधर्मकी जैसी सेवा हुई, वैसी किसीकेद्वारा नहीं हुई। महामण्डलकेद्वारा सनातनधर्म-सम्बन्धी साहित्यका जो प्रकाशन हुआ, वह श्रीस्वामीजी महाराजके अनवरत परिश्रमका ही फल है। सन् १९०८ में जब महाराणा उदयपुर हरिद्वार पधारे थे, उस समय मैं वहाँ था। मुझे ऋषिकुलके लिये सहायता प्राप्त करनी थी। महाराज श्रीकृष्णानन्दजीके आश्रममें पधारे। वहाँ एक साधुसभा हुई और निश्चय हुआ कि, हृषीकेशमें एक साधुपाठ-शाला स्थापित की जाय। उस समयभी वहाँ मुझे श्रीस्वामीजीका दर्शन प्राप्त हुआ था। महाराणा उदयपुरसे अच्छी सहायता प्राप्त हुई। उसके बाद मुझे महामण्डलमें कई बार ठहरनेका भी अवसर मिला। जब जब मैं मिला, पूज्य स्वामीजी महाराजकेद्वारा जो वात्सल्य और कल्याणकारी उपदेश मुझे प्राप्त हुए, वह कथनमें नहीं आ सकते, और इस प्रकार मुझे वहाँकी बहुत-सी बातें मालूम हुईं। अतः जहाँ अनेक हितैषी थे, वहाँ यह भी कहना पड़ेगा और वह छिपाया नही जा सकता कि, भारतधर्ममहामण्डलके विरोधी भी थे और उनका विरोध अधिकाधिक मात्रामें हुआ, पर साथ ही हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि, महान् पुरुषोंकी महत्ता विरोधसे ही प्रकट होती है। विरोधमें डटकर और कठिनाइयाँ उठाकर ही कार्य करनेसे महात्माओंका महत्त्व प्रकट होता है। श्रीभगवान् व्यासने युधिष्ठिरसे कहा था कि, तुमसे विरोध करके तुम्हारे शत्रुओंने तुम्हारा बहुत उपकार किया है। यदि विरोधी खुलकर तुम्हारे ऊपर आक्रमण न करते, तो तुमको महत्त्व-प्राप्तिका मार्ग कभी भी न मिलता। अतः द्वेष करनेवालोंने तो तुम्हारा उपकार ही किया और तुम्हारे महत्त्वको देखनेका संसारको अवसर दिया।

महामण्डलका विरोध भी ऐसा ही हुआ, पर श्री स्वामीजी महाराजने जिस धर्म-दृढ़ता और शान्तिके साथ उनके बीच जनकल्याण करते हुए कदम आगे बढ़ाया, उससे उनकी सहनशीलता, गाम्भीर्य एवं कार्यपटुताका अपूर्व परिचय मिला है। कार्यकरनेकी विशेष दक्षतासे ही उन्होंने अपना सुयश कायम रक्खा। इस प्रकार विरोध रहते हुए भी सुयशको कायम रखना सरल बात नहीं। वह बड़ी बात होती है। महाराजने यह सब कुछ किया। विरोध रहते हुए भी महामण्डलका प्रभाव यथास्थान रहा। विरोध रहते हुए भी इसके संरक्षक अनेक राजा-महाराजा हुए। मैंने स्वयं देखा था, एकबार हथुआकी कोठीमें बहुतसे राजे और महाराजे इसके अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके लिये एकत्रित हुए थे। काश्मीर, उदयपुर इत्यादि और महाराज दरभंगाका तो कहना ही क्या, वे तो निरन्तर इसके संरक्षक रहे और अब भी हैं। उनसे श्रीभारतधर्ममहामण्डल एकबार ही नहीं; निरन्तर मासिक सहायता पाता हुआ चला आता है। श्रीस्वामीजीका प्रभाव, उनका व्यक्तित्व, उनका ऋजु स्वभाव इतना उत्तम था कि, उनके आज्ञा-पालनके लिये सब लोग नतमस्तक रहते थे। उनकी आज्ञाके बिना इधर-उधर जानेका किसीको साहस नहीं होता था। ऐसे धर्मविरोधी कालमें भी धर्मकी मर्यादाकी रक्षा जो महामण्डलद्वारा हुई, उसका सम्पूर्ण श्रेय श्रीस्वामीजी महाराजको ही है। समय परिवर्तनशील है। परिवर्तन सदा होते रहते हैं, किन्तु श्रीभारतधर्ममहामण्डल श्रीस्वामीजी महाराजके तपोबल और कार्यप्रणालीसे अबतक एक समान पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा प्राप्त है। १६०२ के बाद इस समयतक अर्थात् इस पचास वर्षके अवसरमें इस संस्थाद्वारा सनातनधर्मकी रक्षामें जो कुछ हुआ, उसका पूर्ण श्रेय श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजको ही है। उनकी बुद्धिमत्ता, कार्य-

प्रतिभा इतनी अद्भुत थी कि, सभी लोग सहर्ष उनकी आज्ञा-पालन करनेको तैयार रहते थे। मैं पहले कह चुका हूँ कि, धर्मग्रन्थोंका प्रकाशन और धर्म-साहित्यका प्रकाशन जैसा महामण्डलद्वारा हुआ वैसा कहीं नहीं हुआ और किसीने भी नहीं किया। मुझसे लोग पूछते हैं कि, किसी ऐसे ग्रन्थका नाम बतलाइये, जिससे सनातन-धर्मका तत्त्व अच्छी तरह मालूम हो जाय, उसका आभास पूर्ण-रूपसे प्रकट हो जाय, तो मैं उसे 'धर्मकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थका हवाला जो महामण्डलद्वारा प्रकाशित हुआ है, देता हूँ। इस ग्रन्थमें हिन्दूधर्मके तत्त्वका पूर्णरूपसे निरूपण है। संसारका कोई भी ग्रन्थ इसकी प्रतिस्पर्द्धामें टिक नहीं सकता। श्रीस्वामीजीकेद्वारा ही इस ग्रन्थकी उत्पत्ति हुई है। श्रीस्वामीजीकेद्वारा अनेकों धर्म-ग्रन्थोंकी उत्पत्ति हुई, किन्तु श्रीस्वामीजी किसी ग्रन्थपर अपना नाम नहीं देते थे। लोगोंका कथन था कि, महामण्डल केवल साहित्य-प्रकाश-नका कार्य करता है, प्रचार कार्य नहीं। वह प्रचार-कार्य सम्पूर्ण भारतमें श्रीस्वामी दयानन्दजीद्वारा हुआ। श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज श्रीस्वामीजीके प्रिय शिष्य थे। उन्होंने सर्वत्र भारतमें जा-जाकर धर्मका उत्तम प्रचार किया। मैं तो श्रीस्वामीजीका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा हमारे ऊपर इतनी थी कि, जिस विषयमें और जब कभी मैंने उनसे निवेदन किया, कभी पराङ्मुख नहीं हुआ। लोग कहते थे कि, श्रीभारतधर्म महामण्डलद्वारा जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, वे सब पण्डितोंद्वारा लिखे गये हैं। स्वामीजी महाराज उनसे लिखवाया करते थे। किन्तु मेरे अपने अनुभवसे और इस समय पेपरों और अखबारोंमें जो बातें प्रकाशित हुई हैं, उनसे यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि, वे सब धर्मग्रन्थ उन्हींकी वाणीसे निकले हैं। संक्षेपमें मैं कहूँगा कि, साहित्य-सेवा और धर्म-प्रचारका जो कार्य श्रीस्वामीजीद्वारा हुआ, वह अप्रतिम हुआ।

हिन्दूधर्मके विपरीत कोई बात गवर्नमेंटद्वारा यदि होती थी, तो सर्वदा बड़ी निर्भीकताके साथ श्रीस्वामीजी उसके विरोधमें तत्पर हो जाते थे। सभाओं तथा महाधिवेशनोंकेद्वारा वे उसके उग्र विरोधमें लग जाते थे और इस प्रकार कई बार उन्होंने धर्मके विपरीत कार्य करनेसे गवर्नमेंटको रोका था। श्रीस्वामीजी महाराजके गुणगानके लिये बहुत समय चाहिये। यह सब होते हुए भी श्रीस्वामीजी महाराज जिस सादगीके साथ जीवन व्यतीत करते थे, वह अवर्णनीय है। जिस समय मैंने हरिद्वारमें श्रीस्वामी केशवानन्दजीके अश्रममें उनका दर्शन किया था, श्रीस्वामीजी केवल एक कमण्डलुके साथ कम्बलपर बैठे रहते थे। मेरे एक मित्र श्रीयज्ञेश्वरजी मेरे साथ थे, उन्होंने एक श्लोक मुद्राराक्षसका कहा। उसमें चाणक्यकी साधारण कुटी और उनकी रहन-सहनका वर्णन था। चाणक्यकेद्वारा यद्यपि सम्पूर्ण राज्यका ही संचालन होता था, किन्तु ऐसा होते हुए भी उनकी रहन-सहन पूर्णतः साधारण थी। आसन-कमण्डलु और अग्निदेवके सिवाय वहाँ और कुछ नहीं था, कुटियाकी जीर्ण छान भी झुकी हुई मानो उन्हें नमस्कार कर रही थी। यही दशा श्रीस्वामीजी महाराजकी भी थी। कम्बल और कमण्डलु एकमात्र उनकी पूँजी थी। भोजन केवल एकबार करते थे। ऐसे महात्माका दर्शन करके हरएकके चित्तमें श्रद्धाका उदय स्वमेव हो जाता है; क्योंकि सब कुछ प्राप्त है, पर उसका तृणवत् परित्याग कोई ही कर सकते हैं। सबको चाहिये कि, ऐसे महात्माओंके चरित्रोंको देखें भालें और उनसे उपदेश ग्रहण करें। हमारी श्रुति-स्मृतियोंकी प्रार्थनाओं और आकांक्षाओंमें यह प्रकट किया गया है, कि हम शतायु हो जाँय। मनुष्यजीवनके लिये यही पर्याप्त समझा गया है, परन्तु हमारे स्वामीजी महाराजने इस शतका उल्लंघन कर श्रुति-स्मृतियोंका भी रिकार्ड तोड़ दिया। वे १०५ वर्ष

तक जीवित रहे और अन्तिम क्षणतक धर्मकी रक्षाके लिये कार्यमें निमग्न हो जनहित साधन करते रहे।

आजके इस घोर दुर्दशाग्रस्त समयमें हमें उनसे और भी बहुत बड़ी सहायता मिलती। अब तो ऐसा समय आ गया है, कि धर्म-की बात ही बुरी लगती है। हमने स्वराज्य प्राप्त किया और समझे थे कि, उससे हमारे धर्मकी रक्षा होगी; किन्तु उस स्वराज्यमें अब तो धर्मको उखाड़नेकी चेष्टा हो रही है। ऐसे समयमें उनकी जितनी आवश्यकता थी, उसे सभी धर्मप्रिय लोग समझ सकते हैं, पर नियतिका नियम अटल है। उसपर किसीका वश नहीं।

दो दर्शन।

आचार्य श्रीमान् पं० देवीदत्त शुक्ल, भूतपूर्व सम्पादक 'सरस्वती'

भारतधर्ममहामंडलके श्रीजी महाराज अपना नश्वर शरीर छोड़कर परमधामको पधार गये। उन्होंने अपने १०५ वर्षके जीवन-कालका प्रायः साराका सारा समय धर्मकी ही सेवामें व्यतीत किया। सनातन वैदिक-वर्णाश्रमधर्मकी जो अतुलनीय सेवा उन्होंने की है, वह अतुलनीय और अपने ढंगकी एक ही है। वे निरन्तर सनातन-धर्मके सिद्धान्तोंका देश-व्यापी प्रचार करते रहे और एक क्षणकेलिये भी अपने इस सत्प्रयत्नसे कभी विरत नहीं हुए। इसके लिये उन्होंने भारतके सभी प्रान्तोंमें सभाओंका संगठन किया, विद्वान् उपदेशकोंकेद्वारा धर्मका प्रचार करवाते रहे, पीठाधीश्वरों और सम्प्रदायोंके आचार्योंसे सम्पर्क स्थापित कर सबको एकताके सूत्रमें आबद्ध करनेके कार्यमें लगे रहे, साथ ही सैकड़ोंकी संख्यामें, विशेष कर हिंदी भाषामें पुस्तकें

लिखवाकर धर्मके भिन्न-भिन्न अंगोंके प्रचार-साहित्यकाभी कार्य करते रहे। धर्मके प्रचारके कार्यमें अधिक-से-अधिक सुविधा प्राप्त हो तथा उसमें दृढ़ता भी आवे, इसके लिये उन्होंने देशी हिन्दू नरेशों तथा प्रमुख विद्वानों एवं धर्मभीरु धनाधीशोंसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया था। इस प्रकार उनका बहुमुखी व्यापक प्रचार-कार्य था; परन्तु वे स्वयं कमल-पत्रपरके जल-बिन्दुकी भाँति इन सबसे अलग थे। कहीं भी वे भूलकरभी दिखायी नहीं दिये। उनकी ऐसी ही वीतरागता थी। सचमुच ही वे एक विलक्षण महात्मा संन्यासी थे। इसे हम सनातन-धर्मका दुर्भाग्य ही समझेंगे कि, सनातनियोंने उन्हें पहचाननेका कभी प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत उनमेंसे बहुतोंने उनका विरोध करनेमें ही अपना धर्म माना; परन्तु श्रीजी महाराजने उनके विरोधकी ओर ध्यानतक नहीं दिया और धर्म-सेवाका जो महाव्रत उन्होंने ग्रहण किया था, उसका पालन अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक बराबर करते रहे।

आज उनके अवसानके समय उनके जानने-बूझनेवाले भी नहीं रहे। उनकी विभूतियोंका, ऐसी दशामें, कौन वर्णन कर सकता है? उनके निकटवर्ती तथा उनके साथ रहकर उनके आदेशानुसार कार्य करनेवाले वे सबके सब दिवंगत हो गये। हम लोगोंमेंसे जो कुछ विद्यमान हैं तथा जिन्होंने उनके सम्पर्कमें रहकर उनके आदेशानुसार कार्य किया है, वे ज्यादासे-ज्यादा केवल उनके पिछले अर्द्ध भागके प्रारम्भके अर्द्ध भागका ही परिचय दे सकते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान किसीको नहीं। ऐसी दशामें उनकी महत्ताका—उनके धार्मिक सेवा-कार्यका अथसे इतितकका विवरण उपस्थित करना संभव नहीं। उन्होंने स्वयं भी इसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया। तीन-चार वर्ष पूर्व मैंने श्रीजीमहाराजके सन्निकट रहनेवाले अपने एक मित्रसे अनुरोध किया था कि, श्रीजी महाराजका जीवन-परिचय

यदि उनके जीवन-कालमें लिपिबद्ध हो जाता, तो बड़ा अच्छा होता; परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि, 'यह संभव नहीं है; क्योंकि श्रीजी महाराज इस कार्यमें रत्तीभर सहायता नहीं करेंगे और बिना उनकी सहायताके यह कार्य पूर्ण न होगा।' उनका कहना ठीक था। जिस महात्माने अपना नाम कभी किसी कार्यमें आगे-पीछे कहीं भी नहीं आने दिया, वे आज अपना जीवन-चरित्र लिखे जानेमें सहायता देना तो अलग रहा, उसकी अनुमतितक देना स्वीकार न करेंगे, यह मैं तुरन्त समझ गया।

सन् १९०८ या १९०९ की बात है। मैं काशीजी हिन्दू कालेजमें पढ़ रहा था। एक दिन मेरे धर्मभ्राता पंडित गोविन्दचन्द्र त्रिपाठी आजमगढ़से मेरे पास आये। वे आजमगढ़में कलक्टरीमें पेशकार थे। स्नान-पूजनसे छुट्टी पाकर उन्होंने मुझसे कहा कि, 'चलो, श्रीजी महाराजके दर्शन कर आयें।'

उन्होंने श्रीजी महाराजका जब मुझे परिचय दिया, तब मुझे भी उनका दर्शन करनेकी विशेष उत्सुकता हुई। अभीतक मैंने उनके सम्बन्धमें जब-तब अखबारोंमें ही थोड़ा बहुत पढ़ा था। वह सब विवरण उत्साह-वर्धक नहीं था; परन्तु भाई साहबने जो परिचय दिया, उससे मेरा उत्साह बढ़ गया था और हम दोनों 'बंगाली टोला' की तंग गलीसे होते हुए लगभग दस बजे केदारजीके मंदिर पहुँच गये। मन्दिरमें भगवान् शंकरके दर्शन कर ताहिरपुरकी कोठीमें पहुँचे। उन दिनों श्रीजी महाराज वहीं निवास कर रहे थे। भाईसाहबने द्वारपालसे सूचना भिजवायी। आदेश पाते ही हम दोनों एक जीनेसे नीचेके कमरेमें उतर गये। श्रीजी महाराज एक चटाईपर सुखासनसे विराजमन थे। हम दोनोंने यथाविधि उनका अभिवादन किया और आदेश पानेपर एक दूसरी चटाईपर बैठ गये।

श्रीजी महाराज काषाय वस्त्र धारण किये हुए थे। सिरपर भारी जटाजूट और उनकी लम्बी दाढ़ी उनके प्रदीप्त मुख-मण्डलकी आभाको बढ़ा रही थी। दाढ़ीके बाल खिचड़ी हो चुके थे; परन्तु शरीरकी गठनसे वृद्धताका आभास नहीं मिलता था, पीठ सीधी थी।

श्रीजी महाराज भाईसाहबसे आजमगढ़की सनातन-धर्म-सभाकी प्रगति आदिके सम्बन्धमें बातें करने लगे। मैं चुपचाप बैठा वार्तालाप सुनता रहा, जिसका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। श्रीजी महाराजकी बातोंसे यही प्रगट हो रहा था कि, सनातन-धर्मके प्रचार और अभ्युदयके लिये वे कितनी तत्परता तथा लगनके साथ स्वयं काम करना चाहते हैं और दूसरोंसे भी उसी प्रकार काम करवाना चाहते हैं। बातचीतके सिलसिलेमें भाईसाहबने जब यह कहा कि, 'दो-एक सज्जनों ने मुझे 'शाक्त' बनाकर मेरी जगह जगह निन्दा की है, इससे अनेक सज्जनोंका सहयोग मुझे नहीं मिल रहा है।' तब स्वामीजी क्षणभरके लिये कुछ गम्भीरसे हो उठे; परन्तु तुरन्त ही उमङ्गभरे स्वरमें बोले कि, 'तब तो आपको और भी अधिक लगनसे सभाका काम करना चाहिये।' उस समय श्रीजी महाराज-के मुखपर जो तेजस्विता दमक उठी थी—उनकी वह भव्य मूर्ति आजतक नहीं भूल सका और समाचार-पत्रोंमें उनके सम्बन्धमें जो बातें पढ़ी थीं, वे अपने आप ही न मालूम कहाँ चली गयीं। मेरे मनमें श्रीचरणोंके प्रति भक्तिका जो उद्रेक हुआ था, वह अद्यावधि ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। हम लोग यथाविधि अभि-वादन कर बिदा हो आये। मार्गमें भाईसाहब श्रीजी महाराजकी गरिमाका ही बखान करते रहे।

इसके बाद भाईसाहब दूसरी बार जब फिर काशी पधारे, तब मुझे अपने साथ लेकर श्रीजी महाराजकी सेवामें पुनः उपस्थित

हुए। अब श्रीजी महाराज गुरुधाममें निवास कर रहे थे। दुर्गा-कुण्डसे पश्चिम-उत्तरके कोणमें बस्तीके बाहर यह धाम था, महा-मण्डलका केन्द्र बननेके सर्वथा उपयुक्त। उस समय श्रीजी महाराज उस विशाल इमारतकी छतपर एक छोटेसे कमरेमें विराजमान थे। वही शीतल चटाई और वही वेष-भूषा; परन्तु दृश्य विलक्षण देखनेको मिला। हम लोगोंने जाते ही सविधि प्रणाम किया और संकेतके अनुसार सामने बिछी हुई चटाईपर बैठ गये। दो और सज्जन भी वहाँ पहलेसे बैठे थे, जिनसे श्रीजी महाराज बातचीत कर रहे थे। उनके दाहिनी ओर साधु वेषधारी एक युवक बैठा था और पीछेकी ओर दो नवयुवक और बैठे थे। ये तीनों ही व्यक्ति कुछ लिख रहे थे। अब जो मैंने देखा, उससे मेरे विस्मयका ठिकाना न रहा। श्रीजी महाराज सामने बैठे हुए तीनों आदमियोंसे बारी-बारीसे बातचीत करते जा रहे थे और पीछे बैठे हुए तीनों व्यक्तियोंमेंसे जो भी संकेत करता था, उसे बोलकर लिखवाते भी जाते थे। कोई आध घण्टेतक हम बैठे रहे। बात-चीत बराबर होती रही। साथ ही लिखवाना भी जारी रहा। न बातचीत करनेवालोंसे उन्होंने यह पूछा कि, आपने क्या कहा और न लिखनेवालोंमेंसे किसी एकसे भी यह पूछा कि 'हाँ, तुमने क्या लिखा?' मैं चकित हो यह दृश्य बराबर देखता रहा। आज्ञा लेकर जब हम दोनों बाहर निकले तब मैंने भाई साहबसे कहा कि, 'श्रीजी महाराजकी यह विलक्षणता सचमुच उन्हींके अनुरूप है!'

उन्होंने धीरेसे यही कहा कि 'महात्माओंकी विलक्षणताको परखना सब किसीका काम नहीं है।'

नीचे उतरकर हम उसी कोठीसे संलग्न एक मकानमें गये। कदाचित् वह उपदेशकोंका आवास था; क्योंकि इस कोठीमें उप-

देशक तैयार करनेका कार्य भी प्रारम्भ किया गया था। यहाँ दो सज्जनोंसे भेंट हुई—पं० जीवानन्द काव्यतीर्थ और गङ्गाविष्णु शास्त्री। ये दोनों सज्जन भी व्याख्यान देनेकी शिक्षा पा रहे थे। अन्य लोग छुट्टी होनेसे अपने अपने घरपर चले गये थे। यहीं हमें साधुवेषधारी उस नवयुवकका परिचय प्राप्त हुआ। वे श्रीजी महाराजके प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्द थे, जिन्होंने बादको देशमें सनातन-धर्मके प्रचारमें बड़ी कीर्ति प्राप्त की। पं० जीवानन्दजीने उस घटनाकाभी उल्लेख किया, जो बादको महामण्डलकी प्रगतिमें लगातार वर्षोंतक बाधा डालती रही। वह थी,—ताहिरपुर-नरेशका श्रीजी महाराजके विरुद्ध हो जाना। भाईसाहबने कहा कि, 'चाहे जो हो, श्रीजी महाराजने अपनी योजनाओंको कार्यका रूप दे दिया है और सो भी बड़े पैमानेपर। ऐसे महान् कार्योंके मार्गमें बाधायें तो आया ही करती हैं। श्रीजीके लिये यह कोई नयी बाधा नहीं है। उन्होंने पहले भी उनका दृढ़तासे सामना किया है और भविष्यमें भी वे उनका सामना करेंगे। वे अपने ध्येयसे कदापि विमुख नहीं होंगे।'

इस प्रकार थोड़ी देरतक इधर-उधरकी बातें कर हम बाहर आये। यह मेरे लिये श्रीजी महाराजका एक प्रकारसे अंतिम दर्शन था; क्योंकि बादको मैं ऐसी उलझनोंमें फँस गया कि, श्रीजीके कल्याण-प्रद चरणोंके दर्शन नहीं कर सका। परन्तु उनका जो प्रभाव मुझपर पड़ा था, उसके फलस्वरूप समाचारपत्रों तथा दूसरे साधनोंसे मैंने अपनेको उनके कार्य-कलापसे बराबर परिचित बनाये रखा। साथ ही उनकी संस्थासे जो साहित्य प्रकाशित होता रहता था, उससे लाभ उठानेसे भी मैं कभी नहीं चूका।

इसके कई वर्ष बाद १९४५ ई० में जब मैं काशीजी अपने नेत्रोंकी चिकित्साकेलिये गया और इसकी सूचना मेरे एक मित्रने

श्रीजी महाराजतक पहुँचा दी, तब उन्होंने मेरा हाल-चाल जानने-के लिये अपने दो प्रमुख कर्मचारियोंको मेरे पास भेजा। फलत: समय मिलते ही मैं श्रीमहाराजके दर्शनार्थ एक दिन उनके निवास-स्थानपर गया। शीघ्र ही मैं ऊपर बुलाया गया। यथाविधि प्रणाम कर उनके सामने मैं बैठ गया। मेरे प्रति श्रीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरलतासे सहानुभूति दिखायी। उनके मधुर सम्भाषणसे मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ, मानो मैं सदैव उनके निकटतम सम्पर्कमें रहा होऊँ। उन्होंने एक नव-निर्मित ग्रन्थकी पांडुलिपि स्वयं पढ़कर मुझे सुनायी और बताया कि, हिन्दू-दर्शन-ग्रंथोंकी सभी बातें इसमें सन्निविष्ट कर दी गयी हैं। देरतक मैं उसका पाठ सुनता रहा। मन-ही-मन मैं चकित हो रहा था कि, श्रीजीमें वही तेजस्विता, उत्साह तथा धर्म-प्रचारकी लगन आज भी उनके १०० वर्षके वयमें ज्यों-की-त्यों ओत-प्रोत भरी हुई है, जिसका दर्शन मैंने सन् १६०८ या १६०६ में किया था। वहाँसे उठनेको जी नहीं चाहता था, परन्तु उनका अमूल्य समय अधिक लेना भी मेरे लिये उचित नहीं था। अतएव लाचार होकर आज्ञा माँगी और प्रणाम कर चला आया, अत्यधिक प्रभावित तथा प्रमुदित होकर!

उस दिन जब महामण्डलके कार्यालयका तार मिला कि, श्रीजी महाराज कैलासवासी हो गये, तब मैं सहम सा गया। तत्काल यही विचार मनमें आया कि, भारतकी सनातनी संस्था महामण्डलकी कौन देख-रेख करेगा! जिस संस्थापर उन्होंने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया था, वह उनके न रहनेपर अपने अस्तित्वकी रक्षा कैसे कर सकेगी? उसको समुन्नत करनेके लिये उन्होंने जिन स्वामी दयानन्दजी महाराजको तैयार किया था, वे उनके जीवन-काल ही में परमधामको पधार गये थे तथा अन्य और जो लोग

भी महामण्डलके कार्य-सञ्चालनमें उनसे सहयोग करते रहे हैं, उनमेंसे भी प्रायः सभी एक-एक करके दिवंगत होते गये या अन्य क्षेत्रोंमें जाकर अपना पौरुष दिखा रहे हैं! परन्तु नहीं, श्रीजी महाराजकी तपो-विभूति आज भी शेष है, जो महामंडलकी प्रगतिको बराबर प्रगति देती रहेगी। सनातनधर्मकी एकमात्र यही संस्था है, जिसने श्रीजी महाराजकी प्रेरणासे धर्ममें समझौतेका भाव कभी नहीं प्रगट किया और विशुद्ध वैदिक वर्णाश्रमधर्मके ही प्रतिपादनमें बराबर संलग्न रही। हमें पूर्ण विश्वास है कि, इस वैदिक तथ्यपर विश्वास करनेवालोंका अभाव इस पवित्र देशमें आज भी नहीं है। इसीसे हमें आशा भी है कि, श्रीमहाराजका यह महामंडल उनके न रहनेपर भी उनके तपःप्रसादसे उनकी यशोदुन्दुभी बजाते हुए भारतमें अपने कर्तव्यका पालन बराबर करता रहेगा। भगवान् करे, ऐसा ही हो।

——

एक संस्मरण

साहित्यवाचस्पति चतुर्वेदीद्वारकाप्रसाद शर्मा

ब्रह्मीभूत श्रीजीका हमें प्रथम बार दर्शन इटावेमें हुआ था। वे खटाखट बाबाके विद्यापीठमें मथुरासे आये हुये थे। यह उस समयकी बात है, जब 'श्रीभारतधर्म महामण्डल' का कार्यालय मथुरामें होली दरवाजेके पास सेठ लक्ष्मणदासकी कोठीमें था। उस समय श्रीजीके तत्त्वावधानमें 'निगमागमचन्द्रिका' नाम्नी महामण्डलकी मुख्य पत्रिका प्रकाशित की जाती थी। उसके अधिकांश लेख 'श्री' जीके हुआ करते थे और वे लेख केवल पत्रिकाकी स्थानपूर्तिके लिये ही नहीं, प्रत्युत गवेषणापूर्ण होते थे। उनमें विचारवालोंके लिये

विचार करनेकी पर्याप्त सामग्री रहती थी। उस समय महामण्डलके दो दल थे। एक दल तो श्रीजीका था। दूसरा दल महामण्डलके स्थापन-कर्त्ताओंमें प्रमुख व्याख्यानवाचस्पति श्रीदीनदयालजी शर्माके पृष्ठ-पोषकोंका था, इनमें प्रमुख थे 'भारतमित्र'के सम्पादक स्वर्गीय श्रीबालमुकुन्दजी गुप्त। बहुत दिनोंतक 'भारतमित्र' में श्रीजीके विरुद्ध ऐसे लेख प्रकाशित हुए, जिनको पढ़कर तटस्थ लोग भी दाँत तले उँगली दबाते थे। लेखोंमें, कार्टूनोंमें अनेक प्रकारके व्यंग्य किये जाते थे; किन्तु श्रीजीकी ओरसे कभी ऐसी एक पंक्तिभी नहीं छपती थी, जिसपर कोई शिक्षित व्यक्ति किसी प्रकारका आक्षेप कर सके। मधुसूदनसंहिताको लेकर बहुत दिनोंतक चर्चा चली। फिर दैवीमीमांसापर लेखकोंकी कुदृष्टि पड़ी। किन्तु श्रीजी हिमालयकी तरह अडिग रहे। श्रीजीकी शान्ति, सहिष्णुता एवं गम्भीरताका प्रभाव उनके विपक्षियोंपर भी पड़े बगैर न रह सका। विपक्षमें 'सुदर्शन' सम्पादक पं० माधवप्रसाद मिश्र प्रभावित हुए और सर्वप्रथम उन्होंने ही अपनी लेखनीद्वारा स्वामीजीके पक्षका समर्थन किया। तत्कालीन 'भारतमित्र', 'श्रीवेंकटेश्वरसमाचार', 'श्रीराघवेन्द्र', 'हिन्दी बंगवासी' आदि पत्र पठनीय होते थे। स्वामीजीकी विरोधियोंके प्रति भी सद्भावना और अमायिक व्यवहार बड़ा प्रभाव डालता था। जो लोग परोक्षमें उनकी समालोचना करनेमें शिष्टाचार तकको विसर्जन कर देते थे, वे भी जब श्रीजीके सामने आते, तब अपने पूर्वस्वरूपको आमूल परिवर्तित कर देते थे।

मथुरासे उठकर जब श्रीभारतधर्म महामण्डलका प्रधान कार्यालय काशी आया और स्वामीजीके कार्य-कौशल्यसे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई, तब यह विरोध बहुत कुछ शान्त हो गया। 'श्री' जीकी नीति यह थी कि, वे विद्वानों एवं योग्य पुरुषोंका हृदयसे

स्वागत करते थे और उनकेद्वारा यदि किसीकी कुछ भी भलाई हो सकती थी, तो वे उसे करनेमें कभी पश्चात्पद नहीं होते थे। उन्होंने अपने कालमें ब्राह्मण-अब्राह्मण, बंगाली-अबंगाली, पंजाबी, बिहारी, महाराष्ट्री, द्रविड़ आदिमें भेदभाव नहीं रखा। सबको एक दृष्टिसे देखा। उनकेद्वारा श्रीभारतधर्म महामण्डलके नामसे प्रकाशित अनेक पुस्तिकायें (ट्रैक्ट्स) हैं, जिनमें स्वामीजीने प्रतिपाद्य विषयोंपर सरल भाषामें और युक्तियोंके साथ अच्छा प्रकाश डाला है। गायत्री-मंत्र-भाष्य जो हिन्दी भाषामें है, इसका प्रमाण है। स्वामीजीके पास हम जब गये, तब हमने उन्हें सदा हँसते ही पाया। क्षोभ, शोक तथा उदासीनता उनके मुखपर हमने न देखी।

'श्री'जीके कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होनेपरभी, वे अपने कार्योंके प्रचारक न थे, जैसा वर्तमान समयमें प्रायः देखनेमें आता है। स्वामीजीने 'श्रीभारतधर्ममहामण्डल'को नया स्थायी रूप दिया, आर्थिक स्थिति दृढ़ की, भवनादि लेकर महामण्डलकी जड़ पुष्ट की। महाराजा प्रतापसिंहजी काश्मीर-नरेश, महाराणा फतेहसिंहजी उदयपुर-नरेश, दरभंगा-नरेश श्रीरमेश्वरसिंहजीआदि अनेक नरेशोंके मनमें स्वामीजीके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। स्वामीजीने भारतवर्षके प्रायः समस्त प्रसिद्ध नरेशोंसे महामण्डलकी सहायताके लिये दानपत्र लिखाये।

स्वामीजीके शिष्योंमें स्वामी दयानन्दजीका नाम सर्वप्रथम लेनेयोग्य है। इनके भाषणकी शैलीसे श्रोतृमण्डली मंत्र-मुग्धवत् हो जाती थी। इनके भाषणोंका जैसा आदर प्राचीन रूढ़िवादी करते थे, वैसा ही आदर आधुनिक शिक्षित समाज भी करता था। स्वामी दयानन्दजीका लिखा 'धर्म-विज्ञान' हिन्दू धर्मावलम्बियोंके लिये एक अमूल्य देन है। स्वामी दयानन्दजीने अपने इस ग्रन्थमें

सनातनधर्मकी पद्धतियाँ और रीति-रस्मोंका वैज्ञानिक समर्थन किया है। इसे पढ़ अनेक डाँवाडोल विचारोंके सनातनधर्मी पक्के सनातनधर्मी बने। जिसके हाथ यह पुस्तक पड़ी, उसने इस पुस्तकको एक बार नहीं, कई बार आद्योपान्त पढ़ा और अपनी चिरपोषित शंकाओंका समाधान किया। श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजीके आशीर्वाद तथा श्रीस्वामी दयानन्दके अमोघ प्रयत्नका कानपुरका सनातनधर्म-कालेज अमोघ फलस्वरूप है। इस कालेजके स्थापनकर्ताओंमें प्रधान थे स्वर्गीय धर्मालङ्कार श्रीविक्रमाजितसिंह। ये महोदय कानपुरके वकीलोंमें एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित वकील समझे जाते थे। ये पक्के सनातनधर्मी थे और इन्होंने श्रीभारतधर्ममहामण्डलके प्रधान मंत्रिपदको भी अनेक वर्षोंतक सुशोभित किया था।

श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजीका सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण कार्य है हिमालयस्थ ज्योतिर्मठका उद्धार। आदि शंकराचार्यके स्थापित चार मठोंमें इस मठकी गणना है। इस मठका जीर्णोद्धार कर ब्रह्मीभूत श्रीस्वामीजीने केवल एक आदर्श कार्य ही नहीं किया, प्रत्युत अपने लिये वे एक अमर स्मारक खड़ा कर गये हैं।

ब्रह्मीभूत श्रीस्वामीजीकी कार्यावलिका यदि विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जाय, तो एक मोटी पुस्तक तैयार हो जाय; किन्तु स्वामीजी कीर्ति-लोलुप नहीं थे, उनमें प्रतिष्ठाकी एषणा नहीं थी।

'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा'

लोकोक्तिके वे माननेवाले थे। उनके नामका स्मरण और उनके स्वरूपका ध्यान करनेसे मनमें विलक्षण स्फूर्ति और साथ ही शान्तिका संचार होता है।

श्रद्धाञ्जलि

श्रीमान् बा० देवीनारायणजी बी०ए०, एल-एल० बी० एडवोकेट

परमपूज्य परमाराध्य प्रातःस्मरणीय आचार्य्य श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके ब्रह्मीभूत होनेसे भारतकी सनातन-धर्मी जनता घोर चिन्ता और कष्टमें पड़ गयी है। आज भारतका एक अनमोल रत्न खो गया। उस अवतारिक महापुरुषने भारतीय संस्कृति, हिन्दूधर्म, संस्कृत तथा हिन्दीभाषा और आर्य्यमहिलाओंकी जो रक्षा की, वह भारतके इतिहासमें सदैव सुवर्णके अक्षरोंमें लिखी रहेगी।

सन् १८५७ ई० के प्रसिद्ध विद्रोहका महाराजको पूरा पूरा हाल स्मरण रहा। आप उसका वर्णन किया करते थे। वह कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंका बढ़ता हुआ जमाना था। अंग्रेज और मुसलमान मिल कर हिन्दू संस्कृतिको निर्मूल कर देना चाहते थे। बंगभूमिमें अंग्रेजोंने अपना पूरा आधिपत्य स्थापित कर लिया था और बड़े जोरके साथ हिन्दू जनता ईसाई धर्मको ग्रहण कर रही थी। हिन्दू संस्कृति तथा धर्म बिलकुल लुप्त होना चाहता था। राजा राम-मोहनरायने ईसाई धर्मके प्रसारको रोकनेके लिये ब्राह्मधर्मकी स्थापना की, परन्तु उनका देहान्त २७ फरवरी सन् १८३३ ई० में हो गया। १६ फरवरी सन् १८३६ को श्रीमान् परहंस रामकृष्ण महाराजका जन्म हुआ। पश्चिम भारतमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीने आर्य्यसमाजकी स्थापना की, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, उस समय बढ़ते हुए ईसाई तथा मुसलमानधर्मको उन महा-पुरुषोंने रोका, परन्तु सनातनधर्मकी रक्षा तथा प्रचारका कार्य्य संगठित रूपसे करना बहुत आवश्यक था।

ऐसी गम्भीर परिस्थितिमें स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजने अपनी दूरदर्शितासे सनातनधर्मका झण्डा फहराया। साठ सत्तर वर्षतक सत्य सनातनधर्मकी रक्षाका डंका बजा दिया। आप बङ्गभूमिसे उत्तरप्रदेशमें चले आये। आपने अपना केन्द्र काशी तथा मथुराको बनाया। सन् १८६८ में मथुरामें निगमागम-मण्डलीकी स्थापना हुई। उसके उपरान्त बम्बईकी भारतधर्म-महापरिषद्, बंगालकी धर्ममण्डली तथा उत्तरभारतकी निगमागम-मण्डली आदि मिलकर अखिल भारतीय एक संस्थामें परिणत हो गयी, जिसका नाम "श्रीभारतधर्ममहामण्डल" रक्खा गया। इस संस्थाकी विधान २१ सन् १८६० के अनुसार सन् १६०२ में रजिष्टरी हुई। उस समयसे बड़े धूमधामसे इस संस्थाका कार्य्य आरम्भ हुआ। केन्द्र काशी ही रहा, पर सम्पूर्ण भारतमें हिन्दू-धर्म की रक्षा तथा प्रचारका कार्य्य बड़े उत्साहसे किया गया। स्वामी ज्ञानानन्दजीके सुयोग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजीने अंग्रेजी, हिन्दी तथा बंगलाभाषामें अद्भुत भाषणोंद्वारा भारतके कोने कोनेको जगा दिया।

आज हिन्दीको जो गौरव प्राप्त हुआ है, उसका विशेष श्रेय स्वामी ज्ञानानन्दजी तथा उनके प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्दजी को है। आपकी मातृभाषा बंगला थी, परन्तु आपने हिन्दीकी अद्भुत सेवा की है। उच्चकोटिकी सैकड़ों, पुस्तकें, लेख आदि आपने हिन्दीमें प्रकाशित किये हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय, आर्य्यमहिलाहित-कारिणी महापरिषद् तथा महामण्डके प्रचार-कार्य्योंमें मुख्य स्थान हिन्दीका ही रहा है।

आपमें अपने अनुयायियों तथा शिष्योंको योग्य विद्वान् प्रचारक तथा कार्यकुशल बनानेकी अद्भुत शक्ति थी। आपके शिष्य स्वामी दयानन्दजी बड़े योग्य थे और उन्होंने बहुत कार्य किया।

आपकी ही संस्थामें रहकर स्वामी विद्यानन्दजीने प्रचारकी शक्ति प्राप्त की और अब वे गीताधर्मके प्रसिद्ध प्रचारक हो गये हैं। आपके यहाँ रहकर स्वामी योगानन्दजीने अद्भुत यौगिक शक्ति तथा प्रचार-शक्तिका लाभ किया और वे अब अमेरिकाआदि देशोंमें क्रिया-योगका प्रचारकर रहे हैं। वहीं सुवर्ण मन्दिरभी बनवाया है। श्रीजीकी ही दीक्षा तथा शिक्षासे श्रीमती विद्यादेवी जी भारतप्रसिद्ध महिला हो गयी हैं और आर्यमहिला विद्यालयका संचालन बड़ी योग्यतासे कर रही हैं, जिसमें प्राय: ६५० आर्य-कन्याएँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। "आर्यमहिला" पत्रिका भी बराबर नियमितरूपसे प्रकाशित होकर हिन्दूसमाज, हिन्दूसंस्कृति तथा हिन्दीभाषाकी रक्षा कर रही है। स्वामीजीके उपदेशोंसे सहस्रों विद्वान्, वक्ता, लेखक तथा प्रचारक भारतके कोने कोनेमें तथा विदेशोंमें हिन्दूधर्मकी सेवा कर रहे हैं।

स्वामीजी महाराजने तीर्थों और आचार्य्य पीठोंकाभी उद्धार किया है। ज्योतिष्पीठका उद्धार भी आपने ही किया है। आपके ही आग्रहसे आचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजीने ९ वर्ष पूर्व उस पीठका शंकराचार्य्य होना स्वीकार किया और आप बड़ी योग्यतासे उस महान पीठका कार्य-संचालन कर रहे हैं।

स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज उच्चकोटिके योगी थे। आप हठयोग, राजयोग तथा क्रियायोगके पूर्ण ज्ञाता थे। आपकी योग-शक्तिका ही फल था कि, आप १०५ वर्षकी अवस्थातक बराबर कार्य्य करते रहे। योग, तन्त्र, वेदान्त तथा भक्तिका प्राचीन तथा नवीन दृष्टिसे इतना सुन्दर समन्वय आपने किया है कि, आपकी रचनाएँ सदा अमर रहेंगीं।

आज हम काशीनिवासी उस महान् कर्मयोगीके वियोगको बड़ी पीड़ासे अनुभवकर रहे हैं। सच कहा है कि, महान् व्यक्ति-

योंकी कदर उनके बाद होती है और उनकी आध्यात्मिक शक्तिका प्रकाश दिनों दिन बढ़ता है। मैं श्रीजी महाराजको अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

ब्रह्मविद्याके साकार विग्रह

श्रीस्वामी सनकानन्द गिरि

ब्रह्मनिष्ठ आदर्श सनातन-आर्यधर्म-प्रवर्तक श्रीश्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी मर्यादा बद्ध सर्वोन्मुखी प्रतिभाका यथावत विवरण करना मानवी लेखिनीकेलिये सर्वथा कठिन है। पर अनुभवसिद्ध यह बात तो लिखी जा सकती है कि, अनन्त श्री-समलंकृत श्रीस्वामीजी महाराजका ध्यान करके जिसने जो इच्छाकी है, वह पूर्ण ही हुई है। कितने ही भक्त लोग आपका ध्यान करके ही अपनी आपत्तियोंका निवारण किया करते थे। कितने ही निर्धन धनी हो गये। कितने ही पुत्रहीनोंके गृहमें भाग्यशाली बालकोंने जन्म लिया।

श्रीस्वामीजीके स्वभावमें शांति थी, गंभीरता थी, पृथ्वीकी तरह क्षमा थी; राम और कृष्णकी तरह वात्सल्य था। श्रीस्वामीजी महाराजके सिद्धान्तोंमें उदारता थी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की आपकी भावना आपके व्यक्तित्वका एक प्रधान भूषण था। प्रपंचमय कार्योंके प्रति उदासीनताका भाव आपके स्वभावकी एक विशेषता थी।

अनन्त श्री-विभूषित परम आदरणीय भगवत्पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज वर्तमान युगके परम संत, वैदिक मर्यादाके स्वरूप, सनातन वैदिक आर्य्य-संस्कृतिकी मूर्ति, विप्र-धेनु-सुर-संत-हित मानव शरीरधारी उज्ज्वल विद्युत्-पुञ्जके प्रकाश थे।

श्रीश्रीस्वामीजीमहाराज ब्रह्मविद्याके साकार विग्रह थे। उनमें तपोयोग और ज्ञानके विशिष्ट समन्वयका जाज्वल्यमान तेजः-पुञ्ज प्रत्यक्ष होता था। तपस्वियोंने उन्हें साकार तपश्चर्य्या कहा था। ज्ञानियोंने उन्हें ज्ञानराशिका आगार माना था। योगियोंने इनमें योगविद्याका दिव्य प्रस्फुटन पाया था। विरक्तोंने उन्हें अपने निवृत्ति-मार्गका आदर्श समझा था और गृहस्थोंने इनमें अपने प्रवृत्ति-पथका प्रकाश प्राप्त किया था।

धर्मसम्राट् श्रीस्वामीजी महाराजके शब्दोंमें यथार्थ तेज था आकर्षण था, गम्भीरता थी, सरलता और सरसता थी। शब्दब्रह्मके अपनेपनका अनोखापन था। जिसने सुना, वह सुनते ही रहना चाहता था,। इनमें सुधाकी सरसता थी। वाङ्माता भगवती सरस्वतीकी पुनीत वीणासे झंकृत हुई दैवी झंकारकी मञ्जुल ध्वनि इनमें थी। इनमें अविद्याके अज्ञान-तिमिरको शीघ्र भेदन करनेवाला शुभ्र ज्ञानका ज्योतिर्मय पुञ्ज था।

आज हिन्दुसंस्कृति, हिन्दूसभ्यता, हिन्दूसाम्राज्यके सूर्य्य श्री-श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजका अस्त हो जाना असह्य होरहा है।

यद्यपि आज श्रीस्वामीजी पंचभूतविशिष्ट शरीरके अन्तर्गत नहीं रहे, किसी अदृश्यलोकमें स्वर्गीय वातावरणके अन्दर अपने स्वरूपमें लीन हैं, तथापि आपकी स्वरूपलीनता मानवताकी पराकाष्ठाकी द्योतक है, श्रीस्वामीजीकी जीवन-चर्य्या सनातन आर्य नीति-रीतिको जाग्रत करके मानवमात्रको यथार्थ मानवताके प्रकाशमें ला रही है। यदि आज श्रीभारतधर्ममहामण्डल उनके पथका अनुसरण कर सनातन आर्य वैदिक सभ्यता तथा निजी भारतीय संस्कृतिको अपनाकर अपना तथा जगत्का कल्याण करना चाहे, तो सब प्रकारसे स्वर्गीय श्रीस्वामीजीद्वारा प्रदर्शित विचारधाराको सामने रख कर आगे बढ़ना होगा।

श्रद्धाञ्जलि

सनातनधर्मकालेजके भूतपूर्व-धर्मगुरु महामहोपदेशक

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्तशास्त्री

भारतके दुर्भाग्यके कारण, इस घोर धार्मिक विपत्तिके समय धर्मजगतसे एक महान् साधक स्थितप्रज्ञ निष्काम कर्मयोगी महा-पुरुषका तिरोधान हो गया। इससे धर्मजगत्की जो हानि हुई है, वर्त्तमान समयमें उसकी पूर्त्ति होना असम्भव सा प्रतीत होता है। भारतवर्षमें जिस समय ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज और खृष्टान मिशनरियोंका सनातनवर्णाश्रमी हिन्दुधर्मके विरुद्ध प्रबल प्रचार हो रहा था, भोली भाली जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपना अस्तित्व बनाये रखनेमें असमर्थ होकर विरुद्ध प्रबल प्रवाहमें बहने लगी थी, ठीक उसी समय कपर्दकहीन निष्किञ्चन श्रीस्वामीजी महाराजने श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी प्रतिष्ठा करके, उसमें भारतके प्रसिद्ध विद्वान् उपदेशकोंको, साधु सज्जनोंको सम्मिलित करके और प्रत्येक प्रान्तमें, प्रत्येक शहरमें शाखा-सभाओंकी स्थापना करके धर्मविरुद्ध आन्दोलनोंका मुकाबिला किया और बड़े-बड़े राजा, महाराजा, मठाधीश, साधु-संन्यासियोंके साथ मिलकर प्रबल प्रयत्नसे सनातनधर्मकी विजय-वैजयन्तीको हिमाचलके अत्युच्च शिखरपर फहरा दिया। भारतके अद्वितीय धर्मवक्ता प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्रके धुरन्धर विद्वान् चिरकुमार ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्दजी महाराज इन्हींके शिष्योंमेंसे सर्व-प्रधान थे। जिनके दिव्य प्रभावसे हिमालयसे कटकतक अन-गिनती धर्मसभाओं और कितने ही सनातनधर्म स्कूल तथा कालेजोंकी स्थापना हुई और जनतामें एक नयी धार्मिक जागृत पैदा हुई थी।

सन १९१० से अबतक स्वामीजीके साथ मेरा परिचय रहा। उन्हींके स्थापित उपदेशकमहाविद्यालयमें मैंने विद्याभ्यास किया, श्रद्धेय श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजके साथ धर्मप्रचारका कार्य किया और कानपुर सनातनधर्मकालेजमें धर्मगुरुके पदपर प्रतिष्ठित रहकर अबतक धर्मकार्यमें जीवनका अधिक भाग व्यतीत किया। इस प्रकारसे श्रीस्वामीजीके साथ घनिष्ट परिचय रहनेके कारण स्वामीजीको मैंने जिस तरहसे अनुभव किया, उसीका कुछ विवरण नीचे लिख रहा हूँ—

श्रीस्वामीजी एक असाधारण विभूतिसम्पन्न महापुरुष थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। गीतामें भगवान्ने कहा है—यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ अर्थात् संसारमें जो जीव ऐश्वर्ययुक्त, समृद्धि-सम्पत्ति, शोभा और कान्ति सम्पन्न हैं और उत्साह, बल तथा प्रभावयुक्त हैं, उनको मेरे ही अंशस्वरूप समझो। सौम्यमूर्त्ति श्रीस्वामीजीका सुविशाल सुकोमल सुन्दर शरीर कमनीय कान्तिका आधार था। आरक्तिम नेत्र, विस्तृत कपाल और वक्षःस्थल, सुदीर्घबाहु, रक्तिमाभ नख, कमल सरीखे कोमल चरण तथा सुगठित हस्त-पादआदि महापुरुषोंके सम्पूर्ण लक्षण स्वामीजीमें विद्यमान थे। कौपीन मात्र पहने हुए नंगे वदन आगुल्फलम्बित श्मश्रु तथा चमकीले सुचारु जटाजाल खोलकर श्रीजी महाराज जब खड़े होते थे, तब उस दिव्य भव्य मूर्त्तिको देखकर यही प्रतीत होता था कि, कोई ब्रह्मर्षि ब्रह्मलोकसे उतर कर इस जगत्को पवित्र करनेको आये हैं। कोई भी राजे महाराजे, विद्वान्, पण्डित जब उनके पास आते थे, उनके कमलदलके समान चरणोंमें सिर झुका-कर प्रणाम करते थे। चाहे कैसा ही प्रभावशाली पुरुष क्यों न हो, उनके सामने उनके बचनका विरोध नहीं कर सकता था। चाहे

न्याय हो या अन्याय, उसको स्वीकार करना ही पड़ता था। वैसा अप्रतिहत-प्रभाव पुरुष संसारमें बहुत ही कम दिखायी देता है।

स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज स्वयं ब्रह्मज्ञानी होनेपरभी निष्काम कर्मयोगी थे। सनातन हिन्दूधर्म और वर्णाश्रमधर्मके प्रति स्वामीजीका अगाध अचल विश्वास था और उसकी रक्षाके लिये अन्तिम श्वासतक उन्होंने प्रयत्न किया। राजपूतानेके उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, किशनगढ़, डुङ्गरपुर, नरसिंहगढ़आदिके राजाओंपर उनका अपूर्व प्रभाव था। कितने ही स्वाधीन राजे और महारानियां उनकी मन्त्र-शिष्या थीं। महारानी खैरीगढ़ने जब उनसे मन्त्र लिया था, तब उन्होंने एक साथ तीन लाख रुपये गुरुदक्षिणामें दिये थे और आगे तीन लाख रुपये देनेका अभिवचन दिया था। गुरु-पूजाके समय महारानी खैरीगढ़ जब महामंडल-भवनमें पधारती रहीं, उस समयकी श्रीस्वामीजीकी पूजा और आरती एक अपूर्व दर्शनीय वस्तु थी। जटाजाल फैलाये हुए उच्च सिंहासनपर कैलाश-शिखरासीन शंकरके समान पद्मासन लगा कर स्वामीजी बैठते थे और महारानी सहेलियोंके साथ स्वयं अपने हाथमें कपूरकी आरती लेकर गुरुजीकी स्तुति किया करती थीं, और हम लोगोंको दसेरा, सुफेदा आम और तरह तरहकी मिठाइयाँ पेटभर खानेको मिलती थीं।

श्रीस्वामीजी महाराजको पौराणिक, दार्शनिक, वैदिक तथा धर्म-शास्त्रका ज्ञान अपूर्व तथा अगाध था। श्रीजीने सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक कर्ममीमांसा तथा उत्तरमीमांसादर्शनके अपूर्व सामञ्जस्यपूर्ण भाष्योंकी रचना की। प्रत्येक दर्शनशास्त्रका सिद्धांत अलग अलग होनेपर भी अधिकारियोंके भेदसे प्रत्येक दर्शनकी एकता तथा समन्वयको वे ऐसी वैज्ञानिक रीतिसे समझाते थे कि, प्रत्येक विद्वान्‌को अवनत होकर उनका मत स्वीकार करना

पड़ता था। स्वामीजीका सिद्धान्त यह था कि, सप्तज्ञानभूमियों तथा सप्त अज्ञानभूमियोंके अधिकारके अनुसार दर्शन सात ही होने चाहिये। उनका कहना था कि, महर्षि जैमिनी कृत कर्ममीमांसादर्शन अधूरा या अपूर्ण है। उसकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने महर्षि-भरद्वाज-कृत कर्म-मीमांसादर्शनका समाधियोगसे आविष्कार किया और भक्तिमार्गके शांडिल्य सूत्रोंके सिवाय कोई दार्शनिक ग्रन्थ न होनेसे उस अभावकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने दैवीमीमांसादर्शनका आविष्कार किया। महामहोपाध्याय श्रीयुक्त पं० अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणिजीने इन दोनों दर्शनोंका स्वामीजीके तत्त्वावधानमें संस्कृतमें भाष्य बनाया है। उन्हींके आदेशानुसार उनके प्रधान शिष्य भारतविख्यात श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजने "सत्यार्थ-विवेक" आदि ग्रन्थोंकी रचना की थी। इन ग्रन्थोंके प्रत्येक अध्यायका वैज्ञानिक तथा दार्शनिक मुखबन्ध स्वामीजी ही लिखवा दिया करते थे। दयानन्दजी महाराज उसको पल्लवित करके विस्तृत ग्रन्थरूपसे बना डालते थे। इसके सिवाय सप्त ज्ञान-भूमियोंके विचारसे भगवद्गीताके सिवाय संन्यासगीता, धीशगीता, शंभुगीता, विष्णुगीताआदि सप्त गीताओंका अपने अनुभूत सिद्धान्तके अनुसार उद्धार किया। शास्त्र-रचनामें स्वामीजीको कलियुगके वेदव्यास कहनेपरभी अत्युक्ति नहीं होगी। कहते हैं कि, महर्षि वेदव्यासजीने जब महाभारतकी रचना की थी, तब स्वयं नहीं लिखते थे, श्रीगणपतिजी से लिखवाया करते थे और स्वयं बोलते जाते थे। स्वामीजीको भी मैंने कभी भी अपने हाथसे लिखते नहीं देखा, चिट्ठीपत्रीसे लेकर ग्रन्थ-रचना-कार्यतकमें स्वयं बोलते जाते थे और अन्य विद्वान् श्रीगणेशजीका काम करते थे। मैंने अपनी आँखोंसे देखा है कि, आरामकुर्सीपर बैठे हुए स्वामीजी अकेले एक साथ चार पाँच लेखकोंसे अलग अलग विषयोंपर लेख लिखवाया

करते थे। एक ओर स्वर्गीय स्वामी दयानन्दजी महाराज दार्शनिक लेख लिख रहे हैं, दूसरी ओर श्रीमती विद्यादेवीजी उपनिषदोंका भाष्य लिख रही हैं और बीचमें ही महामंडलके सेक्रेटरी साहब आफिस सम्बन्धी पूछ ताछ कर रहे हैं और चौथे पं० गंगाविष्णुजी, पं० गोपालशास्त्रीजी चिट्ठीपत्री लिख रहे हैं। इस प्रकारसे स्वामीजीकी सर्वतोमुखी प्रतिभाको देखकर सचमुच विस्मित होना पड़ता था। दैवी जगत्पर स्वामीजीकी श्रद्धा अपूर्व थी। महामंडल भवनमें नित्य प्रति वेदभगवानकी पूजा, वाल्मीकि टीलापर शंकरजीकी पूजा, पंच देवताओंकी पूजा होती रही। इसके सिवाय महामंडल भवनके सामने वैदिक यज्ञशाला तथा गायत्रीदेवीके पीठकी स्थापना की गयी है। उस यज्ञमंडपमें कितने ही सोमयज्ञ, रुद्रयज्ञ, सप्तशतीयज्ञ आदि हुए हैं, जिनकी संख्या कमसे कम दो सौसे ऊपर ही होगी। दरभंगाके महाराजाधिराज श्रीरमेश्वरसिंहजी जबतक जीवित रहे, महामंडलके सभापति बने रहे। उन्होंने एक लाख रुपये एककालीन दान दिये थे और प्रतिमास नियमित रूपसे आर्थिक सहायता भी करते थे। सारे भारतमें ऐसे सनातन-धर्मावलम्बी राजा महाराजा कम ही होंगे, जिनके साथ स्वामीजीका परिचय न हो और जो कुछ न कुछ महामंडलको मासिक या वार्षिक सहायता न देते हों। शिवावतार श्रीशंकराचार्यजीने भारतकी धार्मिक स्थितिको नियमित रखनेके लिये चार दिशाओंमें चार प्रसिद्ध शांकर मठोंकी स्थापना की थी। कालवश उत्तराखंडका जोशीमठ लुप्त हो गया था। स्वामीजीने टेहरी नरेशकी सहायता और गोवर्द्धन, शृंगेरी तथा शारदामठके शंकराचार्योंकी सहयोगितासे उस मठका पुनरुद्धार किया। उस गद्दीपर इस समय जगद्-गुरु शंकराचार्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज विराज रहे हैं।

कहावत है कि, अच्छे कामोंमें अनेक विघ्न होते हैं। विशेषतया कलियुगमें धर्मका कार्य करना कठिन नहीं, दुष्कर है। सत्ययुगसे अबतक देवासुर संग्राम होता आ रहा है। और युगोंमें सत्त्वके प्राधान्यके कारण, असुरोंकी पराजय होती रही और देवगण जयी होते गये। तमःप्रधान कलियुगमें चारों ओर असुरोंका ही प्रबल प्रताप फैला हुआ है। इसलिये इस युगमें जो कुछ दैवानुष्ठान या धर्मका कार्य किया जाय, उसकी निर्विघ्न समाप्ति नहीं हो पाती। जबसे महामंडलकी प्रतिष्ठा हुई है, तभीसे कुछ न कुछ प्रबलतम विघ्न होते गये। स्वामीजीको बदनाम करनेके लिये कितने ही षड्-यन्त्र रचे गये, कितने ही मुकदमे चलाये गये, उनके प्रधान शिष्य स्वामी दयानन्दजीको चक्कूसे घायल किया गया, श्रीजीको गिरफ्तार करके जेल भेजनेके लिये कितनी ही कोशिश की गयी, लेकिन बादलोंसे घिरे हुए दिवाकरके समान समर्थ स्वामीजी अपने दिव्य प्रभावसे सब तरहकी विपदाओंसे मुक्त होकर मध्याह्नके सूर्यके समान चमकने लगे। तामसिक प्रभाव दब गया और अन्तमें स्वामीजी विजयी हुए।

सुचारुरूपसे धर्मकार्य सम्पादन करनेके लिये स्वामीजीके दो प्रधान शिष्य सहायक थे। प्रथम भारतविख्यात अद्वितीय धर्मवक्ता स्वर्गीय स्वामी दयानन्दजी महाराज और दूसरी परम विदुषी श्रीमती विद्यादेवीजी। स्वामीजीने अनुभव किया कि, देश-विदेशोंमें धर्मप्रचारके लिये अच्छे धर्मवक्ता कम मिलते हैं, इसलिये उन्होंने महामंडलके हातेमें दो मंजिले मकान बनवाकर उपदेशकमहा-विद्यालयकी स्थापना की, जिसमें महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि दर्शनशास्त्रके, स्वर्गीय पं० शशिभूषण स्मृतितीर्थजी धर्मशास्त्रके और श्रीमान् पं० गुरुचरण विद्याभूषण एम० ए० प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनशास्त्रके (तुलनात्मक शिक्षाके

लिये) अध्यापक नियुक्त हुए और स्वामी दयानन्दजी उसके अध्यक्ष हुए। स्त्रियोंमें धर्मप्रचारके लिये श्रीमती विद्यादेवीजीको अध्यक्ष बनाकर पिशाचमोचन तीर्थ क्षेत्रमें आर्य्यमहिलामहाविद्यालयकी स्थापना की गयी और 'आर्य्यमहिला' नामक हिन्दीमें मासिक पत्रिका प्रकाशित की जाने लगी, जो कि अबतक अच्छी तरहसे महिलासमाजकी सेवा कर रही है। पूज्यपाद स्वामीजीके प्रभाव और आशीर्वादसे श्रीमती देवीजीने अथक परिश्रम किये, जिससे महिला विद्यालय इन्टरकालेजमें परिणत होकर देश तथा स्त्रीसमाजका कल्याण कर रहा है। स्वामी दयानन्दजीके सिवाय महाराजके स्वामी विवेकानन्द, विद्यानन्द, प्रेमानन्द आदि कितने ही साधु शिष्य थे, जिनमें कदाचित् प्रेमानन्दजी जीवित हैं। स्वामीजी एक अवतरित पुरुषोत्तम महापुरुष थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

धर्ममूर्ति श्रीस्वामीजी

श्रीमान् पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी, मानस-राजहंस

श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज एक अद्भुत तेजस्वी पुरुष थे। उनके स्वरूपमें, उनकी वाणीमें ऐसा आकर्षण था, जो अन्तःकरणको बलात् अपनी ओर खींच लेता था। मैं अच्छी भावना लेकर उनके दर्शनको नहीं गया था, परन्तु उनके दर्शन होते ही मेरी वे दुर्भावनाएँ दूर हो गयीं, जो इधर-उधरकी बातें सुननेसे बद्धमूल हो गयी थीं, और उनके चरणोंमें मेरी श्रद्धा हो गयी।

उस घटनाको आज लगभग पचास वर्ष हुए, तबसे आजतक मेरे ऊपर स्वामीजीकी बराबर वैसी ही कृपा बनी रही। युवावस्थामें

में कुछ न कुछ श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी सेवा भी करता था। पर इधर बहुत दिनोंसे भारतधर्ममहामण्डलके आफिसके दूर चले जानेसे मैं कुछ भी सेवा न कर सका, पर स्वामीजीके हृदयमें कोई भी अन्तर न पड़ा।

स्वामीजीने सनातनधर्मके लिये क्या-क्या किया, देशके लिये कैसे कैसे कष्टोंका किस धैर्य्यसे सफलतापूर्वक सामना किया, इसे संसार जानता है। इस सङ्कीर्ण लेखमें उसके वर्णनके लिये स्थान नहीं है। जिसने उस सङ्कटकालमें श्रीस्वामीजीके धैर्य्यको देखा है, वही कह सकता है कि, वे कितने बड़े महात्मा थे। एक ओर अदालत लगी है, दूसरी ओरसे समाचार पत्र उठे हुए हैं, तीसरी ओर गुण्डागिरी हो रही है और उसके बीचमें श्रीस्वामीजी महाराजका जीव-ब्रह्मका निरूपण भी हो रहा है।

आजकलके नवयुवक उस संघर्षको समझ भी नहीं सकते, जो उस समय सनातनधर्म और आर्यसमाजमें था। ऐसे समयमें जो विष उगला जाता था, उसके लिये सञ्जीवनी बूटी श्रीस्वामीजीका शरीर था। इन्हींकी कृपामृतवर्षासे आस्तिकोंके जीकी जलन शान्त होती थ ी।

जिस भाँति स्वामीजीके बड़े-बड़े भक्त थे, उसी भाँति विरोधी भी बड़े प्रबल थे। ऐसा समय अनेक बार आया कि, मालूम हुआ कि भारतधर्ममहामण्डल गया और सदाके लिये गया। पर यह स्वामीजीकी महिमा है कि, आज श्रीभारतधर्ममहामण्डल सबसे प्राचीन और प्रतिष्ठित धार्मिक संस्था है और बड़े बड़े सार्वजनिक कार्य्य इसके द्वारा हो रहे हैं।

श्रीस्वामीजी महाराज भारतके गौरवकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्नशील रहे और इन्होंने चिरोत्सन्न ज्योतिर्मठकी पुनः प्रतिष्ठा

की और एक अत्यन्त योग्य महात्माको उस गद्दीपर स्थापित किया।

पत्रोंद्वारा, पुस्तकोंद्वारा, व्याख्यानदाताओंद्वारा तथा शिष्यों-द्वारा स्वामीजी सदा धर्मप्रचारमें रत रहे।

स्वामीजीके काशीलाभसे जो हानि हिन्दूसमाजकी हुई है, उसकी पूर्ति हो नहीं सकती। यद्यपि श्रीस्वामीजीका निर्वाण पूर्णा-तिपूर्ण आयु भोगकर हुआ, फिर भी उनके पितृवत् प्रेमको स्मरण करके आजभी जी भर आता है।

श्रीजीकी अटल धृति

श्री पं० देवनायक आचार्य

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके सर्वस्व ब्रह्मीभूत स्वामी श्रीज्ञाना-नन्दजी महाराजका व्यक्तित्व अपूर्व था। उनके चरित्रमें अनेक गुणोंका संनिवेश था, जिनका वर्णन स्वामीजीके घनिष्ठ संपर्कमें रहनेवाले विद्वान् लेखकोंकी लेखनीकेद्वारा होगा, लेखकको उनके घनिष्ठ संपर्कमें रहनेका सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि सार्व-जनिक संस्थाओंमें कार्य करनेवाले व्यक्तिको ऐसे महान् पुरुषका जैसा संपर्क प्राप्त हो सकता है, उसके आधारपर दृढ़ताके साथ कहा जा सकता है कि, स्वामीजीके अनेक गुणमें रत्नके समान उज्ज्वल एक गुण उनकी धृति थी, जिसके कारण उपर्युक्त उक्ति उनमें पूर्ण-रूपसे चरितार्थ होती है।

धृतिके बिना विज्ञान, भगवद्भक्ति, गुरुभक्ति तथा इन्द्रियजय दुर्लभ है, अतः यह स्वयमेव अनुमित हो जाता है कि, उनमें ये

सब गुण पूर्णरूपसे विद्यमान थे। उनकी सौम्य आकृति तथा मधुर भाषणसे भी उनकी इस मानसिक धृतिका अनुभव संपर्कमें आनेवाले व्यक्तिको स्वयमेव हो जाता था। दर्शन करते ही द्रष्टाके हृदयमें अपूर्व सात्त्विकता तथा शान्तिका उदय होता था। इससे स्वामीजीमें अपार सात्त्विकता, शान्ति, धैर्य, स्थैर्य आदि गुणोंके होनेका प्रमाण मिलता है। स्वामीजीके दर्शन करते ही उनके शिष्योंके संशय स्वतः ही दूर हो जाते थे, तब यह उक्ति स्मृत होती थीः—

'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।

स्वामीजी सनातनधर्मके स्तम्भ तथा आलोक थे। उन्होंने अनेक धार्मिक संस्थाओंका स्थापन तथा अनेक ग्रन्थोंका प्रकाशन किया, जो उनकी उदात्त भावनाओंका मूर्तिमान् प्रतीक है

श्रीस्वामीजीका व्यक्तित्व इतना उच्च था कि, लेखकके विचारसे समाज उसको समझनेमें असमर्थ रहा, जिसके कारण उनसे जितना लाभ समाजको उठाना चाहिये था, उतना लाभ समाज न उठा सका। अस्तु—

उनकी विचारधारा तथा उदात्तभाव उनके द्वारा प्रकाशित शताधिक ग्रन्थों तथा उनकेद्वारा संचालित अनेकों संस्थाओंमें निहित है। इन संस्थाओंकी सेवा तथा इन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे समाज अबभी लाभ उठा सकता है। यही आश्वासनका हेतु है।

——

मैं श्रीजीको अवतार मानता हूँ

श्री पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री पटना

श्रीभारत धर्ममहामंडलके उपदेशकमहाविद्यालयमें मैं अध्ययन कर रहा था, उस समय मधुसूदन संहिता नामका सुन्दर ग्रन्थ मैंने

पढ़ा था, जो पण्डित समाजके लिये उपादेय तथा संग्राह्य था। मैंने अध्ययनकी दृष्टिसे उसे अनेक बार पढ़ा। उस ग्रन्थकी भविष्य-वाणीमें श्रीजी महाराजको अङ्गिरा मुनिका अवतार कहा गया है। मैं श्रीजी महाराजको अवतार मानता हूँ। मेरा ऐसा विश्वास तथा निष्ठा है। मैंने श्रीजीमें सर्वतोमुखी प्रतिभा देखी है। अध्यात्म जगत्‌के सच्चे पथ-प्रदर्शक तथा आधुनिक राजनीतिक्षेत्रके सुन्दर खेलाड़ी, परमार्थमें सिद्ध तथा व्यवहारमें लोकसंग्रही आदि सद्गुण श्रीजीमें एकत्र पाये। श्रीजी अपने युगके महान् योद्धा थे। देश-काल परिस्थितिने जगत्‌को अन्धा बना दिया था, जिससे लोकलोचनोंमें श्रीजी स्पष्ट नहीं दिखायी पड़े, यही मुझे विषाद है। मैंने अपने जीवनमें लोक-सेवाके लिये जो कुछ प्राप्त किया है, यह सब महा-मंडलकी देन है। हिन्दू धर्मको समझनेकी क्षमता श्रीजीकी पर-म्परामें श्री १०८ ब्रह्मीभूत दयानन्दजी महाराजसे ही प्राप्त हुई। मैंने कामधेनु, कल्पवृक्ष और पारस इसी भारतधर्म महामंडलके स्वर्गमें ही उपलब्ध किया और प्राप्तकाम बन गया। मेरे लिये तो सत्य ही भगवान् अङ्गिरा इस धरातलमें उतर आये थे।

स्वामीजीकी अन्तर्धान

श्री० पं० शङ्करदत्त शास्त्री

सायंकाल कुछ छात्रोंके साथ स्थानीय उद्यानमें भ्रमण कर रहा था, सामयिक वातावरणके सम्बन्धमें प्रश्न छिड़ा था। कुछ प्रश्नोत्तर-के उपरान्त अस्मात् सन्त राघवानन्दजीको उद्यानके बगलके राज-पथसे निकलते देखा। गोपालसे मैंने कहा,—जरा तेजीसे जाकर महात्माजीसे कहो "शास्त्रीजी मिलना चाहते हैं" वह गया, कहते कहते मैं भी पहुँच गया। नमो नारायणाय होनेके पश्चात् कुशल

सम्बन्धी बातें चलीं। अविलम्ब ही आवश्यक बातोंके बाद सहसा उन्होंने कहा,—महामण्डलके स्वामीजीकी खबर तुम्हें मिली या नहीं ? मैंने कहा,—कुछ नहीं।

"स्वामीजीका देहावसान हो गया" ये शब्द सुनते ही हृदय पटलपर एक धूमिल रेखा खिच गयी, नेत्र-व्यापाररुद्ध हो गये, हृदयमें धड़कन होने लगी। आह! इस अवस्थामें जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तबभी पाश्चात्य शिक्षाकी दलदलसे पूर्णरूपेण उन्मुक्त न हो सका, किन्तु पारतन्त्र्यकी बेड़ीमें पड़ा हुआ है। जिस महापुरुषके द्वारा "भारतधर्ममहामण्डल" जैसी संस्था स्थापित हुई और जनताजनार्दनके हृदय-पटलपर धार्मिकाध्यात्मिक भाव सुचिन्तित हुए, वह आज इस संसारमें नहीं है। देशके कोने कोनेमें जनताकी आन्तरिक भावनाओंको बदल कर उसे भारतकी जन्मसिद्ध धार्मिकतापर ले आनेका श्रेय यदि किसीको है, तो केवल स्वामी जीके सफल प्रयत्नको।

आपके इस सफल प्रयत्नकेद्वारा अगणित स्त्री-पुरुषोंकी भाग्य-रेखा बदल गयी, आपके महिलाविद्यापीठकी 'चालिकाको देखनेसे तथा सम्भाषणसे जान पड़ता है कि, वस्तुतः गार्गी, मैत्रेयी-का युग आपने प्रवर्तित कर दिया है। आपने अपने इस अमूल्य जीवनमें जो भी किया, परोपकार—देशसेवाकी भावनासे प्रेरित होकर किया। आप जैसे पहुँचे हुए सन्त थे, ठीक उसी कोटिके प्रबल विद्वान्, सफल उद्योगी, सक्रिय त्यागी तथा सर्वप्रिय वक्ता भी थे।

आपके दर्शनसे तो मुझे ऐसा भान होने लगता था कि, आप स्वयं नीलकंठके रूपान्तरको धारण कर इस काशी विद्या-प्रधानपुरी-में गिरती अवस्थाके सुधारनेके लिये अवतरित हुए हैं।

आपकी साहित्यप्रियता भी अति श्रेयस्करी थी। उभयलोक-साधनता तो आपकी नीतिमें कूट कूट कर भरी थी।

किम्बदन्ती है—

अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
वह देश निर्जीव है जहाँ साहित्य नहीं है ॥

साहित्य राष्ट्रकी छाया है, यदि साहित्य निर्बल पड़ जाय, तो उस देशके अन्तस्तलीय जोड़ोंपर धक्का लगेगा। आपको इन बातोंका पूर्ण ध्यान था। तभी तो आप संन्यस्त होते हुए भी इस महान् कार्यके करनेको अग्रसर हुए थे।

हे युगप्रवर्तक, हे युगदेवता, समाधिलीन! अब फिर इस भारत-पर आपकी समाधि कब टूटेगी? मानवताका अगाध अम्बुधि आपके पदतलका अन्वेषण करता रहेगा।

मानवताकी बिलखती आवाजको, उसके नष्ट-भ्रष्ट अङ्गको, अपने कुशल करोंसे संवारनेकी शीघ्र ही आवश्यकता समझकर कृपा कीजिये। साहित्यको, समाजको, वर्तमान दुरवस्थाको, भूल न जाइये। वाणीमें शक्ति नहीं, लेखनीमें बल नहीं कि, आपका गुण गान कर सकूँ।

——

ब्रह्मीभूत श्री १००८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

विद्यालङ्कार श्रीमान् लक्ष्मणचन्द्र टण्डन, प्रिंसिपल
सनातनधर्म कालेज, कानपुर

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं सूत्रधार स्वर्गीय श्री १००८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके आकस्मिक स्वर्गारोहणसे पार्थिव जगत्की धर्म-प्राण जनताकी जो आध्यात्मिक हानि हुई है, उसकी व्यञ्जना कर सकना हमारी लेखनीकी सामर्थ्यके बाहर है।

श्रीस्वामीजीने आर्य-संस्कृति तथा भारतीय शिक्षा एवं सभ्यताकी रक्षा करनेके लिये ही यह अपूर्व आयोजन किया था। अपनी योग्यता, विद्वत्ता और प्रतिभाके बलपर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंसे लेकर दीन-हीन नर-नारियों तथा दरिद्र छात्रोंतकके हृदयोंमें सनातनधर्मके प्रति अगाध श्रद्धा और अपनी प्राचीन संस्कृतिके प्रति अक्षुण्ण प्रेम भर दिया था। परम शक्ति एवं सफल योगी होनेके नाते बहुमुखी योजनाएँ प्रस्तुत करके उनका संरक्षण, नियंत्रण एवं निर्वाह करनेमें तो श्रीस्वामीजी सिद्धहस्त थे। निखिल मानवताकी कल्याण-कामनासे प्रेरित होकर ही उन्होंने भारतधर्ममहामण्डलसे ऐसे व्यापक तथा प्रभावशाली धार्मिक साहित्यका सृजन एवं प्रकाशन कराया, जिसका प्रभूत मूल्य संसारकी धार्मिक जनताने आँका और उसकी प्रेरणासे युक्तियुक्त और संङ्गत प्रमाणोंकी खोज करनेवालोंका महान् हित हुआ।

अपने तेजस्वी एवं आकर्षक व्यक्तित्वके प्रभावसे श्रीस्वामीजी बड़े कर्मण्य, नैष्ठिक और त्यागी कार्यकर्ताओं तथा स्वर्गीय १००८ श्रीस्वामी दयानन्दजी जैसे परम योगी शिष्योंको सनातनधर्मकी सच्ची सेवा करनेकी प्रेरणा प्रदान किया करते थे। इस स्थलपर यह कहना भी सर्वथा युक्ति-युक्त होगा कि, स्वामी दयानन्दजी महाराज भारतवर्षकी उन इनी गिनीं विभूतियोंमेंसे थे, जिन्होंने अपनी विचित्र वक्तृत्व शक्तिके बलपर सैकड़ों नास्तिकोंको आस्तिकताका पाठ पढ़ाया था और सहस्रों विधर्मग्राही हिन्दुओंको पुनः धर्मका पाठ पढ़ा कर सनातनधर्म ग्रहण करनेके लिये बाध्य कर दिया था। उनकी वाणीमें वह जादू था, जो सहस्रों श्रोताओंको घण्टों मुग्ध किए रहता था। हमारी धारणा तो यह है, कि इस सफलताका अधिकांश श्रेय उनके परम पूज्य गुरुवर श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजको ही था, जिनके पुण्य प्रताप और प्रसादके

प्रभावसे उन्होंने सारे उत्तरापथमें सनातनधर्मका विजय-डंका बजा दिया था।

ऐसी महान् विभूतियाँ शताब्दियोंमें कभी ही अवतरित होकर पृथ्वीपर फैले हुए मोहान्धकारको दूर कर दिया करती हैं। हमारी बलवती लालसा है कि, श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज तथा उनके योग्य शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराज स्वर्गसे श्रीभारतधर्ममहामण्डल तथा श्रीसनातनधर्म कालेजपर मङ्गल और समृद्धिकी अजस्र वर्षा करते रहें।

श्रीजीकी लोकोत्तरता

जिह्वायां च सरस्वती

पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर

स्वर्गीय लोकमान्य गुरुवर बाल गंगाधर तिलकके मण्डालय-जेल चले जानेपर उनके यहाँसे जब सन् १६०७ में मैं काशी लौटा, तब अप्रिय-सत्यवादिताके अपराधसे सरकारी अधिकारियोंका कोपभाजन बन जानेके कारण राजनीतिक कार्यक्षेत्रसे हटकर धार्मिक कार्यक्षेत्रमें जनताकी सेवा करनेके विचारसे पूज्यपाद श्रीजीके चरणोंमें उपस्थित हुआ और श्रीजीने भी निर्भयतासे उदारतापूर्वक मुझे आश्रय देकर अपना लिया। तबसे उनके लीलासंवरणके दिनतक लगभग ४०-४५ वर्ष उन्हींके चरणोंमें पड़ा रहा और अबतक उन्हींकी आज्ञाका यथाशक्ति पालन करता जा रहा हूँ। जो मैं कुछ 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' हो सका हूँ, उन्हींके

कृपा-प्रसादका फल है। इतने दिनोंतक श्रीचरणोंके सान्निध्यका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह मेरे प्राक्तनका ही परिपाक है। मैं श्रीजीके अन्तरङ्गोंमें था और वे मुझपर पुत्रवत् अहैतुक प्रेम किया करते थे। उनके साथ मैंने प्रवास भी बहुत किया और उनकी वाक्सुधासे कृतार्थ होकर सामीप्य मुक्तिका गौरव प्राप्त किया। संसारमें अब मुझे डाँट बतानेवाला कोई न रह जानेसे इस समय मैं अनाथ हो रहा हूँ। मुझे लिखना उन्होंने ही सिखलाया। मैं उनका लेखक था, 'पर्सनल असिस्टेण्ट' था और सेक्रेटरी भी। चाहे धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आयुर्वेदिक, तान्त्रिक, पौराणिक, वैदिक, व्यावहारिक, शिल्प, कला, संगीतआदि कोई विषय क्यों न हो, उसपर वे धारावाहिकरूपसे लेख लिखवाया करते या नोट दे देते थे, जिनके आधारपर मैं लेख लिख लिया करता था। उनके लेख सजीव और गहरे अध्ययन, अनुभव तथा विद्वत्तासे पूर्ण हुआ करते थे। उनको देखकर आश्चर्य यह होता था कि, इस महात्माने इतने विविध विषयोंका कब और कहाँ अनुशीलन किया होगा। परन्तु उनकी असाधारण प्रतिभाको देखकर यही निश्चय होता था कि, उन्हें सरस्वती सिद्ध हैं और 'जिह्वायां च सरस्वती' की मंत्रोक्तिके अनुसार वे उनकी वाणीके रूपमें जिह्वापर नाच रही हैं। विभिन्न शास्त्रीय मतभेदोंका समन्वय करनेमें वे सिद्धहस्त थे। उनके सार्वजनिक पुरुषार्थ सुप्रसिद्ध ही हैं; परन्तु महापुरुषोंके व्यक्तिगत जीवनमें भी बड़ी अलौकिकता होती है। श्रीजीके दैनिक जीवनमें और लोकव्यवहारमें भी एक विशिष्ट सौन्दर्य था। उनकी एक एक बातका स्मरण होता है, तो श्रद्धासे सिर झुक जाता और आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। दीर्घकालतक उनके निकट सम्पर्कमें रहनेसे उनकी बहुत-सी लोकोत्तर बातें आँखोंके सामने आ जाती हैं।

धर्मकार्यके लिये चाहे जितना शारीरिक कष्ट प्रसन्नतासे सहन करनेके लिये वे सदा प्रस्तुत रहते थे। मन तो उनका निरन्तर मातृ-चरणोंमें और उनकी आज्ञाओंके पालनमें लगा रहता था। धनकी भी वही बात है। भेट, पूजा या प्रणामीमें उन्हें लाखों रुपये मिले, परन्तु उनमेंसे एक पाई भी उन्होंने अपने पास नहीं रक्खी। सबकी सब रकम उन्होंने धर्मकार्यमें लगा दी और ट्रस्ट बनाकर उसके सदुपयोगकी भी व्यवस्था कर दी। उन्हें सदा यही चिन्ता लगी रहती थी कि, जब समष्टि अन्तःकरण कालप्रभावसे तमो-गुणाच्छन्न हो रहा है, तब मेरे देश और धर्मका कैसे उद्धार हो। वे धुनके पक्के थे। जिस काममें लग जाते, उसको पूरा करके ही छोड़ते थे। विघ्न-बाधाओंसे डरना या हतोत्साह होना जानते ही नहीं थे। एक योजनाके विफल होनेके चिह्न देख पड़ते ही दूसरी उनकी नयी योजना तैयार रहती थी। ब्राह्ममुहूर्तमें वे उठ जाते थे। प्रातःस्मरणआदिके उपरान्त महामण्डलभवन और बगीचेकी देखभाल करते थे। फल-फूलोंसे उन्हें बड़ा प्रेम था और उपवन-कलामें भी अच्छी अभिरुचि थी। देश-देशान्तरसे फल-फूलोंके पौधे मँगवाकर उन्होंने इस उद्यानमें लगवाये थे। उनके सम्हालकी युक्ति मालियोंको बतलाते और उपवनकलाकी शिक्षा बात बातमें देते थे। भवनकी व्यवस्थामें आवश्यक सुधार कार्यकर्ताओंको सुझाते थे। इस प्रकार प्रातःकालका वायु-सेवन कर बरंडेमें बैठ जाते, तब-तक लेखक, उपदेशक, विद्वान् और कार्यकर्ता एकत्र हो जाते थे। धुआँधार एक साथ सबका काम चलने लगता था। बीच बीचमें लोग दर्शनके लिये आते, तो उनसे भी शिष्टाचारके अनुसार बात चीत कर लिया करते थे। यह काम दोपहरके बारह बजेतक चलता, फिर भोजन कर दो घंटे विश्राम करते थे। आहार अत्यन्त परिमित, सात्विक, पवित्र, लघुपाक, हृद्य, रस्य, स्निग्ध और स्थिर

करते थे, जो आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाला होता है। प्राय: एक ही बार भोजन करते थे, परन्तु कभी-कभी भक्तोंके अधिक मनानेसे रात्रिमें भी अल्पाहार कर लिया करते थे। रविवार, एकादशी, प्रदोष, शिवरात्रि, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिका व्रत अन्ततक निबाहते रहे। विश्रान्तिके उपरान्त कार्यालयके कार्योंका सम्पादन करते थे। पहले सब डाँक देखकर सबके उत्तर लिखवा देते और रवाना होनेवाली डाँकको जाँच लेते थे। हिसाब, रिकार्ड आदिका अवलोकन कर भावी कार्यके नोट लिखवा दिया करते और दूसरे दिन फिर जाँचते थे। मामले-मुकद्दमेमें परामर्श देते और संयुक्त संस्थाओंकी शिकायतों और माँगोंकी व्यवस्था करते थे। शास्त्रोंका लिखाना साथ साथ चला करता था। लोग भी रात्रि के नौ-दस बजे तक आया-जाया करते और इनका कार्य-क्रम जारी रहता था। कर्मयोगके तो आदर्श थे ही। रात्रिके दस ग्यारह बजेतक पहुँच जाते थे। उनको कभी सन्ध्या-पूजा बाह्याडंबरके साथ करते हुए नहीं देखा गया; परन्तु मंडलमें जब पूजा-आरती होती, तो ध्यानमग्न हो जाते थे। भगवानके कोई स्तुति-स्तोत्र सुनाता, तो तल्लीन हो जाया करते थे। कभी-कभी उन्हें आँखें मूँदे स्तब्ध विराजमान देखकर अनुभव होता था कि, उनका अन्तर्याग चल रहा है। यही उनकी राजयोगोक्त उपासनाशैली थी।

इस प्रसङ्गमें विद्यादेवीजीके सम्बन्धमें भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जन्मान्तरके संस्कारके अनुसार देवीजीको बाल्यावस्थासे ही धर्ममें श्रद्धा थी, और धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्यका अध्ययन करनेमें अभिरुचि थी। श्रीभगवान्ने जब उन्हें गृहस्थी-बन्धनसे मुक्त कर दिया, तब सद्गुरुकी खोजमें व्याकुल होकर दैवयोगसे श्रीजीके चरणोंमें वे चली आयीं। उन्हींसे उन्होंने

दर्शनों, उपनिषदों और धर्मशास्त्रोंका अध्ययन किया। संस्कृत और अंग्रेजी भाषाका ज्ञान वृद्ध पण्डितोंसे प्राप्त कर ही लिया था और बुद्धि कुशाग्र थी, इस कारण श्रीजीकी उनपर विशेष कृपा हो गयी और उन्होंने भी अंतिम क्षणतक सद्गुरुकी आदर्श सेवा की। धारणा, मेधा और स्मृतिकी तरह देवीजीमें अलौकिक प्रतिभा और प्रबन्ध-शक्ति देखकर गुरुजीने विश्वाससे अनेक धर्म-कार्योंका भार उनपर सौंप दिया। श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्का कार्य सफलताके साथ जब उन्होंने सम्हाल लिया, तब श्रीजीने उन्हें अपने सब ट्रस्टोंमें ट्रस्टीरूपसे ले लिया और महामण्डलकी देख भालका काम भी उन्हींपर सौंप दिया, जिसे वे अबतक अच्छी तरहसे निबाह रही हैं। उनकी त्यागपरायणता, तपस्या, विरक्ति, परिश्रमशीलता और धैर्यशालिताका ही यह फल है कि, श्रीमहामण्डल और तत्सम्बद्ध संस्थाओंके सब विभागोंका कार्य जैसा श्रीजीके सामने चलता था, वैसा अब भी चल रहा है। यद्यपि प्रबन्धसमिति बनी हुई है, तथापि प्रत्यक्ष कार्य देवीजीको ही करना पड़ता है। एक दिन कारणवश उनकी आँखोंमें आँसूकी बूँदे देखकर श्रीजीने उपहाससे कहा,—'हाँ, मेरे सामने तेरे आँसू? सावधान होकर भगवत्सेवामें लगी रह। वे मङ्गलमय हैं, तेरा सब मङ्गल करेंगे'। श्रीजीके अन्तर्धान होनेपर करुणासे रुद्ध-कण्ठ होकर अकस्मात् उनके मुखसे निकल पड़ा,—'अब प्रतिदिन कितने ही आँसू बहाया करती हूँ, किंतु कौन पूछनेवाला है?' कितने ही लोगोंको स्त्री-शरीर होनेसे देवीजीके प्रति ईर्ष्या होती है; परन्तु छाती ठोककर स्वार्थत्यागपूर्वक महामण्डल या श्रीजीकी अन्य संस्थाओं या उनके किसी विभागको तन-मन-धनसे सम्हालने के लिये कोई आगे नहीं बढ़ता, यह देखकर खेद होता है। श्रीजी स्त्री, पुरुष, बङ्गाली, मराठी, हिन्दुस्तानीआदिका संकुचित

विचार नहीं रखते थे; किन्तु व्यक्तिकी योग्यता देखकर उसे पुरुषार्थ करनेका अवसर देते थे। उनके पुरुष शिष्य, जिनका उन्हें भरोसा था, पहले ही लोकांतरमें चले गये थे, तब एक सुयोग्य शिष्यापर उन्होंने धर्म-कार्यका भार सौंपा, तो क्या अपराध किया? श्रीदेवी जी श्रीजीद्वारा आज्ञापित सब धर्मकार्योंको अग्रसर कर रही हैं। ग्रन्थ-रचना और प्रकाशनका काम सुश्रृङ्खल रूपसे चल रहा है। श्रीजीका एक बड़ा स्मारक बनानेके प्रयत्नमें वे लगी हुई हैं। महा-मण्डलकी आर्थिक अवस्था सुधारनेके लिये योजना बना रही हैं और उसके लिये लोकसंग्रहमें भी प्रयत्नशील हैं। उनके कार्योंमें सहायता देकर श्रीजीके कार्य अविच्छिन्नरूपसे चालू रखना सना-तन धर्मावलम्बी स्त्री-पुरुषोंका कर्तव्य है और इस कर्तव्यका पालन करनेसे ही धर्मप्रेम और श्रीजीके प्रति सच्ची श्रद्धा प्रकट की जा सकेगी। स्थानाभावके कारण श्रीजीके व्यक्तिगत विशेष संस्मरण आज नहीं दिये जा सके। क्रमशः देनेकी चेष्टा करूँगा। उनके पढ़नेसे व्यक्तिगत जीवनको आदर्शस्वरूप बनानेमें स्फूर्ति मिलेगी। श्रीजीका एक सुविस्तृत सर्वाङ्गपूर्ण बृहत् जीवन-चरित निर्माण करनेका भी आयोजन हो रहा है।

परमाराध्य परमपूज्यपाद श्रीश्री १००८ स्वामीजी महाराज

उपन्यास-सम्राज्ञी श्रीमती अनुरूपा देवी महोदया, कलकत्ता

सन् १६०८ में पूजनीय पिताजी (अब स्वर्गीय) श्रीयुक्त मुकुन्ददेव मुखोपाध्याय महाशयके यहाँ, जो पटनामें पोस्टेड थे, श्रीदुर्गापूजाके अवकाशमें हमलोग मुजफ्फरपुरसे पितृगृह पटना

आये। प्रतिवर्ष ही आते थे और छुट्टीके अन्तमें भ्रातृद्वितीयाके बाद लौट जाया करते थे। इस बार एकके बाद दूसरी दो दुर्घटनाएँ हो गयीं, इस कारण शोकसंतप्त पिता-माताको छोड़कर जानेकी इच्छा नहीं हुई और अधिक समय वहीं रह गयी। इसी समय हमें पूज्यपादके दर्शनका महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक दिन पिताजीने आकर कहा—"आज भारतधर्म महामण्डलसे आये हुए स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी वक्तृता सुनकर जो आनन्द मिला, वह वर्णन नहीं कर सकता; जैसी बोलनेकी शक्ति, वैसा ही प्रगाढ पाण्डित्य और अलौकिक दिव्य मूर्ति! तुम दर्शन करनेसे ही समझ सकती हो। वे कल यहाँ आवेंगे।"

दूसरे दिन मध्याह्न-भिक्षाका निमन्त्रण स्वीकार कर स्वामीजी हमारे घर पधारे। उस दिनकी पुण्य-स्मृति आजतक अबभी मेरी स्मृतिमें वैसी ही अम्लानभावसे अङ्कित है। उनकी आखें कितनी स्निग्ध, शान्त, ज्योतिर्निष्फुटित! देखते ही विवेक-चूड़ामणिका यह वर्णन स्मरण हो आया—

शान्तो महान्तो निवसन्ति सन्तः,
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवानाम्
अहेतुनान्यानपि तारयन्तः।

यही प्रथम परिचय हुआ। इसके बाद मेरे पिताजीके साथ उनका जो सम्बन्ध बँधा, उसकी तुलना जागतिक किसी सम्बन्धसे नहीं हो सकती। गत साढ़े तीन वर्ष पहले मैंने उनका दर्शन किया था। वैसा ही अटूट स्वास्थ्य, "निरिन्धन इवानलः"! प्रशान्त, सुन्दर, अलौकिक वैसी ही दिव्यमूर्ति देखी। अवस्थाके विचारसे उस दिव्य देहकी कोई भी तुलना मनमें नहीं आती। मानो काल उस तपःपूत पवित्र शरीरका स्पर्श करनेका साहस नहीं कर सका।

हमारे पिताजी जबभी छुट्टियोंमें काशी जाते, तब पूज्यपादके पास अवश्य जाते थे। श्रीजीने महाभारतके स्वप्न और आदर्शके अनुसार भारतको धर्म एवं कर्तव्यमें उन्नत करनेका दुष्कर व्रत लेकर सारे भारतमें परिभ्रमण किया एवं भारतधर्ममहामण्डल जैसी विराट् धार्मिक संस्था स्थापित करके भारतखण्डके प्रायः समस्त राजा-महाराजाओं (स्वाधीनों, तालुकेदारों, जमींदारों) को सनातनधर्मकी पताकाके नीचे एकत्र कर दुरूह कार्य सम्पन्न किया। अजस्र प्राचीन पुस्तकोंका संग्रह, अनेक लुप्त दार्शनिक ग्रन्थ,—जैसे तीनों मीमांसाओंआदिका उद्धार एवं सम्पादन, भारतके महामहोपाध्यायों केवल उपाधिसे नहीं और पण्डित मण्डलीका संगठन, अच्छे-अच्छे विद्वान, पण्डित एवं वाग्मी प्रचारक प्रस्तुत कर धर्मप्रचार, अनेक महायज्ञोंका अनुष्ठान, राजपूतानेके राजन्यवर्गके साथ दूसरे प्रान्तोंकी विद्वन्मण्डलीका परिचय एवं मैत्री-सम्बन्ध स्थापनका अवसर प्रदान, शास्त्रीय ग्रंथोंको सुलभ मूल्यमें छपाकर उनका सब जगह प्रचारआदि ऐसा कौनसा वृहत्तम कार्य उनकी कार्य-सूचीमें नहीं है या उनके द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ है ? कितने ही प्रान्तोंमें कितने कितने ही वेदविद्यालय, धर्मायतन, हिन्दी-राष्ट्रभाषा-प्रचारिणी-संस्थायें, ब्रह्मचर्याश्रम आपके प्रयत्न एवं परिश्रमके फल हैं। बड़े-बड़े राजाओं, राजमहिषियों, राजमाताओंकी गुरुदक्षिणाके रूपमें लाखों रुपयेकी भेंट उन्होंने सब संस्थाओंको दान कर दी और उनके ट्रष्ट बना दिये।

मेरे पिता अपने पदसे पेन्शन लेनेके बाद काशीवास करते समय सर्वदा श्रीभारतधर्ममहामण्डलमें पूज्यपादके दर्शनार्थ जाया करते थे। श्रीजी सभी विषयोंमें पिताजीसे परामर्श करते। यहाँतक कि, मृत्युके पहले दिन रात ग्यारह बजेतक मेरे पिताजी पूज्य-

पादके पास थे, एवं दोनोंने संगठन-मूलक महत्त्वपूर्ण अनेक विषयों-पर विचारविमर्श किया था। उनमें एक स्त्री-शिक्षासम्बन्धी धार्मिक संस्था स्थापन करनेके विषयमें था, जिसके परिणामस्वरूप आज महर्षि-पालिता ऋषि-कन्याप्रतिमा विद्यादेवीके परिश्रमसे आर्य-महिला महाविद्यालयकी प्रतिष्ठा हुई है।

विरोधसे ही महात्माओंकी महिमाका प्रकाश होता है। इसी कारण इतने बड़े देशभक्त, इतने बड़े आदर्श प्रतिष्ठापक, ऐसे महापुरुषकोभी लोगोंने कम नहीं सताया। एक समयके सह-कारियोंने पद-प्रतिष्ठा पानेके लोभसे इतने बड़े महात्माको इतना कष्ट दिया कि, उन बातोंका अब स्मरण आनेसे बड़ा आश्चर्य होता है। किन्तु अन्तमें धर्मकी विजय हुई, यद्यपि इससे बहुत धननाश एवं अमूल्य ग्रंथोंका नाश हुआ। पूज्यपादके प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्दजीके असामयिक मृत्युसे भी महान् क्षति हुई। ऐसे सुयोग्य सुलेखक और सुवक्ता स्वामी दयानन्दपर सभीका भरोसा था।

पुण्यचरित्रा तपस्विनी विद्यादेवी, जिनको मैं महर्षि-दुहिता गार्गी, मैत्रेयी आदिकी श्रेणीमें भुक्त समझती हूँ, भगवान् उनको दीर्घजीवी करके अपने निर्दिष्ट मार्गमें चलानेमें सहायक हों। गुरुके कार्यका कठिन बोझ वहन करनेमें उन्हींका आशीर्वाद सहा-यक होगा, यही मेरा आन्तरिक विश्वास है।

उनकी बात क्या लिखूँ ?

"ज्ञानं यथा मम भवेत् कृपया गुरूणाम्"
"सेवा तथा न विधिना करवं हि तेषाम्"

यह भी मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है। हमको कितना मिलता है, इसका कौन सिहाब रखते हैं? अहेतुक "दयासिन्धु बन्धु

आनमतां सताम्'' यही ऐसे महापुरुषोंका धर्म होता है, वे लेने नहीं आते, केवल देने आते हैं। मुक्तहस्तसे बाँटते हैं, विखेरते हैं, जिसका या जिनका भाग्य होता है, जो लेना जानते हैं, लेते हैं, अन्यथा अभाग्यसे अथवा अपने कर्मोंके दोषसे वंचित रह जाते हैं। मेघ बिना विचारे ही जल बर्षाता है, जलसंग्रह करना अपनी शक्तिपर अपेक्षित होती है। मुझे आपकी कृपा कितने बार कितने प्रकारसे प्राप्त हुई, सो आज कैसे बताऊँ? पिताजीके साथ आपके पास बहुत बार गयी और जबजब गयी, तबतब कुछ-न-कुछ शिक्षा ली। चाहे बर्तावसे हो, चाहे बचनसे, चाहे कार्यसे हो। उन महान् कर्मयोगीका सान्निध्य महान् मूर्खको भी कुछ ज्ञान देनेमें समर्थ था।

जिस शक्तिसे "मूकं करोति वाचालं", उस ऐसी शक्तिके आप पूर्ण अधिकारी थे।

मुझपर उनका अपूर्व स्नेह था। एक बार मेरे भाई सोमदेवके वियोगके समय मैं बहुत बिमार हो गयी। मस्तिष्क-विकारसे शय्यागत हो गयी थी, उस समय मेरे पितृदेव पटनामें कलेक्टर थे। पूज्यपाद स्वयं सब व्यवस्था करके रिजर्व ट्रेनसे स्ट्रेचरमें मुझको लेटाकर पटना पहुँचाने गये थे। उनके अधीनस्थ अनेक कर्मचारी रहनेपरभी स्वयं मेरी माता एवं पितृदेवके पास मुझे पटना पहुँचा कर ही उन्हें निश्चिन्तता हुई, उनका कितना अतुलनीय स्नेह एवं प्रेम उस समयसे अन्ततक हम लोगोंको मिलता रहा, इसे समझानेका प्रयत्न करना भी वातुलता है। विद्यादेवी मुझे "दीदी" शब्दसे सम्बोधन करनेपरभी अपनी माँ जैसी श्रद्धा करती हैं। उनके सम्बन्धसे अब सदैव सम्बद्ध रहकर श्रीमहामण्डलमें कितने ही आरामसे मैंने निवास किया था। इतना आदर, इतना प्रेम प्रवासी कन्याको अपने पिताके घरमें केवल

दस दिन रहनेपरभी नहीं मिलता। सुसज्जित अतिथि-भवनका कमरा हमारे लिये सदा तैयार रहा करता और श्रीजी प्रति बार कहते थे,—"अन्य किसीके यहाँ नहीं ठहरना, यह तुम्हारा अपना ही घर है, जब इच्छा हो, निःसंकोच आना और जितने दिन इच्छा हो ठहरना।"

चार वर्ष पहले काशी धाम जाकर प्रायः एक मास ठहरी थी। मेरा स्वास्थ्य भग्न देखकर पूज्यपाद बड़े चिन्तित हुए और कहा,— यह क्या, तुम्हारा स्वास्थ्य इतना खराब हो गया है, यह मैंने अनुमान भी नहीं किया था। तुम अब कुछ दिन यहीं रहो, अच्छी होनेपर जाना। तत्काल औषधिकी व्यवस्था हो गयी। विद्या-देवीका मेरे प्रति आदर, यत्न, देख-भालकी तो सीमा नहीं। इसपर पूज्यपादने आज्ञा दी कि,—कृष्णा गौका सब दूध केवल मुझको ही दिया जाय। इसपर मेरे आपत्ति करनेपर कहा,—"नहीं-नहीं तुम्हारा स्वास्थ्य सुधरना बहुत आवश्यक है।" मेरी इतनी आवश्यकता वे समझते थे। वे अवश्य ही जानते थे, कि मेरे लिये कितना दुर्भाग्य सञ्चित हैं, तथापि आपके विचारमें मेरे जीवनका मूल्य कम नहीं हुआ।

कुछ दिन बाद पारिवारिक परिस्थितिके कारण कलकत्ता लौटनेकी आवश्यकता हुई। लौटनेकी बात कहते ही पूज्यपादने कहा कि,—"तुम लौटकर उनका क्या उपकार करोगी? इधर तुम्हारा स्वास्थ्य सुधरने लगा है, कुछ दिन और ठहरनेसे स्वस्थ हो जाती।"

उसके बाद पुनः मेरे भाग्यसे उन परम स्नेहमयके पवित्र पाद-पद्मोंका दर्शन सम्भव नहीं हुआ। अकस्मात् वज्रघातने मेरे पारिवारिक जीवनको स्मशान बना दिया है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र

(अम्बुजानाथ बन्द्योपाध्याय डबल एम० ए०, पी०एच०डी०, बी० एल० एडवोकेट हाईकोर्ट) थोड़े ही दिनकी बिमारीमें हम लोगों को छोड़कर स्वर्गवासी हुआ। उस समय कितने ही गम्भीर स्नेह एवं सहानुभूतिके साथ बार-बार हमको अपने पास बुलानेके लिये पत्र भेजवाये, कितनाही उपदेश, कितने ही आशीर्वादसे उन्होंने हमारे शोकाहत मन-प्राणमें बलका सञ्चार किया था। वह सब सोचकर आज मन अधीर हो उठता है। एकान्त प्रार्थित देवाशीष मैं अपने शिरपर धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकी। वृद्ध, शोकार्त, रुग्ण पतिदेव और अम्बुजके स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर दूर जाना उस समय सम्भव नहीं हुआ। इस कारण इस जीवनमें पुनः दर्शनका सौभाग्य नहीं मिला। तथापि एक आशा थी, बल था कि, किसी भी समय जाकर आपके स्नेहमय चरणोंमें आश्रय ले, असीम संताप एवं दाहको सीतल करूँगी। सभी लोगोंसे मैं कहती कि, मैं आज भी राजकन्या हूँ, राजकुमारी जैसा आदरके साथ मेरे लिये श्रीमहामंडलमें स्थान सुरक्षित है।

यह पुनः द्वितीय बार पितृवियोगका शोक और क्षति दोनों ही साथ-साथ अनुभव कर रही हूँ। भाग्यलिपि इसी प्रकार मनुष्य को वंचित करती है। संसारके शोक, रोग, भोगसे आतुर मर्त्य मनुष्य महर्षिके पुण्याश्रयमें स्वर्ग-सुखका अधिकारी कैसे हो सकता है? इन साढ़े तीन वर्षके दीर्घकालमें बार-बार शोकके आघातसे जर्जरित-जीवनका बोझ बहन करके उनके गम्भीर स्नेहमें अपनेको डुबाकर इस जीवनके ताप-दाहको शीतल करने-में समर्थ नहीं हो सकी। पूज्यपादके निजी सेक्रेटरीद्वारा लिखित अन्तिम पत्रकी बातें अनुतप्त चित्तको और भी दुःखित कर रही हैं—"पूज्यपाद महाराजने बहुत दिनोंसे आपका श्रीमुख नहीं देखा है, उनकी इच्छा है कि, आप यहाँ आ जायँ।"

पतिदेवकी आँखोंका आपरेशन, कनिष्ठ पुत्रके बच्चेकी कठिन बीमारीआदिके कारण मैं लोहेकी सीकलसे जकड़ी हुई थी, घरसे निकलना असम्भव था। दुर्भाग्यपूर्ण जीवनमें ऐसा ही होता है। उन महर्षिका अपूर्व स्नेह मैं नहीं ले सकी। अब सान्त्वना इतनी ही है कि, हमारी श्रद्धा-भक्ति कितनी प्रगाढ़ थी, सो वे अच्छी तरह जानते और अब भी उनके अदृश्य हस्तका परिचालन हमारे जीवनमें शेष नहीं हुआ है।

श्रद्धाञ्जलि

द्वारिका प्रसाद त्रिपाठी

मंत्री—**श्रीशंकराचार्य ज्योतिर्मठ**

प्रिय महोदय! व्यथित हृदय से लिख रहा हूँ कि, आज प्रातःकाल पूज्य स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके ब्रह्मलीन होनेका समाचार पढ़कर यहाँका वातावरण क्षुब्ध और शोकाकुल हो उठा।

श्रीमहाराजकी धर्मसेवाओंके लिये हिन्दूसमाज उनके प्रति सदा ऋणी रहेगा। उनकी छत्रछायामें लिखे गये अपूर्व धर्म-ग्रन्थ चिरकालतक समाजको धर्म-पथ प्रदर्शित करते रहेंगे और उनकी उज्वल कीर्ति बनाये रखेंगे। उनकी कार्यप्रणालीमें शास्त्र-मर्यादा पालनकी महत्ता थी और उनकी विचारधारामें निर्भ्रान्त वेदवादिता और सिद्धान्तकी सुस्पष्टता थी। हम तो उन्हें बौद्धिक प्रतिभाकी मूर्ति मानते रहे हैं। वे सदाके लिये हमसे विलग हो गये हैं, शोकातुर होकर आज हमारी लेखनी शक्तिहीन हो गयी है।

उनके चिरशान्तिमें लीन होनेका समाचार सुनकर श्रीभगवान् शंकराचार्य प्रभुके यही शब्द निकले कि, "अब महामण्डलको कौन संभालेगा? उनका अनुभव अच्छा था, वृद्धावस्थामें भी जितना

कर सकते थे, करते रहते थे।" यह कहकर श्रीभगवान मौन रह गये; मुखमुद्रासे शोकावृत्त चिन्ताभाव प्रदर्शित हुआ; श्रीचरणने समीपस्थ सेवकोंको हटा दिया और कुछ समय एकान्तमें रहे।

बादमें श्रीभगवानने भारतधर्ममहामंडल, आर्यमहिलाविद्यालय-आदि सभी संस्थाओंको समवेदनापत्र प्रेषित करनेका आदेश दिया और इन समस्त संस्थाओंके कार्यकर्तृगणोंको इस महान दुःखके समयमें धैर्यपूर्वक प्रतिष्ठाके इच्छानुकूल ही व्यवस्था बनाये रखनेका पवित्रादेश दिया। इस पत्रकेद्वारा भगवानके उक्तादेशको सूचित कर रहा हूँ। समस्त सम्बद्धजनोंको आप अवगत करा देंगे।

बहुत कुछ आपको लिखना था, किन्तु इस समय हृदयमें शोक है; अतएव कुछ समय बाद स्वस्थचित्तसे लिखूँगा।

सहायक मंत्री ऋषिकुल हरिद्वार

आज १, २, ५१ को आश्रमवासी अध्यापकों, कर्मचारियों और ब्रह्मचारियोंकी भारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं सनातनधर्मके संरक्षक और ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमके शुभचिन्तक श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके आकस्मिक कैलाशवासपर शोक सभा हुई, जिसमें निम्नलिखित शोकप्रस्ताव पास हुए और इसी कारण आज विद्यालय बन्द रहा।

१—आश्रमस्थ अध्यापकों, कर्मचारियों एवं ब्रह्मचारियोंकी यह सभा श्रीस्वामीजी महाराजके आकस्मिक कैलाशवासपर हार्दिक दुःख प्रकट करती है और उनकी अन्तरात्माकी कैवल्य-प्राप्तिके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करती है।

२—श्रीस्वामीजी महाराजके दीर्घवियोगसे संतप्त महामण्डल-के कर्मचारियोंके साथ समवेदना प्रकट करती है तथा उनके धैर्यके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करती है।

ब्रह्मावर्त सनातनधर्म महामण्डल कानपुर

श्रीब्रह्मावर्तसनातनधर्ममहामण्डल कानपुर, अखिल भारतीय भारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक परमाराध्य परमपूज्य योगिराज श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होनेके कारण यह अनुभव करता है, कि देशके धार्मिक जगत्‌की महान क्षति हुई, उनसा प्रतिभापूर्ण योगीका निकट भविष्यमें होना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

द्वारका प्रसाद प्रधान मंत्री

श्रीइन्द्रप्रस्थ सनातनधर्ममहामंडल, दिल्ली प्रान्त

यह समाचार कि श्री १००८ श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज-का स्वर्गवास हो गया, सनातनधर्मजगत्‌में वास्तवमें बहुत दुःखके साथ सुना गया। आज भारतका प्रत्येक सनातनधर्मी श्रीस्वामीजी महाराजके असामयिक देहावसानपर दुःखका अनुभव कर रहा है। श्रीस्वामीजीने अपनी अमूल्य सेवाओंद्वारा सनातनधर्म-जगत्‌में जो स्थान बनाया था, उसकी पूर्ति करना आज असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है।

भवन्निष्ठ

श्री मीनामल सोमानी धर्मालंकार

प्रधान

महाराज श्रीके दिव्य जीवनकी एक झाँकी

श्रीमती सुन्दरीदेवी प्रिन्सपल आर्यमहिला महाविद्यालय

यह ठीक ही कहा है कि—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोनु विज्ञातुमर्हति ॥

वस्तुतः लोकोत्तर महापुरुषोंकी महानता एवं समुद्र जैसी गम्भीरताकी थाह पाना, उसे समझना साधारण मनुष्य-बुद्धिका कार्य नहीं; क्योंकि ऐसे महान् पुरुषोंकी महत्ता एवं गम्भीरता समझनेके लिये समझनेवालेकी बुद्धि भी उतनी ही सूक्ष्म और हृदय विशाल होना चाहिये । अतः मुझमें इन दिव्य लोकोत्तर महात्माको पहचाननेकी कुछ भी क्षमता नहीं थी, तब भी उनकी प्रतिदिनकी साधारण चेष्टाएँ जो देखनेको मिलती थीं, उन्हींको देख मैं स्तम्भित रह जाती और स्वतः मेरे मनमें यह प्रश्न उठता कि, क्या मनुष्यके लिये यह सम्भव है ? इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं ।

पूज्यपादके दर्शनार्थ सभी प्रकारके मनुष्य आया करते थे । आशुतोष शङ्करका दरबार था, किसीके आनेपर रोक नहीं थी । अतः सज्जन-दुर्जन सभी श्रेणीके लोग आते थे, सभीके साथ वे समानरूपसे प्रेम-स्नेहपूर्ण व्यवहार करते । उनमें ऐसे लोग भी आते जिन्होंने पूज्यपादद्वारा संस्थापित एवं सञ्चालित संस्थाओंको अपूरणीय क्षति पहुँचायी थी, यथेष्ट विरोध किया था; दूसरा कोई उनकी सूरत देखना भी पसन्द नहीं करता, किन्तु पूज्यपाद श्रीजी

उनके साथ भी उसी स्नेह एवं प्रेमका बर्ताव करते जैसा कोई परम स्नेहवान् पिता अपने पुत्रके साथ करता है। मैं कभी कभी निवेदन करती कि, यह व्यक्ति ऐसा है, तो आज्ञा देते कि "क्षमा करना सीखो; क्षमा बहुत बड़ी वस्तु है, उसकी प्रकृति ही ऐसी है।" और यह श्लोक सुना देते—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमाऽऽर्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥

कोई विशेष वस्तु उनके भिक्षाके लिये आती तो आदेश होता कि, सबको मिला कि नहीं और सबको प्रसाद दिलानेके अनन्तर ही वे भिक्षा करते थे। पूज्यपाद सर्वोच्च पहुँचे हुए परमहंस महात्मा थे, उनको अपने शरीरका भान नहीं रहता था। उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं था, तब भी श्रीमहामण्डल-भवनमें रहनेवाले सभी आश्रितोंपर उनकी समानरूपसे स्नेह-दृष्टि रहा करती थी। श्रीमहामंडल-भवनमें अतिथि भी आया करते हैं, जिनमें सभी श्रेणीके लोग आते हैं। चाहे कोई विशिष्ट व्यक्ति हो, या भले ही नगण्य ही क्यों न हो, उसको यथासम्भव आराम पहुँचानेकी सुव्यवस्थाके लिये पूज्यपाद मानो अधीर हो उठते थे, जितने लोग उनकी सेवामें होते, सबको और प्रत्येकको उसकी देख-भाल एवं आवश्यकतापूर्तिके लिये आज्ञा देते थे और प्रत्येकसे उसकी सुख-सुविधाके विषयमें पूछते एवं व्यवस्था कराते थे। आतिथ्यके सम्बन्धमें उनका इतना ध्यान रहता था। यहाँतक कि जीवनके अन्तिम दिन, जिस दिन वे मृत्यु शय्यापर थे, उन्हींको देखनेके लिये इन्दौरसे डा० एस० के० मुकर्जी आये थे। श्रीमहामंडलके निवासी सभी श्रीजीकी रुग्णावस्थासे इतने चिन्तित एवं व्यग्र थे कि, किसीको भोजन-शयनकी सुधि नहीं थी, न अवकाश था, सन्ध्या आठ बजेका समय था। श्रीजीने अपने पास बैठे हुए एक

भक्तसे पूछा कि डा० मुकर्जीने भोजन किया ? उत्तर मिला कि, नौकर गया है, वह उनको भोजन करा देगा। इतना सुनते ही पूज्यपाद बहुत ही असन्तुष्ट हो गये और कहा, "वह तुम्हारे यहाँ आया है, तुमने उसको नौकरको सौंप दिया, बड़ी लज्जाकी बात है। अभी तुम स्वयं जाओ और उसे अच्छी तरह भोजन कराओ।" जब उक्त सज्जन उठकर गये और डाक्टर महोदयको स्वयं खड़े रहकर भोजन कराया एवं आकर निवेदन किया कि, वे अच्छी तरह भोजन कर चुके, मैं वहाँ था, तब पूज्यपादको शान्ति हुई। साधारण मरणासन्न मनुष्य जो मृत्युशय्यापर पड़ा हो, उसके लिये क्या यह कभी सम्भव हो सकता है ?

ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्तिके पहले पूज्यपाद केवल छः दिन अस्वस्थ थे। इनमें अन्तिम तीन दिन उनके श्रीविग्रहमें असहनीय वेदना थी। तब भी वे प्रशान्तभावसे लेटे रहते थे। उनकी चेष्टामें कोई अशान्ति, उद्वेग या चञ्चलता व्यक्त नहीं होती थी। वे थोड़ी देरके अन्तरसे थोड़ा-थोड़ा गङ्गाजल पीते थे; उसके लिये भी उन्होंने आज्ञा दी कि "नमश्चण्डिकायै" इस मन्त्रके उच्चारणपूर्वक तीन-तीन बार गङ्गाजल दो।

ता० २७ जनवरीको प्रातःकाल डाक्टर आये, आपरेशनकी व्यवस्था उसी कमरेमें जहाँ वे विराजमान थे, की गयी। आपरेशनके पहले पूज्यपादका रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) देखा गया तो १५० था, जितना पचास वर्षके स्वस्थ मनुष्यका होना चाहिये था। यह देखकर डाक्टर लोग आश्चर्य-चकित हो गये। पूज्यपादको आपरेशन टेबुलपर लेटा दिया गया। इस कार्यमें पूरे डेढ़ घण्टे लगे, उनको क्लोरोफार्म देकर अचेत भी नहीं किया गया था, परन्तु पूज्यपाद शान्तभावसे लेटे रहे; बीच-बीचमें डाक्टर मुकर्जीसे पूछते जाते थे कि "अभी कितनी देर है।" उन्होंने चरण या हाथ भी

नहीं हिलाया। इस धीरता एवं वीरतासे उन्होंने आपरेशन करवाया। आपरेशनके बाद एक भक्तने पूछा कि, पूज्यपादको इससे बहुत कष्ट हुआ होगा। पूज्यपादने उत्तर दिया कि—नहीं, कोई कष्ट तो नहीं हुआ। फिर उस भक्तने पूछा, 'महाराज बराबर समाधिस्थ थे। इसपर पूज्यपाद मुस्कराकर चुप रह गये। आपरेशनके पश्चात् पुनः रक्तचाप देखा गया तो १४५ था। केवल पाँच डिग्री ही कम था। यह देख सभी उपस्थित डाक्टर अवाक्से रह गये। डाक्टर मुकर्जी जो मध्यभारतके प्रसिद्ध अद्वितीय डाक्टर हैं, बोल उठे कि, मैंने अपने जीवनमें ऐसा किसीको नहीं देखा। पूज्यपादकी अवस्थाको देखते हुए मेरा अनुमान था कि, रक्तचाप बहुत नीचे गिर जायगा, परन्तु यह कितनी आश्चर्यकी बात है कि केवल पाँच डिग्री ही कम हुआ है इत्यादि।

इसके बाद ही डाक्टर मुकर्जीको इन्दौर लौट जाना आवश्यक था। वे आज्ञा लेने और प्रणाम करने पूज्यपादके निकट गये तो उनको पूज्यपादने—

> या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
> नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यह स्तुति सुनायी और कहा कि, श्रीजगदम्बाको स्मरण करते हुए जाना, सब मंगल होगा। इस प्रकार उनको आशीर्वाद दिया और अपना वरदहस्त उनके सिरपर रखा। उस अवस्थामें यह सब एकमात्र उन्हींके लिये सम्भव था।

सन्ध्या पाँच बजे जब उनकी नाड़ी देखी गयी, तो विदित हुआ कि नाड़ी बन्द है। तबसे ब्रह्मनिर्वाणके समयतक नाड़ीकी वही दशा रही। यथा-सम्भव उपचार होते रहे। डाक्टर भी बुलाये गये, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। तबभी वे बराबर पूर्ववत् बातें करते

रहे। प्राय: रात्रिमे आठ बजे डाक्टरोंकी सम्मतिसे आक्सिजन गैस मँगाया गया। वह ज्योंही उनके नाकके पास लाया गया, पूज्यपादने उसे अपने हाथसे उठा फेंका और कहा "घबड़ाओ मत, धैर्यसे काम लो।" उपस्थित डाक्टर यह सब देखकर आश्चर्य-चकित हो गये और कहने लगे कि, हमने अपने जीवनमें ऐसा व्यक्ति नहीं देखा, जिसकी घण्टोंसे नाड़ीकी गति बन्द हो और इसप्रकार ठीक-ठीक सब बातें करता हो। इसी प्रकार वे बड़ी शान्तिसे लेटे थे। ऐसा लगता था कि, वे समाधिस्थ थे। इसी तरह ब्राह्ममुहूर्तमें पाँच बजकर दस मिनटपर उन लोकोत्तर महापुरुषने अपने महान् आत्माको सदाके लिये परमात्मामें मिलाकर भौतिक शरीरका परित्याग कर दिया और विदेहमुक्तिरूपी ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लिया। उसके बाद भी उन दिव्य महापुरुषका मुखमण्डल अपूर्व आभा एवं तेजसे देदीप्यमान हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि, वे प्रगाढ़ निद्रामें सो रहे हैं। इसीप्रकार अन्ततककी उनकी सामान्य चेष्टाएँ भी असाधारण और अमानुषिक हुआ करती थीं। उनको देख मैं यही विचार करती कि क्या मनुष्यके लिये यह सम्भव है?

लाइब्रेरीके जिस कमरेमें पूज्यपाद विराजते थे, श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी मन्त्रिसभाने उसे तीर्थकी तरह सुरक्षित रखनेका निश्चय किया है एवं पूज्यपादके व्यवहारकी वस्तुओंको भी यथा-पूर्व सुरक्षित रखनेका भी निश्चय किया है। तदनुसार उस कमरेमें पूज्यपाद जिस आराम-कुर्सीपर विराजमान रहते थे, उसपर उनका एक तैलचित्र रखा गया है। वहाँ दोनों समय पूजा-आरतीआदि होती है। अब जो भी दर्शनार्थ वहाँ जाते हैं, उनको ऐसा अनुभव होता है कि, पूज्यपाद वहाँ विराजमान हैं। वह स्थान रिक्त-सा नहीं अनुभव होता है। यह भी एक अद्भुत चमत्कार है।

हमारी पूज्यपादके राजीवचरणोंमें करबद्ध यही प्रार्थना है कि, हम उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गोंपर चल सकें, ऐसी बुद्धि तथा शक्ति प्रदान करनेकी कृपा करें।

सनातनधर्मका सूर्य अस्त हो गया

श्री रामशरणदासजी पिलखुवा

हमने जिस समय देहलीके कांग्रेसी समाचार-पत्र 'हिन्दुस्तान'में यह दुःखद समाचार पढ़ा कि भारतके स्वनामधन्य परमपूज्यपाद प्रातःस्मरणीय जगद्वन्द्य श्री १००८ श्रीज्ञानानन्दजी महाराज भारत-धर्म-महामण्डलका कैलाशवास हो गया तो उस समय हमें जो घोर दुःख हुआ वह कहा या लिखा नहीं जा सकता। आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी, छाती फटने लगी, शरीरमें काटो तो खून नहीं। चारों ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होने लगा। बरवस मुखसे शब्द निकल पड़ा 'हाय! आज हमारे सनातन-वर्णाश्रमधर्मका सूर्य अस्त हो गया! हाय! आज सनातनधर्म, और हिन्दूधर्मकी डूबती नैयाको कौन पार लगायेगा? जब सनातनधर्मकी नैया डग-मगा रही थी और सनातनधर्मकी पताका झुकने जा रही थी, उस समय भगवान्ने ३० करोड़ हिन्दुओंमें एक ऐसा महापुरुष योगिवर्य परमतपस्वी स्वामी ज्ञानानंदजी महाराज जैसे उच्चकोटिका संत भेजा कि, जिन्होंने अपनी घोर तपस्याके बलपर अपना एक अद्भुत तेजस्वी महान् संन्त श्रीस्वामी श्रीदयानंद श्रीमहाराज बी० ए० शिष्यको उत्पन्न किया और सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये आगे किया। आपके इस अद्भुत शिष्य-सन्तको पाकर सनातनधर्मी जगत् निर्भय हो गया और चारों ओर प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी।

आपके प्रतापसे लाखों नास्तिक आस्तिक हो गये और सनातनधर्मकी नैया पार लग गयी और सनातनधर्मकी पताका शानसे फहराने लगी। क्या सनातन-धर्मी जगत् पूज्य स्वामीजी महाराजके इस कार्यको कभी भूल सकता है ?

महर्षिके दर्शन करनेका सौभाग्य।

एक बार काशीमें जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय हमने श्रीभारतधर्म-महामण्डलमें जाकर प्रातःस्मरणीय १००८ श्रीस्वामी श्रीज्ञानानन्दजी महाराजका दर्शन किया था। ऊपर कमरेमें जब जाकर आपके दर्शन किये तो हमें आप साक्षात् शंकर जैसे प्रतीत हुये। लम्बी घुटनोंतक लटकी जटायें परम तपस्वी महापुरुषका दर्शन कर हृदय गद्गद् हो गया और हमने अपनेको महाराजश्रीका दर्शन कर चरण छू आशीर्वाद प्राप्त कर कृत्यकृत्य माना। उस समयके आनन्दको लिखना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है। इस घोर कलिकालमें ऐसे महान् तपस्वीका दर्शन कर प्रसन्नता न होगी तो कब होगी ? आपके कितने ही बड़े-बड़े योग्य शिष्य थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके दर्शनार्थ आया जाया करते थे। आपके उठ जानेसे हिन्दूधर्मके सनातनी जगत्की जो महान् क्षति हुई है, उसकी पूर्ति बड़ी कठिन है। आज सनातन-धर्मकासूर्य अस्त हो गया है और सनातनी जनताके लिये अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत हो रहा है। अब तो भगवान्ही रक्षक हैं। हम प्रातःस्मरणीय महाराज श्रीके चरणोंमें श्रद्धांजलि भेंट करते हैं और भगवान् श्रीविश्वनाथसे प्रार्थना करते हैं कि, प्रभो ! जिस सनातनधर्मकी रक्षाके लिये आप बौद्धोंसे टक्कर लेनेके लिये शङ्कराचार्यके रूपमें आये थे अब हमें फिरसे बचानेके लिये, उसी रूपमें एक बार और पधारो यही प्रार्थना है।

हा ! तपोनिधि श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज !

हिन्दूसमाजके अनन्य हितैषी, श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक योगिराज श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज अब इस संसारमें नहीं रहे ! जो हमारा सब कुछ था, खोगया !! हम हृदय थामकर रह गये !!!

आह ! विशालकाय, शुभ्र गौरवर्णवाला हमारा वह देवता-स्वरूप जटाजूटधारी तपस्वी जिनकी अनुपम और अद्वितीय छवि-शोभा 'श्रीकाशी-विश्वनाथजीकी-सी आनन्ददायिनी थी, आज हमें देखनेको कहाँ मिलेगा ? जिसका समग्र जीवन ही उस परमधर्मके उत्थान और अभ्युत्थानमें बीता, जिसकी ग्लानि कभी श्रीभगवान्‌को भी सहन नहीं होती, एक मन्द मधुर मुस्कानके साथ जिसकी पीयूषवर्षिणी वाणी संसारके अनेकानेके ताप-शाप और अभिशापोंको क्षणमात्रमें निवारण करती, उसको खोकर आज हृदयमें जैसी मर्मभेदिनी पीड़ा उत्पन्न हो रही है, उसको यह निर्जीव जड़ लेखनी क्या कभी किसी प्रकार व्यक्त कर सकती है ? उस पीड़ाको और उस व्यथाको तो एकमात्र हृदय ही जानता है, पर उसमें भी अब उसे व्यक्त करनेकी इस समय शक्ति और सामर्थ्य नहीं। वह तो सर्वथा अधीर हो रहा है—आह ! लगातार बारह वर्षोंतक अविराम सेवामें रहकर जिसकी अकृत्रिम स्नेह-सुधाधारामें परिप्लावित होकर शरीर, मन, बचन और प्राण सभी पवित्र हुए, उसके महा-वियोगमें हृदय किस भाँति धैर्य धारण करे, क्या कोई हमें बता सकता है ?

आह ! याद आती है आज हमें प्रकाण्ड विद्वत्ता धारण किये हुए श्रीगुरुदेवकी उस दिव्य मूर्त्तिका, उनके उस बालकोंके-से ऋजु स्वभावका, उनकी उस स्नेह-दयापरिपूरित कोमल वाणीका,

निष्कलुषित और अकलंकित हृदयके निर्मल पवित्र प्यारका, बेजोड़ हृदयकी उस विशालताका—जिसमें काम नहीं, क्रोध नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, मात्सर्य नहीं—ईर्ष्या-द्वेषविहीन, शत्रु और मित्रपर एक समान प्रीति, निःसीम और अगाध उमड़ते हुए उस सागरकी-सी सुन्दर शोभा, जिसमें तनिक भी उबाल नहीं, उफान नहीं, ज्वार नहीं, भाटा नहीं—प्रशांत महासागर-सा अटल और अविचल, हिमालय-सा अडिग, धीर, वीर और गम्भीर तथा देश एवं जाति-हितकी चिन्तनामें अहर्निश निमग्न—सबका प्यारा और सबका सम्मानदाता कौन है, ऐसा अब, जिसके पावन पवित्र स्वरूपमें इन निधियोंका परिदर्शन कर हम अपने मन-मानसको शीतल और परितृप्त कर सकें, उसे जुड़ा सकें ! आह ! गुरुदेवकी वे अनन्त गुणावलियाँ आज एक-एक करके अनेकधारूपमें, चल-चित्रकी भाँति हृदय-पटलपर उभड़-उभड़कर अङ्कित-चिह्नित और भासित प्रतिभासित हो रही हैं। आँखोंके सामने उनका एक ताँता-सा बँध रहा है। भग्नहृदय कलपता हुआ तड़प उठता है उन स्मृतियोंको लेकर—हाँ, आनन्ददायिनी थीं कभी इन सब गुणावलियोंकी मधुर स्मृतियाँ ! पर आज ? आज तो उनके इस महावियोगके समय वे हृदयमें शूल गड़नेकी-सी पीड़ा उत्पन्न करनेवाली बन गयी हैं। स्मृतिमात्रसे ही हृदय आकुल-व्याकुल हो उठता है। हृदयकी उस पीड़ाको, मनकी उस आन्तरिक व्यथाको किसे सुनाऊँ ? उसे सुननेवाला और उसे शीतल करनेवाला अब रहा ही कौन ?

शोक-विह्वल :—
आत्माप्रसादसिंह
भूतपूर्व सम्पादक 'आर्यमहिला'

—

काशीवासियोंकी ओरसे श्रद्धांजलि

हिन्दूधर्म, हिन्दूदेश और हिन्दूसमाजकी जो सेवा पूज्यस्वामीजीके द्वारा हुयी थी, वह भुलाई नहीं जा सकती। गत २८ जनवरीके प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्तमें पूज्यपाद श्रीस्वामीजीके ब्रह्मनिर्वाणका-समाचार अवगत होनेपर श्रीआर्यमहिला-महाविद्यालयमें उनको श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनेके लिये काशीके नागरिकोंकी एक महती सभा सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीकी अध्यक्षतामें हुई, जिसमें काशीके विद्वान् और प्रतिष्ठित सज्जन एवं महिलाओंने सम्मिलित होकर पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराजके प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित किया। श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनेके अवसरपर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

"हम समस्त काशीवासी, अखिल भारतीय विराटधर्ममहासभा श्रीभारतधर्म-महामण्डलके पूज्य प्रतिष्ठापक श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी महानिर्वाण-प्राप्तिसे अत्यन्त दुःखी हैं। आपने सनातन-धर्म, हिन्दूसंस्कृति एवं मानवताकी जो सेवा की है, उससे आपका नाम इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित रहेगा। जब ब्रिटिश शासनसे भारतवर्ष पदाहत तथा पद-दलित होकर आत्मविस्मृत हो गया था, तब आपने महामण्डलद्वारा सुप्त भारतको जगाकर अध्यात्म लक्ष्य एवं धर्मकी ओर प्रेरित किया। आपहीसे प्रेरणा प्राप्तकर आपके शिष्य ब्रह्मीभूत स्वामी दयानन्दजी प्रभृति महा-तपस्वी अनेक शिष्योंने सनातनधर्मकी मन्दाकिनी बहा दी; जिसके फलस्वरूप सनातनधर्मकालेजों एवं महामण्डलकी शाखा सभाओं द्वारा तरुण भारत जाग उठा। सनातनधर्मपोषक अनेक साहित्योंकी विविध-भाषाओंमें रचना एवं प्रकाशन कर आपने मेघाच्छन्न हिन्दू-धर्मसूर्यको मुक्तकर उसके आलोकसे भारत एवं संसारका पथ-प्रदर्शन

तथा दैवीजगत्‌का रहस्योद्‌घाटन किया। संक्षेपतः आप स्वतन्त्र भारतके आत्माको प्रेरणा देनेवालोंमें अग्रणी थे। ऐसे लोकोत्तर महापुरुषके प्रति हम सादर सभक्ति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। आपके अनन्त उपकारोंके लिये देश आपका सदा ऋणी रहेगा। श्रीभगवान् विश्वनाथके चरणोंमें हमारी सांजलि प्रार्थना है कि, वे इस दिव्यविभूतिद्वारा ऐसी प्रेरणा दिलाया करें, जिससे जगत्‌में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की स्थापना हो।

हमलोग आज यह भी दृढ़ निश्चय करते हैं, कि उनकी पवित्र स्मृतिमें ऐसा स्मारक बनाया जाय जिससे उनके जीवन तथा कार्योंसे वर्तमान एवं भावी सन्ततिका पथ-प्रदर्शन होता रहे।"

——

श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी मन्त्रीसभाद्वारा श्रद्धाञ्जलि

"श्रीमहामण्डलकी प्रबन्धकारिणी समितिके हम सदस्य योगिराज प्रातःस्मरणीयचरण जीवन्मुक्त ज्ञानतपोवयोवृद्ध स्वामी श्री-ज्ञानानन्दजी महाराजकी १०५ वर्षकी अवस्थामें शिवसायुज्य प्राप्तिसे अत्यन्त क्षुब्ध हैं। जिस समय हिन्दूधर्म और हिन्दूजातिपर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे थे, उस समयसे करीब अर्द्धशताब्दीके पूर्व-से ही पूज्य स्वामीजीने श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी स्थापना करके हिन्दूजातिका जो महान् उपकार किया है, वह सर्वविदित है। सहस्रों विद्वान् स्वामीजीके ज्ञानलोकसे आलोकित होकर सब प्रान्तोंमें लेख, वक्तृता, सेवाद्वारा हिन्दूजनता और हिन्दूधर्मकी सेवा कर रहे हैं। सहस्रों वर्षोंसे विलुप्त अनेक दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थ स्वामीजीकी कृपासे आविर्भूत और प्रकाशित हुए हैं। आदि-

शंकराचार्यकेद्वारा स्थापित पीठोंकी मर्यादा और शृंखलाकी व्यवस्था और रक्षा, विलुप्त ज्योतिर्मठका उद्धार और उसपर योग्य आचार्यकी स्थापना, आजसे बीसों वर्ष पूर्व अंग्रेजी गवर्नमेंट-द्वारा प्रतिरुद्ध गंगाप्रवाहको प्रबल आन्दोलनद्वारा अक्षुण्ण प्रवाहित करना, भारतधर्म-महामण्डलके प्रधान सभापति स्वर्गीय दरभंगाधिपति श्रीरमेश्वरसिंह मिथिलेशको प्रेरित कर काशी हिन्दूविश्वविद्यालयकी स्थापनामें अत्युत्तम सहयोग दिलानाआदि श्रीस्वामीजी महाराजके अगणित कार्य चिरस्मरणीय हैं। श्रीमहामण्डलकी प्रबन्धकारिणीके हम सभी सदस्य श्रीस्वामीजी महाराजके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं और श्रीकाशी-विश्वनाथसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि, हिन्दूजातिको ऐसी शक्ति दें जिससे स्वामीजी-द्वारा निर्दिष्ट सन्मार्गका वह अनुसरण कर सके।

सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि, श्रीमहामण्डलभवनके ऊपरका कमरा दक्षिणओर वाला, जिसमें श्रीजी महाराज रहते हुए ब्रह्मीभूत हुए, उसको तीर्थरूपसे समादृत और सुरक्षित रखा जाय, उनके व्यवहारकी सभी वस्तुओंकी लिस्ट बनाकर रक्षा की जाय, श्रीजी-महाराज जिस आरामकुर्सीपर विराजते रहे हैं, उसपर उनका सुन्दर तैलचित्र रखा जाय तथा प्रातः सायं दोनों समय उसकी पूजा आरती विधिपूर्वक की जाय।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि, श्रीजी महाराजकेद्वारा उपक्रान्त जितने भी श्रीमहामण्डलके कार्यविभाग हैं—जैसे शास्त्र-प्रकाशन-विभाग, मानार्पणविभाग, परीक्षा-विभाग, देवसेवा, साधु-सेवा, गोसेवा विभाग, उपदेशकमहाविद्यालयविभाग, रक्षाविभाग-आदि विभागोंके कार्योंका सम्पादन, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी भाषाओंमें समन्वय भाष्यसहित सप्तदर्शनोंका प्रकाशन, सभाष्य मन्त्र, हठ, लय, राजयोगोपयोगी चारों योगसंहिताओंका प्रकाशन और

श्रीदत्तात्रेय धर्ममीमांसाका हिन्दीभाष्यसहित प्रकाशनआदि कार्य अवश्य सम्पन्न किये जायँ। यह पुण्यकार्य तभी सम्भव हो सकता है, जब सभी सदस्य श्रीजीकी मूर्तिके समक्ष प्रतिज्ञापूर्वक एकता और सहयोगकी लोकोपकारिणी भावनासे सदा प्रेरित हों।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि, भगवद्भक्त सर्वसाधारणकी आध्यात्मिक उन्नति तथा धार्मिक भावनाओंकी प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये श्रीजीकी एक सुन्दर संगमरमर श्वेत प्रस्तरकी प्रतिमा किसी समुचित स्थानपर स्थापित की जाय तथा उस प्रतिमाका सायं प्रातः सविधि पूजन होनेका भी प्रबन्ध किया जाय।

सर्वसम्मतिसे यह निश्चय हुआ कि, श्रीजी महाराजकी एक ऐसी जीवनी प्रकाशित की जाय, जिसमें उनके सब कार्यों और शास्त्रीय पुरुषार्थोंका विवरण रहे। यह भी निश्चय हुआ कि, श्रीजीके स्मारकरूपसे 'सूर्योदय' और 'आर्यमहिला' के विशेषांक प्रकाशित किये जायँ।"

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्धसमितिद्वारा श्रद्धाञ्जलि

"श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्की प्रबन्धसमितिके हम सदस्यगण परमहंस परिव्राजकाचार्य योगिराज प्रातःस्मरणीय परमाराध्य परमपूज्यपाद श्री १००८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजके ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्तिसे अत्यन्त शोकाकुल, क्षुब्ध और व्यथित हैं, जिन्होंने आर्यनारियोंके आदर्श सतीत्व, सदाचार और मर्यादापर सब ओरसे प्रहार होते देख उनके अतीत गौरव तथा सम्मानकी सुरक्षा, प्रसार एवं प्रचारके लिये प्रायः ३२ वर्ष पहले

महापरिषद्‌की स्थापना की एवं अपने अविरल आशीर्वादसे इसे सींचकर इतना बड़ा बनाया। इन ३२ वर्षोंमें महापरिषद् आर्य-महिलाओंकी प्राचीन परम्परा, सतीत्व, सम्मान एवं गौरव-रक्षाके लिये जो कुछ सेवा कर सकी, वह एकमात्र पूज्यपादके अमोघ आशीर्वादका ही परिणाम है। यह समिति पूज्यपादके परमाराध्य चरणोंमें सभक्ति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती है और प्रार्थना करती है कि, वे हमारी बुद्धिको कल्याणमार्गमें प्रेरित करते रहें और ऐसी शक्ति प्रदान करें, जिससे महापरिषद् उनके पवित्र आदेशों तथा उपदेशोंके अनुसार सनातनधर्म तथा भारतीय संस्कृतिकी सेवा-कार्यमें अधिक सक्षम हो सके।"

श्रीरामानुज संस्कृत महाविद्यालयद्वारा श्रद्धाञ्जलि

"भारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक, सनातनी जगत्‌के परम-माननीय मनीषी तथा विश्वका कल्याणचिन्तन करनेके हेतु निरन्तर ग्रंथोंका प्रकाशन करानेवाले महापुरुष स्वामी श्री १०८ ज्ञानानन्दजी महाराजके कल ब्रह्मीभूत हो जानेसे भारतवर्षकी महान् क्षति हुई है, इसे अनुभव करते हुए, श्रीरामानुज-संस्कृत-महाविद्यालय, काशीके समस्त अध्यापकों तथा छात्रोंने आज सम्मिलितरूपसे, उनके प्रति हार्दिक सम्मान प्रकट करते हुए, विद्यालयमें अवकाश-पूर्वक सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनेका प्रस्ताव स्वीकार किया है, जिसकी सूचना आपके पास भेजता हूँ।"

भवदीय—

श्रीरामनाथ शास्त्री ज्यौतिषाचार्य, अध्यक्ष
श्रीरामानुज संस्कृत महाविद्यालय, काशी।

सनातनधर्मका ज्योति पुञ्ज !

"मेरे सनातन-धर्मका ज्योति-पुञ्ज अस्त हो गया। जिन श्रीचरणोंका एकलव्यकी भाँति ध्यान रखकर मैं अबतक अपने धर्मका अनुधावन करता रहा, वह प्रेरणा अब मैं कहाँसे पाऊँगा ! क्या कहूँ, कुछ कहते नहीं बनता है।

भवदीय—देवीदत्त
भू० पू० संपादक 'सरस्वती' प्रयाग।

भारतकी महान विभूति

पूजनीया देवीजी,

परमपूज्य श्रीश्रीमहाराजजीके स्वर्गवासका समाचार कल अखबारोंमें देखा, मुझे पहिले मालूम नहीं था कि, महाराजका शरीर इतना शिथिल हो गया है और अन्तिम समय निकट है। वे महान् थे, भारतकी विभूति थे, परमयोगी थे, महर्षि थे। उनका निधन हम लोगोंके लिये कष्टदायक है ही। मैं आपसे क्या कहूँ, मुझपर उनका कितना स्नेह था, यह आपको मालूम ही है। अधिक क्या लिखूँ ?

विनीत
शिवनाथ काटजू एडवोकेट,
प्रयाग।

———

देशकी अन्य संस्थायें

Dear Sir,

On behalf of the Maha Gujarat Dharma Sangh, Rama Rajya Parishad and Sanatan Vedic Dharma Sabha I have to convey our keen sense of loss at the passing away of His Holiness Swami Shree Gyananandji who was the cornerstone of the arch of Shree Mahamandal. It was he who led it through thick and thin and guided it as its friend, father and philosopher.

My personal associations with His Holiness range from about 1912 A. D. since the time of the great Mahadhiveshan at Banaras and they continued unabated ever since. I can hardly forget the love, suavity and the special partiality with which he treated me all through.

The Mahamandal will ever remain his great achievement and memorial. He was undaunted in troubles and he had the magic of speech and pursuation. The policy which he dictated has been crowned with success. Today even the Indian States remain the symbols of the great ancient culture and religion and he strengthened and united them through the Mahamandal. If we feel any thing we feel their loss today under the new regime.

May H. H. Shree Swamiji find eternal rest in Shree Narayana, the Satchidanand, of whom he was a great representative.

Yours Truly

Jayendraroy B. Durkal, President.

This meeting of the students of Agra places on record its deep sense of sorrow at the sad demise of Shree Swami Gyananandji of Shri Bharat Dharma Maha Mandal Banaras who was the champion of the cause of Sanatanist Hindus in India.

In the passing away of the late Swamiji, the Mahamandal has sustained an irreparable loss. This meeting therefore requests the trustees of Shri Bharat Dharma Maha Mandal to manage that institution in a manner worthy of the late Swamiji.

At the end 2 minutes' silence was observed for the departing soul of Swamiji.

From :—

B. S. Bajaj M. Sc
Agra College.

Dear Brother,

Kindly allow me to express my heartfest regret at the demise of Swami Gyananandji of the B. D. M., H. H. was a great force in the Sanatani world. His loss is irreparable in the sense of spiritual affairs. It is a national loss at present.

With Sincere condolence.

Yours
Always in Service,

Dear Sir,

From press news it appears that we have lost our spiritual Father His Holiness 108 Sri Gyananandaji Maharaj from this mortal world and shall no more see

that amiable figure in actual flesh and blood. We remember the days when with the Founder of this institution Swami Sachchidanandaji Maharaj, we could find the Founder of the Bharat Dharma Mahamandal, inspiring and patronising the expansion of this unique institution also. We can never forget the deep debt of gratitude we owe to him. The School spontaneously closed down on receipt of the shocking news that there has been an earthquake in the sacred city of Banaras.

I with all my colleagues and pupils join with you all there for a last touch at His sacred feet. Om Sivam,

Yours truly
D. Roychoudhary, Principal
Indian Art School, Calcutta,

Dear Sir,

I am terribly shocked at the sudden news that dear and revered Swami Gyananandaji Maharaj left us on the morning of the 28th instant. Regarding religious regeneration of Bharatvarsha, His Holiness's burning passion was matched only by Panditapravara Panchanan Tarkaratna. God's Bharatvarsha is all the poorer on His Holinesse's loss. I cannot forget His Holiness's love for all who try to follow and uphold Hinduism, the eternal religion.

As an humble homage, I send Rs. 201/-.. in an insurance cover.

Yours truly,
Upendramohan Sen Gupta
(Retired Magistrate Calcutta)

His Holiness sad demise extremely sory loss Irreparable. May God grant eternal peace.

Maharaja, Sailana.

× × × ×

My heartfelt condolence unbearable loss.

Rajmata Maharani Devendra Kumari.
Dungarpur.

× × × ×

Extremely sorry to learn news. My heartfelt condolences.

Maharani Parvatibai, Dewas.

× × × ×

Extremely sorry learning departure of Swami Gnanananda Maharaj My sincere condolence at this Mahamandals great loss.

Maharani Bijawar.

× × × ×

Grieved to learn of Swamiji's passing away stop. It is great consolation that I had his blessing personally in November last.

Katju.
(Governor of W. Bengal)

× × × ×

Much distressed to hear of demise of Swamiji Maharaj. Sincerest sympathies.

Bapna, Indore.

× × × ×

Deeply grieved learn nirvana of guruji. Accept condolence.

Gordhandas. Bombay.

he had a constant sense of close personal relationship with God. The serene, benevolent and exalted force that emanated from him surcharged the surrounding atmosphere with heavenly bliss. A close contact with him produced ecstatic feelings. His life represented the entire orbit of Hinduism. In him Karma Yoga, Bhakti yoga and Gyan Yoga seemed to have come together. To him God was personal and impersonal. He had faith both in the householder's life of good works and the Sanyasi's life of renunciation and Yoga. Though every moment of his existence he was engaged in expounding or dictating philosophical truths yet he had time to express his weighty opinion about worldly affairs. He enjoined that people should develop in themselves the qualities of sincerity, thoroughness and love of duty.

He was an ocean of mercy. The worst sinners had his sympathy and compassion in full measure. With amazing success he retrieved erring souls. Aware in an astounding degree he was of human weakness but always took a lenient view of the failings of others and forgiveness he bestowed in a bewildering fashion. Offenders cognisant of their serious lapses trembled for their fate while going to his august presence but to them he administered only a mild reproof and while explaining the enormity of their misdeeds he imparted instructions about their reclaiming themselves. He wore a calm and unruffled face wreathed in benignant

zines carried the message of Hindu Dharma through out the length and breadth of the country; preachers toured the subcontinent to help and organise the sacred cause of Dharma.

His Holiness was a man of profound learning and inner inspiration and his study of Dharma, Philosophy and Shastras was broadbased and co-extensive with the concept of humanity. He pursued his task with a singleness of purpose unmindful of praise or reproach, pure in his thought and mind without a harsh or idle word even for those who disagreed with him, generous alike to friends and foes, his courtesy, sympathy and compassion knew no limitations.

His Holiness had a grand and impressive personality with a radiant, serene and calm face. Impulses, cares and problems he had none. He always lived the temperate and regular life of a true saint which accounts for his long span of life over a hundred years.

The best and lasting homage that one could pay to the sacred memory of His Holiness would be to live upto his ideals and to contribute towards the advancement of the cause which was so dear to him throughout his life.

I sincerely believe Shri Bharat Dharma Mahamandal shall have the uninterrupted willing cooperation and support from all sections of the people of this vast country and that it shall continue functioning in all its branches usefully and satisfactorily.

Great Saint and Religious Teacher

By Sir S. M. Bapna, Kt. C. I. E.,
Retired Prime Minister, Indore.

His late Holiness Maharshi Swami Gyanandji Maharaj was a great saint and Religious Teacher and his loss is felt by all—princes and people alike. I had the honour of knowing him and receiving his blessings for over fifty years and I feel his loss very much. It is in the fitness of things that Bharat Dharma Mahamandal is bringing out a special trilingual number of 'Suryodaya' as a mark of homage to the great Swamiji. I am therefore confident that his great work will not suffer for want of zeal.

Shradhanjali of an Humble Devotee

Shreeman R. L. Dar, Life Magistrate 1st Class, Banaras

Shri 108 Gyantapaswi Rishi Shri Swami Gyananandji Maharaj who entered Mahanirvan at the age of 105 years, was a world-renowned Savant. It will not be an exaggeration to say that His Holiness was one of the main pillars of Sanatan Dharma, who kept its torch burning inspite of the cruel onslaughts of its enemies. His knowledge of our Shastras was so deep that it was a pleasure, nay an illumination to hear his talk on any religious subject. I had the good fortune of having his inspiring Darshan now and then for many

years. As the founder of Shri Bharat Dharma Mahamandal he used to supervise its various religious activities and all the religious publications which were issued in the name of the Mahamandal, were really his works in which through modesty he never allowed his name to be mentioned. His passing away is a great loss to Sanatan Dharma and his numerous devotees, but I am sure that his blessings and his holy spirit will still be supervising the activities of the Bharat Dharma Mahamandal to enable it to carry on the noble work which it is doing for the Hindu Religion. To perpetuate his memory and holy presence, a life-size statue of Shri Swamiji should be installed in a suitable place in the premises of Shri Bharat Dharma Mahamandal which is his life-work. This is the best which we Hindus can do as a token of our homage or gratitude for what he did for our spiritual uplift. The workers of the Mahamandal will, we trust, carry on the work of this great institution as desired by the great Founder.

TRIBUTE.

Shreeman M. R. Bhatt Jeppu Madras.

His Holiness Swami Gnananandji has passed away. He was a Gnani in the real sense of the term, a great spiritual force, a powerful organiser, a stalwart supporter of the Sanatan Dharma, a great soul, a man of uncommon erudition, a great Karmayogi, one who had

gathered around him many devoted people, one who had striven to make Indian spiritual and cultural ideals known throughout, a great publisher and educationist and lastly a spiritual force dedicated to the service of suffering humanity. To me, he was a real Guru : I have derived great benefit from him. In grateful appreciation, I offer my tribute to the great Spiritual personality and to one of the Supermen of the century. The loss in the present crisis of the Sanatan Dharma is irreplaceable.

A Few Words About His Revered Holiness

By Dharmabhushan Rai Sanat Kumar Chatterji Bahadur,
Advocate, High Court, Calcutta.

Our Bharat is indeed a blessed country where the Lord Vishnu had not only appeared as Avatara (Incarnation of the Deity) on more than one occasion but in His infinite mercy has vouchsafed that whenever the pious would be afflicted, to save them and to destroy the evils and to establish Dharma, He would incarnate Himself in different ages.

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

In other words whenever there is a preponderance of sin and the real Dharma is threatened He would him-

self come down to this holy land and protect the true, the pious and the religious.

If one analyse the present condition of our country from the spiritual and religious point of view, it is apparent that never in its history of the last thousand years (since the period when the great Sankaracharya had flourished) our Bharat had been threatened with such complete want of religion and faith as is prevalent during the last fifty years.

To combat this extinction of our eternal religion and to unite all believers in our faith had been the great mission—the great objective of His Revered Holiness Sreemat Swami Gyananandji Maharaj.

All those who had the good fortune to come into contact with him must have felt that he was a real Yugawatar—one who inaugurates a new Age—one of those heavenly incarnations sent down for the protection of our ancient cult and religion.

He realised that in the Kaliyuga one cannot succeed by purely individualistic efforts (the same underlying principle you find though in a different garb suitable to the then environment in the various institutions founded by the great Sankara), however eminent, however patent either spiritually or temporally a person may be, he must associate himself with his brethren and co-workers if he wants to produce a lasting beneficient effect "सङ्घे शक्तिः कलौ युगे ।" and on this basis he founded the great association of all believers of our Dharma

including the natural leaders—the great princes in different parts of India.

A great Yogi—one who could perceive the inner significance not only of the mundane but also of the hidden दैवी (Daivy) world—his clear brain could probe into the real needs of our country not only from the worldly point of view but from the spiritual stand point and he took up as his mission the development of the latent spiritual element amongst our people—amongst all believers—amongst all classes from the highest to the lowest and to co-ordinate them into one homogeneous whole. He was the real selfless Karmayogi—working up to the last moment of his life on the principle enunciated by Lord Krishna.

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

The great Bharat Dharma Mahamandal bears the impress of his great genius, his lofty spirituality, his sublime devotion, his complete self effacement and his unequalled power of organisation.

The enormous amount of literature in various languages adapted to the needs of our country, both on philosophy and other social and religious topics; emanating from and inspired by him during the last sixty years, are monuments of his great erudition and absolutely clear and unequivocal perception of the real needs of our society of our country and our religion

at this juncture along with the correct solution and remedies thereof.

His conception and organisation of Shree Bharat Dharma Mahamandal with its branches throughout the length and breadth of India bringing within its folds all classes of Hindu society and cementing them under one supreme religious basis with our ascetics, princes, and other leaders at the top was a unique and magnificent piece of work inaugurated at a time when the present day political organisations have not been contemplated even, it really would have led to a more beneficent and natural result, as suitable to the spirit of our race because it was founded on the fundamental and ever lasting truth viz. our Dharma. It is not my province to dilate on the present day failures which on ultimate analysis will be found are due to the fact that they are divorced from Dharma.

Dhårma, as it etymologically signifies, consists of those basic principles which support or maintain whether an individual, an organisation, a nation, a country, a world or a universe as the case may be.

Our Hindu cult or religion and our organisations in all shape or form are indissolubly connected with Hindu Dharma. No lasting benefit can be expected in our Bharat unless it is supported by Bharat Dharma. This was not only preached and inculcated by him but in our great revered Holiness are met, as it were, a living embodiment of our Dharma.

Words are too weak, too inapt, too inadequate to express the deep feelings of awe and reverence which he inspired in the minds of all who ever had occasion to come into contact with the departed Great.

By Dharmaratna Pandit Piaray Kishan Kaul, Retired High Court Judge, Rajasthan

Parampujya Maharishi His Holiness Swami Gyananandji Maharaj revitalised Sanatan Dharma. During the last century Hindu Dharma as a result of various adverse forces had lost much of its pristine glory and His Holiness came to revive in and succeeded in a wonderful manner in restoring it to its right place. In so doing he identified himself absolutely with Dharma in such a self-effacing way that he and Dharma became one. Dharma is eternal—has ever been and will always be. For those like myself who had the privilege of sitting at his lotus feet for a very long period it cannot be possible to feel that His Holiness is not present with us. The physical eye may not be able to perceive his earthly manifestation now but Dharma can not be seen likewise. So long as Dharma remains—and there can be no doubt that it will always exist—Shri Swami Gyananandji Maharaj would also be there. How the regenerator can be separated from Dharma ? The very idea seems unreasonable and untenable as well. You think of Sanatan Dharma and you are reminded of His

Holiness. Whenever you remember His Holiness the Dharma appears before you.

For a mere mortal to describe exactly His Holiness Swami Gyananandji Maharaj is simply futile. Even an extraordinarily superior human being can not be properly represented and His Holiness was all Divine. In his external appearance he looked as Shiva. He had an intensely fair complexion, a lofty and spacious fore-head and well chiselled handsome face the godly dignity and presence of which was enhanced by the mild can-dour and kindliness of the glittering eyes. His manner was as noble and dignified as his bearing was discipli-ned and entirely unaggressive. It had no hint in it of any ungovernable passion. There was no trace of hurry or discomposure. What he said seemed to per-suade rather than to command, expressed itself by suggestion rather than by emphasis. It disclosed a sublime air of sweet reasonableness and open-minded-ness about him. His words carried conviction. On the most abstruse philosophical and religious topics his exposition cast an irressistible spell over his hearers and one felt moving in a higher region and an ennobling atmosphere. His becoming presence and singularly sublime deportment exercised an enchantment. Even when he did not speak a stream of inspiration and knowledge of an enlightening type appeared of flow from him that engulfed and enraptured one. Even a glance at his illuminated countenance disclosed the fact that

he had a constant sense of close personal relationship with God. The serene, benevolent and exalted force that emanated from him surcharged the surrounding atmosphere with heavenly bliss. A close contact with him produced ecstatic feelings. His life represented the entire orbit of Hinduism. In him Karma Yoga, Bhakti yoga and Gyan Yoga seemed to have come together. To him God was personal and impersonal. He had faith both in the householder's life of good works and the Sanyasi's life of renunciation and Yoga. Though every moment of his existence he was engaged in expounding or dictating philosophical truths yet he had time to express his weighty opinion about worldly affairs. He enjoined that people should develop in themselves the qualities of sincerity, thoroughness and love of duty.

He was an ocean of mercy. The worst sinners had his sympathy and compassion in full measure. With amazing success he retrieved erring souls. Aware in an astounding degree he was of human weakness but always took a lenient view of the failings of others and forgiveness he bestowed in a bewildering fashion. Offenders cognisant of their serious lapses trembled for their fate while going to his august presence but to them he administered only a mild reproof and while explaining the enormity of their misdeeds he imparted instructions about their reclaiming themselves. He wore a calm and unruffled face wreathed in benignant

smiles. He looked a picture of sweetness and light at peace with all the world somewhat amused but quite tolerant.

He possessed unbounded love for mankind with a mother like heart. Sentimentality he abhorred as if it were the scarlet sin but his soothing and miraculous warm regard and genuine sympathy always extended to all the ailing, suffering and oppressed persons. Whenever he learnt of the troubles of any body he made very anxious enquiries and invariably suggested remedies and got the needed relief and instructed to him without any loss of time. He was pure by thought, word and deed. He had no anger or hate toward anyone, no matter how harsh their treatment of him. Ridicules, criticism and threats never frightened him or made him alter his principles or stopped his actions for them. Despite his greatness and the adoration of thousands he remained truly humble and simple. His humility was a result of a strong sense of moral and spiritual proportion. He was utterly unselfish and was equally ready to help anyone who asked for his comfort and guidance whether they were rich, poor, or magnates or Prince. He was self-reliant, firm, inexhaustively patient and always composed and serene. Everyone who came to see him, poor or rich, obscure or famous, weak or powerful, admirer or opponent all received equal kindness and blessings at his hands.

I have tried in a crude way to depict His Holiness as a man. Even as that he was infinitely inexpressible. A whole volume would be needed to delineate him properly. However, what I have hitherto said would, I feel sure, suffice to show that he deserved to be deified. Even in the hour of death he shone as a saint. The end was quite in keeping with his gentle and peaceful disposition. Till the last he was conscious and in the plentitude of his intellectual powers. Twelve hours before he merged into Brahman the pulse had ceased to beat but he retained all his senses unimpaired the Doctor in attendance Srijut Deshpande was quite amazed at this and his remark was that some Yogic Kriya (supernatural strength) was at work. Not a sign in token of discomfort or a word as complaint escaped his lips. His entry into eternal bliss was easy and graceful.

If His Holiness had done nothing else a bare racital of his pre-eminently celestial virtues would entitle him to universal worship.

As I have stated at the very start Hindu Dharma had touched a very low level when His Holiness made his advent on the scene. It was assailed from all sides. The religion of the true believers was stigmatized as a selfwoven delusion. As there were no interpretors of the inner spirit of Sanatan ideas and ideals critics mainly concerned themselves with the outward and the concrete. The negative work

of sceptics produced a void in the Hindu mind. To arrest this decay of faith in the perennially true principles of Dharma His Holiness commenced a series of books dealing with the various aspects of Dharma. The effect of these masterly treatises in which all the tenets and principles of Dharma are explained in a remarkable manner was magical—the great everlasting things which a want of proper knowledge and lack of vision had obscured became transparently clear and followers of Hindu Dharma and its preachers who had retired into the background came forward. Then His Holiness founded the unique society—Sri Bharat Dharma Mahamandal-the All-India socio-religious body of the Sanatanists. During the fifty years of its existence this Association has gained India-wide fame and under the personal direction of His Holiness has registered imperishable achievements. Space would not permit the chronicling of its multifarious activities. They are well known in the land besides. In short Sanatan Dharma which was almost dwarfed has under the inspiring lead of His Holiness reasserted itself to its full stature. His Holiness had a marvellous knack of breathing large hearted sanity into those who came into contact with him. In an impressive method he imparted instructions as to how the various teachings of the Shastras could be applied to the ordinary circumstances of life. He showed in a very lucid manner the way in which ordinary men immersed

in the daily routine of the world could tread on the path chalked out by the Rishis of yore.

His Holiness had an equal concern for the welfare of the women. He took every opportunity to bring out the fact that in the ancient Hindu civilization a high place was given to them. Great reverence and deep respect was paid by the forefathers of the Hindus to the female folk. But he emphatically declared that the Hindu doctrine of love and sacrifice the guiding motive of true Hindu daughters should not be sacrified in favour of the cry "equality for both sexes" raised in consequence of compact with the West. On the authority of the scriptures he held that nature had divided humanity into two exclusive groups males and females. This basic discriminations between the attributes of the two separate entities should not be ignored in the upbringing and upliftment of the women. He observed with painful surprise the general tendency prevailing in the country to set no value to this elementary principle. He attached no importance to the common charge brought against it that it created a permanent division in an arbitary fashion. He has demonstrated by infaillible arguments in the various books dealing with the subject that each section had its own peculiar sphere of action and for the well being of the society it was imperative that they should develop their personalities within the limits of their respective legitimate functions. The two distinct lines of descent are complimentary

to each other and cannot do without each other but it was outrageously mischievous to encourage in them a spirit of rivalry or antagonism. According to him two things were essential for the preservation of a virile race—chastity (सतीत्व) and purity of blood (रक्तशुद्धि) and the women played an important role in this behalf. He has throughout his writings advocated that an average Hindu lady must be preeminently virtuous, affectionate, sober and mild. He has amply proved that the Hindu system is conducive to the fostering of the most noble traits in woman—her charming feminity, stainless chastity and heroic selfless sympathy. Boys and girls brought up under the influence of the Hindu traditions are not dominated with carnal passions. United in wedlock they stick to each other through thick and thin with unfailing loyalty and devotion. This imparts to their relationship a sacrosanct sense of destiny.

To safeguard and advance the interest of Hindu women and to ensure their being educated and nurtured in an atmosphere free from the debasing effects of rank materialism His Holiness created another All-India Society—Arya Mahila Hitkarini Mahaparishad—which has in the previous thirty three years rendered yeoman service to the cause of Hindu women. Under its management an Inter college where the curriculum of studies includes Religious teaching is successfully run and other Institutions designed to support infirm and destitute

widows and deserving needy women are carrying on regular work.

The lady disciple of His Holiness Shrimati Vidya Devi who is the organiser and the soul of this Institution is a very energetic and alert worker. She is selfless and with a singular zeal and energy manages its affairs. In her the Sanatani Hindu ladies possesses a doughty champion of their welfare. She in her writings, speeches and discussions stresses the need for women to be brought up properly to be of useful service. They should not forget their proper place in society in trying to imitate the other sex. They should never cease to be essentially women. Domestic duties give enough scope to the women to utilise her natural aptitude and her powers of initiative-organisation and management. At the same time she takes scrupulous care to advise men that they should reorganise the need for harmonious co-operation of activities between the sexes with a spirit of partnership and equality. In short she busies herself in propagating the theory propounded by His Holiness that men and women both should combine to maintain the unity of the family and through the family, the integrity of society, based on judicious division of labour.

In a similar manner Sriman Swami Dayanandji Maharaj-the principal disciple of His Holiness made tremendous efforts to spread far and wide the real tenets of Hindu Dharma as scientific ally and philosophically ex-

plained by His Holiness. His tour in the country during which he addressed mammoth meetings of the masses from the platforms, held learned discourses made him the foremost speaker of the times. So sweet was his voice so persuasive and attractive was his oratory that it won over the hearts of the large audiences that listened to him enraptured and enthralled.

To sum up : from whatever angle His Holiness be viewed—as the Teacher, the master, the seer and the saint—one irresistibly reaches to the conclusion that he was one of those incarnate beings who come down to this Earth once in an age. As he shunned publicity as a vice he forbade the use of his name in connection with any of his original books—over a hundred in number—he never came into the limelight. Public popularity and applause he never relished, hence his Divine mission was fulfilled without blowing of trumpets and flourish of fanfares. The set purpose of his visit to this planet of ours was to reinvigorate the decaying Sanatan Dharma. His Holiness not only performed that chosen task of his but has put Sanatan Dharma on an ever abiding pedestal from which it would never be dislodged. The monumental work of his and the Societies founded by him would continue to serve as beackon light to seekers after Truth and Salvation.

The room in which His Holiness resided has been preserved on the Mahamandal Buildings Jagatgunj the Head-quarters of the All India Body. Therein is a

painting of his too. Those who had had not the privilege of having his Darshan while he was in our midst would be well-advised to go there at least once - if not often. That would safely afford them joy and make them feel elevated.

Anyway it is the bounded duty of all who have faith in Dharma to duly realise the sanctity of Hindu Shastras and with a deep moral flavor to coordinate conduct with knowledge. In this way they would be commemorating the memory of His Holiness in a way pleasing to that mighty soul.

Unruffled in Honour and Insult.

By Sharmabhushan Sri Naresh Chandra Datta, Calcutta.

In 1911, His Holiness, on previous intimation, arrived at the Calcutta palace of the well renowned benevolent Maharaja Manindra Ch. Nandi of Cossimbazar, Bengal. We as disciples assembled at the gate when His Holiness's hackney carriage drove into the compound. We were amazingly waiting to see the reception done to him as some of us had the knowledge of the manner in which be used to be received from the Native princes on such occasions. The Maharaja having a wide fame of his charity and benevolence, however, baffled our expectation, and that Signified Sanyasi looking like a Rishi had to wait in the carriage for about a couple of hours, without any sign of receiving him by the other side.

This behaviour on the part of such a reputed nobility of Bengal made us to run for hiring a house to accommodate His Holiness elsewhere but the Sadhu would not move, nor any expression of anxiety or vexation could be noticed in him. At last, a room in the office adjoining the palace was vacated and accommodation provided.

The Maharaja, within a period of about 30 days saw His Holiness once. We noticed that His Holiness maintained a calm in whatever position he was placed for those days.

After a few months, an All India Socio-Religious Conference was held at Banaras and to our amazement we found that the Maharaja of Cossimbazar was in the chair for a day out of 7 days sitting placing him in the same category with the other high placed native ruling chiefs, most of whom were independent sovereigns.

This bewildered me the more and gathering courage submitted my query to His Holiness, how he could give such a prominent recognition to a man who insulted him in his Calcutta residence and what was the cause of accepting his guest-ship after experiencing such an undignified conduct.

The reply was that such a noble Son of India might have some reasons to hesitate to give him accommodation but had he acted otherwise by leaving the palace,

the Maharaja for his neglect might have some worries to him for not respecting a Sadhu.

1. I could realise the whole position hearing the reply I was sad for having a little mind in me.

2. Another scene in 1922. The Maharani of Khairagarh accompanied His Holiness in a Calcutta trip when they were guests in the Durbhanga House On the day returning to Banaras, a compartment in the Parcel Express was reserved and as a certainty of Railway arrangements, we reached Howrah Station a little before the departure time, but to our utter curiosity we found that the single II Class compartment was reserved otherwise and our big party even had no other train to avail of which in that case would have amounted to much trouble and harassment, As usual we the disciples lost our temper, but His Holiness in the waiting platform chair, in a calm pose, sat as if nothing untoward happened.

The station staff, getting the hint, had to alter their arrangement speedily, saving the face of all of us, Such a mismanagement for two such high class men occurred in a Bengal Ry, Station.

3. His Holiness confided in me giving out that he was not a mantra Shishya of His Holiness Keshaba-nandaji of Brindaban, nor of late Shyama Charan Lahiri, as some would assume to be. We did never notice any uncourteous conduct showing to Keshaba-nandji Maharaj.

His Holiness once sent me to Sree Aurobindo requesting a visit to him. His Holiness had great affection for Shree Aurobindo who once approached him, to bless the revolutionary group but His Holiness dissuaded him (Shree Aurobindo) to avoid that path, and was found interested to see that the wrong line was not taken recourse to.

I had on several occasions heard immense praise for Shree Vivekananda of Belur as a man and respectful language used to express his highness Sadhana and other qualities in the realm of Sadhana.

His Holiness was a Sanatanist, but the regards shown to the above two Sons of India and the appointment of late Justice Sarada Charon Mitra, as Chief Secretary of Sree Bharat Dharma Mahamandal against opposition by the councilors show, that even though they were kayasthas by birth. His Holiness had a very wide conception of that cult and always supported the essence of a question without any narrowness.

4. I had the good fortune of having his blessings in July 1907, when I was 26. I have no education worth the name and was a Police Servant, a nauseating service no doubt. Earlier to it, I had the determination not to enjoy the fruits of the service-namely “bribe". The reputation spreaded though of little duration as I entered service only in 1906.

भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज